अष्टाध्यायी-भाष्यम्

ओ३म्

अष्टाध्यायीभाष्यम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्येण दयानन्दसरस्वती
स्वामिना प्रणीतम्

प्रथमो भागः

(आद्यमध्यायद्वयम्)

अजमेरनगरे

वैदिक-यन्त्रालये मुद्रितः

दयानन्दजन्माब्दः १०३

प्रथमं संस्करणम् } वैक्रमाब्दः १९८४ { मूल्यम् ८) रु०

अष्टाध्यायी-भाष्यम्

ओ३म्

भूमिका

महर्षि के प्रायः सब ग्रन्थ उन के जीवनकाल में प्रकाशित हुए। केवल ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, जो महर्षि के स्वर्गवास समय तक मुंशी बख़तावरसिंह आदि यन्त्रालय के अध्यक्षों के कुप्रबन्ध और शिथिलता के कारण सम्पूर्ण न छप चुके थे, वे उन के स्वर्गवास के पश्चात् वर्षों तक छपते रहे। तथा सत्यार्थ-प्रकाश का परिमार्जित संशुद्ध और परिवर्द्धित (सोत्तरार्द्ध) द्वितीय संस्करण भी उन के स्वर्गवास के अनन्तर ही प्रकाशित हुआ। किन्तु अष्टाध्यायीभाष्य न ही महर्षि के जीवनकाल में और न ही उन के स्वर्गारोहण के बहुत वर्षों बाद तक प्रकाशित हो सका। फलतः साधारण आर्य जनता अष्टाध्यायीभाष्य की सत्ता से नितान्त अपरिचित रही। अब ४९ वर्षों के महान् बिलम्ब के पश्चात् जनता के सम्मुख यह पुस्तक प्रस्तुत होती है, सो कोई सज्जन पुस्तक के महर्षिकृत होने में आशंका न करें, इसलिये हम प्रामाणिक बाह्य तथा आन्तरिक साक्षी के कतिपय उद्धरण देते हैं। बाह्य साक्षी में महर्षि के विज्ञापन और पत्र ही सर्वमान्य होने से प्रथम उद्धृत किये जाते हैं॥

विक्रमीय संवत्सर १९३५ के वैशाख[2] मास में प्रकाशित ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के अन्तिम अर्थात् १५, १६ वें अङ्क के अन्त में निम्नलिखित विज्ञापनपत्र छपा—

---

१. समस्त ग्रन्थ संस्कृत तथा आर्यभाषा में है, इसलिये हमारा विचार था कि भूमिका भी इन दोनों भाषाओं में लिखते, किन्तु अधिक व्यय तथा विस्तरभय से भूमिका केवल आर्यभाषा में लिखी है॥

२. ऋग्०भूमिका के १५, १६ वें अंक के अग्रिम पृष्ठ के नीचे के प्रान्त पर यह विज्ञप्ति है—"विदित हो कि सं० १९३५ ज्येष्ठ मास अन्त पर्यन्त पञ्जाब देश के अमृतसर नगर में पं० स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी निवास करेंगे॥"

इस विज्ञापन से विदित होता है कि वैशाख मास के अन्त अथवा ज्येष्ठ मास के आरम्भ में यह अंक प्रकाशित हो कर ग्राहकों के पास पहुंच चुका था॥

"आगे यह विचार किया जाता है कि संस्कृत विद्या की उन्नति करनी चाहिये। सो विना व्याकरण के नहीं हो सकती। जो आजकल कौमुदी[1], चन्द्रिका[2], सारस्वत, मुग्धबोध[3] और आशुबोध[4] आदि ग्रन्थ प्रचलित हैं, इन से न तो ठीक २ बोध और न वैदिक विषय का ज्ञान यथावत् होता है[5]। वेद और प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के ज्ञान से विना किसी को संस्कृत विद्या का यथार्थ फल नहीं हो सकता, और इस के विना मनुष्य जन्म का साफल्य होना दुर्घट है। इसलिये जो सनातन प्रतिष्ठित पाणिनीय अष्टाध्यायी महाभाष्य नामक व्याकरण है, उस में अष्टाध्यायी सुगम संस्कृत और आर्यभाषा में वृत्ति बनाने की इच्छा है। जैसे वेद-भाष्य प्रतिमास २४ पृष्ठों में १ अंक छपावता है, इसी प्रकार ४६ [४८] पृष्ठ का अंक मुंबई में छपवाया जाय, तो बहुत सुगमता से सब लोगों को महा लाभ हो सकता है। इस में हज़ारों रुपये का ख़र्च और बड़ा भारी परिश्रम है॥

"इस का मासिक मूल्य जो प्रथम दें, उन से ॥= आने के हिसाब से ७॥ रुपये लिये जायं। उधार लेने वालों से ॥।≡ के हिसाब से ११। लिये जायें। विद्योत्साही सब सज्जनों की सम्मति प्रथम मैं जाना चाहता हूं, सो सब लोग अपना अपना अभिप्राय जनावें इति॥"

इसी विज्ञापन के सिलसिले में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने माधवलालजी मन्त्री आर्यसमाज दानापुर[6] को भी कई पत्र लिखे, जिन में से उपलब्ध पत्र[7] नीचे दिये जाते हैं—

---

१. कौमुदियों में से रामचन्द्र की प्रक्रियाकौमुदी, मेघविजयसूरि (संवत् १७२५) की हैमकौमुदी तथा भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी, ये तीन ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। इन में भी सिद्धान्तकौमुदी ही समस्त उत्तरीय भारत में प्रचलित है। दक्षिण में कहीं २ जैन मठों में हैमकौमुदी का पठन पाठन होता है। तथा जब से सिद्धान्तकौमुदी बनी, तब से प्रक्रियाकौमुदी का प्रचार बिल्कुल बन्द हो गया॥

२. चन्द्रिका से सम्भवतः रामचन्द्राश्रमकृत सिद्धान्तचन्द्रिका अभिप्रेत है॥

३. यह ग्रन्थ बोपदेव ने बनाया था। इस का प्रचार विशेष कर बङ्ग देश तक ही परिमित रहा है॥

४. बोपदेव की शैली का अनुकरण करके रामकिङ्कर सरस्वती ने यह बालोपयोगी ग्रन्थ बनाया था। इस का प्रचार भी बङ्ग देश में अधिक रहा है॥

५. कौमुदी आदि ग्रन्थों में वैदिक प्रक्रिया को लौकिक प्रक्रिया से पृथक् दिया गया है। इससे प्रायः विद्यार्थी इस को छोड़ देते हैं। तथा वैदिक सूत्रों के अर्थों में भी बहुत सी भूलें हैं। चन्द्रिका आदि में तो वैदिक विषय है ही नहीं। मुग्धबोध ने भी वैदिक प्रकरण को "**बहुलं ब्रह्मणि॥**" इस अन्तिम सूत्र में परिसमाप्ति की है॥

६. महर्षि के जीवनकाल में आर्यसमाज दानापुर संयुक्त प्रान्त की मुख्य आर्यसमाजों में से थी॥

७. देखो "ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" द्वितीय भाग पत्रसंख्या ९०, ९१, ९२, १००॥

" नं० २१६

बाबू माधवलालजी आनन्द रहो। विदित हो कि चिट्ठी आप की आई। बहुत हर्ष हुआ। आप पाणिनीयाष्टाध्यायीभाष्य के ग्राहकों की सूचीपत्र बनाकर भेज दीजिये। क्योंकि जो इस में ख़र्च होगा, वह तो आप को ज्ञात ही होगा। १००० ग्राहक जब हो जायंगे, तब आरम्भ करेंगे। सब सभासदों को नमस्ते ॥

रुड़की ज़िले सहारनपुर २५ जुला० ७८ दयानन्द सरस्वती "

" [नं०] २७०

बाबू माधोलालजी आनन्द रहो।...और ग्राहक अष्टाध्यायी के भेज दो, क्योंकि अब तैयार होने लगी है ॥

रुड़की ज़ि० सहारनपुर ६ अगस्त ७८ दयानन्द सरस्वती "

"नं० ३०३

बाबू माधोलालजी आनन्द रहो।...अष्टाध्यायी की वृत्ति बनने का आरम्भ हो गया है ॥ ...

रुड़की ज़िले सहारनपुर १५ अगस्त ७८ दयानन्द सरस्वती "

अन्तिम पत्र से निश्चित होता है कि १५ अगस्त १८७८ अर्थात् श्रावण ब० २ संवत् १९३५ से पूर्व महर्षि दयानन्द सरस्वती अष्टाध्यायीभाष्य को प्रारम्भ कर चुके थे ॥

" Dehra Dun

24th April 1879.

... The As[h]tadhyaee has not met the sufficient number of subscribers yet; the four adhya[ya]s of this are just ready but the work is going on quite well, though not [a] copy [has] passed in the press up to date. ...

दयानन्द सरस्वती "

इस पत्र में अष्टाध्यायीभाष्य के चार अध्याय पूरे हो जाने की सूचना है। और साथ ही यह भी निर्देश है कि यद्यपि पर्याप्त ग्राहक न मिलने के कारण प्रकाशन आरम्भ नहीं किया जा सका, तथापि कार्य अच्छी प्रकार चल रहा है ॥

महर्षि के उपर्युद्धृत लेख अष्टाध्यायीभाष्य के महर्षि कृत होने में अकाट्य और पर्याप्त प्रमाण हैं, इसलिये अष्टाध्यायीभाष्य की सूचना पाकर बहुत से लोगों ने श्री स्वामीजी महाराज तथा मैनेजर वैदिक यन्त्रालय को जो पत्र लिखे, उन का विस्तार भय से हम यहां उल्लेख नहीं करते ॥

अब क्रमागत अष्टाध्यायीभाष्य के विषय तथा शैली की महर्षि के अन्य ग्रन्थों से तुलना करके हम प्रमाणित करेंगें कि जिस महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका लिखी तथा जिस ने पारिभाषिक और सौवर आदि ग्रन्थ लिखे, उसी महर्षि ने अष्टाध्यायीभाष्य रचा—

१. अष्टाध्यायीभाष्य और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के स्वरव्यवस्था तथा वैदिकव्याकरण विषय में अष्टाध्यायी और महाभाष्य के कतिपय सूत्र और भाष्य तथा उन के संक्षिप्त व्याख्यान दिये हैं। प्रतिपाद्य विषय केवल वैदिक व्याकरण होने पर भी भाष्यभूमिका की अष्टाध्यायीभाष्य से सहोदर समानता की झलक पदे २ प्रकट हो रही है। निदर्शनार्थ—

> (१) "स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामः, दारुण्यं, अणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः। दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता। अणुता कण्ठस्य कण्ठस्य संवृतता। उच्चैःकराणि[१] शब्दस्य॥
>
> "अन्ववसर्गः, मार्दवं, उरुता खस्येति नीचैःकराणि[१] शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता। उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैः-कराणि शब्दस्य॥
>
> " 'त्रैस्वर्येणाधीमहे' त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः कैश्चिदनुदात्तगुणैः कैश्चि-दुभयगुणैः। तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः। य इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः। य इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—स्वरित इति॥
>
> "त एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः। उदात्ततरः। अनुदात्तः। अनुदात्ततरः। स्वरितः। स्वरिते य उदात्तः, सोऽन्येन विशिष्टः। एकश्रुतिः सप्तमः॥ अ० १। पा० २। 'उच्चैरुदात्तः' इत्याद्युपरि॥" (प्रथम संस्करण पृ० ३४३, ३४४)

अष्टाध्यायीभाष्य (तथा सौवर में) १। २। २९, ३०, ३१, ३३॥ इन सूत्रों के व्याख्यान में यही महाभाष्य की पंक्तियें उद्धृत की गई हैं और आर्यभाषा में भी दोनों स्थलों पर समान अर्थ किया है। जैसे—

---

१. ऋग्०भूमिकाटिप्पणेऽष्टाध्यायीभाष्ये चोभयत्र "उदात्तविधायकानि, अनुदात्तविधायकानि" इत्येवं "उच्चैःकराणि, नीचैःकराणि" इत्येतौ शब्दौ व्याख्यातौ॥

"श्वेत और काला रंग अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिला कर जो रंग उत्पन्न हो, उस का नाम तीसरा होता है अर्थात् खाखी वा आसमानी ।"

कल्माष और सारङ्ग शब्द का यही अर्थ अष्टाध्यायीभाष्य तथा सौवर में किया गया है ॥

(२) दोनों ग्रन्थों में 'उणादयो बहुलम् ॥' (३ । ३ । १) सूत्र की व्याख्या में महाभाष्य की तीन कारिकाओं का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया है—

अष्टाध्यायीभाष्ये	ऋग्०भूमिकायाम्
" 'तन्वीभ्यः' अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया दृश्यन्ते । तत्र बहुलवचनादविहिताभ्यो ऽपि प्रकृतिभ्यो भवन्ति ।	" (बाहुलकं०) उणादिपाठेऽल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्यो ऽपि भवन्ति ।
"तथा त उणादयः प्रत्यया अपि न 'समुचिताः' एकीकृताः, किन्तु 'प्रायेण' लघुत्वेन प्रत्ययविधानमुणादौ कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिताः प्रत्यया भवन्ति । यथा ऋधातोः फिडफिड्डौ भवतः ।	"एवं प्रत्यया अपि न सर्वे एकीकृताः, किन्तु 'प्रायेण' सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति यथा फिडफिड्डौ भवतः ।
"सूत्रैर्विहितानि कार्याणि न भवन्ति, अविहितानि च भवन्ति । यथा 'दण्डः' इत्यत्र प्रत्ययादेर्डकारस्य इत्-सञ्ज्ञा प्राप्ता, सा न भवति । तदुक्रमे[त]दर्थं 'बहुलम्' इति ।	"तथा सूत्रैर्विहितानि कार्याणि न भवन्ति, अविहितानि च भवन्ति । यथा 'दण्डः' इत्यत्र ड-प्रत्ययस्य डकारस्य इत्-सञ्ज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव ।
"इदं पूर्वोक्तं त्रिविधं कार्यमुणादौ किमर्थं क्रियत इत्युच्यते—'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु' 'नैगमाः' वैदिकाः शब्दाः, 'रूढयः' लौकिकाश्च 'सुसाधु' शोभनाः साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति ।	" (किं पुनः०) अनेनैतच्छङ्क्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रैः कार्याणि विहितानि, तावन्त्येव कथं न स्युः । अत्रोच्यते (नैगम०) 'नैगमाः' वैदिकाः शब्दाः, 'रूढयः' लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति ।
"(नाम च०) 'नाम' सञ्ज्ञाशब्दान् 'निरुक्ते' निरुक्तकारा धातुजान् यौगिकान् 'आहुः' वदन्ति । 'व्याकरणे' वैयाकरणेषु, शकटस्य तोकमपत्यम्, शाकटायनस्यैकस्य ऋषेर्मतं—सञ्ज्ञाशब्दा यौगिका इति ।	" (नाम०) सञ्ज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः । (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः । तोकमित्यस्यापत्यनामसु पठितत्वात् ।
"(यन्न०) यद्विशेषात् पदार्थान्न सम्यगुत्थितम्, अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविधाने-	"(यन्न०) यद्विशेषात् पदार्थान्न सम्यगुत्थितम्, अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविधाने-

न न व्युत्पन्नं, तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः, प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । ..."	न न व्युत्पन्नं, तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः, प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । ..."
	(प्रथम संस्करण पृ० ३६८, ३६९)

(३) जिस प्रकार अष्टाध्यायीभाष्य में 'छन्दसि' का अर्थ 'वेदे, वेदविषये' इत्यादि किया है, उसी प्रकार ऋग्०भूमिका में भी सर्वत्र 'वेदविषये, वेदेषु इत्यादि समान अर्थ किया है । 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥' (२ । ३ । ६२) सूत्र पर अष्टाध्यायीभाष्य में छन्दस्-शब्द का विशेष व्याख्यान है—

"छन्दस्-शब्देन मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति । ब्राह्मण-शब्देनैतरेयादि-व्याख्यानानाम् । अत एव 'ब्राह्मणे' इत्यनुवर्त्तमाने पुनश्छन्दो-ग्रहणं कृतम् ।"

इस की पूरक और अतएव पोषक ऋग्०भूमिका[1] की निम्नलिखित पंक्ति है—

"महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि[2] प्रयुक्तानि । अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात् छन्दो-ग्रहणमनर्थकं स्यात् ।" (प्रथम संस्करण पृ० ३२६)

२. अष्टाध्यायीभाष्य और सौवर

अष्टाध्यायीभाष्ये	सौवरे
(१) "उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहियें कि शरीर के सब अवयवों को सख़्त कर लेना, अर्थात् ढीले न रहें । 'दारुण्यम्' शब्द के निकलने के समय सख़्त रूखा स्वर निकले अर्थात् कोमल नहीं । 'अणुता' और कण्ठ को रोक लेना अर्थात् फैलाना नहीं । ऐसे यत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहाता है । यही उदात्त का लक्षण है ॥" (१ । २ । २९ ॥ 'आयामो०' का भाषाभाष्य)	"उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहियें-(आयामः) शरीर के सब अवयवों को रोक लेना अर्थात् ढीले न रखना, (दारुण्य-म्)शब्द के निकलते समय तीखा रूखा स्वर निकले और (अणुता खस्य) कण्ठ को रोक के बोलना चाहिये फैलाना नहीं । ऐसे प्रयत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहाता है। यही उदात्त का लक्षण है॥" (पृ० ३ 'आयामो०' का भाषाभाष्य)
(२)"उदात्त और अनुदात्त गुण का जिस में 'समाहारः' मेल हो, वह 'अच्' अच् 'स्वरितः' स्वरित-	"उदात्त और अनुदात्त गुण का जिस में मेल हो, वह अच् स्वरित-सञ्ज्ञक होता

---

१. अपि च सत्यार्थप्रकाशे—'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ॥' [४ । २ । ६६] यह पाणिनीय सूत्र है । इस से भी स्पष्ट विदित होता है कि वेद मन्त्रभाग और ब्राह्मण व्याख्याभाग है ।" (शताब्दीसंस्करण पृ० ३१८ पं० १५-१७)

२. "या खर्वेण पिबति" इत्याद्युदाहरणं महाभाष्यकारेण तैत्तिरीयसंहिताया ब्राह्मणभागादुद्धृतम् ॥ (तै० २ । ५ । १)

सञ्ज्ञक हो।...जैसे श्वेत और काला रंग अलग२ होते हैं, परन्तु इन दोनों को मिल[ा] कर जो रंग उत्पन्न होता है, उस का तीसरा नाम पड़ता है, अर्थात् खाकी वा आसमानी। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक् २ हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो, उस को स्वरित कहते हैं॥" (१।२।३१)

(३) "इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई चीज़ होती है, उस में नहीं जाना जाता कि कितना क्या है। जैसे दूध और जल मिल जाते हैं, तो यह नहीं मालूम होता कि कितना दूध और कितना जल है, तथा किधर दूध और किधर जल है। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इससे मालूम नहीं होता कि कितना उदात्त और कितना अनुदात्त, तथा किधर उदात्त और किधर अनुदात्त है। इसलिये मित्र होके पाणिनिजी महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, कि जिस से मालूम हुआ कि इतना उदात्त और इतना अनुदात्त, तथा इधर उदात्त और इधर अनुदात्त है॥

"(प्रश्न) जो आचार्य अर्थात् पाणिनिजी महाराज ऐसे परम मित्र थे, तो इस प्रकार की और बातें क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं।—(प्र०) वे बातें कौन हैं। (उ०) स्थान, करण, नादानुप्रदान।—(उत्तर) व्याकरण अष्टाध्यायी जब बनाई गई, उस से पूर्व ही शिक्षा आदि ग्रन्थों में ये स्थान आदि का विस्तार लिख चुके थे। क्योंकि शब्द के उच्चारण में जो साधन हैं, वे मनुष्य को प्रथम ही जानने चाहियें। और उन ग्रन्थों में लिख चुके, फिर अष्टाध्यायी में लिखते, तो पुनरुक्त दोष पड़ता। इसलिये जो बातें वहां नहीं लिखीं, उन को

है।... जैसे श्वेत और काला ये रंग अलग २ होते हैं, परन्तु जो इन दोनों को मिलाने से उत्पन्न होता है, उस को (कल्माष) खाखी वा आसमानी कहते हैं। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक् २ हैं परन्तु जो इन दोनों को मिलाने से उत्पन्न हो, उस को स्वरित कहते हैं॥" (पृष्ठ ३, ४ सूत्र १। २। ३१)

"इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई चीज होती है, उस में नहीं जाना जाता कि कौनसा कितना भाग है। जैसे दूध और जल मिला दें, तो यह नहीं विदित होता कि कितना दूध और कितना जल है, तथा किधर दूध और किधर जल है। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इस कारण जाना नहीं जाता कि कितना उदात्त और कितना अनुदात्त, और किधर उदात्त और किधर अनुदात्त है। इसलिये सब के मित्र होके पाणिनि महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, जिस से ज्ञात हो जावे कि इतना उदात्त इतना अनुदात्त, तथा इधर उदात्त और इधर अनुदात्त है॥

"(प्रश्न) जो पाणिनि महाराज सब के ऐसे परम मित्र थे, तो इस प्रकार की और बातें क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं। जैसे स्थान, करण, प्रयत्न, नादानुप्रदान आदि (उत्तर) जब व्याकरण अष्टाऽध्यायी बनाई गई थी, उस से पूर्व ही शिक्षा आदि कई ग्रन्थ बन चुके थे, जिन में स्थान करण आदि का प्रकार लिखा है। क्योंकि शब्द के उच्चारण में जितने साधन हैं, वे मनुष्य को प्रथम ही जानने चाहियें। और जो बातें उन ग्रन्थों में लिख चुके थे, उन को फिर अष्टाऽध्यायी में भी लिखते, तो पिष्टपेषण दोषवत् पुनरुक्त दोष समझा जाता। इसलिये

यहां प्रसिद्ध किया। तथा गणना से भी व्याकरण तीसरा अङ्ग है। किन्तु सब से प्रथम मनुष्यों को शिक्षा के ग्रन्थ पढ़ाये जायेंगे, तब स्थानादि की सब बातें जान लेंगे। पीछे व्याकरण पढ़ेंगे। इस प्रकार पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ अच्छा ही किया॥

जो बातें वहां नहीं लिखीं, वे यहां प्रसिद्ध की हैं। तथा गणना से भी व्याकरण तीसरा वेदाङ्ग है, इसलिये पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ अच्छा ही किया है। जो इस सूत्र का प्रयोजन और इस पर प्रश्नोत्तर लिखे हैं, सो सब महाभाष्य में स्पष्ट करके इसी सूत्र पर लिखे हैं[१]॥" (पृ० ४, ५ सूत्र १।२।३२)

इसी सूत्र पर यह टिप्पण है—

"इस सूत्र के व्याख्यान में काशिका के बनाने वाले जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि लोगों ने लिखा है कि इस सूत्र में ह्रस्व-ग्रहण निष्प्रयोजन है। सो यह केवल इन की भूल है, क्योंकि जो ह्रस्व-ग्रहण का कुछ प्रयोजन न होता, तो महाभाष्यकार अवश्य प्रसिद्ध करते, किन्तु महाभाष्यकार ने तो इस में एक शब्द का लोप माना है। 'अर्द्ध-ह्रस्वमात्रम्' इस में से मात्र-शब्द का लोप हो गया है। अथवा ऐसा कोई समझे [कि] महाभाष्यकार ने नहीं जाना इन लोगों ने जान लिया, तो यह बात असम्भव है। इस से इन्हीं लोगों का दोष समझा जाता है॥"
(१।२।३२)

"(तस्यादित०) इस सूत्र के व्याख्यान में काशिकाकार जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि लोगों ने लिखा है कि इस सूत्र में ह्रस्व-ग्रहण शास्त्रविरुद्ध है। सो यह केवल उन की भूल है, क्योंकि जो ह्रस्व-ग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं होता, तो महाभाष्यकार अवश्य प्रसिद्ध कर देते। उन्हों ने तो जो इस में सन्देह हो सकता है, उस का समाधान किया है कि अर्द्ध-ह्रस्व-शब्द के आगे मात्रच्-प्रत्यय का लोप जानो, जिससे दीर्घ प्लुत स्वरित में भी उदात्त का विभाग हो जावे। ह्रस्वस्यार्द्धमर्द्धह्रस्वम्। एक मात्रा का ह्रस्व है। उस की आधी मात्रा जो आदि में है, वह उदात्त और शेष इस से परे सब अनुदात्त है। यह बात इस (अर्द्धह्रस्व) के ग्रहण ही से जानी गई॥"

(४) "'छन्दसि' वेद मन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर 'विभाषा' विकल्प करके रहता है। ....सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं। सामवेद में सर्वत्र तीनों स्वर भिन्न २ उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि 'यज्ञकर्म०' [१।२।३४] इस सूत्र से सामवेद में एकश्रुति होने का निषेध किया है॥"
(१।२।३६)

"वेद मन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को एकश्रुति स्वर विकल्प करके होता है। एकश्रुति पक्ष में उदात्तादि का भिन्न २ उच्चारण नहीं होता। सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं। सामवेद में तीनों स्वर भिन्न २ उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि (११) सूत्र ['यज्ञकर्म०' १।२।३४] से सामवेद में एकश्रुति होने का निषेध कर चुके हैं॥" (पृ०६, ७ सूत्र १।२।३६)

---

१. यहां निर्दिष्ट महाभाष्यान्तर्गत प्रश्नोत्तर अष्टाध्यायीभाष्य के संस्कृत भाग में उद्धृत किये गये हैं॥

३. अष्टाध्यायीभाष्य और पारिभाषिक

महर्षि से पूर्व सीरदेव, नीलकण्ठ दीक्षित तथा नागेशभट्ट प्रभृति विद्वानों ने महाभाष्यस्थ मुख्य २ परिभाषाओं को संग्रह करके उन पर विस्तृत व्याख्याग्रन्थ लिखे थे। काशिकादि सूत्रव्याख्याग्रन्थों के समान इन ग्रन्थों में भी विविध प्रकार के दोष थे । इन दोषों का उद्‌घाटन तथा उद्धार करने के लिये महर्षि ने पारिभाषिक नाम का ग्रन्थ रचा। इस की हस्तलिखित प्रति महर्षि के ग्रन्थसंग्रह में अब तक विद्यमान है । प्रत्येक पृष्ठ पर महर्षि के अपने हाथ से संशोधन किया हुआ है, तथा ग्रन्थ के अन्त में तीन पंक्तियें भी उन्हों ने स्वयं ही लिखी हैं । अत एव इस ग्रन्थ के साथ अष्टाध्यायीभाष्य का सन्तोलन विशेष महत्त्व रखता है ॥

(१) जिन २ परिभाषाओं का प्रयोग महर्षि ने अष्टाध्यायीभाष्य में करना आवश्यक समझा, प्रायः उन सब परिभाषाओं को उन्हों ने पारिभाषिक में स्थान दिया, यद्यपि नागेश आदि ने इन में से कई एक को अनावश्यक समझ कर अपने ग्रन्थों में संगृहीत नहीं किया । यथा—

"कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः ॥" (अष्टा० भा० १ । १ । २२ ॥ परि० ८)
"तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥" (अष्टा० भा० १ । १ । ७१ ॥ पारि० ७८)
"वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवतीति ॥" (अष्टा० भा० १ । २ । ४१ ॥ पारि० ११२)
"गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति ॥" (अष्टा० भा० १ । २ । ६४ ॥ पारि० १०७)

ये चारों परिभाषाएं परिभाषेन्दुशेखर में उपलब्ध नहीं ॥

(२) अष्टाध्यायीभाष्य तथा पारिभाषिक के समान पाठ महर्षि के उभयत्रव्यापक वैयक्तित्व तथा समानरचयितृत्व का प्रबल प्रमाण हैं । निदर्शनार्थ यहां दो उदाहरण देते हैं—

(क) परिभाषेन्दुशेखर (३४) और परिभाषावृत्ति (२२) के " सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति " इस परिभाषान्तर्गत विभाषया-पद के स्थान में अष्टाध्यायीभाष्य (१ । २ । ६३) तथा पारिभाषिक (३४) दोनों में समानरूपेण विभाषा-शब्द पढ़ा है ॥

(ख) तथा अष्टा० भा० (१।२।६४) और पारि० (१०७) में उदाहृत

"गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति" इस परिभाषा में पठित हि-शब्द किसी मुद्रित अथवा हस्तलिखित महाभाष्य की प्रति में, जो हमारे देखने में आई हैं, उपलब्ध नहीं[1] ॥

(३) जिस प्रकार और जहां २ पारिभाषिक में महर्षि ने नागेश आदि के दोष दर्शाए हैं, उसी प्रकार और वहां २ ही अष्टाध्यायीभाष्य में भी उन्हीं दोषों का निरूपण तथा निराकरण किया गया है । निदर्शनार्थ—

पारिभाषिके	अष्टाध्यायीभाष्ये
"जो नागेश और भट्टोजिदीक्षितादि नवीन लोग इस परिभाषा को (यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते) इस प्रकार की लिखते मानते और व्याख्यान भी करते हैं, सो यह पाठ महाभाष्य से विरुद्ध [है ।] महाभाष्य में यह परिभाषा ऐसी कहीं नहीं लिखी, इसलिये इन लोगों का प्रमाद है । " (पृ० ६ टिप्पण *)	"अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते ॥ '...इमामेव परिभाषां केचिद् भट्टोजिदीक्षितादयो महाभाष्यविरुद्धां पठन्ति—'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥' इति । एतत् तेषां भ्रम एवास्ति ।" (१ । १ । ११)

४. अष्टाध्यायीभाष्य तथा महर्षिकृत अन्य ग्रन्थों की लेखशैली

(१) आर्य्यभाषा के इतिहास में सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदादि शास्त्रों को सर्वसाधारण में प्रचारार्थ आर्यभाषा में उपस्थित करने का निश्चय किया और तदनुसार ऋग्०भूमिका, ऋग् और यजुर्वेद भाष्य, पञ्चमहायज्ञविधि आदि बड़े और छोटे सभी ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे[2] । किन्तु जहां उन्हों ने सत्यार्थप्रकाश, आर्य्याभिविनय आदि ग्रन्थ जनता के उपकारार्थ केवल मात्र आर्यभाषा में लिखे, वहां वेदभाष्यादि ग्रन्थों में वर्तमान और भविष्य के

१. पं० राजाराम शास्त्री और पं० बालशास्त्री ने सं० १९२७ में कैयटप्रदीपयुक्त महाभाष्य प्रकाशित किया था । इस की एक प्रति महर्षि के संग्रह में सुरक्षित है । इस में भी हि-शब्द नहीं ॥

२. उणादिकोष को केवलमात्र संस्कृत में लिखने का हेतु महर्षि स्वयं भूमिका में लिखते हैं— "संस्कृत में वृत्ति बनाने का यही प्रयोजन है कि जो लोग पठन पाठन व्यवस्था के पहिले पुस्तकों को पढ़ेंगे, उन के लिये संस्कृत कुछ कठिन नहीं होगा । और संस्कृत भी सरल ही बनाया है । कई शब्दों के अर्थ इति शब्द लगा कर भाषा में भी खोल दिये हैं ।"

स्वदेशी विदेशी पण्डितों और विद्वानों के लिये देशकालसीमातीत देववाणी का प्रयोग भी करना अनिवार्य समझा। यही भाषाद्वयान्वित भाष्य की अपूर्व शैली प्रस्तुत पुस्तक अष्टाध्यायीभाष्य में विद्यमान है॥

(२) पुरातन आर्ष ग्रन्थों के सदृश महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों की संस्कृत अत्यन्त सरल है। लोकप्रसिद्ध छोटे २ शब्दों तथा सर्वगम्य वाक्य-रचना को देख कर तो कई बार आधुनिक विद्वान् महर्षिकृत प्रयोगों को भाषा शैली (Vernacular idiom) कह उठते हैं। यह तो हम कभी फिर प्रमाणित करेंगे कि जिन प्रयोगविशेषों को कई आधुनिक विद्वान् भाषा शैली (Vernacular idiom) कहते हैं, वे वास्तव में प्राचीन संस्कृत शैली (Sanskrit idiom) हैं, यहां केवल हम कुछ उदाहरण देकर यह दर्शाएंगे कि ये "भाषा शैली" के प्रयोग (Vernacular idiom) अष्टाध्यायीभाष्य तथा महर्षि के इतर ग्रन्थों में सर्वत्र समान रूप से विद्यमान हैं। यथा—

(क) निस्+सृ

अष्टा०भाष्ये—"इयं परिभाषा निस्सृता ("निस्सरति" वा)" पृ० ६६ पं० ४, पृ० ६२ पं० २४, पृ० १३३ पं० ३, पृ० ३५३ पं० २३.

सप्त स्वराः सूत्रेभ्य एव निस्सरन्ति" पृ० १२२ पं० २५.

"कार्यं कदापि न निस्सरति" पृ० ८८ पं० ६.

"प्रयोजनं निस्सारितम्" पृ० १७४ पं० १८.

ऋग्०भूमिकायाम्—"एतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निस्सरति" पृ० १४६ पं० ८.

उणादिकोषे—"अर्थो न निस्सरेत्" पाद २ सू० ८२.

(ख) उपरि

अष्टा०भाष्ये—"इदं वचनं महाभाष्ये...इति सूत्रस्योपरि वर्त्तते" पृ० २६४ पं० १६.

ऋग्०भूमिकायाम्—"...इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम्" पृ० २६ पं० २८, अपि च दृश्यन्तां पृ० ३२ पं० २६, पृ० ३४ पं० ३२, पृ० ७२ पं० १५, पृ० ८७ पं० १५, पृ० ३६४ पं० २१...

(ग) वा

अष्टा०भाष्ये—" षष्ठ्यर्थे वा सप्तम्यर्थे वतिः" पृ० ३८ पं० १८.

ऋग्०भूमिकायाम्—"ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती" पृ० १७ पं० २३.

श्रीमत्यै रमाबाई लिखिते भगवद्दयानन्दपत्रे—"यथाऽनेकाः स्त्रियः...गृहकृत्यानुष्ठाने प्रवर्त्तन्ते, तथैव भवत्या इच्छाऽस्ति वा पुनरपि कन्यकाभ्योऽध्यापनस्य स्त्रीभ्यः सुशिक्षाकरणेच्छाऽस्ति।" ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन १म भाग पृ० ४८ पं० २०.

(घ) अर्थात्

अष्टा०भाष्ये—"अतन्त्रम् अर्थात् निष्प्रयोजनम्" पृ० १२१ पं० ४.

"पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो भवति। अर्थात् समा[सा]र्थः पूर्वपदे स्थितो भवतीति।" पृ० १७७ पं० १८.

"आकृतिगणोऽयम्। अर्थादविहितलक्षणः समानाधिकरणतत्पुरुषो मयूरव्यंसकादित्वात् सिद्धो भवति।" पृ० २३१ पं० ३.

"'आस्थितप्रतिषेधः' अर्थात् 'अनध्वनि' इति यः प्रतिषेधः" पृ० २७६ पं० १९.

अपि च दृश्यन्तां पृ० १२२ पं० ४, ७, पृ० १७४ पं० २०.

ऋग्०भूमिकायाम्—"सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति। अर्थात् शब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते।" पृ० २१ पं० २८.

उपर्युद्धृत उदाहरणों में से प्रथम दो में आर्य्यभाषा के निकलने-पद का निस्+सृ-धातु से तथा ऊपर-शब्द का उपरि-अव्यय से अनुवाद आधुनिक विद्वानों को आर्यभाषा की प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होता है। इसी प्रकार विकल्पित शब्दों के मध्य में वा-अव्यय के प्रयोग को ये लोग संस्कृत के शब्द विन्यास के नियमों के विरुद्ध समझ कर आर्यभाषा का अनुकरण समझते हैं। एवमेव उन के मतानुसार शब्दार्थ तथा भावार्थ द्योतक अर्थात्-पद का प्रयोग महर्षि की अपनी विशेष कल्पना है। प्रायः अन्य ग्रन्थकारों ने इन अर्थों में तथा इस प्रकार से अर्थात्-पद का कहीं प्रयोग नहीं किया, किन्तु महर्षि ने तो केवल पञ्चमहायज्ञविधि में ही २० से अधिक वार इस का प्रयोग किया है॥

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं महर्षि का उद्देश सुगम सुबोध संस्कृत लिखने का था और इसीलिये अपने समकालीन पण्डितों के उपहास की सर्वथा उपेक्षा करके विस्तृत संस्कृत वाङ्मय में से उन्हों ने वे प्रयोग छांटे कि जिन के आधार पर भाषा शैली (Vernacular idiom) बनी और अतएव जो आर्यभाषाभाषियों के समीपतम थे। जैसे "अठारह २ प्रकार के अ, इ, उ, ऋ ये वर्ण होते हैं" इस भाव को "अ, इ, उ, ऋ इत्येते वर्णाः प्रत्येकमष्टादशभेदा भवन्ति" इस प्रकार न रखके "अष्टादशाष्टादशप्रकारका अ, इ, उ, ऋ इत्येते वर्णा भवन्ति" (अष्टा०भा० पृ० २४ पं० १७) इस प्रकार रखा है। जो व्यक्ति इन को और एतादृश अन्य प्रयोगों को संस्कृत शैली के अनुकूल नहीं मानते, उन से

हम यही मम्र निवेदन करेंगे कि 'महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः, सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः' बिना इस समस्त साहित्य को देखे कुछ भी सम्मति देना विद्वत्ता से कहीं दूर है ॥

(३) जिस प्रकार धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में महर्षि ने अज्ञानान्धकार तथा कुरीतियों को प्रबलता से दलन किया और जिस प्रकार वेदभाष्य में ब्राह्मण और निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों के आधार पर शब्दार्थ और भावार्थ सम्बन्धी स्वदेशी और विदेशी विद्वानों की त्रुटियों और प्रमादों को मूल से उखाड़ फेंकने का महान् यत्न किया, ठीक उसी प्रकार अष्टाध्यायीभाष्य में महर्षि पतञ्जलि के आधार पर उत्तरकालीन काशिकाकार आदि की त्रुटियों और प्रमादों का प्रबल निराकरण वेदभाष्य और अष्टाध्यायीभाष्य में समानरचयितृत्व की व्यापकता का द्योतक है। अपि च काशिकाकारादि के दोषप्रख्यापन में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उन शब्दों का ऋग्०भूमिका के समान प्रकरणों में प्रयुक्त शब्दों से सन्तोलन पाठकों को हमारे कथन में और भी अधिक दृढ विश्वास दिलाएगा। यथा —

अष्टा०भाष्ये	ऋग्०भूमिकायाम्
"तेषां भ्रम एवास्ति" पृ० २१२ पं० १.	"एषां भ्रम एवास्ति" पृ० ३०४ पं० २०.
"एतेषां महान् भ्रमो जातः" पृ० ३४ पं० १६.	"यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जातः" पृ० ३४० पं० ११.
"महाभाष्यविरुद्धत्वाज्जयादित्यस्य व्याख्यानमत्यन्तमसङ्गतम्" पृ० ३६७ पं० २.	"यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्तीति तदप्यसङ्गतम्" पृ० ७६ पं० ६.
"जयादित्यादिभिः... इति स्वकीयकल्पना कृता, सा प्रयाख्याऽस्ति" पृ० ३६६ पं० ७.	"...भट्टमोक्षमूलरेण...स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्ति" पृ० १६३ पं० ३०.
"एतन्महाभाष्यान्महद्विरुद्धमस्ति" पृ० २४३ पं० २४.	"अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थात् महीधरकृतोऽर्थोऽतीव विरुद्धोऽस्ति" पृ० ३३६ पं० १४.
"असत्तत्कथनमवश्यमेवास्तीति मन्तव्यम्" पृ० १२३ पं० ६.	"अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम्" पृ० ३२६ पं० २३.

लेखशैली के विविध प्रकार के शतशः प्रमाणों में से हम ने स्थालीपुलाकन्यायेन केवल दो चार उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणों से यह निर्विवाद है कि अष्टाध्यायीभाष्य स्वयं महर्षि ही की कृति है। यदि ग्रन्थविस्तार का भय न होता

तो और भी अधिक आन्तरिक और बाह्य साक्षी के आधार पर हम प्रमाणित करते कि महर्षि के अतिरिक्त भीमसेन ज्वालादत्त और दिनेशराम इन तीनों महर्षि के लेखकों में से किसी पर ग्रन्थरचयितृत्व का भारारोपण सर्वथा युक्तिशून्य है। बुद्धिमानों के लिये पूर्वोद्धृत प्रमाणों को ही पर्याप्त जान कर हम इस विषय को यहां समाप्त करते हैं और आशा रखते हैं कि महर्षि के भक्त अध्यापक और छात्रवर्ग निश्शंक मन से इस भाष्य का अभिनन्दन करेंगे और महान् लाभ उठाएंगे॥

अष्टाध्यायीभाष्य का प्रकाशन

पूर्वोद्धृत महर्षि के पत्रों से प्रतीत होता है कि महर्षि एक सहस्र ग्राहक बन जाने पर ग्रन्थ का प्रकाशन आरम्भ करना चाहते थे, किन्तु प्रयत्न करने पर भी जब पर्याप्त ग्राहक न मिल सके और आर्यसमाजों ने व्याकरण को "अति सुलभ आर्यभाषा में प्रकाशन करने का" आग्रह किया, तो उन्हें आर्यभाषा के व्याकरण ग्रन्थों के मुद्रण कार्य के समाप्त होने तक अष्टाध्यायीभाष्य का प्रकाशन स्थगित करना पड़ा। ऋग्वेदभाष्य अंक १५, १८ तथा यजुर्वेद भाष्य अंक १५ (संवत् १९३७) में प्रकाशित एतद्विषयक विज्ञापन विशेषरूपेण द्रष्टव्य होने से हम नीचे उद्धृत करते हैं—

> "विदित हो कि स्वामी दयानन्द सरस्वती वैसे तो वेदों का अत्युत्तम प्राचीन ऋषि मुनियों के प्रमाण सहित संस्कृत और आर्यभाषा में भाष्य कर ही रहे हैं, परन्तु अब उन्हों ने आर्यसमाजों के कहने से व्याकरण आदि वेदों के अङ्ग और उपाङ्ग आदि को भी अति सुलभ आर्यभाषा में प्रकाश करने का प्रारम्भ किया है कि जिन से मनुष्य शीघ्र संस्कृत विद्या को पढ़ कर मनुष्यजन्म के समग्र आनन्द को भोगें॥
>
> "अभी तक निम्नलिखित पुस्तक पठन पाठन विषय सुगम आर्यभाषा में प्राचीन रीति से बनाये गये हैं और क्रम से इस वैदिक यन्त्रालय में छपते जाते हैं—
>
> १. वर्णोच्चारणशिक्षा २. संस्कृतवाक्यप्रबोधः ३. व्यवहारभानुः॥
>
> "नीचे के सन्धिविषय आदि ग्यारह ११ पुस्तक अष्टाध्यायी के एक २ विषय पर भाषा में व्याख्या सहित छप रहे हैं—
>
> ४. सन्धिविषयः..........................१४. गणपाठः।
>
> १५. अष्टाध्यायी—यह पुस्तक अलग भी संस्कृतवृत्ति सहित छपेगा'।"[1]

इस विज्ञापन से सिद्ध है कि यदि गणपाठ नामक आर्यभाषा के अन्तिम

१. संवत् १९३७ में छपे सत्यधर्मविचार नामक ग्रन्थ में भी यह विज्ञप्ति छपी है॥

व्याकरण ग्रन्थ के संवत् १९४० श्रावण कृष्णा चतुर्दशी में मुद्रण के पश्चात् ही संवत् १९४० कार्तिक अमावास्या को महर्षि का स्वर्गवास न होता, तो गणपाठ के अनन्तर ही क्रमप्राप्त अष्टाध्यायीभाष्य का प्रकाशन महर्षि स्वयं आरम्भ करते। महर्षि के स्वर्गवास के पश्चात् वैदिक यन्त्रालय के संचालकों ने इस को वर्षों तक छापने का यत्न किया, किन्तु सफल न हुए। जिस कारण से संवत् १९३५ और संवत् १९३६ में महर्षि दयानन्द सरस्वती इस को प्रकाशित करने में असमर्थ रहे, वही कारण दूसरी बार पुनः उपस्थित हुआ। शिवदयाल सिंह प्रबन्धकर्त्ता वैदिक यन्त्रालय प्रयाग[1] ने संवत् १९४६ मास वैशाख शुक्ल पक्ष में प्रकाशित ऋग्वेदभाष्य अङ्क ११४, ११५ में निम्नलिखित विज्ञापन दिया—

> "सब आर्य सज्जन महाशयों को विदित हो कि श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज कृत अष्टाध्यायी की टीका धरी हुई है। इसलिये मेरा विचार है कि यजुर्वेद समाप्त होने पर अष्टाध्यायी संस्कृत और भाषा टीका सहित मासिक छपाई जावे। ... सो २०० दो सौ ग्राहक हो जाने पर छपने का प्रारम्भ होगा। वर्ष भर में छः अंक ग्राहकों के पास पहुंचा करेंगे॥
>
> "... कई एक महाशय गत मास में ग्राहक हो गये हैं, परन्तु संख्या अभी २०० की पूरी नहीं हुई है॥
>
> "यजुर्वेदभाष्य के २ अङ्क छपने और रह गये हैं। जौलाई के अन्त में जो अंक निकलेगा, वह यजुर्वेद के समाप्ति का होगा। तत्पश्चात् अष्टाध्यायी आरम्भ होगी। जिन महाशयों को ग्राहक होना स्वीकार हो, वे मुझे शीघ्र ही सूचित करें॥"

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने तो १००० ग्राहकों के मिलने पर ग्रन्थमुद्रण का विचार किया था, किन्तु शिवदयाल सिंह ने केवल २०० ग्राहक मिलने पर ही अष्टाध्यायीभाष्य छापने का निश्चय किया था। जब २०० ग्राहक भी शिवदयाल सिंह को न मिले, तब विवश होकर उन को मौन करना पड़ा। समय अपनी शीघ्र गति से व्यतीत होता चला गया, और आर्य विद्वान् इस भाष्य की सत्ता तक को भूल गये। आर्य जगत् के किसी २ कोण से कभी २ ध्वनि उठती थी और शान्त हो जाती थी। पं० लेखराम तथा मास्टर आत्मारामजी ने भी महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनचरित्र में आवाज़ उठाई—

---

१. वैदिक यंत्रालय चैत्र शु० १ सं० १९३८ में काशी से प्रयाग लाया जा चुका था और तत्पश्चात् १ अप्रेल १८९१ में अजमेर लाया गया॥

"एक और अपूर्व ग्रन्थ महर्षि का रचा हुआ यन्त्रालय में पड़ा है, जो कि अभी तक नहीं छपा।

"महर्षिकृत अष्टाध्यायी की इस टीका की जितनी ज़रूरत है, उस को दुनिया जानती है। ऐसे अपूर्व और परम उपयोगी ग्रन्थ का आज तक न छपना हम को विस्मित कर रहा है।" (पृष्ठ ६४१)

इस का भी परिणाम कुछ न निकला। सन् १९१७ में कुछ आर्य पुरुषों ने विशेष यत्न किया और श्रीमती परोपकारिणी सभा का इस ओर ध्यान आकर्षित किया। श्रीमती परोपकारिणी सभा ने अपना कर्त्तव्य अनुभव करके २९ दिसम्बर सन् १९१८ को श्रीयुत रामदेवजी को अष्टाध्यायीभाष्य सुपुर्द किया और उन से प्रार्थना की कि लुप्त भाग को पूर्ण करा देवें[1]। तत्पश्चात् ११ नवम्बर १९२० को भाष्य का सम्पादन कार्य श्रीयुत भगवद्दत्तजी को सौंपा गया[2]। उन के सम्पादकत्व में चार २ फॉर्म के दो अङ्क प्रकाशित हुए। श्रीमद्दयानन्द कॉलेज अनुसन्धान विभाग का अधिक कार्यभार होने से तथा वैदिक यन्त्रालय अजमेर से ६०० मील की दूरी पर लाहौर में रहने से वे सम्पादन कार्य अधिक दिनों तक न कर सके। जो दो अङ्क छपे भी थे, श्रीयुत भगवद्दत्तजी उन से अत्यन्त असन्तुष्ट थे, क्योंकि उन के पास प्रूफ़ न पहुंचने के कारण स्थान २ पर पाठ अशुद्ध छपे थे और कहीं २ एक २ दो २ शब्द तथा पंक्तियें तक छूट गई थीं॥

लगभग पांच वर्ष तक मुद्रण बन्द रहा। तदनन्तर श्रीमती परोपकारिणी सभा ने मुझे यह शुभ अवसर दिया कि जो ग्रन्थ वर्षों से अप्रकाशित पड़ा था, उस का मैं सम्पादन करूं और महर्षि के प्रति प्रत्येक आर्य का जो ऋण है, उस से कुछ अंश में उऋण हो जाऊं॥

अष्टाध्यायीभाष्य की हस्तलिखित प्रति

जिस हस्तलिखित प्रति के आधार पर दो अध्यायों का यह प्रथम भाग हम ने सम्पादित किया है, उस से पाठकों का परिचय कराना आवश्यक है—

पतले श्वेत विलायती ८"×१२" परिमाण के काग़ज़ पर ३९८ पृष्ठों में दोनों अध्याय समाप्त हुए हैं। इतना अधिक समय व्यतीत होने के कारण काग़ज़

---

१. देखो "कार्यवाही श्रीमती परोपकारिणी सभा सन् १९१८" प्रस्ताव १४॥

२. देखो "कार्यवाही श्रीमती परोपकारिणी सभा सन् १९२०" प्रस्ताव ६॥

भड़कीला और किञ्चिन्मात्र मटियाले रंग का हो गया है। आरम्भ के पृष्ठों में दो चार स्थानों पर कुछ अक्षर टूट भी गये हैं। तथा १२०—२२४ पृष्ठ के बीच में से १२३ पृष्ठ सर्वथा लुप्त हैं। जो हानि इन पृष्ठों (अर्थात् प्रथमाध्याय के तीसरे और चौथे पाद के भाष्य) के लुप्त हो जाने से हुई है, वह आर्य जनता कभी पूरी न कर सकेगी। हम ने इन पृष्ठों को ढूंढ निकालने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु कृतकार्य न हुए। अतएव लुप्त भाग के स्थान में सूत्रपाठ मात्र प्रकाशित किया है। विद्यार्थियों के पठनपाठन में विच्छेद न हो इसलिये हमारा विचार है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की शैली का यथामति अनुकरण करके हम परिशिष्टरूप में तृतीय और चतुर्थपाद का भाष्य शीघ्र ही प्रकाशित करें॥

पुस्तक के आदि में पाठक अष्टाध्यायीभाष्य के २५ वें पृष्ठ की प्रतिलिपि को देख कर हस्तलेख के सौन्दर्य, स्पष्टता, सुपाठ्यता तथा पारिभाषिक के हस्तलेख के साथ समानता का स्वयं परीक्षण कर सकेंगे। सूत्र और संस्कृत भाग मोटी कलम से तथा आर्य्यभाषा पतली कलम से लिखी गई है। सर्वत्र देशी काली स्याही का प्रयोग किया गया है। ११९ पृष्ठ (अर्थात् सूत्र १। २। ७१) तक पंक्तियों के ऊपर और प्रान्तों पर लाल स्याही से संशोधन भी किया हुआ है। आरम्भ से अन्त तक समस्त पृष्ठ एक ही लेखक के लिखे हुए हैं, और यह लेखक वही है कि जिस ने पारिभाषिक लिखा था॥

प्रत्येक पत्र दोनों ओर से लिखा हुआ है और प्रत्येक पृष्ठ में साधारणतः २६ पंक्तियें हैं॥

सम्पादन

यद्यपि हस्तलिखित प्रति प्रायः शुद्ध है, तथापि लेखक प्रमादों से सर्वथा रहित नहीं। जिन किन्हीं भी महानुभावों को प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ देखने का अवसर प्राप्त हुआ होगा, वे सब हमारे साक्षी होंगे कि अच्छे से अच्छे तथा शुद्ध से शुद्ध लिखे हुए ग्रन्थों में भी लेखक दोष रह ही जाते हैं। सो केवल अष्टाध्यायीभाष्य में ही नहीं, किन्तु महर्षि के समस्त ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों में साधारण से साधारण तथा भयंकर से भयंकर लेखक दोष विद्यमान हैं॥

साधारण दोषोद्धार तथा संशोधन करना तो हमारा कर्त्तव्य था, किन्तु किसी स्थल पर विशेष परिवर्त्तन करना हमारे अधिकार से बाहर था। इसीलिये जिस किसी स्थल पर हम ने किञ्चिन्मात्र परिवर्त्तन किया है, वहां टिप्पणी में मूल प्रति का पाठ दर्शा दिया है॥

वर्णोच्चारणशिक्षा की भूमिका में दिये हुए निर्देश के आधार पर ग्रन्थ को अधिक सुबोध बनाने के लिये सूत्र, संस्कृत, आर्यभाषा और टिप्पणों में भिन्न भिन्न टाइप प्रत्युक्त किये गये हैं॥

संस्कृत भाग में उद्धृत मन्त्र, सूत्र, वार्त्तिक आदि अन्य ग्रन्थों के अवतरण तथा कुछ देश और व्यक्तिविशेषों के नाम मोटे टाइप में दिये गये हैं। महाभाष्य के वचनों को यथासम्भव शेष संस्कृत भाग से पृथक् करके मुद्रित किया गया है॥

महाभाष्य के वचनों में अन्तर्गत मन्त्र, सूत्र, वार्त्तिक, (पारिभाषिक में सङ्गृहीत) परिभाषाएं तथा अन्य ग्रन्थों के वचन पतले तिरछे टाइप में प्रकाशित किये हैं। पृष्ठ १४२, १५८, १८९, २००, २४० इत्यादि में "वा०—" अर्थात् वार्त्तिक-शब्द पूर्व लिखे हुए होने पर भी हम ने "वार्त्तिक" को पतले तिरछे टाइप में न छाप कर मोटे टाइप में ही प्रकाशित किया है। कारण यह है कि ये वास्तव में वार्त्तिक नहीं, किन्तु पतञ्जलिकृत वार्त्तिक-व्याख्यान हैं। महाभाष्यकार वार्त्तिक की व्याख्या करते समय प्रायः वार्त्तिक के ही शब्दों को दोहरा कर "इति वाच्यं" अथवा "इति वक्तव्यम्" ये शब्द उस के आगे जोड़ देते हैं। वार्त्तिक और वार्त्तिकव्याख्यान में इतनी समानता को देख कर लेखकों ने इस का अनुचित लाभ उठाया और कई स्थानों पर वार्त्तिक और वार्त्तिकव्याख्यान के स्थान में केवल मात्र वार्त्तिकव्याख्यान देना पर्याप्त समझा[१]। इसी लेखक दोष के कारण काशिका, सिद्धान्तकौमुदी और अन्य

१. कुछ ने तो वार्त्तिक और वार्त्तिकव्याख्यान में समान भाग को एक वार लिख कर उस के आगे दो का अंक लिख दिया, कुछ ने अंक दो की अपेक्षा विरामदण्ड का प्रयोग किया, कुछ ने विरामदण्ड अथवा अंक दो इन में से किसी का भी प्रयोग न करके केवलमात्र अपेक्षित दण्ड अथवा अंक दो के पूर्व तथा पर शब्दों में सन्धि नहीं की और शेष ने वार्त्तिकव्याख्यान के पूर्ववर्त्ति वार्त्तिक की सत्ता का कोई भी चिह्न देना आवश्यक नहीं समझा॥

ग्रन्थों में वार्त्तिकों के स्थान में पदे २ वार्त्तिकव्याख्यान दिये गये हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ा और जिस स्थल पर उन को अपनी महाभाष्य की प्रति में वार्त्तिक न मिला, वहां उस के स्थान में उन को वार्त्तिकव्याख्यान ही देना पड़ा ॥

आर्यभाषा में सामान्यतः समस्त संस्कृत पद तथा कुछ एक जयादित्यादि प्राचीन ग्रन्थकारों के नाम तथा विशेषण मोटे अक्षरों में दिये गये हैं ॥

ग्रन्थ को विशेष रूप से उपयोगी बनाने के लिये हम ने संस्कृत भाग पर संस्कृत में तथा आर्यभाषा भाग पर आर्यभाषा में विविध प्रकार के टिप्पण दिये हैं। इन का विवरण संक्षेप से इस प्रकार है—

(१) यथासम्भव समस्त उद्धृत मन्त्रों, सूत्रों और महाभाष्यादि अन्य ग्रन्थों के वचनों के पते दिये गये हैं। तथा जहां मूल में किसी वस्तु का निर्देशमात्र था, किन्तु अवतरण नहीं दिया गया था, वहां टिप्पण में वह अवतरण दे दिया गया है। तद्यथा—"न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः ॥" (१।२।३७) सूत्र के व्याख्यान में शतपथ ब्राह्मण का अवतरण न दे कर केवल काण्ड प्रपाठकादि का पता दिया है। इस पते के निर्देश से शतपथ के मूल वचन की आकांक्षा और भी बढ़ गई है। टिप्पण में हम ने इस आकांक्षा को पूर्ण कर दिया है। स्वरविषय होने से ब्राह्मणपाठ सस्वर दिया है ॥

(२) उद्धृत महाभाष्य वचनों में जहां २ विशेष पाठान्तर हैं, वे सब टिप्पणों में दे दिये गये हैं। इन पाठान्तरों को ध्यान से पढ़ कर पाठकों को निश्चय हो जायगा कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जो पाठ गुरुपरम्परा से सीखे थे, वे प्रायः मुद्रित ग्रन्थों से बहुत उत्कृष्ट थे। इस का एक उज्ज्वल उदाहरण देते हैं। "न वेति विभाषा ॥" (१।१।४६) सूत्र पर महर्षि ने महाभाष्य की यह पंक्ति दी है—

> "आचार्यः खल्वपि सञ्ज्ञामारभमाणो भूयिष्ठमन्यैरेव शब्दैरेतमर्थं सम्प्रत्याययति—बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषामिति ॥"

मुद्रित महाभाष्य के ग्रन्थों में "भूयिष्ठमन्यैरेव" के स्थान में "भूयिष्ठ-

मन्यैरपि" यह पाठ है। इस पाठ को स्वीकार करते हुए उपर्युक्त पंक्ति का भावार्थ इस प्रकार होगा—"आचार्य पाणिनि अधिकतम सूत्रों में विकल्प अर्थ में विभाषा-शब्द का प्रयोग न करके बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम् इन शब्दों का भी प्रयोग करते हैं।" वाक्य के पूर्वार्द्ध में निषेधार्थक न-शब्द का प्रयोग करके उत्तरार्ध में समुच्चयार्थक अपि(=भी)-शब्द का प्रयोग निरर्थक ही नहीं, किन्तु अर्थस्पष्टता का बाधक है। निषेधार्थक न-शब्द के उत्तर अवधारणार्थक एव(=ही)-शब्द का प्रयोग होना चाहिये। सो महर्षि दयानन्द सरस्वती अपि के स्थान में एव पढ़ते हैं। अर्थात् महर्षि के अनुसार पतञ्जलि मुनि का भावार्थ यह है—"आचार्य पाणिनि अधिकतम सूत्रों में विकल्प अर्थ में विभाषा-शब्द का प्रयोग न करके बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम् इन शब्दों का ही प्रयोग करते हैं।"इस भावार्थ का प्रबल पोषण अष्टाध्यायी के सूत्रों में विद्यमान है—विभाषा-शब्द[1] केवल लगभग ११० सूत्रों में, परन्तु बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा वा, एकेषाम्, ये शब्द लगभग १८० सूत्रों में प्रयुक्त हुए हैं॥

(३) विद्यार्थियों के सुभीते के लिये महर्षि कृत वेदाङ्गप्रकाश नामक प्रक्रियाग्रन्थ में व्याख्यात पाणिनीय सूत्रों का भी प्रायः सर्वत्र पता दे दिया है। सब पते प्रथमावृत्ति के अनुसार दिये गये हैं, क्योंकि बाद की आवृत्तियों में भीमसेन, ज्वालादत्त तथा यज्ञदत्त के बहुत कुछ घटाने बढ़ाने के कारण ग्रन्थ में बहुत अनावश्यक परिवर्तन हुआ है॥

परिभाषाओं के लिये वेदाङ्गप्रकाश (पारिभाषिक) और परिभाषेन्दुशेखर दोनों के पते दिये हैं॥

(४) ब्राह्मणों (पृ० ११६...), शाङ्खायन और कात्यायन श्रौतसूत्रों (पृ० ११४, १२२...), शौनक, कात्यायन, तैत्तिरीय, साम और अथर्व प्रातिशाख्यों तथा चतुरध्यायिका प्रभृति ग्रन्थों से स्वर, सन्धि आदि विषयक पाणिनीय सूत्रों के साथ समानार्थक वचनों को टिप्पणों में संग्रह किया है। आशा है कि व्याकरण में और विशेषकर पाणिनि से प्राचीन व्याकरण में अनुसन्धान करने वाले विद्वान् इस से लाभ उठाएंगे॥

---

१. विभाषित-शब्द की गणना भी हम ने विभाषा- शब्द में की है॥

(५) सूत्रों अथवा भाष्य में जो प्राचीन आचार्यों तथा अज्ञातप्राय देश और नगरादिकों के नाम आये हैं, उन में से बहुतों के विषय में हम ने वेद की शाखाओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों, सूत्र ग्रन्थों, रामायण, महाभारत, पुराणों, बृहत्संहिता, राजतरङ्गिणी, कथासरित्सागर, तथा फ़ाहियान और ह्यूनत्सांग प्रभृति चीनी यात्रियों के यात्राविवरणों आदि लगभग दो सौ देशी और विदेशी प्राचीन ग्रन्थों तथा शिलालेखों और ताम्रपत्रों से आवश्यक और परम उपयोगी अवतरण दिये हैं ॥

पृष्ठ ८६ पर पुष्यमित्र तथा पुष्पमित्र इन दोनों में से शुद्ध पाठ का निर्णय करने के लिये हम ने २१०० वर्ष पुराने शिलालेख की प्रतिलिपि दी है । यह लेख स्वयं महाराज पुष्यमित्र के किसी वंशज का लिखाया हुआ है । ब्राह्मीलिपि से परिचित विद्वान् देखेंगे कि ष्-अक्षर के नीचे य बिल्कुल स्पष्ट खुदा है ॥

(६) जिन सूत्रों अथवा शब्दविशेषों के व्याख्यान में अन्य वैयाकरण महर्षि से सहमत नहीं, वहां प्रायः उन वैयाकरणों का मत टिप्पण में दर्शा दिया है ॥

(७) जहां महर्षि दयानन्द सरस्वती अन्य वैयाकरणों के मत का खण्डन करते हैं, वहां हम ने महर्षि के पक्ष की सत्यता दर्शाने के लिये प्राचीन ग्रन्थों से प्रबल प्रमाण उद्धृत किये हैं ॥

(८) पाणिनि मुनि के सूत्रपाठ में अब तक बहुत ही कम परिवर्त्तन हुआ है, किन्तु गणपाठ में समय २ पर इतना अधिक परिवर्त्तन होता रहा है कि आज गणपाठ के कोई दो हस्तलिखित ग्रन्थ नहीं कि जिन में गणान्तर्गत शब्दों के पाठ, संख्या अथवा क्रम कुछ भी सर्वथा समान हों । कई गण तो आरम्भ से ही आकृतिगण थे, सो उन में तदनुकूल शब्दों को जोड़ देना साधारण बात थी । अन्यत्र भी सूत्रों से यथेष्ट सिद्धि होते न देख कर बहुत से शब्द गणों में जोड़े गये । यदि वैदिक निघण्टुकार महर्षि यास्क के समान पाणिनि मुनि भी प्रत्येक गण के अन्त में गणान्तर्गत शब्दों की संख्या का उल्लेख करते, तो इतनी दुर्व्यवस्था न होती । कोई ही गण बचा होगा कि जिस के विषय में निश्चय रूप से कहा जा सके कि पाणिनि के समय से अब तक इस में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हुआ । जैसे—सर्वादि ॥

चन्द्रगोमिन् ने पाणिनीय सूत्रपाठ की नक़ल करके अपना सूत्रपाठ रचा और स्वयं ही वृत्ति लिख कर उस में कुछ गणों का भी उल्लेख किया। उपलब्ध गणपाठ कोशों में यह सब से प्राचीन कोश समझना चाहिये। एक दो स्थानों में चन्द्रगोमिन् ने गणान्तर्गत शब्दों की संख्या भी दी है। जैसे—"न गोपवनादिभ्योऽष्टभ्यः ॥" (२ । ४ । २१६) चन्द्रगोमिन् के सूत्र का अनुकरण करके काशिकाकार ने (२ । ४ । ६७) भी गण के अन्त में लिखा—"एतावन्त एवाष्टौ गोपवनादयः ।"

चन्द्रगोमिन् के उत्तरकालीन जयादित्य ने प्रथम वार सब गणों का अपनी वृत्ति में समावेश किया। तत्पश्चात् कतिपय गणों को रामचन्द्र ने प्रक्रियाकौमुदी[1] में और शेष को प्रक्रियाकौमुदी के टीकाकार विट्ठलाचार्य ने उद्धृत किया। इन के पश्चात् भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में कुछ गण दिये और कुछ छोड़ दिये ॥

संवत् १९४३ में जर्मन देश वासी ओटो बोटलिङ्क ने बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर गणपाठ का अत्यन्त सुन्दर तथा प्रामाणिक संस्करण तय्यार किया ॥

पूर्वोक्त छःओं विद्वान् अपने २ समय और देश के धुरन्धर अद्वितीय पण्डित हुए हैं। सो इन के ग्रन्थों के आधार पर हम ने महर्षि दयानन्द सरस्वती पठित गणपाठों के नीचे टिप्पणों में पाठान्तर और शब्दक्रमभेदों को दर्शाया है। इस के अतिरिक्त कठिन, अप्रसिद्ध और वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति तथा उन के अर्थ और उदाहरण भी दिये हैं। लौकिक शब्दों के व्युत्पत्ति और अर्थ देने में हम को वर्धमान कविकृत गणरत्नमहोदधि (संवत् ११९७) से विशेष सहायता मिली है। व्युत्पत्त्यादि के अतिरिक्त पाणिनि, चन्द्र, शाकटायन, वामन, भोज प्रभृति पूर्वकालीन वैयाकरणों के परस्पर पाठान्तर उद्धृत करके वर्धमान कवि ने विद्वानों का बड़ा उपकार किया है। जैसे चूडारक-शब्द पर—" 'वडारक' इति भोजः, 'भटारक' इति वामनः ।" (१ । २९) आरद्धायनिचान्धनि-शब्द पर—"कश्चिद् 'आरद्धायनिबन्धनि' इत्याह ।

१. प्रक्रियाकौमुदी का केवल प्रथम भाग मुद्रित हुआ है। सम्पादक की मृत्यु हो जाने से द्वितीय भाग अब तक मुद्रित नहीं हो सका। अतएव हम तदन्तर्गत गणपाठों से लाभ न उठा सके ॥

पाणिनिस्तु 'आरद्वायनिबन्धकी' इत्याह ।" (२ । ८३) इत्यादि । पाठक इन सब पाठान्तरों को यथास्थान हमारे टिप्पणों में पायेंगे ॥

विद्यार्थियों के पठनपाठन की सुगमता के लिये श्रीवर्धमान ने गणशब्दों को पद्यों में संगृहीत करके गद्य में उन की व्याख्या की है । पद्य बनाते समय शब्दों के प्राचीन क्रम का ध्यान नहीं रक्खा गया और न ही सम्भवतः रक्खा जा सकता था । तथा भिन्न २ कई वैयाकरणों के गणपाठों का इस में समावेश किया गया है । इसीलिये जिस प्रकार चान्द्रवृत्ति में गणशब्दों की संख्या अति न्यून है, उसी प्रकार गणरत्नमहोदधि में अत्यधिक है । टिप्पणों से यह बात पाठकों को भली भांति विदित हो जायगी ॥

गणान्तर्गत वैदिक शब्दों के व्याख्यान ब्राह्मण, निरुक्त, निघण्टु, भगवद्दयानन्द सरस्वती कृत वेदभाष्य, उणादिकोष, अव्ययार्थ प्रभृति ग्रन्थों के अनुकूल किये हैं । यथावश्यक संहिताओं के उदाहरण भी दिये हैं । जैसे चषाल-शब्द का साधारण यूपकङ्कण अर्थ दे कर मुखार्थवाचक चषाल-शब्द का उदाहरण मैत्रायणीसंहिता (१ । ६ । ३) से दिया है—" 'यावद्वै वराहस्य चषालं, तावतीयमग्र आसीत् ।' वराहस्य मुखमित्यर्थः ॥" गणों में अपठित वैदिक शब्द भी प्रकरण-वश कहीं २ टिप्पणों में दर्शाये हैं । जैसे जाया और पति का द्वन्द्व समास किये हुए जायापती, जम्पती और दम्पती, केवल ये तीन शब्द गणपाठ में पढ़े हैं । हम ने काठकसंहिता में (६ । ४) प्रयुक्त चौथे जायम्पती-शब्द का भी उल्लेख कर दिया है—"अग्निहोत्रे वै जायम्पती[1] व्यभिचरेते ।"

(६) वैदिक सूत्रों पर विशेष प्रकाश डाला गया है । जैसे "उच्चैरुदात्तः॥" आदि (१ । २ । २९, ३०, ३१) सूत्रों की व्याख्या में महर्षि ने केवल ऋग्वेद और तदनुसारी यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण के स्वरचिह्नों का निर्देश किया है, किन्तु सामवेद, मैत्रायणी और काठक संहिता तथा शतपथ और तदनुसारी ताण्ड्य, कालबविन्, भाल्लविन् तथा शाट्यायनिन् ब्राह्मणों के स्वरचिह्नों का कोई उल्लेख नहीं किया । प्रायः आधुनिक वैयाकरण वैदिक विषय का ध्यान से पठन पाठन नहीं करते । अत एव वेद, शाखा और ब्राह्मणों के स्वरचिह्नों तक का ज्ञान उन को नहीं होता कि किस

१. मैत्रायणीय संहिता में (१ । ८ । ४) इसी वाक्य में जायम्पती के स्थान में दम्पती पढ़ा है ॥

वेद, शाखा और ब्राह्मण में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित पर क्या २ चिह्न लगता है। सामवेद में अक्षरों के ऊपर ३क, २उ आदि तथा काठक संहिता और माध्यन्दिन शतपथ आदि में अक्षरों के नीचे ‸, ..., = इत्यादि चिह्नों को देख कर वैयाकरण पण्डित और उन के विद्यार्थी विस्मित होते हैं कि न मालूम ये क्या हैं। सो इस कमी को यथावकाश टिप्पण में पूरा किया गया है। नये स्वरचिह्न बनवाने में वैदिक-यन्त्रालय के अध्यक्ष ने जो हमारा सहयोग दिया है, उस के लिये पाठकवर्ग यन्त्रालयाध्यक्ष को अत्यन्त धन्यवाद देंगे, क्योंकि ये सूक्ष्म टाइप के स्वरचिह्न योरोप और आर्यावर्त्त में कहीं भी उपलब्ध नहीं। काण्वीय शतपथ का माध्यन्दिन शतपथ से जो स्वरविषय में भेद है[1], स्थानाभाव से हम उस का निर्देश न कर सके ॥

सम्पादन कार्य के विवरण के पश्चात् उपसंहार में हम इतना विशेष कहेंगे कि महर्षि ने इस भाष्य में अनेकानेक विशेषताएं की हैं। जैसे स्थान २ पर अनार्ष वैयाकरणों के भ्रमों का सप्रमाण निराकरण किया है, तथा महाभाष्य के शतशः उद्धरण दे कर ग्रन्थ को बालोपयोगी महाभाष्य प्रवेशिका का रूप दिया है। इस छोटी सी भूमिका में हम इन सब का उल्लेख न कर सके। तथापि हमें पूर्ण आशा है कि आर्ष ग्रन्थों के प्रेमी महर्षि के महत्त्व पूर्ण भाष्य को पठन पाठन का अंग बना कर वेद वेदांग को हृदयंगम करने को यत्न करेंगे ॥

रघुवीर

---

१. जैसे—यदि चन्द्रबिन्दु से पूर्व स्वर उदात्त हो, तो उदात्तरेखा चन्द्रबिन्दु तथा उस से पूर्ववर्ती स्वर दोनों के नीचे दी जाती है—"ताँ॒ ह्यग्निरभि॒दध्यौ मिथुन्येनाँ॒ स्यामि॒ति।" (१।२।४।११)

अष्टाध्यायीभाष्यस्थ संकेतसूची

अ०	अव्यय	प्र०	प्रश्न
उ०	उत्तर	भा०	महाभाष्य
का०	कारिका	वा०	वार्त्तिक
प०	परिभाषा	विधिलि० प्र०	विधिलिङि प्रथमपुरुषः

टिप्पणस्थ संकेतसूची

अ०	अथर्ववेद	धा०	धातुपाठ
अदा०	अदादिगण	नपुं०	नपुंसकलिंग
अ० । पा० । आ० ।	अध्याय । पाद । आह्निक ।	ना०	नामिक
		नि०	निरुक्त
अ० प्रा०	अथर्वप्रातिशाख्य	प०	परिभाषेन्दुशेखर
अष्टा०	अष्टाध्यायी	पं०	पंक्ति
आ०	आख्यातिक	पा०	पारिभाषिक
उ०, उणा०	उणादिकोष	पृ०	पृष्ठ
ऋ०	ऋक्संहिता	प्र० कौ०	प्रक्रियाकौमुदी
ऋ० प्रा०	ऋक्प्रातिशाख्य	बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण	भ्वा०	भ्वादिगण
का०	काठकसंहिता	म० भा०	महाभारत
कार०	कारकीय	मै०	मैत्रायणीयसंहिता
का० श्रौ०	कात्यायनश्रौतसूत्र	रु०	रुधादिगण
कोश	हस्तलिखित ग्रन्थ	व०	वर्णोच्चारणशिक्षा
कौ० ब्रा०	कौषीतकिब्राह्मण	वा०	वाजसनेयिसंहिता
गण० म०	गणरत्नमहोदधि	वा० प्रा०	वाजसनेयिप्रातिशाख्य
गो० ब्रा०	गोपथब्राह्मण	श० ब्रा०	शतपथब्राह्मण
चा० श०	चान्द्रशब्दलक्षण	शा०	शाकटायन (जैन)
चुरा०	चुरादिगण	श्लो०	श्लोक
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्	स०	सन्धिविषय
जुहो०	जुहोत्यादिगण	सा०	सामवेद
जै० उ०	जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण	सा० पृ०...	सामासिक पृष्ठ...
टि०	टिप्पण	सि० कौ०	सिद्धान्तकौमुदी
तु०	तुदादिगण	सू०	सूत्र
तै०	तैत्तिरीयसंहिता	सौ०	सौवर
तै० प्रा०, तैत्ति० प्रा०	तैत्तिरीयप्रातिशाख्य	स्त्री०	स्त्रीलिङ्ग
दिवा०	दिवादिगण	स्त्रै०	स्त्रैणताद्धित

ओ३म्

अथाष्टाध्यायीभाष्यम्

अथ शब्दानुशासनम् ॥ १ ॥

'अथ' इत्यव्ययपदम् । 'शब्दानुशासनम्' प्रथमैकवचनम् । शब्दानामनुशासनं =शब्दानुशासनम् । कर्मणि षष्ठी । अथेत आरभ्य शब्दानामनुशासनं करिष्यामीत्याचार्य्याणां प्रतिज्ञा । एवं शब्दाः सेध्याः, सम्बन्धनीयाः, प्रयोक्तव्याश्चेति ॥

इदं सूत्रं पाणिनीयमेव[1] । प्राचीनलिखितपुस्तकेषु आदाविदमेवास्ति[2] । दृश्यन्ते च सर्वेष्वार्षेषु ग्रन्थेष्वादौ प्रतिज्ञासूत्राणीदृशानि[3] ॥ १ ॥

इस सूत्र में 'अथ' शब्द अधिकार के लिये है । 'शब्दानुशासनम्' यह अधिकार

---

१. अत्र मेधातिथिर्भृगुप्रोक्तमनुसंहितायाः प्रथमश्लोकव्याख्यान एनमेवार्थमादिशत्—" पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते, तथा हि भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनं ' अथ शब्दानुशासनम् ॥ ' इति सूत्रसन्दर्भमारभते ॥ "

सृष्टिधरश्चात्र पुरुषोत्तमदेवकृतभाषावृत्तेष्टीकायां भाषावृत्त्यर्थविवृत्त्याभिधायामाह—" व्याकरणशास्त्रमारभमाणो भगवान् पाणिनिमुनिः प्रयोजननामनी व्याचिख्यासुः प्रतिजानीते ' अथ शब्दानुशासनम् ॥ ' इति ॥ "

अतः सिद्धं यत् पुरातनानां कैयटादीनामाधुनिकानां च शिवदत्तादीनां प्रलापमात्रमेतद् यत् कथयन्ति भाष्यकारस्येयमुक्तिर्न सूत्रकारस्येति ॥

२. भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः सङ्ग्रहे प्राप्तायामष्टाध्याय्यां ' अथ शब्दा० ॥ ' इत्यनेनैव सूत्रेणारम्भः क्रियते । तिथिश्च पुस्तकान्ते सं० १६६२ इति—

" संवन्नेत्ररसर्तिबिन्दुमितेऽब्दे दक्षिणायने ।
प्रावृट्काले शुभे मासि श्रावणे नवमीतिथौ ॥
[नि]शानाथे तु लिखितं महाव्याकरणं शुभम्॥ "

लवपुरीयश्रीमद्दयानन्दमहाविद्यालयस्यानुसन्धानपुस्तकालयेऽपि वर्त्तत एकमष्टाध्यायीपुस्तकं यस्मिन्नादाविदमेव सूत्रमस्ति ॥

अपि च १९४४ तमे विक्रमाब्दे जर्मनीदेशे ओटोबोटलिङ्कमहोदयेन सम्पादिताष्टाध्याय्येतेनैव सूत्रेणारभ्यते । युक्तं चैतद्, यतः ' शब्दानुशासनम् ' इति नामैतदस्याः । यथा पूर्वोद्धृतं सृष्टिधरमतं, तथैव न्यासकारोऽप्यत्र "व्याकरणस्य चेदमन्वर्थं नाम ' शब्दानुशासनम् ' इति॥" इति कथयति ॥

भाष्ये तु स्पष्टमेव—" शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् ॥ "

३. यथा " अथ योगानुशासनम् ॥ " इति योगशास्त्रे ॥

अन्यानि प्रमाणवचनानि भगवद्दयानन्दसरस्वतीकृते सत्यार्थप्रकाशे प्रथमसमुल्लासे द्रष्टव्यानि ॥

है, अर्थात् यहां से लेके शब्दों के सिद्धि, सम्बन्ध और प्रयोग इस प्रकार करने चाहियें। सो इस ग्रन्थ में कहेंगे, यह पाणिनिजी महाराज की प्रतिज्ञा है ॥

'अथ शब्दा०॥' यह सूत्र पाणिनिजी का बनाया है, क्योंकि प्राचीन लिखे हुए पुस्तकों में सर्वत्र लिखा है, और आर्ष सब ग्रन्थों में इस प्रकार के प्रतिज्ञासूत्र देखने में आते हैं ॥१॥

अइउण्[1] ॥ २ ॥

'अ, इ, उ' इत्येतान् त्रीन् वर्णानुपदिश्यान्ते णकारमितं करोति। प्रत्याहारार्थम्। तेनाण्-प्रत्याहारसिद्धिः। अण्-प्रदेशानि सूत्राणि 'उरण् रपरः॥' इत्यादीनि। अनेन णकारेणाणेवैकः प्रत्याहारो वेद्यः।

भा०—*अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः*[3] ॥

किं प्रयोजनम्। अकारः सवर्णग्रहणेनाऽऽकारमपि यथा गृह्णीयात्॥[4]

अयमकार इह शास्त्रे विवृत उपदिश्यते, प्रयोगे तु संवृत एव। कथम्। इह शास्त्रादौ संवृतस्य विवृतं प्रतिपाद्य शास्त्रान्ते 'अ अ॥' इत्यत्र विवृतस्य संवृतं प्रतिपादयति। एवमिकारोकारविषयेऽपि बोध्यम् ॥

शब्दलक्षणमाह—

भा०—श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः॥[4] **२ ॥**

'अ, इ, उ' इस क्रम से इन तीन वर्णों का उपदेश करके अन्त में णकार इत् पढ़ा है। एक अण्-प्रत्याहार की सिद्धि के लिये। अण्-प्रत्याहार के सूत्र 'उरण् रपरः[2]॥' इत्यादि जानना चाहिये। इस सूत्र में 'अ, इ, उ' इन तीन वर्णों को सब अष्टाध्यायी में दीर्घ और प्लुत के साथ ग्रहण होने के लिये विवृत उपदेश किया है। उच्चारण के लिये तो उन को ह्रस्व ही समझना चाहिये, क्योंकि अष्टाध्यायी की समाप्ति में विवृत के स्थान में ह्रस्व उच्चारण किया है ॥

शब्द उस को कहते हैं कि जो कान से सुनने में आवे, बुद्धि से जिस का अच्छी प्रकार ग्रहण हो, वाणी से बोलने से जो जाना जाय और आकाश जिसका स्थान है ॥ २ ॥

---

१. स०—सू० १ ॥
२. १। १। ५० ॥
३. वार्त्तिकमिदम् ॥
४. अ० १। पा० १। आ० २ ॥
५. ८। ४। ६८ ॥

ऌलृक् ॥ ३ ॥

'ऋ, ऌ,' इति द्वौ वर्णावुपदिश्य ककारमितं करोति । प्रत्याहारत्रयसिद्ध्यर्थम् । अक् । इक् । उक् ॥ निदर्शनम्—'अकः सवर्णे दीर्घः[२]॥' 'इको गुणवृद्धी[३]॥' 'उगितश्च[४]॥'

(प्रश्नः) अकारादयो वर्णा बहुप्रयोजनाः, लृकारस्तु स्वल्पप्रयोजन एव । कथम् ।इह शब्दशास्त्रे लृकारः क्लृपिस्थ एक एव । तस्य च 'पूर्वत्रासिद्धम्[५]॥' इति लत्वमसिद्धम् । तस्यासिद्धत्वाद् ऋकारे सर्वाणि कार्याणि[६] सेत्स्यन्ति । पुनर्लृकारोपदेशः किमर्थः । (उत्तरम्) लत्वविधानात् पराणि यान्यच्कार्य्याणि तानि यथा स्युः—प्लुति-द्विर्वचन-स्वरिताः । क्लृ३प्तशिखः । क्लृप्तः । प्रक्लृप्तः ॥

भा०—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः । जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः ॥
त्रयी च[७] शब्दानां प्रवृत्तिः । जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दाः ॥
(प०) प्रकृतिवदनुकरणं भवति[८]॥
इति किं प्रयोजनम् । द्विः पचन्त्वित्याह । '*तिङ्ङतिङः*[९]॥' इति निघातो यथा स्यात्॥[१०]३ ॥

'ऋ ,ऌ' इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में ककार हल् पढ़ा है । उस से तीन प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । उन के सूत्र ये हैं—'अकः सवर्णे दीर्घः[२]॥' इको गुणवृद्धी[३]॥' 'उगितश्च[४]॥'

अकारादि वर्णों के उपदेश करने में तो प्रयोजन बहुत हैं । परन्तु लृकार के उपदेश में कम प्रयोजन देखने में आते हैं । (शङ्का) व्याकरणशास्त्र में 'कृपू सामर्थ्ये' धातु में एक ही जगह लृकार है । उस की लकार-विधि के असिद्ध होने से लृकार के काम ऋकार से हो सकते हैं । फिर इस सूत्र में लृकार का उपदेश क्यों किया । (समाधान) इस के करने में तीन प्रयोजन हैं । एक तो प्लुतविधान—'क्लृ३प्तशिखः' इस शब्द में स्वर

---

१. स०—सू० २ ॥
२. ६ । १ । १०१ ॥
३. १ । १ । ३ ॥
४. ४ । १ । ६ ॥ ६ । ३ । ४५ ॥
५. ८ । २ । १ ॥
६.=अच्कार्याणि ॥
७.=वा ॥
८. पा०, प०—सू० ३६ ॥
९. ८ । १ । २८ ॥
१०. अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

का धर्म जो प्लुत है, सो ऌकार में हुआ। दूसरा—'क्लृप्तः' यहां स्वर से परे पकार को द्वित्व हो गया है। तीसरा—'प्रक्लृप्तः' यहां ऌकार के ऊपर स्वरित हो गया है ॥

शब्द चार प्रकार के होते हैं। एक जातिशब्द—मनुष्य, पशु इत्यादि। दूसरे गुणशब्द—शुक्ल, कृष्ण इत्यादि। तीसरे क्रियाशब्द—भवति, पठति इत्यादि। चौथे यदृच्छाशब्द—ऌतक[1]। एक पक्ष में तीन प्रकार के ही शब्द माने हैं। वहां यदृच्छाशब्द का खण्डन है ॥ ३ ॥

एओङ्[2] ॥ ४ ॥

'ए, ओ' इत्येतौ द्वौ वर्णावुपदिश्य ङकारमितं करोति। एकप्रत्याहारसिद्ध्यर्थम्। एङ्। निदर्शनम्—'एङि पररूपम्[3] ॥' इति ॥ ४ ॥

'ए, ओ' इन दो वर्णों का उपदेश करके ङकार हल् पढ़ा है। उस से एक एङ्-प्रत्याहार बनता है। उस का सूत्र—'एङि पररूपम्[3] ॥' यह है ॥ ४ ॥

ऐऔच्[4] ॥ ५ ॥

'ऐ, औ' इति द्वौ वर्णावुपदिश्य चकारमितं करोति। प्रत्याहारचतुष्टयसिद्ध्यर्थम्। अच्। इच्। एच्। ऐच्। निदर्शनम्—'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ[5] ॥' 'नादिचि[6] ॥' 'वृद्धिरेचि[7] ॥' 'वृद्धिरादैच्[8] ॥'

इमानि चत्वारि सन्ध्यक्षराणि। तत्र ये वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतयस्तेषु तत्कार्य्यं न भवति। तदर्थं नुड्विधि-लादेश-विनामेषु ऋकारग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥ नुड्-विधौ—आनृधतुः, आनृधुः। ल-आदेशे—कॢप्तः, क्लृप्तवान्। विनामे—कर्त्तृणाम् ॥ ५ ॥

'ऐ, औ' इन दो वर्णों का उपदेश करके चकार हल् अन्त में पढ़ा है। इस से चार प्रत्याहार बनते हैं। अच्। इच्। एच्। ऐच्। इन के सूत्र ये हैं—'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ[5] ॥' 'नादिचि[6] ॥' 'वृद्धिरेचि[7] ॥' 'वृद्धिरादैच्[8] ॥'

'ए, ओ, ऐ, औ' ये चार सन्ध्यक्षर कहाते हैं, अर्थात् पूर्वोक्त स्वरों को मिलके बनते हैं। अकार इकार को मिलके एकार, अकार उकार को मिलके ओकार, तथा अकार एकार को मिलके ऐकार, और अकार ओकार को मिलके औकार बनता है। परन्तु इन में अवयवों का काम नहीं ले सकते, अर्थात् एकार से अकार और इकार के भिन्न २ कार्य नहीं हो सकते।

---

१. किसी व्यक्ति का नाम ॥
२. स०—सू० ३ ॥
३. ६। १। ९४ ॥
४. स०—सू० ४ ॥
५. १। १। ५६ ॥
६. ६। १। १०४ ॥
७. ६। १। ८८ ॥
८. १। १। १ ॥

इसी से रेफ का काम ऋकार से नहीं हो सकता। इसलिये तीन जगह ऋकार का ग्रहण करना चाहिये। नुट्-विधि में—'आनृधतुः' यहां ऋकार के पूर्व नुट् का आगम हो गया। 'क्लृप्तः' [यहां] ऋकार में रेफ मानके लकारादेश होता है। 'कर्तॄणां' यहां ऋकार से परे नकार को णत्व हो गया। ये कार्य रेफ से परे विधान थे ॥ ५ ॥

हयवरट्[1] ॥ ६ ॥

'ह य, व, र' इति चतुरो वर्णानुपदिश्य टकारमितं करोति। एक-प्रत्याहारसिद्ध्यर्थम्। अट्। निदर्शनम्—शश्छोऽटि[2]॥'

भा०—सर्वे वर्णाः सकृदुपदिष्टाः, अयं हकारो द्विरुपदिश्यते, पूर्वश्चैव परश्च ॥[3]

उभयत्र ग्रहणस्य प्रयोजनम्। पुरुषो हसति, ब्राह्मणो हसतीति हश्-प्रत्याहारार्थं पूर्वोपदेशः। अधुक्षत्, अलिक्षदिति शल्-प्रत्याहारार्थं परोपदेशः॥

रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति ॥

इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च, तेषां कार्यार्थं उपदेशः कर्त्तव्यः। के पुनरयोगवाहाः[4]। विसर्जनीय-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय-अनुस्वार-यमाः[5]। कथं पुनरयोगवाहाः। यदयुक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते॥

अयोगवाहानामट्सु णत्वम्[6] ॥

उरःकेण। उर ≍ केण। उरःपेण। उर ≍ पेण। 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि'[7] इति णत्वं सिद्धं भवति॥ अथ किमर्थमन्तःस्थानामणसूपदेशः क्रियते। इह—सँय्यन्ता, सँव्वत्सरः, यँल्लोकं, तँल्लोकमिति परसवर्णस्यासिद्धत्वादनुस्वारस्यैव द्विर्वचनम्। तत्र परस्य परसवर्णे कृते तस्य यय्-ग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वस्यापि परसवर्णो यथा स्यात्॥

---

१. स०—सू० ५॥

२. ८। ४। ६३॥

३. अ० १। पा० १। आ० २॥

४. दृश्यतां चात्र वर्णोच्चारणशिक्षायां प्रथमप्रकरणेऽयोगवाहवर्गः॥

५. अत्र भाष्यकोशेषु पाठभेदाः—
०नुस्वारानुनासिकयमाः।
०नुस्वारानुनासिक्ययमाः।
०नुस्वारनासिक्ययमाः॥

६. वार्त्तिकमिदम्॥

७. परीक्ष्यतां ८। ४। २।

यदि य-व-लानामण्सु पाठो नो चेत्, तर्हि य-व-लाः सवर्णग्राहका न स्युः । कथम् । 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः[1]॥' इत्यणेव सवर्णस्य ग्राहको भवति । य-व-ला उदितोऽपि न सन्ति । य-व-लाः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च भवन्ति । [य-व-लानां निरनु[2]]नासिकानां सवर्णाः सानुनासिका य-व-ला एव भवन्ति । तेन[अनुस्वारस्य परसवर्णे कर्त्तव्ये[2]] यँल्लोकं, तँल्लोकमित्यादिषु 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः[3]॥' इति[सूत्रेणानुस्वारस्य स्थाने निरनु[2]]नासिकानां य-व-लानां सवर्णाः सानुनासिका य-व-ला यथा स्युः ॥ [रेफ-ग्रहणं[2]] हश्-प्रत्याहारार्थम् । [ख[2]]रो रौतीत्यादिषूत्वं यथा स्यात् ॥६ ॥

'ह, य, व, र' इन चार वर्णों का उपदेश करके अन्त में टकार इत् पढ़ा है । इस से एक प्रत्याहार बनता है । अट् । उस का सूत्र—'शश्छोऽटि[4]॥'

इस वर्णसमाम्नाय में हकार दो वार इसलिये पढ़ा है कि पहले हकार के पढ़ने से 'पुरुषो हसति' इस प्रयोग में हश्-प्रत्याहार में हकार को मानके 'पुरुषो' ओकारान्त शब्द हो जाता है । अन्त के हकार का प्रयोजन यह है कि 'अधुक्षत्, अलिक्षत्' यह प्रयोग सिद्ध होते हैं ॥

रेफ और स, ष, श, ह के सवर्णी नहीं हैं । इस के कहने का प्रयोजन यह है कि परसवर्ण-कार्य अनुनासिक के स्थान में होता है । सो 'य, व, ल' ये तीनों वर्ण सानुनासिक निरनुनासिक दोनों ही हैं । इससे रेफ और ऊष्म के परे अनुस्वार को कुछ नहीं होता । वेदादि ग्रन्थों में ꣳकार तो कर देते हैं ॥

अयोगवाह उन को कहते हैं कि जिन का कहीं उपदेश तो किया नहीं, और सुनने में आते हैं । वे ये हैं—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, यम । इनका उपदेश अट्-प्रत्याहार में करना चाहिये, जिससे कि 'उरःकेण, उरःपेण' इत्यादि शब्दों में णकारादेश हो जावे ॥

(प्र०) 'य, र, ल, व' इन अक्षरों का उपदेश अण्-प्रत्याहार में क्यों किया । (उ०) अण्-प्रत्याहार में पढ़ने से 'सँय्यन्ता, सँव्वत्सरः, यँल्लोकम्' में अनुस्वार को परसवर्ण होता है, क्योंकि अण् और उदित् सवर्ण के ग्राहक होते हैं । तो यह अण् में न होते, तो उदित् भी नहीं थे, फिर सवर्ण के ग्राहक कैसे होते ॥ ६ ॥

लण्[5]॥ ७ ॥

'ल' इत्येकं वर्णमुपदिश्य णकारमितं करोति । प्रत्याहारत्रयसिद्ध्यर्थम् ।

---

१. १ । १ । ६८ ॥
२. कोशेऽत्राक्षराणि त्रुटितानि ॥
३. ८ । ४ । ५८ ॥
४. ८ । ४ । ६३ ॥
५. स०—सू० ६ ॥

अण् । इण् । यण् । निदर्शनम्—'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः[1]॥' 'इणो यण्[2]॥' इण्-ग्रहणानि सूत्राणि सर्वाणि परेण णकारेण । अण्-ग्रहणानि पूर्वेण, 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः[1]॥' इत्येतं विहाय ॥

अण्-ग्रहणे प्रमाणम् । यदयं 'उर्ऋत्[3]॥' इत्यृकारे तपरकरणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्य्यः, परेण न पूर्वेण । यदि पूर्वेण स्यात्, ऋकारे तपरकरणमनर्थकं स्यात् । तपरकरणमेतदर्थं, ऋकारः सवर्णान्न गृह्णीयात् । अन्येष्वण्-ग्रहणेषु परेण चेत्, तत्राज्-ग्रहणं कुर्यात् ॥

इण्-ग्रहणेषु प्रमाणम् । 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ[4]॥' यदि इण्-ग्रहणं पूर्वेणेष्टं स्यात्, तर्हि 'य्वोः' इत्यस्य स्थाने 'इणः' इति ब्रूयात् ॥

अत्र काशिकाकृज्जयादित्य-भट्टोजिदीक्षितादीभिरुक्तं—हकारादिष्वकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः । लकारे त्वनुनासिकः प्रतिज्ञायते । तेन 'उरण् रपरः[5]॥' इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणाल्लपरत्वमपि भवति[6]॥' तदिदमवद्यम् । कुतः । इह व्याकरणे क्लृपिस्थ एक एव लृकारः । स च रपरकरणेऽसिद्धः । तेन लृकारस्य कार्य्याणि ऋकारे भविष्यन्तीति लपरप्रयोजनाभावात् ॥ ७ ॥

'ल' इस एक वर्ण का उपदेश करके णकार अन्त में हल् पढ़ा है । उस से तीन प्रत्याहार बनते हैं । अण् । इण् । यण् । इन के सूत्र ये हैं—'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः[1]॥' 'इणो यण्[2]॥' वर्णसमाम्नाय में णकार दो वार पढ़ा है । इससे अण्- और इण्-प्रत्याहार के ग्रहण में सन्देह होता है कि किस सूत्र में पूर्व णकार से जानें, किस में पर से । अण्-प्रत्याहार का सर्वत्र पूर्व णकार से ग्रहण होता है, क्योंकि जो पर णकार से होता, तो उन सूत्रों में अच्-ग्रहण करते । और 'अणुदित्०[1]॥' इस सूत्र में पर णकार से अण् का ग्रहण होता है, क्योंकि 'उर्ऋत्[3]॥' इस सूत्र में तपरकरण इसलिये है कि ऋकार सवर्ण का ग्राहक न हो । जो पूर्व णकार से ग्रहण होता, तो सवर्ण का ग्रहण होता ही नहीं, फिर तपरकरण किसलिये किया जाय ॥ इण्-प्रत्याहार सर्वत्र पर णकार से ग्रहण होता है, क्योंकि पाणिनि आदि ऋषियों को जहां पूर्व णकार से लेना होता, तो वहां वे लोग 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ[4]॥' इस सूत्र में 'य्वोः' इस के स्थान में 'इणः' ऐसा पढ़ते ॥

---

१. १ । १ । ६८ ॥
२. ६ । ४ । ८१ ॥
३. ७ । ४ । ७ ॥
४. ६ । ४ । ७७ ॥
५. १ । १ । ५० ॥
६. इदं काशिकावचनम् । ईदृशान्येव वचनानि मिताक्षरावृत्ति-प्रक्रियाकौमुदी-सिद्धान्तकौमुदी-शब्दकौस्तुभादिषु ग्रन्थेषूपलभ्यन्ते ॥

इस सूत्र में काशिका के बनाने वाले पण्डित जयादित्य और सिद्धान्तकौमुदी के बनाने वाले भट्टोजिदीक्षितादि ने कहा है कि हकारादि वर्णों में तो अकार उच्चारण करने के लिये है, परन्तु लकार में जो अकार है, वह अनुनासिक होने से इत्-संज्ञक होता है। उस से एक र-प्रत्याहार नया बनता है। उस का काम 'उरण् रपरः[1]॥' सूत्र में लपर होने के लिये पड़ता है। अब देखना चाहिये, पाणिनिजी महाराज ने सब प्रत्याहार हल् अक्षरों से बांधे हैं। ये लोग उन से विरुद्ध चलते हैं कि अकार की इत्-संज्ञा करके र-प्रत्याहार बनाते हैं। यह बात महाभाष्य में भी कहीं नहीं। उन के अभिप्राय से इस बात का खण्डन तो होता है। यहां व्याकरण में लृकार एक क्लृप् धातु में है। उस को जो लत्व होता है, सो एक पाद और सात अध्याय में असिद्ध है। उस के असिद्ध होने से लृकार के काम ऋकार से हो जावेंगे। फिर लृकार का उपदेश...... [2]कार्यों के लिये किया है। 'उरण् रपरः[1]॥' इस में लपर ऋकार से ही हो जायगा। फिर इन लोगों का विरुद्ध चलना, नवीन प्रत्याहार का बनाना, केवल मिथ्या ही है ॥ ७ ॥

ञमङणनम्[3] ॥ ८ ॥

'ञ, म, ङ, ण, न' इति पञ्च वर्णानुपदिश्य मकारमितं शास्ति। प्रत्याहारत्रयसिद्ध्यर्थम्। अम्। यम्। ङम्। निदर्शनम्—'पुमः खय्यम्परे[4]॥' 'हलो यमां यमि लोपः[5]॥' 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्[6]॥' उणादौ तु 'ञमन्ताड्डः[7]॥' इति चतुर्थोऽपि ॥ ८ ॥

'ञ, म, ङ, ण, न' इन पांच वर्णों का उपदेश करके अन्त में मकार हल् पढ़ा है। इस से तीन प्रत्याहार बनते हैं। अम्। यम्। ङम्। इनके सूत्र—'पुमः खय्यम्परे[4]॥' 'हलो यमां यमि लोपः[5]॥' 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्[6]॥' उणादिपाठ में मकार से चौथा प्रत्याहार ञम् भी है ॥ ८ ॥

झभञ्[8] ॥ ९ ॥

'झ, भ' इति द्वौ वर्णावुपदिश्य ञकारमन्त इतं प्रतिपादयति। एकप्रत्याहारार्थम्। यञ्। निदर्शनम्—'अतो दीर्घो यञि[9]॥' ९ ॥

'झ, भ' इन दो वर्णों का उपदेश करके ञकार हल् किया है। इस से एक प्रत्याहार बनता है। यञ्। उस का सूत्र—'अतो दीर्घो यञि[9]॥' ९ ॥

---

१. १।१।५० ॥
२. यहां से अक्षर त्रुटित हैं। पं० भगवद्दत्तजी सम्पादित अङ्क में "क्यों किया? (उत्तर) लपर" इस प्रकार से हैं ॥
३. स०—सू० ७ ॥
४. ८।३।६ ॥
५. ८।४।६४ ॥
६. ८।३।३२ ॥
७. उ०—१।११४ ॥
८. स०—सू० ८ ॥
९. ७।३।१०१ ॥

घढधष्[1] ॥ १० ॥

'घ, ढ, ध' इति त्रीन् वर्णानुपदिश्यान्ते षकारमितं करोति। प्रत्याहारद्वयसिद्ध्यर्थम्। भष्। झष्। निदर्शनम्—'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः[2]॥' इति ॥ १० ॥

'घ, ढ, ध' इन तीन वर्णों का उपदेश करके अन्त में षकार हल् पढ़ा है। इस से दो प्रत्याहार सिद्ध होते हैं। भष्। झष्। इन का सूत्र—'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः[2]॥' १० ॥

जबगडदश्[3] ॥ ११ ॥

'ज, ब, ग, ड, द' इति पञ्चवर्णानुपदिश्य शकारमन्त इतं शास्ति। षट्-प्रत्याहारसिद्ध्यर्थम्। अश्। हश्। वश्। जश्। झश्। बश्। निदर्शनम्—'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि[4]॥' 'हशि च[5]॥' 'नेड्वशि कृति[6]॥' 'झलां जश् झशि[7]॥' 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः[2]॥' ११ ॥

'ज, ब, ग, ड, द' इन पांच वर्णों का उपदेश करके अन्त में शकार हल् किया है। इस से छः प्रत्याहार बनते हैं। अश्। हश्। वश्। जश्। झश्। बश्। इन के सूत्र—'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि[4]॥' 'हशि च[5]॥' 'नेड्वशि कृति[6]॥' 'झलां जश् झशि[7]॥' 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः[2]॥' ११ ॥

खफछठथचटतव्[8] ॥ १२ ॥

'ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त' इत्यष्टौ वर्णानुपदिश्यान्ते वकारमितं करोति। एकप्रत्याहारसिद्ध्यर्थम्। छव्। निदर्शनम्—'नश्छव्यप्रशान्[9]॥' १२ ॥

'ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त' इन आठ वर्णों का उपदेश करके वकार अन्त में हल् किया है। इस से एक प्रत्याहार बनता है। छव्। 'नश्छव्यप्रशान्[9]॥' १२ ॥

कपय्[10] ॥ १३ ॥

'क, प' इति द्वौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते यकारमितं करोति। तेन प्रत्याहारपञ्चतयसिद्धिः। यय्। मय्। झय्। खय्। चय्। [निदर्शनम्—] 'अनु-

---

१. स०—सू० ९ ॥
२. ८ । २ । ३७ ॥
३. स०—सू० १० ॥
४. ८ । ३ । १७ ॥
५. ६ । १ । ११४ ॥
६. ७ । २ । ८ ॥
७. ८ । ४ । ५३ ॥
८. स०—सू० ११ ॥
९. ८ । ३ । ७ ॥
१०. स०—सू० १२ ॥

स्वारस्य ययि परसवर्णः[1]॥' 'मय उञो वो वा[2]॥' 'झयो होऽन्यतरस्याम्[3]॥' 'पुमः खय्यम्परे[4]॥' [वा०—] 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः[5]॥' १३ ॥

'क, प' इन दो वर्णों का उपदेश करके यकार अन्त में चार प्रत्याहारों की सिद्धि के लिये हल् किया है । यय् । मय् । झय् । खय् । इन के सूत्र ये हैं—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः[1]॥' 'मय उञो वो वा[2]॥' 'झयो होऽन्यतरस्याम्[3]॥' 'पुमः खय्यम्परे[4]॥' 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः[5]॥' [चय्] यह वार्त्तिक का प्रत्याहार है ॥ १३ ॥

शषसर्[6]॥ १४ ॥

'श, ष, स' इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते रेफमितं प्रशास्ति । तेन पञ्च प्रत्याहाराः सिद्ध्यन्ति । यर् । झर् । खर् । चर् । शर् । निदर्शनम्—'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा[7]॥' 'झरो झरि सवर्णे[8]॥' 'खरि च[9]॥' 'अभ्यासे चर्च[10]॥' 'वा शरि[11]॥' १४ ॥

'श, ष, स' इन तीन वर्णों का उपदेश करके अन्त में रेफ हल् पढ़ा है । इस से पांच प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । यर् । झर् । खर् । चर् । शर् । इन के सूत्र ये हैं—'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा[7]॥' 'झरो झरि सवर्णे[8]॥' 'खरि च[9]॥' 'अभ्यासे चर्च[10]॥' 'वा शरि[11]॥' १४ ॥

हल्[12]॥ १५ ॥

'ह्' इत्येकं वर्णमुपदिश्य सर्वेषां वर्णानामन्ते लकारमितं करोति । तेन षट् प्रत्याहारा भवन्ति । अल् । हल् । वल् । रल् । झल् । शल् । निदर्शनम्—'अलोऽन्त्यस्य[13]॥' 'हलोऽनन्तराः संयोगः[14]॥' 'लोपो व्योर्वलि[15]॥' 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च[16]॥' 'झलो झलि[17]॥' 'शल इगुपधादनिटः क्सः[18]॥'

---

१. ८ । ४ । ५८ ॥
२. ८ । ३ । ३३ ॥
३. ८ । ४ । ६२ ॥
४. ८ । ३ । ६ ॥
५. कोशे त्विदं वार्त्तिकं 'चयो द्वितीयादिः पौष्करसादेः ॥' इत्येवम् ॥ सिद्धान्तकौमुद्यां '०देरिति वाच्यम् ॥' इति । हरदत्तमिश्रः 'खयो द्वितीयाः०॥' (८।३।२८॥८।४।४८) इत्येवं पठति । अस्माभिस्तु सन्धिविषयसम्मतो भाष्यपाठः स्वीकृतः ॥
६. सं०—सू० १३ ॥
७. ८ । ४ । ४५ ॥
८. ८ । ४ । ६५ ॥
९. ८ । ४ । ५५ ॥
१०. ८ । ४ । ५४ ॥
११. ८ । ३ । ३६ ॥
१२. सं०—सू० १४ ॥
१३. १ । १ । ५१ ॥
१४. १ । १ । ७ ॥
१५. ६ । १ । ६६ ॥
१६. १ । २ । २६ ॥
१७. ८ । २ । २६ ॥
१८. ३ । १ । ४५ ॥

सर्वे प्रत्याहारा मिलित्वा ४३ त्रयश्चत्वारिंशद् भवन्ति[1] । तद्यथा—

[१] अण् । [२] अक्, [३] इक्, [४] उक् । [५] एङ् । [६] अच्, [७] इच्, [८] एच्, [९] ऐच् । [१०] अट् । [११] अण्, [१२] इण्, [१३] यण् । [१४] अम्, [१५] यम्, [१६] ञम्[2], [१७] ङम् । [१८] यञ् । [१९] भष्, [२०] झष् । [२१] अश्, [२२] हश्, [२३] वश्, [२४] जश्, [२५] झश्, [२६] बश् । [२७] छव् । [२८] यय्, [२९] मय्, [३०] झय्, [३१] खय्, [३२] चय् । [३३] यर्, [३४] झर्, [३५] खर्, [३६] चर्, [३७] शर् । [३८] अल्, [३९] हल्, [४०] वल्, [४१] रल्, [४२] झल्, [४३] शल् ॥

अस्मिन् व्याकरणेऽक्षरसमाम्नायस्थाः सर्वे प्रत्याहारा एतावन्त एव सन्ति ॥

भा०—*प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न ।*
आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तरः ॥ १ ॥
ऊकालोऽजिति वा योगस्तत्कालानां यथा भवेत् ।
अचां ग्रहणमच्कार्यं तेनैषां न भविष्यति ॥ २ ॥

एवमपि 'कुक्कुटः' इत्यत्र[3] प्राप्नोति । तस्मात् पूर्वोक्त एव परिहारः ॥ अपर आह[4]—

ह्रस्वादीनां वचनात् प्राग्यावत्तावदेव योगोऽस्तु ।
अच्कार्याणि यथा स्युस्तत्कालेष्वत्तु कार्याणि ॥ ३ ॥[5]

(प्र०) प्रत्याहारेषु येऽनुबन्धाः सन्ति, तेषामज्-ग्रहणेन ग्रहणं कथं न भवति ।

(उ०) 'आचाराद्'—आचार्याणां सूत्रेषु तत्कार्यव्यवहाराभावात्। 'अप्रधानत्वात्'—तेषां प्राधान्येन पाठो हल्षु, अप्राधान्येनाक्षु । 'लोपश्च बलवत्तरः'—इत्-सञ्ज्ञकत्वाल्लोपो भविष्यति ॥ १ ॥

---

१. तथा च काशिकायां प्रक्रियाकौमुद्याञ्च— एकस्मात् ङञणवटाः, द्वाभ्यां षः, त्रिभ्य एव कणमाः स्युः। ज्ञेयौ चयौ चतुर्भ्यः, रः पञ्चभ्यः, शलौ षड्भ्यः ॥ प्रक्रियाकौमुदीटीकाकारो विट्ठलाचार्योऽयं (व्याडि-कृत–)सङ्ग्रहस्य श्लोक इत्यस्मभ्यो विज्ञापयति । सुधिधरस्त्वेतत् प्रमादाद् भाष्यवचनमाह । अत्र वार्त्तिकोणादिखलप्रत्याहारौ न गणितौ ॥

२. चान्द्रेऽप्युणादिपाठे—२ । ३९ ॥

३. पाठान्तरम् —०त्रापि ॥

४. नागेशः—वार्त्तिककृतोक्त इत्यर्थः ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥ ह्यवरट्-सूत्रव्याख्याने ॥

अथ वा 'ऊकालोऽच्[1]' इति सूत्रं विभज्य 'ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः' इति प्रथक्करणेन तत्कालानामचां ग्रहणेन तेषामनुबन्धानां ग्रहणमच्कार्य्यं च नैव भविष्यति ॥ २ ॥

एतदेव प्रयोजनं तृतीयस्यापि ॥ ३ ॥

अत्र प्रत्याहारेषु केचिद् भट्टोजिदीक्षितादयः[2] सम्प्रवदन्ति[3] —इमानि माहेश्वराणि सूत्राणीति। महेश्वरादागतानि महेश्वरेण प्रोक्तानि वा। तदिदमसत्यम्। कथम्। तत्र प्रमाणाभावात्। अत्र तु प्रमाणम्—

भा०—एषा ह्याचार्य्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति। अचोऽक्षु, हलो हल्षु ॥[4]

अत्र 'उपदिशति' इति क्रियायाः कर्त्ता पूर्वस्याः षष्ठ्या विपरिणामादाचार्य्यः पाणिनिरायाति। येषामेतावज्ज्ञानं नास्तीमानि सूत्राणि केन रचितानि, ते व्याकरणस्य ग्रन्थान् रचितुमुद्यताः, महदाश्चर्यमेतत् ॥ १५ ॥

'ह्' इस एक वर्ण का उपदेश करके सब प्रत्याहारों के अन्त में लकार हल् पढ़ा है। इस से छः प्रत्याहार सिद्ध होते हैं। अल्। हल्। वल्। रल्। झल्। शल्। इन के सूत्र ये हैं—'अलोऽन्त्यस्य[6]॥' 'हलश्च[7]॥' 'लोपो व्योर्वलि[8]॥' 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च[9]॥' 'झलो झलि[10]॥' 'शल इगुपधादनिटः क्सः[11]॥'

ये सब प्रत्याहार मिलके ४२ बयालास[12] होते हैं। वे ये हैं—

---

१. १ । २ । २७ ॥

२. यथा कथासरित्सागरे—

तत्र तीव्रेण तपसा तोषितादिन्दुशेखरात्।
सर्वविद्यामुखं तेन प्राप्तं व्याकरणं नवम् ॥
(१ । ४ । २२)

नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायाम्—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥१॥

विशेषविस्तार उपमन्युव्याख्याने द्रष्टव्यः ॥

तथैवार्वाचीनपाणिनीयशिक्षायां (श्लो० ५८ ॥, याजुषशाखीयायां श्लो० ३४) अन्यत्र च ॥

३. परिवादपरमिदं वचनम् ॥

४. अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥ हयवरट्—सूत्रव्याख्याने ॥

५. नागेशस्य महान् भ्रमो जातो यत् कथयति "आचार्यशब्देनानादिः शब्दपुरुषः।" एष एवाचार्य-शब्दोऽन्यत्र नागेशेन स्वयमनादिशब्दपुरुषपरतया न क्वचिद् व्याख्यातः। यथा 'प्राक्कडारात् समासः ॥' (२ । १ । ३) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने "एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते०।" इत्यत्र ॥

६. १ । १ । ५१ ॥

७. ३ । ३ । १२१ ॥

८. ६ । १ । ६६ ॥

९. १ । २ । २६ ॥

१०. ८ । २ । २६ ।

११. ३ । १ । ४५ ।

१२. संस्कृत में सङ्ख्या ४३ दी गई है। वहां पूर्व और पर णकार से होने वाले अण्-प्रत्याहार को दो बार गिना गया है ॥

[१] अण्। [२] अक्, [३] इक्, [४] उक्। [५] एङ्। [६] अच्, [७] इच्, [८] एच्, [९] ऐच्। [१०] अट्। [११] इण्, [१२] यण्। [१३] अम्, [१४] यम्, [१५] ञम्, [१६] ङम्। [१७] यञ्। [१८] भष्, [१९] झष्। [२०] अश्, [२१] हश्, [२२] वश्, [२३] जश्, [२४] झश्, [२५] बश्। [२६] छव्। [२७] यय्, [२८] मय्, [२९] झय्, [३०] खय्, [३१] चय्। [३२] यर्, [३३] झर्, [३४] खर्, [३५] चर्, [३६] शर्। [३७] अल्, [३८] हल्, [३९] वल्, [४०] रल्, [४१] झल्, [४२] शल् ॥

व्याकरणशास्त्र में इतने ही प्रत्याहार हैं ॥

अब यह विचार करते हैं कि प्रत्याहारों में सूत्रों के अन्त में जो हल्-अक्षर पढ़े हैं, उन का प्रत्याहारों के साथ ग्रहण क्यों नहीं होता।

(उ०) 'आचारात्'—सूत्र रचने वाले आचार्य ऋषि लोगों का व्यवहार सूत्रों में नहीं दिखाता। जैसे—'इको गुणवृद्धी'॥[1] इस सूत्र में ककार का ग्रहण अच्-प्रत्याहार में होता, तो ककार को अच् मानके इकार के स्थान में य हो जाता। 'अप्रधानत्वात्'—उन हलों का पाठ मुख्य करके हलों ही में किया है, अचों में तो गौणता से है। इससे भी उन को अच् नहीं मान सकते। 'लोपश्च बलवत्तरः'—और इन इत्-सञ्ज्ञक वर्णों का बलवान् होने से लोप हो जाता है ॥ १ ॥

'ऊकालो०' अथवा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत धर्म वाले वर्णों को अच् कहते हैं। सो धर्म उन में नहीं है, इससे उन का ग्रहण न होगा ॥ २ ॥

तीसरी कारिका का अभिप्राय भी दूसरी के तुल्य है ॥ ३ ॥

प्रत्याहारसूत्रों के विषय में सिद्धान्तकौमुदी के बनाने पढ़ने वाले लोगों ने कहा और कहते हैं कि प्रत्याहारसूत्र माहेश्वर अर्थात् महादेव के बनाये हैं। सो देखो इन लोगों को कैसा भ्रम हुआ है कि जिन पाणिनिजी महाराज ने सब व्याकरण के सूत्र बनाये, तो क्या प्रत्याहारसूत्र नहीं बना सकते थे। तथा इन लोगों के कहने में कोई प्रमाण भी नहीं है। यहां तो पाणिनि के बनाने में प्रमाण बहुत हैं। 'एषा०।' इस पंक्ति में प्रत्यक्ष उपदेश करने वाले आचार्य्य पाणिनिजी महाराज हैं। जिन लोगों को इतना भी बोध नहीं कि ये सूत्र किस ने बनाये हैं, वे लोग व्याकरण के ग्रन्थ बनाने लगते हैं, बड़े आश्चर्य की बात है ॥ १५ ॥

इत्यक्षरसमाम्नायः ॥

---

१. १ । १ । ३ ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ॥

अथ सञ्ज्ञासूत्राणि ॥

वृद्धिरादैच्[1] ॥ १ ॥

वृद्धिः । १ । १ । आदैच् । १ । १ । आच्च ऐच्च [=आदैच् ।] समाहारद्वन्द्वः । वृद्धिः सञ्ज्ञा । आदैचः सञ्ज्ञिनः । तद्भावितातद्भावितानां 'आ, ऐ, औ' इत्येतेषां वर्णानां प्रत्येकं वृद्धि-सञ्ज्ञा भवति । आरण्याः । ऐतिकायनः । औपगवः । वृद्धि-प्रदेशानि सूत्राणि—'वृद्धिरेचि[2] ॥' इत्यादीनि ॥

भा०—कुत्वं कस्मान्न भवति 'चोः कुः[3] ॥' 'पदस्य[4] ॥' इति । भत्वात् । कथं भ सञ्ज्ञा । 'अयस्मयादीनि च्छन्दसि[5] ॥' इति । 'छन्दसि' इत्युच्यते, न चेदं छन्दः । छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति ॥

सञ्ज्ञासञ्ज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्यः । कुतो ह्येतत् । वृद्धि-शब्दः सञ्ज्ञा, आदैचः सञ्ज्ञिन इति । न पुनरादैचः सञ्ज्ञा, वृद्धि-शब्दः सञ्ज्ञीति ॥

अनाकृतिः सञ्ज्ञा, आकृतिमन्तः सञ्ज्ञिनः । लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति सञ्ज्ञा क्रियते ॥

अथ वाऽऽवर्त्तिन्यः सञ्ज्ञा भवन्ति । वृद्धि शब्दश्चावर्त्तते, नादैच्-छब्दः । तद्यथा—इतरत्रापि देवदत्त-शब्द आवर्त्तते, न मांसपिण्डः ॥

अथ वा पूर्वोच्चारितः सञ्ज्ञी, परोच्चारिता सञ्ज्ञा । कुत एतत्[6] । सतो हि कार्यिणः कार्य्येण भवितव्यम् । तद्यथा—इतरत्रापि सतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति सञ्ज्ञा क्रियते ॥

---

१. स०—सू० १७ ॥
२. ६ । १ । ८८ ॥
३. ८ । २ । ३० ॥
४. ८ । १ । १६ ॥
५. १ । ४ । २० ॥
६. लेखकप्रमादादत्रापि "तद्यथा" इति ॥

कथं 'वृद्धिरादैच्॥' इति। एतदेकमाचार्य्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्। माङ्गलिक आचार्य्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धि-शब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि[1] भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युः॥[2]

त-परकरणमुभाभ्यां सह सम्बध्यते ।

तः परो यस्मात् सोऽयं=त-परः ।

तादपि परः=त-परः ॥

तेन तत्कालस्य ग्राहकत्वात् त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति[3] ॥ १ ॥

'आदैच्' आ, ऐ, औ, इन का **'वृद्धिः'** वृद्धि नाम है । ये नामी हैं । यहां वृद्धि सञ्ज्ञा और आदैच् सञ्ज्ञी हैं। यौगिक शब्दों में जो आ, ऐ, औ हैं, उन को तद्भावित कहते हैं । तथा रूढ़ि शब्दों में जो हैं, वे अतद्भावित होते हैं[4] । इन दोनों प्रकार के आ, ऐ, औ, प्रत्येक की वृद्धि-सञ्ज्ञा है । आरण्याः—यहां 'आ' वृद्धि हुई है । इत्यादि ॥

(प्र०) इस सूत्र के अन्त में ['चोः कुः[5] ॥ पदस्य[5] ॥' इन दो सूत्रों से] चकार के स्थान में ककार पाता है, सो क्यों नहीं होता । (उ०) पद-सञ्ज्ञा होने से पाता है । यहां तो 'अयस्म०[6]॥' इस सूत्र करके वेद में भ-सञ्ज्ञा होती है । वेदों के समान सूत्रों को भी मानके कार्य्य कर लेते हैं ॥

अब सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी का विचार करते हैं। (प्र०) यहां कैसे जानते हो कि वृद्धि सञ्ज्ञा है, आदैच् सञ्ज्ञी हैं। इस से उलटा क्यों नहीं समझें कि वृद्धि सञ्ज्ञी और आदैच् सञ्ज्ञा । (उ०) सञ्ज्ञा वह कहाती है कि जिस की कुछ आकृति न हो, और सञ्ज्ञी वह, जो आकृतिवाला हो । क्योंकि लोक में भी आकृतिवाला मांस का पिण्ड, जो बालक होता है, उस का नाम देवदत्त धरते हैं। अथवा, जिस का आवर्त्तन, अर्थात् व्यवहार में वारंवार उच्चारण हो, वह सञ्ज्ञा। वृद्धि-शब्द का ही वारंवार उच्चारण होता है, आदैच् का नहीं । लोक में भी देवदत्त-शब्द का वारंवार उच्चारण होता है, मांसपिण्ड का

---

१. पाठान्तरम्—०पुरुषकाणि । भर्तृहरिविरचित-श्रीमहाभाष्यटीकाया (जर्मनीदेशराजधानी-)बर्लिन-पुस्तकालयस्थकोशो भगवद्दयानन्दसरस्वतीपठितं पाठं पुष्णाति ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ३ ॥

३. महाभाष्ये—"अथ क्रियमाणेऽपि तकारे कस्मादेव त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति। 'तपरस्तत्कालस्य॥' (१।१।६९) इति नियमात्॥" (अ० १ । पा० १ । आ० ३)

४. जिनेन्द्रबुद्धिकृत काशिकाविवरणपञ्जिका में इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार से की है—"ते तद्भाविता ये वृद्धि-शब्देनोत्पादिताः । ततोऽन्येऽतद्भाविताः ॥"

५. क्रम से ८ । २ । ३० ॥ ८ । १ । १६ ॥

६. १ । ४ । २० ॥

नहीं। अथवा, पहले जिस का उच्चारण हो, वह सञ्ज्ञी, पीछे हो, वह सञ्ज्ञा। क्योंकि जब कोई वस्तु विद्यमान है, तब उस का नाम धरेंगे। तो विद्यमान का प्रथम उच्चारण होता है, इससे वह सञ्ज्ञी। और जिस का पीछे उच्चारण किया जाय, वह सञ्ज्ञा। इस सूत्र में वृद्धि-शब्द सञ्ज्ञा है। उस का प्रथम उच्चारण ग्रन्थ के आदि में मङ्गलार्थ पढ़ा है। मङ्गल है प्रयोजन जिन का, ऐसे आचार्य्य, अर्थात् पाणिनिजी महाराज ने बड़े व्याकरणशास्त्र के आदि में मङ्गल के लिये वृद्धि-शब्द का प्रयोग किया है। प्रयोजन यह है कि इस ग्रन्थ के पढ़ने पढ़ाने वाले वीर पुरुष हों, और उन की उमर अधिक हो, और उन की सब प्रकार बढ़ती हो। यह ऋषि लोगों का आशीर्वाद पढ़ने पढ़ाने वालों के लिये है ॥

त-पर का अर्थ यह है कि त जिस से परे हो, और त से परे जो हो, इन दोनों को त-पर कहते हैं। सो इस सूत्र में इसलिये है कि तीन मात्रा चार मात्रा के स्थान में तीन मात्रा चार मात्रा के आदेश न हों ॥ १ ॥

अदेङ् गुणः[1] ॥ २ ॥

अदेङ्। १। १। गुणः। [१। १।] अच्च एङ् च=अदेङ्। समाहार-द्वन्द्वः। तद्भावितातद्भावितानां 'अ, ए, ओ' इत्येतेषां वर्णानां प्रत्येकं गुण-सञ्ज्ञा भवति। तपरकरणं पूर्ववत्। कर्त्ता, हर्त्ता। चेता। स्तोता। गुण-प्रदेशानि—'मिदेर्गुणः[2]॥' इत्येवमादीनि ॥ २ ॥

पूर्वोक्त तद्भावित और अतद्भावित 'अदेङ्' अ, ए, ओ, इन वर्णों की 'गुणः' गुण-सञ्ज्ञा है। [अथवा] यहां 'अ, ए, ओ' ये सञ्ज्ञी, और 'गुण' यह सञ्ज्ञा है। जैसे—'कर्त्ता' इस पद में 'कृ+ता' इस को गुण हो गया, तो 'कर्त्ता' हो गया। तथा 'चेता, स्तोता' इन दोनों प्रयोगों में 'इ, उ' इन के स्थान में ए और ओ गुण हुआ है ॥ २ ॥

इको गुणवृद्धी[3] ॥ ३ ॥

इकः। ६। १। गुणवृद्धी। १। २।

'वृद्धिर्भवति', 'गुणो भवति' इति यत्र ब्रूयाद्, 'इकः' इति[4] तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्॥

गुणश्च वृद्धिश्च=गुणवृद्धी। द्वन्द्वसमासः।

'द्वन्द्वे घि[5]॥' इति वृद्धेः पूर्वनिपाते प्राप्ते 'धर्मादिषूभयं पूर्वं निपतति[6]॥'

---

१. स०—सू० १८ ॥
२. ७। ३। ८२ ॥
३. स०—सू० ५० ॥
४. पाठान्तरम्—इत्येतत् ॥
५. २। २। ३२ ॥
६. अ० २। पा० २। आ० २ ॥ 'अल्पाच्तरम्॥' (२। २। ३४) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने 'धर्मादिषूभयम्॥' इति वार्त्तिकम्। तत्र चेदं भाष्यम् ॥

(भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुद्यां, अन्नम्भट्टश्च अष्टाध्यायीवृत्तौ मिताक्षरायां 'धर्मादिष्वनियमः॥' इति पठतः। शब्दकौस्तुभे 'इष्यते' इत्यधिकम् ॥)

इति गुण-शब्दस्य पूर्वनिपातः । तत्रोभयं भवति—गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ ॥

अनियमप्रसङ्गे नियन्त्रीयं परिभाषा । औपगवः ॥

'इकः' इति किम् । व्यञ्जनस्य गुणवृद्धी मा भूताम् । अन्त-गः । अन्त-उपपदे गमि-धातोर्डे प्रत्यये कृते ओष्ठ्यस्य मकारस्य ओकारो गुणः प्राप्नोति । 'इकः' इति वचनान्न भवति ।

'गुणवृद्धी' इति किम् । गुण-वृद्धि-शब्दाभ्यां यत्र वृद्धिगुणावुच्येते, तत्रैवेकः स्थाने भवतः । इह मा भूताम्—द्यौः, पन्थाः, स इति ॥

इहान्ये[1] वैयाकरणा मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते । परिमृजन्ति । परिमार्जन्ति । परिममृजतुः । परिममार्जतुरित्याद्यर्थम् ॥

'अजादौ सङ्क्रमे'=अजादौ क्ङिति[2]॥ ३ ॥

जिन सूत्रों में 'गुणवृद्धी' सञ्ज्ञा किये हुए गुण और वृद्धि शब्द कहें, वहां वे इक् के स्थान में हों । उक्त वृद्धि और गुण सञ्ज्ञाओं का नियम करने वाली यह परिभाषा है । जैसे 'औपगवः' इस शब्द में इक् के स्थान में गुण और वृद्धि दोनों कार्य्य हुए हैं । अर्थात् 'उपगु' [यहां] आदि में तो वृद्धि और अन्त में गुण हुआ है ॥ 'इकः' यह पद इस सूत्र में इसलिये है, कि व्यञ्जन के स्थान में गुण, वृद्धि न हों । अर्थात् 'अन्त+गम्+ड' इस अवस्था में मकार के स्थान में ओकार गुण पाता है, सो नहीं हुआ । और 'गुणवृद्धी' इसलिये पढ़े हैं, कि जिन सूत्रों में 'गुण, वृद्धि' इन्हीं शब्दों से गुण, वृद्धि विधान किये हों, वहीं इक् के स्थान में होने का नियम रहे । यहां न हों—'द्यौः' । इस शब्द में औकारादेश व्यञ्जन [व्] के स्थान में हुआ है । औकार की वृद्धि-सञ्ज्ञा होने से इक् के स्थान में पाता था, सो नहीं हुआ ॥

अन्य वैयाकरण लोग मृज् धातु को अजादि कित्, ङित् में विकल्प करके वृद्धि कहते हैं ॥ ३ ॥

न धातुलोप आर्धधातुके[3]॥ ४ ॥

न । अव्ययपदम् । धातुलोपे । ७ । १ । आर्धधातुके । ७ । १ ।

आर्धधातुकनिमित्ते लोपे[4] सति ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः ॥

---

१. "इहान्ये" इत्यस्मात् पूर्वं "वा०—" इति कोशे दृश्यते । इदं वार्त्तिककर्त्तुर्मतमित्यर्थः ॥

२. अत्र नागेशः—"सङ्क्रम इति गुणवृद्धिप्रतिषेधविषयक्ङितः प्राचां सञ्ज्ञा ॥"

३. आ०—सू० ५५३ ॥

४. कोशे "लोपे" इत्यतः पूर्वं "धातु–" इति पङ्क्त्युपरिभागेऽर्थस्य स्पष्टीकरणार्थं पश्चाल्लिखितम् ॥

धातोरवयवः=धात्ववयवः । धात्ववयवस्य लोपः = धातुलोपः । उत्तरपदलोपी समासः ॥

आर्धधातुक-ग्रहणं लोप-विशेषणम् । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । सरीसृपः ॥

धातु-ग्रहणं किमर्थम् । [इह मा भूत्] लूञ्—लविता, लवितुम् । 'आर्धधातुके' इति किमर्थम् । *त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति*[1] ॥

इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः ॥

इह मा भूत्—अभाजि, रागः॥ ४ ॥[2]

'आर्धधातुके' आर्धधातुकनिमित्त जहां 'धातुलोपे' धातु के अवयव का लोप हो, वहां 'इकः' इक् के स्थान में 'गुणवृद्धी' गुण, वृद्धि 'न' न हों। गुण, वृद्धि का जो विधान किया है, उस का यह अपवाद है । जैसे—'लोलुवः' । यहां गुण नहीं हुआ । तथा 'मरीमृजः' यहां वृद्धि नहीं हुई ॥

इस सूत्र में 'धातु' का ग्रहण इसलिये है, [कि] 'लविता' यहां गुण का निषेध न हो । 'आर्धधातुक' ग्रहण इसलिये है कि 'रोरवीति' यहां सार्वधातुक में गुण का निषेध न हो । इक् के स्थान में जो गुण, वृद्धि प्राप्त हों, उन का निषेध है । इससे 'राग' यहां प्रतिषेध नहीं हुआ ॥ ४ ॥

क्क्ङिति च[3]॥ ५ ॥

'न' इत्यनुवर्त्तते । क्क्ङिति । ७ । १ । च ।अ० । [क्क्ङित्-] प्रत्ययनिमित्ते इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतः, ते न भवतः । गश्च कश्च ङश्च =क्क्ङः । इच्च इच्च इच्च=इतः । क्क्ङ इतो यस्य तत् [क्क्ङित्] । चितः । चितवान् । भिन्नः । भिन्नवान् ॥

ङिति—चिनुतः । सुनुतः ॥

---

१. ऋ०—४ । ५८ । ३ ॥
वा०—१७ । ९१ ॥
का०—४० । ७ ॥
नि०—१३ । ७ ॥
मैत्रायणीयसंहितायां—"त्रेधा बद्धो वृषभो रोरवीति ।" इति ॥ (१ । ६ । २ ॥ ८७ । १८)
२. अत्र कोशे "आ० ४ [=भाष्यस्य चतुर्थाह्निके] व्याख्यातम्" इति ॥
३. आ०—सू० ४५ ॥

कोशे 'क्ङिति' इत्येक एव ककारः । अत्र ककारद्वयवानेव पाठः साधीयानिति सूत्र-वार्त्तिक-भाष्येभ्यो निश्चीयते । सूत्रं यथा—"ग्लाजि०॥" (३ । २ । १३९) भाष्ये तु स्पष्टमेव—"ककारे गकारश्चर्त्वभूतो निर्दिश्यते 'क्क्ङिति च' इति॥" वार्त्तिककृतापि चोक्तम्—
"क्नोर्गित्त्वान्न स्थ ईकारः क्ङितेरीत्वशासनात् । गुणाभावस्त्रिषु स्मार्यः श्र्युकोऽनिट्त्वं गकोरितोः॥" इति ॥

[ककारे] गकारश्चर्त्वभूतो निर्दिश्यते[1]।

'ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः[2]॥' जिष्णुः । भूष्णुः ॥ ५ ॥[3]

'क्ङिति' क्, ङ् और ग् जिन प्रत्ययों के इत्-संज्ञक होके लोप होते हैं, वे प्रत्यय परे हों, तो 'इकः' इक् के स्थान में 'गुणवृद्धी' जो गुण, वृद्धि प्राप्त हैं, वे 'न' न हों। जैसे—चितः। चितवान्। यहां कित्-प्रत्यय के परे गुण प्राप्त था, सो न हुआ। 'चिनुतः' यहां ङित्-प्रत्यय के परे गुण न हुआ। तथा 'जिष्णुः' यहां गित्-प्रत्यय के परे गुण का निषेध हो गया ॥ ५ ॥

दीधीवेवीटाम्[4] ॥ ६ ॥

'न' इत्यनुवर्त्तते । दीधीवेवीटाम् । ६ । ३ । 'दीधी, वेवी, इट्' एषां गुण-वृद्धी न भवतः । दीधी च वेवी च इट् च, तेषां द्वन्द्वः । 'दीधीङ्' दीप्तिदेवन-योः[5]। 'वेवीङ्' वेतिना तुल्ये[6]। छान्दसौ धातू[7]। 'इट्' चागमः । आदीध्यनम् । आदीध्यकः । आवेव्यनम् । आवेव्यकः । इट्—श्वः कणिता। श्वो रणिता॥ ६ ॥[3]

'दीधीवेवीटाम्'—'दीधीङ्' दीप्तिदेवनयोः[8]। 'वेवीङ्' वेतिना तुल्ये[9]। ये दोनों वेद के धातु और इट् का आगम, इन को 'गुणवृद्धी न' गुण, वृद्धि न हों। जैसे—'आदीध्यनम्' यहां दीधी धातु को गुण, [और] 'आदीध्यकः' यहां वृद्धि, [तथा] 'आवेव्यनम्' यहां वेवी धातु को गुण [और] 'आवेव्यकः' यहां वृद्धि, और 'श्वः कणिता' यहां इट् के आगम को गुण प्राप्त है, सो न हुआ ॥ ६ ॥

हलोऽनन्तराः संयोगः[10] ॥ ७ ॥

हलः । १ । ३ । अनन्तराः । १ । ३ । संयोगः । १ । १ । अतज्जातीयैः स्वरैरव्यवहिता हलः संयोग-सञ्ज्ञा भवन्ति[11]। हल् च हल् च=हलौ। हल् च हल् च हल् च[12]=हलः । हलौ च हलश्च=हलः । अविद्यमानमन्तरमेषां ते

१. अ० ३ । पा० २ । आ० ३ ॥ "ग्लाजि०॥" (३।२।१३९) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्यानान्तर्गतम् ॥

२. ३ । २ । १३९ ॥

३. कोशेऽत्रापि—"आ० ४ व्याख्यातम्" इति ॥

४. आ०—सू० ५२ ॥

५. धा०—अदा० ६७ ॥

६. धा०—अदा० ६८ ॥

७. भाष्ये "दीधीवेव्यौ छन्दोविषयौ ॥" इति ॥ (अ० १ । पा० १ । आ० ४)

८. दीधीङ् धातु=चमकना और खेलना ॥

९. वेवीङ् धातु=गति करना ॥

१०. स०—सू० १६ ॥ शौनकप्रातिशाख्ये ऽपि—"संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः ॥" इति ॥ "संयोगं विद्याद् व्यञ्जनसङ्गमम् ॥" इति च ॥ (क्रमेण १ । १ । १७ ॥ ३ । १८ । १९)

११. भाष्ये—"स्वरैरनन्तर्हिता हलः संयोगसञ्ज्ञा भवन्ति । सर्वत्रैव ह्यतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति ॥" (अ० १ । पा० १ । आ० ४)

१२. कोशे "हल् च ३" इति दृश्यते ॥

ऽनन्तराः । उक्तसमासेन द्वयोर्बहूनां च संयोग-सञ्ज्ञा भवति । गोमान् । यवमान् ॥

'हलः' इति किम् । तितउच्छत्रम् । 'संयोगान्तस्य लोपः[1]॥' इत्युकारलोपः प्राप्नोति । 'अनन्तराः' इति किम् । 'पचति पनसम् ।' इति सकारमकारयोः संयोग-सञ्ज्ञायां सत्यां 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च[2]॥' इति सकारलोपः प्राप्नोति ॥७॥[3]

'अनन्तराः' जिन के बीच में कोई अच् न हो, इस प्रकार के जो 'हलः' हल् हैं, वे दो और बहुत भी 'संयोगः' संयोग-सञ्ज्ञक हों। जैसे—गोमान् । यवमान् । यहां संयोग-सञ्ज्ञा के होने से अन्त के तकार का लोप हो गया है ॥

हलों की संयोग-सञ्ज्ञा इसलिये की है, कि 'तितउच्छत्रम्' यहां अचों की संयोग-सञ्ज्ञा होके उकार का लोप न हो जाय। अनन्तर, अर्थात् स्वरों से रहित हलों की संयोग-सञ्ज्ञा इसलिये की है कि 'पचति पनसम्' यहां स्वरों के व्यवधान में सकार मकार की संयोग-सञ्ज्ञा से सकार का लोप पाता है, सो न हो ॥ ७ ॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः[4] ॥ ८ ॥

मुखनासिकावचनः । १ । १ । अनुनासिकः । १ । १ । मुखनासिकमावचनं यस्य वर्णस्य सोऽनुनासिक-सञ्ज्ञो भवति ।

मुखं च नासिका च=मुखनासिकम् ।

'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्[5]॥' इत्येकवद्भावः । आवचनं च आवचनं च=आवचनम् । ईषद् वचनम्=आवचनम् ॥

भा०—अथ वा मुखनासिकमावचनमस्य सोऽयं मुखनासिकाऽऽवचनः । अथ किमिदमावचनमिति । ईशद् वचनं=आवचनमिति । किञ्चिन्मुखवचनं, किञ्चिन्नासिकावचनम् । मुखद्वितीया वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः । मुखोपसंहिता वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः ॥[6]

[अनुनासिक-प्रदेशानि सूत्राणि—] 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि[7]॥' [इत्यादीनि । अत्रोदाहरणे—] 'अभ्र आँ अपः[8]।' 'चन आँ इन्द्रः ॥'

---

१. ८ । २ । २३ ॥

२. ८ । २ । २९ ॥

३. अत्र पुनः कोशे "आ० ४ व्याख्यातम्" इति ॥

४. वाजसनेयिनां प्रातिशाख्येऽपि—"मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः ॥" इति ॥ (१ । ७५)

५. २ । ४ । २ ॥

६. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥

७. ६ । १ । १२६ ॥

८. ऋ०—५ । ४८ । १ ॥ नि०—५ । ५ ॥

मुख-ग्रहणं किमर्थम् । 'नासिकावचनोऽनुनासिकः ॥' इतीयत्यु-
च्यमाने यमानुस्वाराणामेव[1] प्राप्नोति[2]॥
नासिका-ग्रहणं किमर्थम् । 'मुखवचनोऽनुनासिकः ॥' इतीयत्यु-
च्यमाने क-च-ट-त-पानामेव प्राप्नोति[2] ॥ ८ ॥[3]

'मुखनासिकावचनः' कुछ मुख और कुछ नासिका से जिस का उच्चारण हो, ऐसा जो वर्ण है, उस की 'अनुनासिकः' अनुनासिक-सञ्ज्ञा है । जैसे—'अभ्र आँ अपः[4] ।' यहां आकार के ऊपर अनुनासिक हो गया है ॥

मुख-ग्रहण इसलिये है कि अनुस्वार और यम्-प्रत्याहार की ही अनुनासिक सञ्ज्ञा[5] हो जाय। नासिका-ग्रहण इसलिये है कि क, च, ट, त, प, इन वर्णों की अनुनासिक-सञ्ज्ञा न हो ॥ ८ ॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्[6] ॥ ९ ॥

तुल्यास्यप्रयत्नम् । १ । १ । सवर्णम् । १ । १ । तुल्य आस्यप्रयत्न एषां ते वर्णाः सवर्ण-सञ्ज्ञा भवन्ति । तुला-शब्दो भिदादित्वात्[7] स्त्रियां वर्त्तते, तस्मात् 'नौवयोधर्म०[8] ॥' इति सम्मितार्थे यत् ॥

अस्यन्ति वर्णाननेन, तदास्यं = मुखम् । 'कृत्यल्युटो बहुलम्[9] ॥' इति करणे ण्यत् । ततः शरीरावयवाद् यत् । आस्ये = मुखे भवं ताल्वादिस्थानं = आस्यम् ॥

प्रयतनं = प्रयत्नः[10] ॥ प्र-पूर्वाद् यततेर्भावसाधनो नङ्-प्रत्ययः ॥

समानं च तद्वर्णं = सवर्णम् । 'ज्योतिर्जनपद०[11] ॥' इति समानस्य सः । वर्ण-शब्दस्यार्धर्चादिपाठान्नपुंसकत्वम् ॥

त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः—तुल्य आस्ये प्रयत्न एषाम् [इति] । अथ वा पूर्वस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः—तुल्य आस्ये = तुलास्यः, तुलास्यः प्रयत्न एषाम् [इति] । अथ वा परस्तत्पुरुषस्ततो

---

१. कोशे पङ्क्त्युपरिभागे "ञ" इति ॥
२. पाठान्तरम्—"प्रसज्येत" इति ॥
३. कोशे "आ० ४ व्याख्यातम्" इत्यत्र दृश्यते ॥
४. ऋ०—५ । ४८ । १ ॥
नि०—५ । ५ ॥
५. कोश में यहां "न" लिखा है । इस पर विस्तारपूर्वक विचार हम अपनी टीका में करेंगे ॥
६. स०—सू० २१ ॥
७. "भिदादिराकृतिगणः" इति भाषावृत्तिः ॥ (३ । ३ । १०४)
वाचस्पत्याभिधाने—"तुला स्त्री तुल भिदा० अङ् ।" इति ॥ [वर्त्तते ॥
गणरत्नमहोदधौ चापि तुला-शब्दो भिदादिगणे
८. ४ । ४ । ९१ ॥
९. ३ । ३ । ११३ ॥
१०. वर्णोच्चारणशिक्षायामष्टमप्रकरणे चतुर्थं सूत्रं "[illegible] प्रयत्नः ॥" इति ॥

बहुव्रीहिः—आस्ये प्रयत्नः = आस्यप्रयत्नः, [तुल्य आस्य-प्रयत्न एषामिति ॥]

आभ्यन्तरप्रयत्नाः—

भा०—*स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्*[१] ॥ *ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्*[१] ॥ *विवृतमूष्मणाम्*[१] ॥ **ईषदित्येवानुवर्त्तते** ॥ *स्वराणां च*[१] ॥ **विवृतम् । ईषदिति निवृत्तम्** ॥[२]

स्पर्शानां कादि-मपर्यन्तानां पञ्चवर्गाणां स्पृष्टः प्रयत्नः । अन्तःस्थानां य-व-र-लानामीषत्स्पृष्टः प्रयत्नः । ऊष्मणां स-ष-श-हानामीषद्विवृतः प्रयत्नः । स्वराणामकारादि-औकारान्तानां विवृत एव ॥

अथ बाह्याः प्रयत्नाः—

भा०—**विवारसंवारौ, श्वासनादौ, घोषवदघोषवता, अल्पप्राणता, महाप्राणतेति । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः, श्वासानुप्रदानाः, अघोषाश्च** । *एकेऽल्पप्राणाः, इतरे*[३] *महाप्राणाः*[४] ॥ **तृतीयचतुर्थाः संवृतकण्ठाः, नादानुप्रदानाः, घोषवन्तः** । *एकेऽल्पप्राणाः, इतरे*[३] *महाप्राणाः*[४] ॥ *यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः*[४] ॥ **आनुनासिक्यवर्जम्** । *आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः*[४] ॥[५]

अत्र स्थानानि[६]—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

---

१. शौनकप्रातिशाख्यसूत्राणीमानीति शिवदत्तः, परं तत्र नोपलभ्यन्ते ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥ "नाज्झलौ ॥" (१ । १ । १०) इति सूत्रस्य व्याख्याने ॥

३. "अपरे" इति पाठान्तरम् ॥

४. व०—४ । ३, ५, ६, ७ ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥

६. उपरिष्टाल्लिखिताः श्लोका अर्वाचीनपाणिनीयशिक्षाया उद्धृताः । एषा शिक्षा षष्टिश्लोकप्राया ऋग्वेदीया, पञ्चत्रिंशच्छ्लोकमिता यजुर्वेदीया चाधुना स्तकभण्डारे (India Office Library, London) सार्धविंशतिश्लोका एषा शिक्षा (Ms.no. 544. 3193).

इमां शिक्षां भगवद्दयानन्द आचार्यपाणिनिकृतां न मेन इति "ऋतुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे माघमासे सिते दले" मुद्रिताया वर्णोच्चारणशिक्षायाः सुस्पष्टं ज्ञायते । तत्र भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना पाणिनीयानि सूत्राणि महानुसन्धानपरिश्रमेण प्रकाशितानि । अत्र तानि सूत्राणि नोद्धृतानीत्यतो ज्ञायते नास्य भाष्यस्य काले [illegible]

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥[१] १ ॥
हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम् ।
औरस्यं तं विजानीयात्, कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥ २ ॥
कण्ठ्यावहौ,इ-चु-य-शास्तालव्याः, ओष्ठजावुपू ।
स्युर्मूर्द्धन्या ऋ-टु-र-षाः, दन्त्या लृ-तु-ल-साः स्मृताः ॥[२] ३ ॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः, दन्त्योष्ठो वः स्मृतो बुधैः ।
ए ऐ तु कण्ठतालव्यौ, ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ॥[१] ४ ॥
संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं, विवृतं तु द्विमात्रिकम् ।
घोषा वा संवृताः सर्वे, अघोषा विवृताः स्मृताः ॥ ५ ॥
स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ, ताभ्यामैचौ तथैव च ॥ ६ ॥
अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते ।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः[१] ॥७ ॥[२]

अक्षरसमाम्नायस्थानां सर्वेषां वर्णानामुच्चारणायाष्टौ स्थानानि सन्ति । तद्यथा [१] उरः । [२] कण्ठः । [३] शिरः । [४] जिह्वामूलम् । [५]

---

१. याजुषशाखीयायां शिक्षायां क्रमेण श्लोकाः १३, २४, २५, २७ (उत्तरार्धम्) च । नन्दननगरस्थकोशे तु १६, १२, १३, १४ (उत्तरार्धम्) इति क्रमः ॥

२. ऋग्वेदीयशिक्षायां श्लोकाः १३, १६, १७, १८, २०, २१, २२ ॥

"अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।" इत्यतो जानीमोऽस्ति पाणिनेः काचिद् कृतिरेतद्विषया, न चेमे श्लोकाः सा कृतिरिति । पुण्यनगरे दक्षिणमहाविद्यालये(Deccan College, Poona) वर्त्तत एकश्चान्द्रवर्णसूत्राणां कोशो (Ms. no. 289 of 1875–76) यतः शक्यते निश्चेतुं पाणिनिनाऽपि भगवता स्वशिक्षा सूत्रैर्निबद्धेति । यथा हि चन्द्रेण पाणिनीयं शब्दानुशासनमनुकृत्य स्वकीयं शब्दलक्षणं, पाणिनीयान्युणादिसूत्राणि चानुकृत्य स्वोणादयो निर्ममिरे, तथैवेमानि तस्य वर्णसूत्राण्यपि पाणिनेर्ग्रन्थस्यानुकृतिरेव । तस्य च चान्द्रवर्णसूत्राणामाधारभूतग्रन्थस्येदं प्रथमं प्रकरणम्—अकुहविसर्जनीयाःकण्ठ्याः । हविसर्जनीयौ उरस्यावेकेषाम् । जिह्वामूलीयो जिह्व्यः । कवर्गश्चवर्णश्च जिह्व्यः । सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके । कण्ठ्यान् आस्यमात्रान् इत्येके । इचुयशास्तालव्याः । ऋटुरषा मूर्द्धन्याः । रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् । दन्तमूलस्तु तवर्गः । लृतुलसा दन्त्याः । वकारो दन्त्यौष्ठ्यः । सृक्किणीस्थानमेके । उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः । अनुस्वारयमा नासिक्याः। कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमेके । यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् । एदैतौ कण्ठ्यतालव्यौ । ओदौतौ कण्ठ्यौष्ठ्यौ । ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः । द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति । सरेफ ऋवर्णः ॥

दन्ताः । [६] नासिका । [७] ओष्ठौ । [८] तालु च । एषु स्थानेषु यथोक्ता वर्णा उच्चारणीयाः ॥ १ ॥

यदा हकारः पञ्चमैर्ण-म-ङ-ण-नैः, अन्तःस्थैर्य-र-ल-वैश्च संयुक्तो भवेत्, तदोरस्युच्चारणीयः । केवलो हकारः कण्ठेनोच्चारणीयः । यथा—'गृह्णाति' [इति] णकारेण संयुक्तः, 'ह्नुते' इति नकारेण युक्तः, 'ब्रह्म' इति मकारेण संयुक्तः ॥ २ ॥

अकारहकारयोः कण्ठ-स्थानम् । इकार-चवर्ग-यकार-शकाराणां तालु-स्थानम् । उकार-पवर्गयोरोष्ठ-स्थानम् । ऋकार-टवर्ग-रेफ-षकाराणां मूर्धा स्थानम् । लृकार-तवर्ग-लकार-सकाराणां दन्ताः स्थानम् ॥ ३ ॥

कवर्गस्य जिह्वामूलं स्थानम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । ए ऐ कण्ठतालव्यौ । ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ ॥ ४ ॥

पञ्चमषष्ठौ स्पष्टार्थौ ॥ ५ ॥ ६ ॥

'अयोगवाहा आश्रयस्थानभागिनः ।' यस्य वर्णस्य संयोगेऽयोगवाहा भवन्ति, तस्य यत् स्थानं, तत्तेषामपीति ॥ ७ ॥

अकारादि-ऋकारान्तानां वर्णानामेकैकस्याष्टादश भेदाः । तद्यथा—ह्रस्वोदात्तः । ह्रस्वानुदात्तः । ह्रस्वस्वरितः । दीर्घोदात्तः । दीर्घानुदात्तः । दीर्घस्वरितः । प्लुतोदात्तः । प्लुतानुदात्तः । प्लुतस्वरितः । इमे नव सानुनासिक-निरनुनासिकभेदेनाष्टादश भवन्ति । अष्टादशाष्टादशप्रकारका 'अ, इ, उ, ऋ' इत्येते वर्णा भवन्ति । लृकारस्य दीर्घाभावात्, सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वाभावाद् द्वादश द्वादश भेदा भवन्ति । एवं द्वात्रिंशदुत्तरं शतं स्वरभेदा भवन्ति । य-व-लाः सानुनासिक-निरनुनासिकभेदेन षट् । कादि-मपर्यन्ताः पञ्चविंशतिः । रेफोष्माणः पञ्च । एषां सवर्णा न सन्ति । एवं सभेदा व्यञ्जनाः षट्त्रिंशत् ॥

तुल्यस्थानप्रयत्नानामेतेषां वर्णानां परस्परं सवर्ण-सञ्ज्ञा भवति । निशाऽग्रम् । खट्वाऽग्रम् । अत्र सवर्ण-सञ्ज्ञत्वादकाराऽऽकारयोर्दीर्घैकादेशः ॥

आस्य-ग्रहणं किमर्थम् । भिन्नस्थानानां तुल्यप्रयत्नानां क-च-ट-त-पानां मा भूत् । किञ्च स्यात् । 'तप्तां, तप्तुम्' इत्यत्र 'झरो झरि सवर्णे[1] ॥' इति पकारस्य तकारे लोपः प्राप्नोति ॥

प्रयत्न-ग्रहणं किम् । तुल्यस्थानानां भिन्नप्रयत्नानामि-चु-य-शानां मा भूत् । किञ्च स्यात् । 'अरुश्च्योतति' इत्यत्र 'झरो झरि सवर्णे[1] ॥' इति शकारस्य

१. ८ । ४ । ६५ ॥

अष्टाध्यायीभाष्य की हस्तलिखित प्रति

पृष्ठ २९ (पूर्वार्द्ध)

चकारे लोपः प्राप्नोति ॥

भा०—ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः[1] ॥ होतृ+लृकारः=होतॄकारः। किं प्रयोजनम्। 'अकः सवर्णे दीर्घः[2] ॥' इति दीर्घत्वं यथा स्यात् ॥[3]

उभयोरन्तरतमः सवर्णो दर्घो नास्तीति कृत्वा ऋकार एव दीर्घो भवति। अनेनैतदपि सिध्यति, लृकारस्य दीर्घत्वं न भवति। ऋकार-लृकारयोः सवर्णे ऋकार एव दीर्घो भवति। ऋकार-लृकारयोः सवर्णविधानं भिन्नस्थानत्वान्न प्राप्तम् ॥

भा०—वर्णानामुपदेशस्तावत्। उपदेशोत्तरकालेत्-सञ्ज्ञा। इत्-सञ्ज्ञोत्तरकालः 'आदिरन्त्येन सहेता[4] ॥' इति प्रत्याहारः। प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्ण-सञ्ज्ञा। सवर्ण-सञ्ज्ञोत्तरकालं 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः[5] ॥' इति सवर्ण-ग्रहणम् ॥[3]

कार्येषु शब्देषु व्याकरणस्य प्रवृत्तिक्रमोऽयम् ॥ ६ ॥[6]

'तुल्यास्यप्रयत्नम्' जिन वर्णों का तालु आदि स्थानों में समान प्रयत्न हो, उन की 'सवर्णम्' सवर्ण-सञ्ज्ञा हो ॥

आभ्यन्तर प्रयत्न। ककार से लेके मकार पर्यन्त वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न, अर्थात् स्थानों में सामान्य स्पर्श होने से इन का उच्चारण होता है। 'य, र, ल, व' इन वर्णों का ईषत्-स्पृष्ट प्रयत्न, अर्थात् स्थानों में थोड़ा स्पर्श करने से उच्चारण होता है। 'स, ष, श, ह' इन वर्णों का ईषद्-विवृत, अर्थात् थोड़ा अधिक स्पर्श से उच्चारण होता है। तथा स्वरों का विना स्पर्श के[7] उच्चारण होना चाहिये ॥

अब वर्णों के स्थान ये हैं—हृदय, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु। वर्णों के उच्चारण करने के लिये ये आठ स्थान हैं ॥ १ ॥

[ङ,] ञ[8], म, ण, न, य, र, ल, व, इन अक्षरों के साथ जो हकार मिला हो, तो उसका उच्चारण हृदय से होना चाहिये। जैसे—ब्रह्म, गृह्णाति, जह्नुः, ह्यः, ह्रीः, ह्लादः, ह्वरः। इन शब्दों में पूर्वोक्त वर्ण हकार के साथ मिले हैं, सो यथोक्त उच्चारण करना चाहिये ॥ २ ॥

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥

२. ६ । १ । १०१ ॥

३. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥

४. १ । १ । ७१ ॥

५. १ । १ । ६९ ॥

६. कोशेऽत्रापि "आ० ४ व्याख्यातम्" इति ॥

७. कोश में "स्वरों का अधिक स्पर्श होने से" ऐसा लिखा है। यह लेखक प्रमाद अथवा अनवस्थित ध्यान के कारण लिखाया गया है। देखो वर्णोच्चारणशिक्षा (४ । ८)—"जिसलिये उक्त २ स्थानों में जीभ को अलग रखके स्वरों का उच्चारण करना योग्य है, इसलिये इन का विवृत प्रयत्न है ॥"

८. ङ, ञ, के उदाहरण नहीं दिए ॥

अष्टाध्यायीभाष्य की हस्तलिखित प्रति

पृष्ठ २९ (पूर्वार्द्ध)

चकारे लोपः प्राप्नोति ॥

भा०—ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः[1] ॥ होतृ+लृकारः=होतॄकारः। किं प्रयोजनम्। 'अकः सवर्णे दीर्घः[2]॥' इति दीर्घत्वं यथा स्यात् ॥[3]

उभयोरन्तरतमः सवर्णो दीर्घो नास्तीति कृत्वा ऋकार एव दीर्घो भवति । अनेनैतदपि सिध्यति, लृकारस्य दीर्घत्वं न भवति । ऋकार-लृकारयोः सवर्णे ऋकार एव दीर्घो भवति । ऋकार-लृकारयोः सवर्णविधानं भिन्नस्थानत्वान्न प्राप्तम् ॥

भा०—वर्णानामुपदेशस्तावत् । उपदेशोत्तरकालेत्-सञ्ज्ञा । इत्-सञ्ज्ञोत्तरकालः 'आदिरन्त्येन सहेता[4]॥' इति प्रत्याहारः । प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्ण-सञ्ज्ञा । सवर्ण-सञ्ज्ञोत्तरकालं 'अणु-दित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः[5]॥' इति सवर्ण-ग्रहणम् ॥[3]

कार्येषु शब्देषु व्याकरणस्य प्रवृत्तिक्रमोऽयम् ॥ ९ ॥[6]

'तुल्यास्यप्रयत्नम्' जिन वर्णों का तालु आदि स्थानों में समान प्रयत्न हो, उन की 'सवर्णम्' सवर्ण-सञ्ज्ञा हो ॥

आभ्यन्तर प्रयत्न । ककार से लेके मकार पर्यन्त वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न, अर्थात् स्थानों में सामान्य स्पर्श होने से इन का उच्चारण होता है । 'य, र, ल, व' इन वर्णों का ईषत्-स्पृष्ट प्रयत्न, अर्थात् स्थानों में थोड़ा स्पर्श करने से उच्चारण होता है । 'स, ष, श, ह' इन वर्णों का ईषद्-विवृत, अर्थात् थोड़ा अधिक स्पर्श से उच्चारण होता है । तथा स्वरों का विना स्पर्श के[7] उच्चारण होना चाहिये ॥

अब वर्णों के स्थान ये हैं—हृदय, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु । वर्णों के उच्चारण करने के लिये ये आठ स्थान हैं ॥ १ ॥

[ङ,] ञ[8], म, ण, न, य, र, ल, व, इन अक्षरों के साथ जो हकार मिला हो, तो उसका उच्चारण हृदय से होना चाहिये । जैसे—ब्रह्म, गृह्णाति, जह्नुः, ह्यः, ह्रीः, ह्लादः, ह्वरः। इन शब्दों में पूर्वोक्त वर्ण हकार के साथ मिले हैं, सो यथोक्त उच्चारण करना चाहिये ॥ २ ॥

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥
२. ६ । १ । १०१ ॥
३. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥
४. १ । १ । ७१ ॥
५. १ । १ । ६९ ॥
६. कोशेऽत्रापि "आ० ४ व्याख्यातम्" इति ॥
७. कोश में "स्वरों का अधिक स्पर्श होने से" ऐसा लिखा है । यह लेखक प्रमाद अथवा अनवस्थित ध्यान के कारण लिखाया गया है । देखो वर्णोच्चारणशिक्षा (४ । ८)—"जिसलिये उक्त २ स्थानों में जीभ को अलग रखके स्वरों का उच्चारण करना योग्य है, इसलिये इन का विवृत प्रयत्न है ॥"
८. ङ, ञ, के उदाहरण नहीं हैं ॥

अकार और हकार का कण्ठ-स्थान है। किसी २ का मत है कि अकार का सर्वमुख-स्थान[1] है। इकार, चवर्ग, यकार और [शकार], इन का तालु-स्थान; उकार और पवर्ग का ओष्ठ-स्थान; ऋकार, टवर्ग, रेफ और षकार, इन का मूर्धा-स्थान; लृकार, तवर्ग, लकार और सकार, इन का दन्त-स्थान है ॥ ३ ॥

कवर्ग का जिह्वामूल; वकार का दन्त और ओष्ठ; ए, ऐ, इन का कण्ठ और तालु; ओ, औ, इन का कण्ठ और ओष्ठ स्थान है। जिन २ वर्णों का जो २ स्थान उच्चारण के लिये नियत किया गया है, उन २ वर्णों का उसी २ स्थान में उच्चारण होना चाहिये ॥ ४ ॥

'अस्मान्त्सु तत्र चोदय०[2]।' यहां सु और नकार के बीच में जो तकार है, उस की यम-सञ्ज्ञा है। इस प्रकार बीच में हो जाने वाले वर्णों को यम कहते हैं[3]। यम और अनुस्वार, इन का नासिका-स्थान है। तथा विसर्जनीय, जिह्वामूलीय [और] उपध्मानीय, ये जिस वर्ण के आश्रित हों, उस का जो स्थान है, वह इन का भी जानना चाहिये ॥ [७[4] ॥]

एक मात्रा के वर्ण को संवृत और दो मात्रा के वर्ण को विवृत कहते हैं, अथवा घोष वर्णों को संवृत और अघोषों को विवृत कहते हैं ॥ [५ ॥]

स्वर और स, ष, श, ह, इन वर्णों को विवृत कहते हैं। इन से अधिक विवृत 'ए, ओ' ये दोनों, और इन से भी अधिक विवृत 'ऐ, औ' ये दोनों हैं ॥ [६ ॥]

अ, इ, उ, ऋ, इन वर्णों के अठारह २ भेद होते हैं, अर्थात् ह्रस्व उदात्त। ह्रस्व अनुदात्त। ह्रस्व स्वरित। दीर्घ उदात्त। दीर्घ अनुदात्त। दीर्घ स्वरित। प्लुत उदात्त। प्लुत अनुदात्त। प्लुत स्वरित। सानुनासिक, निरनुनासिक भेद से इन नव के दूने अठारह होते हैं।

---

१. वर्णोच्चारणशिक्षा में—
"सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ॥" (१ । ५)
भाष्य में—"सर्वमुखस्थानमवर्णस्य एक इच्छन्ति।"

तथा अभयचन्द्रसूरिप्रणीत शाकटायनीयशब्दानुशासनव्याख्यान प्रक्रियासङ्ग्रह में "स्वः स्थानस्यैक्ये ॥" (शा० १ । १ । ६) इस सूत्र के व्याख्यानान्तर्गत पाणिनिशिक्षानुकारि यह सूत्र है—
" सर्वमुखस्थानमित्येके ॥" (सञ्ज्ञाप्रकरण)

२. ऋ०—१ । ६ । ६ ॥
अ०—२० । ७१ । १२ ॥

३. वर्णोच्चारणशिक्षा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् दयानन्द सरस्वती स्वयं इस यम के लक्षण को न मानते थे। वर्णोच्चारणशिक्षा की भूमिका में यम के प्रचलित लक्षण की समालोचना इस प्रकार है—"और जैसे पाणिनिकृत शिक्षा में तिरसठ अक्षर वर्णमाला में माने हैं, उन की गणना पूरी करने के लिये कई एक लोगों ने 'कुं, खुं, गुं, घुं' इन चार को यम मानके तिरसठ अक्षर पूरे किये हैं। भला यहां विचारना चाहिये कि जब पूर्वोक्त यम हैं, तो ञुं, छुं, झुं, भुं, डं, ढुं इत्यादि यम क्यों नहीं। और जो कोई कहे कि पलिक्नी, चख्नतुः, जग्मिमः, जघ्नुः इत्यादि में 'क्, ख्, ग्, घ्' ये वर्ण यम कहाते और प्रातिशाख्य में भी प्रसिद्ध हैं। परन्तु इस बात को क्या नहीं जानते कि वे वर्णान्तर कभी नहीं हो सकते, क्योंकि वे तो कवर्ग में पढ़े ही हैं॥"

४. चौथे श्लोक के पश्चात् सातवें का अनुवाद किया है। संस्कृत अनुवाद में पांचवें और छठे श्लोक सरल होने से छोड़ दिये गये हैं। भाषा में भी प्रथम संस्कृतभाग का व्याख्यान करके तत्पश्चात् संस्कृत में अननूदित पांचवें और छठे श्लोकों को स्पष्ट किया है ॥

सो ये अकारादि चार वर्ण दीर्घ, प्लुत अपने सवर्णियों को ग्रहण करते हैं । तथा लृकार दीर्घ नहीं होता । और ए, ऐ, ओ, औ, ये ह्रस्व नहीं होते, इससे इन के बारह २ भेद होते हैं । ये लृकारादि पांच वर्ण अपने सवर्णी प्लुतों का ग्रहण करते हैं । तथा य, व, ल, इन तीन वर्णों के सानुनासिक और निरनुनासिक दो भेद हैं । इन सब वर्णों की परस्पर सवर्ण-सञ्ज्ञा होती है । जैसे-'खट्वा+अग्रम्' । यहां सवर्ण-सञ्ज्ञा के होने से 'खट्वाऽग्रम्' यह सवर्णदीर्घ एकादेश हो गया है ॥

इस सूत्र में आस्य-ग्रहण इसलिये किया है कि क, च, ट, त, प, इन की परस्पर सवर्ण-सञ्ज्ञा न हो, क्योंकि 'तप्ता' यहां तकार पकार की जो सवर्ण-सञ्ज्ञा हो जाय, तो 'झरो झरि सवर्णे'।' इस सूत्र से तकार के परे पकार का लोप हो जाय, [क्योंकि] इन के स्थान भिन्न २ और प्रयत्न एक है । प्रयोजन यह है कि आस्य नाम स्थान में जिन के प्रयत्न तुल्य हों, उन की सवर्ण सञ्ज्ञा हो । प्रयत्न-ग्रहण इसलिये है कि जिन वर्णों का स्थान एक हो और प्रयत्न भिन्न हो, उन की सवर्ण-सञ्ज्ञा न हो । जैसे 'अरुश्च्योतति' यहां सवर्ण-सञ्ज्ञा हो, तो चकार के परे शकार का लोप पाता है, सो न हुआ ॥

ऋकार लृकार की सवर्ण-सञ्ज्ञा का विधान करना चाहिये, क्योंकि इन दोनों का स्थान भिन्न२ है, इससे सवर्ण-सञ्ज्ञा नहीं पाती । प्रयोजन यह है कि 'होतृ+लृकारः' यहां सवर्ण-सञ्ज्ञा के होने से दोनों के स्थान में 'होतॄकारः' सवर्णदीर्घ एकादेश हो गया ॥

सवर्णविषयक शब्दों की सिद्धि में व्याकरण की प्रवृत्ति इस क्रम से है कि प्रथम अकारादि वर्णों का उपदेश, पीछे अन्त्य हलों की इत्-सञ्ज्ञा, इस के पीछे प्रत्याहार-सञ्ज्ञा, उस के पीछे सवर्ण-सञ्ज्ञा । इस के पीछे सवर्ण का ग्रहण होता है ॥ ९ ॥

नाज्झलौ[2] ॥ १० ॥

'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इति सर्वमनुवर्त्तते । अच् हल् च=अज्झलौ । आस्ये स्थाने तुल्यप्रयत्नावज्झलौ परस्परं सवर्ण-सञ्ज्ञौ न भवतः । दण्डहस्तः । कुमारी शेते । अत्र अकारहकारौ ईकारशकारौ तुल्यस्थानौ यदि सवर्ण-सञ्ज्ञौ स्यातां, तर्हि सवर्णदीर्घत्वं प्राप्नोति । स न भवति ॥ १० ॥[3]

'तुल्यास्यप्र०' आस्य नाम स्थान में 'अज्झलौ' जिन अच् और हल् के तुल्य प्रयत्न भी हों, वे परस्पर सवर्ण-सञ्ज्ञक 'न' न हों । जैसे—दण्डहस्तः । कुमारी शेते । [यहां] अ, ह और ई, श, इन की परस्पर जो सवर्ण-सञ्ज्ञा हो, तो अ, ह और ई, श, इन के स्थान में सवर्णदीर्घ एकादेश पाता है, सो न हो ॥ १० ॥

---

१. ८ । ४ । ६५ ॥

२. स०—पृ० २२ ॥

३. कोरो—"आ० ४ । व्या०" इति ॥

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्[1] ॥ ११ ॥

ईदूदेद्द्विवचनम् । १ । १ । प्रगृह्यम् । १ । १ । ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनं तत् प्रगृह्य-सञ्ज्ञं भवति । ईश्च ऊश्च एश्च=ईदूदेतः । ईदूदेतोऽन्ते[2] यस्य तद् ईदूदेदन्तम् । ईदूदेदन्तं च तद् द्विवचनं=ईदूदेद्द्विवचनम् । उत्तरपदलोपी समासः । इन्द्राग्नी इमौ । इन्द्रवायू इमे सुताः[3] । खट्वे इमे । पचेते इति—इत्यादिषु प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावो भवति ॥

'ईदूदेद्' इति किम् । वृक्षाविमौ । अत्र प्रकृतिभावो मा भूत् । 'द्विवचनम्' इति किम् । कुमारीयम् ॥

> **भा०**—*'कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्[4] ॥'* यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । 'प्रगृह्यः प्रकृत्या' इत्युपस्थितमिदं भवति—*ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥* [इति ॥[5]]

कार्यस्य कर्त्तव्यस्य काले सञ्ज्ञा परिभाषा चोपस्थिता भवति ॥

अस्मिन् सूत्रे काशिकाकृज्जयादित्यादयो[6] 'मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥' इति नवीनं वार्त्तिकं पठन्ति । महाभारतादिग्रन्थेषु दृष्ट्वोदाहरणानि ददति[7] । तत्तेषां भ्रम एव । कथम् । मूलव्याकरणग्रन्थमहाभाष्यपाठाभावात् । प्रयोजनमपि नास्ति । 'म णी वो ष्ट्र स्य[8]' इत्यत्र इव-शब्द एव नास्ति । किन्तु-

---

१. स०—सू० ३६ ॥

चतुरध्यायिकायां (१ । ७३—८१) अशेषतः प्रगृह्यविवरणं दृश्यते । वाजसनेयिनां प्रातिशाख्ये —"एकार-ईकार-ऊकारा द्विवचनान्ताः ॥" (१ । ९३) चान्द्रशब्दलक्षणे च—"ईदूदेद्द्विवचनम् ॥" (५ । १ । १२५) इति ॥

२. दृश्यतां तैत्ति० प्रा० (४ । ३)—"अन्तः ॥" इति । अत्र च सोमयार्यकृतव्याख्यानम्—"पदस्यान्तः प्रग्रह-सञ्ज्ञो भवति ॥" इति ॥

३. ऋ०—१ । २ । ४ ॥

वा०—७ । ८ ॥

तै०—१ । ४ । ४ । १ ॥

मै०—१ । ३ । ६ ॥

का०—४ । २ ॥

४. पा०—सू० २ ॥

प०—सू० ३ ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

६. मिताक्षरावृत्तौ "मणीवादिर्न ॥" इति ॥ प्रक्रियाकौमुद्याम् "मणीवादेर्न ॥" इति पाठः ॥ भाषावृत्तौ चापि "मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य इत्येके ॥" इति ॥

७. न हि व्याकरणं दृष्ट्वा महाभारतादिग्रन्थाः प्रवृत्ताः, न च तान् दृष्ट्वा व्याकरणं प्रवृत्तम् । अतो व्याकरणमहाभारतादीनां मिथः प्रामाण्यं नोपपद्यते । अनुन्यासकृता सम्यगुक्तम्—(दुर्घटवृत्तौ ७।२।९३)

न हि व्यासप्रभृतीनधिकृत्याष्टाध्यायी कृता ।
ते हि भगवन्तो वाग्विषये स्वतन्त्राः ॥" इति ॥

८. "मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम ।" इति काशिकायां महाभारतोद्धरणमिति दृश्यतां "इण्डियन ऍण्टिक्वरी" (Indian Antiquary Vol. XIV. P. 327 n. 5) इत्यभिधा पत्रिका—भा० १४। पृ० ३२७। टिप्पणं ५॥

पमार्थे वा-शब्दः[1] ॥ ११ ॥[2]

'ईदूदेद्द्विवचनम्' ई, ऊ, ए ये जिन के अन्त में हों ऐसे जो द्विवचन शब्द हैं, वे 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों। जैसे—इन्द्राग्नी इमौ। यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से सन्धि नहीं हुई ॥

इस सूत्र में 'ईदूदेत्' यह पाठ इसलिये है कि 'वृक्षाविमौ' यहां सन्धि का निषेध न हो, 'द्विवचनम्' इसलिये है कि 'कुमार्यीदम्' यहां सन्धि हो जाय ॥

सञ्ज्ञा और परिभाषा सूत्र कार्य करने के समय उपस्थित होते हैं। जैसे प्रगृह्य सञ्ज्ञा यहां की, तो 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्[3] ॥' [यह] प्रगृह्य-सञ्ज्ञा का सूत्र यहां उपस्थित हो जायगा ॥

इस सूत्र पर काशिका बनाने वाले जयादित्य आदि पण्डितों ने 'मणीवा० ॥' यह नवीन वार्त्तिक बनाया है, सो केवल उन का भ्रम है, क्योंकि वार्त्तिकादि का मूल व्याकरणग्रन्थ जो महाभाष्य है, उसी में नहीं। और उस के बनाने का कुछ प्रयोजन भी नहीं, क्योंकि महाभारतादि ग्रन्थों में 'मणीवोष्ट्रस्य०' [इत्यादि प्रयोग] देखके यह प्रयोजन दिया है। सो यहां इव-शब्द ही नहीं, किन्तु उपमावाची वा-शब्द है ॥ ११ ॥

अदसो मात्[4] ॥ १२ ॥

'ईदूदेत् प्रगृह्यम्' इति चानुवर्त्तते। 'द्विवचनम्' इति निवृत्तम्। अदसः। ६। १। मात्। ५। १। अदस्-शब्दस्य मकारात् पर ईदूदेतः[5] प्रगृह्य-सञ्ज्ञा भवन्ति। अमी अत्र। अमी आसते। अमू अत्र। अमू आसाते। [अत्र] प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः। एकारस्योदाहरणं नास्ति ॥

'अदसः' इति किम्। गम्यत्र। अत्र प्रकृतिभावो न भवति। 'माद्'

---

१. अत्र कैयटः—"भाष्यवार्त्तिककाराभ्यामपठितत्वादप्रमाणमेतत्। 'मणी वोष्ट्रस्य' इति तु प्रयोगो वा-शब्दस्योपमानार्थस्य। 'रोदसीव' इत्यादिस्तु छान्दसः प्रयोगः ॥"

प्रयोगाश्च भवन्ति—

"जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्।" (मेघदूते श्लो० ८३)

"हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शिखी।" (मृच्छकटिके ५। ६)

अथापि मालविकाग्निमित्रे (५। १२), शिशुपालवधे (३। ६३ ॥ ४। ३५ ॥ ७। ६४), किरातार्जुनीये (३। १३), गणरत्नमहोदधौ (१।४) अन्यत्र च वा-शब्द उपमार्थे प्रयुक्तो दृश्यते ॥

२. कोशे—"अ० ५ [व्याख्यातम्]" इति ॥

३. ६। १। १२५ ॥

४. स०—सं० ४० ॥

चतुरध्यायिकायाम्—"अमी बहुवचनम् ॥" (१।७८) वा० प्रा०—"अमी-पदम् ॥" (१। ९८) चान्द्रे शब्दलक्षणे—"अमू अमी ॥" (५।१।१२६)

५. वस्तुत ईदन्तममी-शब्दमधिकृत्येदं सूत्रं प्रवृत्तम्। अमू-शब्दस्य प्रगृह्यत्वं पूर्वसूत्रेण सिध्यत्येव। अत एव ऋग्यजुःप्रातिशाख्ययोश्चतुरध्यायिकायां चामी-शब्दो गणितः, नामू-शब्दः। चन्द्रस्तु "ईदूदेद्द्विवचनम् ॥" इति सूत्रं पठित्वा "अमू अमी ॥" (५। १। १२६) इति अमू-शब्दं परिगणयन्नज्ञ एव ॥

इति किम् । अमुकेऽत्र । अत्र प्रकृतिभावो न भवति ॥ १२ ॥[1]

'अदसः' अदस्-शब्द के 'मात्' मकार से परे जो 'ईदूदेत्' ई, ऊ, ए, सो 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों । जैसे—अमी आसते । अमू आसाते । यहां प्रगृह्य-संज्ञा के होने से सन्धि न हुई । अदस्-शब्द में एकार का उदाहरण नहीं है ॥

इस सूत्र में अदस्-शब्द इसलिये है कि 'गम्यत्र' यहां प्रकृतिभाव न हो । 'मात्' इसलिये है कि 'अमुकेऽत्र' यहां प्रकृतिभाव न हुआ ॥ १२ ॥

शे[2] ॥ १३ ॥

सुपामादेशः 'शे' वेदे प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति । 'अस्मे इन्द्राबृहस्पती[3]॥' [अत्र] प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

भा०—इह कस्मान्न भवति--काशे, कुशे, वंशे इति । 'शेऽर्थवद्ग्रहणात्[4]॥' 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य[5]॥' इति॥[6] १३ ॥

'शे' सुपों के स्थान में वेद में जो शे-आदेश होता है, वह 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो । 'अस्मे इन्द्राबृहस्पती[3]॥' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हुआ है । जहां एक प्रकार के कई शब्द होते हैं, वहां अर्थ वाले का ग्रहण होता है, अनर्थक का नहीं ॥ १३ ॥

निपात एकाजनाङ्[7] ॥ १४ ॥

निपातः । १ । १ । एकाच् । १ । १ । अनाङ् । १ । १ । आङ्-वर्जितो य एकाच् निपातः, स प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति । एकश्चासौ अच्=एकाच् । कर्मधारयसमासः । अ अपक्राम । इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ । चादिषु पाठादकारादिस्वराणां निपात-सञ्ज्ञा । तेषां प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

'निपातः' इति किमर्थम् । चकारात्र । जहारात्र ।

'चकार' इत्यत्र णल्-प्रत्ययस्य योऽस्त्यकारस्तस्य प्रगृह्य-सञ्ज्ञा प्राप्ता । सा निपात-ग्रहणान्न भवति ॥

---

१. कोशे—"आ० ५ व्या०" इति ॥
२. स०—सू० ४१ ॥
ऋ० प्रा०—"अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः ॥" (१ । ६ । २६)
तै० प्रा०—"अस्मे ॥" (४ । ६)
छन्दोविषयत्वान्नेदं सूत्रं चान्द्रशब्दलक्षणे प्रतिपादितम् ॥
३. ऋ०—४ । ४६ । ४ ॥
तै०—३ । ३ । ११ । १ ॥
मै०—४ । १२ । १ ॥ १७६ । १० ॥
का०—१० । १३ ॥ २३ । ११ ॥
४. वार्त्तिकमिदम् ॥
५. पा०, प०—सू० १४ ॥
६. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥
७. स०—सू० ४२ ॥
चा० श०—"अजनाङ् ॥" (५ । १ । १२७)

'एकाच्' इति किमर्थम् । 'प्रेदं ब्रह्म[१]।'
यत्र केवलोऽच् निपातस्तत्रैव स्यात् । प्र-शब्दे तु त्रयो वर्णाः ॥

'अनाङ्' इति किमर्थम् । आ+उदकान्तात् = ओदकान्तात् ।
अत्र प्रगृह्य-सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् प्रकृतिभावो न भवति ॥

भा०—इह कस्मान्न भवति–'आ एवं नु मन्यसे', 'आ एवं किल तद्' इति । सानुबन्धकस्येदमाकारस्य ग्रहणं, अननुबन्धकश्चात्राऽऽकारः । क्व पुनरयं सानुबन्धकः,क्व निरनुबन्धकः ।
ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद्, वाक्यस्मरणयोरङित् ॥[२] १ ॥[३]

ईषदर्थे—आ+इदं धनं=एदं धनम् । ईषदित्यर्थः । **क्रियायोगे—आ+इहि=एहि । मर्यादायाम्—आ+उदकान्तात्=ओदकान्तात्** । **अभिविधौ—आ+इन्द्रप्रस्थाद् वृष्टिः=एन्द्रप्रस्थाद् वृष्टिः** । इन्द्रप्रस्थमभिव्याप्य वृष्टिर्जातेत्यर्थः । एषु चतुर्ष्वर्थेषु सानुबन्धकस्याऽऽकारस्य प्रगृह्य-सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् प्रकृतिभावाभावः । **वाक्ये—आ एवं नु मन्यसे । स्मरणे—आ एवं किल तत्** । अनयोर्द्वयोरर्थयोर्निरनुबन्धकस्याऽऽकारस्य प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वान् प्रकृतिभावः ॥ १४ ॥[४]

'अनाङ्' आङ् को छोड़के **'एकाच्'** केवल जो एक ही अच् **'निपातः'** निपात है, सो **'प्रगृह्यम्'** प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो । जैसे—अ अपक्राम । इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से 'अ, इ, उ' इन वर्णों की सन्धि नहीं हुई । अकारादि स्वरों का चादिगण में पाठ होने से [इन की] निपात-सञ्ज्ञा है ॥

इस सूत्र में निपात-ग्रहण इसलिये है कि **'चकाराच'** यहां केवल एक अच् के होने से णल्-प्रत्यय के अकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा प्राप्त थी, सो न हुई । एकाच्-ग्रहण इसलिये है कि जिस निपात में हल् और अच् दोनों हों, उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । जैसे—**'प्रेदं ब्रह्म**[१]**।'** यहां प्र-शब्द की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के न होने से सन्धि हो गई । प्रयोजन यह है कि जिस निपात में कोई हल् न मिला हो, केवल एक अच् ही हो, उस का [यहां] ग्रहण है । और **'अनाङ्'** इसलिये

---

१. महाभाष्ये "प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रम् ।" इति ॥

इदमैतरेयब्राह्मणस्य (३ । ११ । ८) शाङ्ख्यायनश्रौतसूत्रस्य (८ । १६ । १ ॥ १६ । १ ॥ २० । १) वा वचः सम्भवति, न ऋग्वेदस्य (८ । ३७ । १) । ऋग्वेदे तु "प्रेदं ब्रह्म वृत्रतुर्येष्वाविथ ।" इति पाठः ॥

२. मुग्धबोधव्याकरणस्य दुर्गादासकृतटीकायां कृतः पाठः—
"मर्यादायामभिविधौ क्रियायोगेषदर्थयोः ।
य आकारः स ङित् प्रोक्तः, वाक्यस्मरणयोरङित् ॥"
(४० सूत्रे)

३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

४. कोशे—"आ० ५ व्या०" इति ॥

पढ़ा है कि 'ओदकान्तात्' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के न होने से प्रकृतिभाव न हुआ । इस सूत्र में सानुबन्ध अर्थात् ङकारान्त आकार का निषेध है, केवल का नहीं । उस के जानने के लिये यह कारिका है—'ईषदर्थे० ॥' ईषदर्थ, क्रियायोग, मर्यादा और अभिविधि, इन चार अर्थों में तो आकार ङित् होता है । इसी चार प्रकार के आकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने का निषेध है । जैसे—'एदं धनम्' यहां ईषदर्थ अर्थात् थोड़े के वाची आकार के होने से उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं हुई । 'एहि' यहां क्रियायोग अर्थात् इहि-क्रिया के साथ संयुक्त है, इससे प्रगृह्य-सञ्ज्ञा का निषेध हुआ । 'ओदकान्तात्' यहां मर्यादा अर्थ में आकार है, इससे प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं हुई । तथा 'एन्द्रप्रस्थं वृष्टिः' यहां अभिविधि अर्थ के वाची आकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के निषेध के होने से प्रकृतिभाव नहीं हुआ । वाक्य और स्मरण अर्थ में आकार निरनुबन्धक अर्थात् ङित् नहीं, इससे इन अर्थों में इस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है । जैसे—'आ एवं नु मन्यसे' यहां वाक्य, और 'आ एवं किल तत्' यहां स्मरण अर्थ में प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया ॥ १४ ॥

ओत्[1] ॥ १५ ॥

[ओत् । १ । १ ।] ओद्-अन्तो[2] निपातः प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति । 'निपातः' इत्यनुवर्त्तते । तदन्तविधिनात्रान्त-ग्रहणं भवति । आहो इति । उताहो इति । नो इदानीम् । अथो इति । अत्र प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

भा०—'*गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः*[3] ॥'

तद्यथा—'*गौरनुबन्ध्यो*[4]*ऽजोऽग्नीषोमीयः* ।' इति न वाहीकोऽनुबध्यते ॥[5]

तेनेह न भवति[6]—अगौः गौः समपद्यत गोऽभवत् ॥ १५ ॥[7]

'**ओत्**' ओकारान्त जो '**निपातः**' निपात है, वह '**प्रगृह्यम्**' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो । जैसे—**आहो इति । उताहो इति** । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया ॥

'**गौण०** ।' यह परिभाषा इसलिये है [कि] गौण और मुख्य के बीच में मुख्य को ही कार्य हो, गौण को नहीं । इससे '**गोऽभवत्**' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हुई ॥ १५ ॥

---

१. स०—सू० ४३ ॥

दृश्यतां वा० प्रा०—"ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रहः ॥" (१ । ९४)

चा० श०—"ओत् ॥" (५ । १ । १२८)

२. अत्र प्रक्रियाकौमुद्यां (पूर्वार्धेऽच्सन्धिप्रकरणे) "हैहयोः प्रगृह्यत्वमिति केचित् ।" इति मतान्तरत्वेनोदाहृतम् । प्रयोगौ च—"है अम्ब । हे ईश ।" इति॥

३. पा०, प०—सू० १५ ॥

४. कोशे—"०नुवध्यो" इति ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

६. दुर्घटवृत्तौ "च्व्यन्तेऽध्यारोपितगोत्वाद् गौणत्वम् ।" इति ॥

७. कोशे—"आ० ५ व्या०" इति ॥

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे[1] ॥ १६ ॥

'ओत्' इत्यनुवर्त्तते । 'निपातः' इति निवृत्तम् । सम्बुद्धौ । ७ । १ । शाकल्यस्य । ६ । १ । इतौ । ७ । १ । अनार्षे । ७ । १ । यः सम्बुद्धिनिमित्त ओकारः, स शाकल्यस्याचार्यस्य[2] मतेन प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति[3], अनार्षे इति-शब्दे परतः । 'सम्बुद्धौ' इति निमित्तार्थे सप्तमी । पूर्णविद्यावतामनूचानानामाप्तानां पुरुषाणां यद् वाक्यं, तदार्षं भवति । अत्र प्रमाणम्—

तस्माद् यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहति, आर्षं तद् भवति ॥[4]

अस्माद् भिन्ने सामान्यविद्वदुक्तमनार्षं, तस्मिन् । वायो इति । वायविति ॥१६॥

पूर्णविद्यावान् आप्त पुरुषों का वाक्य आर्ष, इस से भिन्न अनार्ष कहाता है । 'शाकल्यस्य' शाकल्य ऋषि के मत से 'सम्बुद्धौ' सम्बुद्धिनिमित्त 'ओत्' ओकार की 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो, 'अनार्षे इतौ' अनार्ष इति-शब्द परे हो तो । जैसे—वायो इति । वायविति । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के विकल्प से सन्धि का विकल्प हो गया ॥

सम्बुद्धि-ग्रहण इसलिये है कि 'गवित्याह' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । शाकल्य-ग्रहण इसलिये है कि विकल्प से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो । 'इति' इसलिये है कि 'वायोऽत्र' यहां न हो । 'अनार्षे' इसलिये है कि 'ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्[5]' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो ॥ १६ ॥

---

१. स०—सू० ४४ ॥

ऋ० प्रा०—"ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः ॥" (१ । ६ । २८) इति, "प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्याः ॥" (२ । ६ । २७) इति च ॥

चा० श०—"सौ वेतौ ॥" (५।१।१२६)

२. अयमृग्वेदस्य पदपाठं कृतवान् । एष ऐतरेय-शाङ्ख्यायनारण्यकयोः (क्रमेण ३ । १ । १ ॥ ७ । १), निरुक्ते (६ । २८) अन्यत्र च प्रसिद्धोऽस्ति । अस्य मतत्वेनोदाहृता नियमाः प्रायेण शाकलपदपाठ उपयुक्ता दृश्यन्ते ॥

शतपथब्राह्मणे (११ । ६ । ३ । ३) बृहदारण्यकोपनिषदि (३ । ६ । १ ॥ ...) च श्रूयत एकोऽपरः शाकल्यो विदग्धः, यं वायुपुराणकारः (६० । ५८ ॥ ...) पदकारं मन्यते । अतः केचित् कथयन्ति शाकल्यो विदग्धः, शाकल्यश्च न भिन्नाविति ॥

तथा च व्याडिकृतसङ्ग्रहादावयं श्लोको भवति—

"नमामि शाकलाचार्यं शाकल्यं स्थविरं तथा ।" इति । एष शाकल्यस्थविर ऐतरेय-शाङ्ख्यायनारण्यकयोः (क्रमेण ३ । २ । १ । ६ ॥ ७ । १६ ॥...) ऋक्प्रातिशाख्ये (२ । ६ । ४४॥...) चापि श्रूयेत । एषां सर्वेषां शाकल्याभिधानां कः सम्बन्ध इत्यद्यावधि निश्चेतुं न शक्यते ॥

३. ऋग्-वाजसनेयि-अथर्वसंहितानां पदपाठेषु सम्बुद्धिनिमित्त ओकारः सर्वत्र प्रगृह्यो भवति । तैत्तिरीयसंहितापदपाठे तु क्वचित् क्वचित्, सामवेदपदपाठे च न क्वचिदपि ॥

४. कोशेऽत्र "निरुक्ते अ० १३ । खण्ड १२" इत्युद्धरणस्थलम् ॥ वात्स्यायनभाष्ये (२।१।६७)—"य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ।"

५. देखो ऐतरेयब्राह्मण (७।२७)—"यस्त्वं कथं वेत्थ ब्रह्मबन्धविति ।" काठकसंहिता (१० । ६) में "एता गा ब्रह्मबन्ध इत्यब्रवीत् ।" और काशिका में "एता गा ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् ।" इस प्रकार है ॥

उञ ऊँ[1] ॥ १७ ॥

'शाकल्यस्येतावनार्षे' इत्यनुवर्त्तते । उञः । ६ । १ । ऊँ । अ० । उञः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा भवति । उञः स्थाने 'ऊँ' इत्ययमादेशो भवति । सोऽपि प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेनानार्षे इति-शब्दे परतः । उ इति । विति । ऊँ इति । प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः । शाकल्य-ग्रहणं विभाषार्थम् । 'इतौ' इति किम् । उ अस्य = वस्य[2] ॥

> भा०—'उञः ॥' इति योगविभागः कर्त्तव्यः । 'उञः' शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्य-सञ्ज्ञा भवति । उ इति । विति । ततः 'ऊँ ॥' उञः 'ऊँ' इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्य-सञ्ज्ञकश्च । ऊँ इति ॥ किमर्थो योगविभागः । शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन ऊँ विभाषा यथा स्यात् । ऊँ इति । उ इति । अन्येषामाचार्याणां मतेन विति ॥[3]

अनेनैतद् सिद्ध्यति, पाणिनीयमिदं सूत्रमेकमेव । कथम् । सत्येकस्मिन् सूत्रे व्याख्यानरीत्या योगविभागः सम्भवति । यदि द्वे एव स्यातां, तर्हि योगविभाग-करणमनर्थकं स्यात् । एतत् सिद्धेऽपि जयादित्यादयः[4] पृथक् पृथक् द्वे सूत्रे व्याचक्षते । यदि महाभाष्यकारकृतं योगविभागं दृष्ट्वा कथयन्ति, तर्हि यत्र यत्र[5] महाभाष्यकारैर्योगविभागः कृतोऽस्ति, तत्र तत्र सर्वत्र पृथक् पृथक् सूत्राणि कर्त्तव्यानि । अतो ज्ञायत एतेषां महान् भ्रमो जातः ॥ १७ ॥

'उञः' उञ्, इस की 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो, 'शाकल्यस्य' शाकल्य आचार्य के मत

---

१. स०—सू० ४५, ४६ । अस्मात् सूत्रविभागाज्ज्ञायते, न भगवता दयानन्दसरस्वतीस्वामिना स्वयमेव ग्रन्थः संशोधित इति ॥

वा० प्रा०—"उकारोऽपृक्तो दीर्घमनुनासिकम् ॥" (४ । ९३)

अ० प्रा०—"आमन्त्रित उकार इतावनार्षे प्रकृत्या ॥" (३ । १ । ३)

चतुरध्यायिकायाम्— "उकारस्येतावपृक्तस्य ॥ दीर्घः प्रगृह्यश्च ॥" (१ । ७२, ७३)

चा० श०—"उञ् ॥ ऊँ ॥" (५।१।१३०,१३१)

२. दृश्यतामृग्वेदे—"घृतं वस्य धाम ।" (२।३।११)

३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

४. अन्नम्भट्टो रामचन्द्रश्चापि द्वे सूत्रे कृतवन्तौ । जयादित्यात् पूर्वं चन्द्रेणैतत् सूत्रं "उञ् ॥ ऊँ ॥" इत्येकाक्षरलाघवार्थं द्विधा विभक्तम् । जयादित्यादिकृते विभागे तु न केवलमक्षरलाघवं न भवति, परं सूत्रपाठविरोधोऽपि जायते ॥

५. यथा "सह सुपा ॥" (२ । १ । ४) इत्यत्र ॥

में, 'अनार्षे इतौ' अनार्ष इति-शब्द के परे। तथा 'उञः' उञ् के स्थान में 'ऊँ' दीर्घ अनुनासिक ऊँ आदेश हो। वह भी प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो, अनार्ष इति-शब्द के परे शाकल्य आचार्य के मत में, अर्थात् विकल्प करके। जैसे—उ इति। ऊँ इति। यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया। 'विति' यह दोनों का एकसा ही है। यहां विकल्प के होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं हुई। शाकल्य-ग्रहण विकल्पार्थ और इति-शब्द इसलिये है कि '**उ अस्य = वस्य**' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती ॥

भाष्यकार ने इस सूत्र के दो विभाग किये हैं, इसलिये कि दो अर्थों से तीन उदाहरण सिद्ध हों। इस भाष्यकार के कथन से यह बात सिद्ध है कि पाणिनि महाराज का बनाया एक ही सूत्र है, क्योंकि जो दो ही होते, तो विभाग करना कैसे बनता। और जो भाष्यकार के विभाग करने से दो सूत्र बनालें, तो भाष्यकार ने जहां २ विभाग किया है, वहां २ सर्वत्र दो २ सूत्र कर लेना चाहिये। इस से सिद्ध हुआ कि एक ही सूत्र है। फिर पण्डित जयादित्य आदि ने दो सूत्र अलग २ करके व्याख्यान किया है, सो केवल इन लोगों की भूल ही है ॥ १७ ॥

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे[1] ॥ १८ ॥

'शाकल्यस्येतावनार्षे' इति निवृत्तम्। ईदूतौ। १।२। च। अ०। सप्तम्यर्थे। ७। १। सप्तम्यर्थे वर्त्तमानावीदूतौ प्रगृह्य-सञ्ज्ञौ भवतः। ई च ऊच = ईदूतौ। द्वन्द्वः। सप्तम्या अर्थः = सप्तम्यर्थः, तस्मिन्। **सोमो गौरी अधि श्रितः**[2]। गौर्यामित्यर्थः। **मामकी तनू इति**[3]। मामक्यां तन्वामित्यर्थः। प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

'ईदूतौ' इति किम्। आकारस्य मा भूत् ॥

सप्तमी-ग्रहणं किम्। **धीती, मती**[4], **सुष्टुती** = धीत्या, मत्या, सुष्टुत्या इति प्राप्ते [प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न भवति] ॥

---

१. छन्दोविषयमिदं सूत्रम् ॥ अथर्वप्रातिशाख्ये (२। १। ६) चतुरध्यायिकायां (१। ७४) च—"ईकारोकारौ च सप्तम्यर्थे ॥"

अपि च छन्दसि आदन्तं द्विवचनं परेण उकारेण न कचिद् सन्धीयते। "रोदसीम" (ऋ० ७। ६०। ३), "वैवस्याम्" (ऋ० २। ३। ४) इत्यत्रापि प्रगृह्याभावः ॥

तथा च "पृथिवी, ("पृथिवी उत द्यौः" १। ६६।६) पृथुज्रयी, ("पृथुज्रयी असुर्या" १। १६८। ७) सम्राज्ञी" ("सम्राज्ञी अधि देवृषु" १०। ८५। ४६) इत्येते प्रथमैकवचना ईदन्ताः शब्दा ऋग्वेदे न सन्धीयन्ते ॥

२. ऋ०—९। १२। ३॥
सा०—२। ५४८ ॥

३. अत्र न्यासकारः—"'अध्यस्यां मामकी तनू इति।' एतद् वेदवाक्यं वेदितव्यम्। अत्र 'मामकी, तनू' इति शब्दौ 'सुपां सुलुक्० ॥' (७। १। ३९) इति लुप्तसप्तमीकौ। तत्र यदा अर्थाद् व्यवच्छिन्न स्वरूपे व्यवस्थापनाय इति-शब्दः प्रयुज्यते, तदैते उदाहरणे ॥"

संहितासु ब्राह्मणेषु च गवेषणीयमिदं वचः ॥

४. "धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।" (ऋ० १। १६४। ८॥ अ० ९। ९। ८) "नवस्या मत्याविष्यन्तं न भोजसे।" (ऋ० ८। ५१। ३)

अर्थ-ग्रहणं किमर्थम् । वाप्यामश्वो = वाप्यश्वः । नद्यामातिः = नद्यातिः । अत्र सप्तमी लुप्ता, तस्मान्न भवति । यः 'सुपां सुलुक्०[1] ॥' इति सप्तम्याः पूर्वसवर्णो भवति, तस्यात्र ग्रहणम् ॥

चकार-ग्रहणं प्रगृह्य-सञ्ज्ञापूर्त्यर्थम् ॥

> भा०—एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः '*न प्रगृह्य-सञ्ज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवति* ॥' इति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । कुमार्योरगारं = कुमार्यगारम् । वध्वोरगारं = वध्वगारम् । प्रत्ययलक्षणेन प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न भवति[2] ॥[3]

'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्[4] ॥' इति प्रगृह्य-सञ्ज्ञा प्राप्ता । सानेन ज्ञापनेन प्रतिषिध्यते ॥ १८ ॥

'सप्तम्यर्थे' सप्तमी के अर्थ में वर्तमान **'ईदूतौ'** जो ई, ऊ हैं, सो **'च'** भी **'प्रगृह्यम्'** प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों । जैसे—**'सोमो गौरी अधि श्रितः[5] ।'** यहां गौरी-शब्द में ईकार सप्तमी के अर्थ में है, उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया । तथा **'मामकी तनू इति ।'** यहां तनू-शब्द का ऊकार सप्तमी के अर्थ में वर्तमान है, इससे उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा है ॥

इस सूत्र में ईकार ऊकार का ग्रहण इसलिये है कि सप्तमी के अर्थ में वर्तमान जो आकार हो, उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । सप्तमी-ग्रहण इसलिये है [कि] **'धीती'** यहां तृतीया के अर्थ में वर्तमान ईकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । अर्थ-ग्रहण इसलिये है कि जहां सप्तमी का लुक् हो जाय, वहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । चकार-ग्रहण इसलिये है कि प्रगृह्य-सञ्ज्ञा इस सूत्र में समाप्त हुई ॥

प्रगृह्य सञ्ज्ञा के सूत्रों में प्रत्ययलक्षण से जो प्रगृह्य-सञ्ज्ञा पाती है, सो अर्थ-ग्रहण के ज्ञापक से नहीं होती । इसी सूत्र से **'न प्रगृह्य० ॥'** यह परिभाषा निकली है ॥

इस सूत्र पर दो कारिका हैं[6] ॥ १८ ॥

दाधा घ्वदाप्[7] ॥ १९ ॥

---

१. ७ । १ । ३९ ॥
२. कोशेऽत्र "इति" इत्यपि ॥
३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥
४. १ । १ । ११ ॥
५. ऋ०—६ । १२ । ३ ॥
सा०—२ । ५४८ ॥

६. देखो महाभाष्य—
"ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद् भवेत् ।
पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते ॥
वचनाद् यत्र दीर्घत्वं, तत्रापि सरसी यदि ।
ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत् ॥"
७. आ०—सू० २४६ ॥

दाधाः । १ । ३ । घु । १ । १ । 'सुपां सुलुक्०[1]॥' इति सोर्लुक् । अदाप् । १ । १ । दाश्च धाश्च = दाधाः । द्वन्द्वः । दाधा घु-सञ्ज्ञा भवन्ति, प्रकृतयश्चैषां घु-सञ्ज्ञा भवन्ति । दाप् लवने[2] । दैप् शोधने[3] । एतौ वर्जयित्वा । डुदाञ् [दाने[4]]—प्रणिदीयते । दाण् दाने[5]—प्रणिदाता । दोऽवखण्डने[6]—प्रणिद्यति । देङ् रक्षणे[7]—प्रणिदयते । डुधाञ् [धारणपोषणयोः[8]]—प्रणिधीयते। धेट् [पाने[9]]—प्रणिधयति बालो मातरम् । अत्र सर्वत्र घु-सञ्ज्ञत्वान्नेर्नकारस्य णत्वम् ॥

'अदाप्' इति किमर्थम् । दाप् लवने[2]—अवदातं कुशाकाशम् । दैप् शोधने[3]—अवदातं मुखम् । अत्र घु-सञ्ज्ञाभावाद् 'अच उपसर्गात्तः[10]॥' इति तत्वं न भवति ॥

भा०—*अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते*[11] ॥

लविता । चिकीर्षिता ॥[12]

अत्र तृज्-ग्रहणेनेडागमस्य ग्रहणाद् गुणादीनि कार्याणि भवन्ति । इमामेव परिभाषां केचिद् भट्टोजिदीक्षितादयो[13] महाभाष्यविरुद्धां पठन्ति । 'यदागमास्तद्-गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥' इति । एतत् तेषां भ्रम एवास्ति ॥

दीङः प्रतिषेधः स्था-घ्वोरित्त्वे[14] ॥

उपादास्ताऽस्य स्वरः शिक्षकस्य ॥

'स्थाघ्वोरिच्च[15]॥' इतीत्त्वं प्राप्तं, तन्न भवति ॥

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति '*नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्*[16]॥' इति । यदयं '*उदीचां माङो व्यतीहारे*[17]॥' इति मेङः सानुबन्धकस्याऽऽत्त्वभूतस्य ग्रहणं करोति ॥

---

१. ७ । १ । ३९ ॥
२. धा०—अदा० ५० ॥
३. धा०—भ्वा० ९७१ ॥
४. धा०—जुहो० ९ ॥
५. धा०—भ्वा० ९७७ ॥
६. धा०—दि० ४० ॥
७. धा०—भ्वा० १०११ ॥
८. धा०—जुहो० १० ॥
९. धा०—भ्वा० ९५१ ॥
१०. ७ । ४ । ४७ ॥
११. पा०—सू० ११ ॥
१२. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥
१३. भट्टोजिदीक्षितादिगणे नागेशस्यापि नाम ग्राह्यम् ॥ (दृश्यतां परिभाषेन्दुशेखर एकादशं सूत्रम्)
१४. वार्त्तिकमिदम् ॥
१५. १ । २ । १७ ॥
१६. पा०—सू० ६ ॥
प०—सू० ७ ॥
१७. ३ । ४ । १९ ॥

अनया परिभाषया दाब्-ग्रहणे दैपोऽपि ग्रहणं भवतीति ॥ १९ ॥[1]

'**दाधा:**' डुदाञ्, दाण्, दो, देङ्, डुधाञ्, धेट्, इन धातुओं की घु-सञ्ज्ञा हो, दाप्, दैप् इन दो धातुओं को छोड़के। जैसे—प्रणिदीयते, प्रणिधीयते इत्यादि उदाहरणों में नकार को णकार, आकार को ईकार इत्यादि कार्य घु-सञ्ज्ञा के होने से होते हैं ॥

इस सूत्र में अदाप्-ग्रहण इसलिये किया है कि '**अवदातं कुशकाशम्, अवदातं मुखम्**' यहां भी जो घु-सञ्ज्ञा हो जाती, तो द के स्थान में त हो जाता, सो नहीं हुआ ॥

'**अर्थवत०** ॥' इस परिभाषा से अर्थवान् शब्द को जो आगम होता है, वह उसी के साथ गिना जाता है। जैसे—**लविता**। यहां तृच् के साथ इट् के आगम के ग्रहण होने से गुण आदि कार्य होते हैं ॥

इस परिभाषा को भट्टोजिदीक्षितादि लोग महाभाष्य से विरुद्ध पढ़ते हैं, सो उन की भूल है ॥

'दीङः प्रति० ॥' इस वार्त्तिक से 'उपादास्त' यहां घु-सञ्ज्ञा के न होने से आकार को इकार पाता था, सो न हुआ ॥

'**नानुबन्ध०** ॥' इस परिभाषा से इस सूत्र में दाप् के निषेध में दैप् का भी निषेध हो जाता है ॥ १९ ॥

आद्यन्तवदेकस्मिन्[2] ॥ २० ॥

आतिदेशिकीयं परिभाषा। आद्यन्तवत्। अ०। एकस्मिन्। ७।१। आद्यन्तयोरुच्यमानं कार्यमेकस्मिन्नपि भवति। आदिश्चान्तश्च = आद्यन्तौ। आद्यन्ताभ्यां तुल्यं = आद्यन्तवत्। अथ वा षष्ठ्यर्थे वा सप्तम्यर्थे वतिः। आद्यन्तयोरिव = आद्यन्तवत्। औपगवः। प्रत्यय आद्युदात्तो भवति। अण्-प्रत्ययस्याऽकारादिवद्भावादुदात्तो भव[ति]। एधते। '**अचोऽन्त्यादि टि**[3] ॥' इति टि-सञ्ज्ञा भवति, तत्र केवलस्याप्यकारस्य टि-सञ्ज्ञा यथा स्यात् ॥

'एकस्मिन्' इति किम्। सभासन्नयने भवः = साभासन्नयनः। आकारमाश्रित्य वृद्ध-सञ्ज्ञा न भवति ॥

भा०—किमर्थमिदमुच्यते।

सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम्[4] ॥

सत्यन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति, परमस्ति, स आदिरित्युच्यते। सत्यन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति, पूर्वमस्ति, सोऽन्त

---

१. कोशेऽत्र—"आ० ५ व्या०" इति ॥

२. स०—सू० ५१ ॥

द्रष्टव्यं तै० प्रा०—"आद्यन्तवच्च ॥" (१।५५)

३. १।१।६३ ॥

४. वार्त्तिकमिदम् ॥

इत्युच्यते । सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेतस्मात् कारणाद् एकस्मिन्नाद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि न सिद्ध्यन्ति । इष्यन्ते च स्युरिति । तान्यन्तरेण यत्नं न सिद्ध्यन्ति इत्येकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ॥[1]

आद्यन्तविधायकानि कार्याण्येकस्मादन्यस्मिन् भवन्ति । तान्येकस्मिन्नपि स्युरिति सूत्रप्रयोजनम् ॥ २० ॥[2]

यह अतिदेश विधायक परिभाषासूत्र है । अतिदेश उस को कहते हैं कि जो एक के तुल्य दूसरे को कार्य का विधान हो । 'आद्यन्तवत्' आदि और अन्त को जो कार्य विधान हों, वे **'एकस्मिन्'** एक में भी हो जाएं । जैसे प्रत्यय को आद्युदात्त विधान किया है, तो **'औपगव:'** यहां एक अक्षर के प्रत्यय को भी आद्युदात्त हो गया । अच् [= अचों] को लेके जो अन्त, और [यह अन्तिम अच् जिस के] आदि [में] है, वह टि-सञ्ज्ञक होता है । सो **'एधते'** यहां एक अकार की भी टि-सञ्ज्ञा हो गई । आदि उसे कहते हैं कि जिस के पूर्व कोई न हो, और पर हो । अन्त उसे कहते हैं कि जिस के पर कोई न हो, और पूर्व हो । अर्थात् ये दोनों सम्बन्धी शब्द हैं, इससे आदि अन्त को कहे हुए कार्य एक के बीच में संयुक्त नहीं हो सकते । इस प्रयोजन के लिये यह सूत्र है ॥ २० ॥

तरप्तमपौ घः ॥ २१ ॥

तरप्-तमपौ । १ । २ । घः । १ । १ । तरप् च तमप् च तौ तरप्-तमपौ प्रत्ययौ घ-सञ्ज्ञौ भवतः । कुमारितरा । कुमारितमा । 'घरूपकल्प०[3]॥' इति घ-सञ्ज्ञके प्रत्यये कुमारी-शब्दस्य ह्रस्वत्वम् । भवतितराम् । भवतितमाम् । अत्र घ-सञ्ज्ञकात् प्रत्ययात् 'किमेत्तिङव्ययघादा०[4]॥' इत्यामु-प्रत्ययः । घ-प्रदेशानि सूत्राणि— 'नाद् घस्य[5]॥' इत्यादीनि ॥ २१ ॥[6]

'तरप्-तमपौ' तरप्, तमप् इन दोनों प्रत्ययों की **'घ:'** घ-सञ्ज्ञा हो । जैसे—**'कुमारितरा, कुमारितमा'** । यहां कुमारी-शब्द को घ-सञ्ज्ञक प्रत्यय के परे ह्रस्व हो गया ॥ २१ ॥

बहु-गण-वतु-डति सङ्ख्या[7] ॥ २२ ॥

बहु-गण-वतु-डति । १ । १ । सङ्ख्या । १ । १ । बहुश्च गणश्च वतुश्च डतिश्च, एषां समाहारः = बहु-गण-वतु-डति । बहु-गणौ वतुप्प्रत्ययान्त-डतिप्र-

---

१. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥
२. कोशेऽत्र—"आ० ५ व्या०" इति ॥
३. ६ । ३ । ४३ ॥
४. ५ । ४ । ११ ॥
५. ८ । २ । १७ ॥
६. कोशेऽत्र—"आ० ५ व्या०" इति ॥
७. चा० श०—"कतिगणौ तद्वत् ॥ वतोः ॥" (४ । १ । ३३, ३४)

त्ययान्तौ च शब्दाः सङ्ख्या-सञ्ज्ञा भवन्ति । बहुकृत्वः । बहुशः । गणकृत्वः । गणशः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । अत्रैतेषां सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् कृत्वसुच्-शस्-प्रत्ययौ ॥

भा०—*कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः*[१] ॥

यथा लोके । तद्यथा लोके—'गोपालकमानय' 'कटजकमानय' इति यस्यैषा सञ्ज्ञा भवति, स आनीयते, न यो गाः पालयति, यो वा कटे जातः ॥

अध्यर्धग्रहणं च समासकन्विध्यर्थम्[२] ॥

समासविध्यर्थं तावत्—अध्यर्धशूर्पम् । कन्विध्यर्थम्—अध्यर्धकम् ॥

अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः सङ्ख्या-सञ्ज्ञो भवतीति वक्तव्यम् । समास-कन्-विध्यर्थमेव । अर्धपञ्चमशूर्पम् । अर्धपञ्चमकम् ॥[३]

अध्यर्धेशूर्पैणक्रीतमित्यर्थे तद्धितप्रत्ययस्य लुकि सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् तद्धितार्थे समासः । अध्यर्ध-शब्दस्य सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् 'सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन्[४] ॥' इति कन् ॥ अर्धः पञ्चमो येषामिति बहुव्रीहौ कृतेऽर्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतमिति सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः[५] ॥' इति द्विगु-सञ्ज्ञा । द्विगु-सञ्ज्ञत्वात् तद्धितप्रत्ययस्य लुक् । तदा तद्धितार्थे समासः, कन्-प्रत्ययश्च ॥ २२ ॥[६]

'बहु-गण-वतु-डति' बहु, गण, वतुप्-प्रत्ययान्त और डति-प्रत्ययान्त शब्दों की 'सङ्ख्या' सङ्ख्या-सञ्ज्ञा हो । जैसे—बहुकृत्वः । गणकृत्वः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । यहां सङ्ख्या-सञ्ज्ञा के होने से कृत्वसुच् प्रत्यय हो गया । 'कृत्रिमा० ॥' इस परिभाषा का प्रयोजन यह है कि एक गोपाल-शब्द दो अर्थों का वाची है, अर्थात् एक तो किसी मनुष्य का गोपाल नाम है, और जो गौओं का पालन करे, उस का भी गोपाल नाम है । तो गोपाल के कहने से उस को समझना चाहिये कि जिस का गोपाल नाम है ॥

'अध्यर्ध० ॥' इस वार्त्तिक से अध्यर्ध-शब्द की सङ्ख्या-सञ्ज्ञा इसलिये की है कि जिससे

---

१. पा०—सू० ८ ॥
　अस्मिन् स्थले महाभाष्ये "०कार्यसम्प्रत्ययो भवति ॥" इति पठ्यते । अन्यत्र तु महाभाष्येऽपि भवति-शब्दो नास्ति ॥

२. वार्त्तिकमिदम् ॥

३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

४. ५ । १ । २२ ॥

५. २ । १ । ५२ ॥

६. कोशेऽत्र—"आ० ५ [व्या०]" इति ॥

'अध्यर्धशूर्पम्' यहां समास और 'अध्यर्धकम्' यहां कन्-प्रत्यय हो जाय । तथा 'अर्ध-पूर्व० ॥' इस दूसरे वार्त्तिक से अर्धपञ्चम-शब्द की सङ्ख्या-सञ्ज्ञा करने का भी, समास और कन्-प्रत्यय का होना ये ही दो प्रयोजन हैं ॥ २२ ॥

ष्णान्ता षट्[1] ॥ २३ ॥

'सङ्ख्या' इत्यनुवर्त्तते । ष्णान्ता । १ । १ । षट् । १ । १ । षश्च नश्च ष्णौ । ष्णावन्तौ यस्याः सा । षकारान्ता नकारान्ता सङ्ख्या षट्-सञ्ज्ञा भवति । षट् तिष्ठन्ति । पञ्च गच्छन्ति । षट्-सञ्ज्ञत्वाज्जसः 'षड्भ्यो लुक्[2] ॥' इति लुक् । 'शतानि, सहस्राणि' इत्यत्र सन्निपातलक्षणत्वात् षट्-सञ्ज्ञा न भवति ॥ २३ ॥[3]

इस सूत्र में 'सङ्ख्या' की अनुवृत्ति है । 'ष्णान्ता' षकारान्त नकारान्त जो 'सङ्ख्या' सङ्ख्यावाची शब्द हैं, उन की 'षट्' षट्-सञ्ज्ञा हो । षट् तिष्ठन्ति । पञ्च गच्छन्ति । यहां षट्-सञ्ज्ञा के होने से षट्-शब्द और पञ्च-शब्द की जस्-विभक्ति का लुक् हो गया ॥ २३ ॥

डति च[4] ॥ २४ ॥

'सङ्ख्या' इत्यनुवर्त्तते । [डति । १ । १ । च । अ० ।] डति-प्रत्ययान्ता सङ्ख्या षट्-सञ्ज्ञा भवति । कति पठन्ति । षट्-सञ्ज्ञत्वाज्जसो लुक् ॥ २४ ॥[5]

'च' और 'डति' डति-प्रत्ययान्त जो 'सङ्ख्या' सङ्ख्या है, सो 'षट्' षट्-सञ्ज्ञक हो । कति पठन्ति । यहां षट्-सञ्ज्ञा के होने से जस्-विभक्ति का लुक् हो गया ॥ २४ ॥

क्तक्तवतू निष्ठा ॥ २५ ॥

[क्त-क्तवतू । १ । २ ।] क्तश्च क्तवतुश्च तौ । [निष्ठा । १ । १ ।] क्त-क्तवतू प्रत्ययौ निष्ठा-सञ्ज्ञौ भवतः । कृतः । कृतवान् । निष्ठाविधायकानि सर्वाणि कार्य्याणि क्त-क्तवत्वोर्भवन्ति । ककारो गुणप्रतिषेधार्थः । उकारो ङीबाद्यर्थः ॥

निष्ठाविधायकानि सूत्राणि—'निष्ठायां सेटि[6] ॥' इत्यादीनि ॥ २५ ॥

['क्त-क्तवतू'] क्त, क्तवतु इन दोनों प्रत्ययों की ['निष्ठा'] निष्ठा-सञ्ज्ञा है । कृतः । कृतवान् । यहां कृ धातु से निष्ठा-प्रत्यय विधान है, सो क्त, क्तवतु होते हैं । क्त-क्तवतु-प्रत्ययों में ककार गुण के प्रतिषेध के लिये, और उकार ङीप्-प्रत्यय होने के लिये है ॥ २५ ॥

---

१. ना०—सू० १३८ ॥
चा० श०—"ष्णः सङ्ख्याया लुक् ॥" (२ । १ । २१) अस्मिन् चान्द्रसूत्रे "बहुगणव-तुडति सङ्ख्या ॥" (१ । १ । २२) इत्येकं, "षड्भ्यो लुक् ॥" (७ । १ । २२) इत्यपरञ्च पाणिनीयं सूत्रं प्रतिनिहितम् ॥

२. ७ । १ । २२ ॥

३. कोशेऽत्र—"आ० ५ व्या०" इति ॥

४. चा० श०—"कतेः ॥" (२ । १ । २२)

५. कोशेऽत्र—"आ० ५ व्या०" इति ॥

६. ६ । ४ । ५२ ॥

अथ सर्वनाम-सञ्ज्ञाधिकारः ॥

सर्वादीनि सर्वनामानि[1] ॥ २६ ॥

सर्वादीनि । १ । ३ । सर्वनामानि । १ । ३ । सर्वादीनां शब्दानां सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । सर्व-शब्द आदिर्येषां तानीमानि सर्वादीनि । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि-समासः । सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वनामानि । तेनैकस्य कस्यचित् सर्वो नाम, तत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञा न भवति । सर्वाय देहीति । सर्वस्मै, सर्वस्मात्, सर्वस्मिन्, विश्वस्मै, विश्वस्मात्, विश्वस्मिन्[2]—अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाविधानात् ङेः स्थाने स्मै, ङसेः स्थाने स्मात्, ङेः स्थाने स्मिन् ॥

सर्वनामविधायकानि—'सर्वनाम्नः स्मै[3] ॥' इत्यादीनि ॥

> भा०—सर्वनाम-सञ्ज्ञायां निपातनाएणत्वं न भविष्यति । किमेतन्निपातनं नाम । अविशेषेण णत्वमुक्त्वा विशेषेण निपातनं क्रियते । तत्र व्यक्तमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यते—इदं न भवतीति ॥
>
> महतीयं सञ्ज्ञा क्रियते । सञ्ज्ञा च नाम यतो न लघीयः । कुत एतत् । लघ्वर्थं हि सञ्ज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनम्—अन्वर्थसञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत । सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि भवन्ति । सर्वेषां नामानीति चातः सर्वनामानि । सञ्ज्ञोपसर्जने [च] विशेषेऽवतिष्ठेते ॥[4]

[१] सर्व । [२] विश्व[5] । [३] उभ । [४] उभय ।

[५] डतर । [६] डतम् । [७] अन्य । [८] अन्यतर । [९] इतर ।

---

१. सर्वादिगणेऽपठिताः केवलादिशब्दा अपि छन्दसि यत्र तत्र सर्वनामानीव रूपाणि लभन्ते । यथा—

केवले । १ । ३ (ऋ० १० । ५१ । ९), समानस्मात् । ५ । १ । (ऋ० ५ । ८७ । ४), मध्यमस्याम् । ७ । १ । (ऋ० १ । १०८ । ९), अवमस्याम् । ७ । १ । (ऋ० १ । १०८ । ९) इत्यादीनि ॥

२. प्रायेण छन्दसि प्रयुक्तत्वात् तत्रैवेमानि रूपाणि अन्वेष्टव्यानि । यथा—"इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते ।" (ऋ० ५ । ८३ । ४) "विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" (का० ८ । १७) "अयज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे ।" (ऋ० १०।४९।१)

३. ७ । १ । १४ ॥

४. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

५. प्रायशो लोकेऽस्य सर्वनामसञ्ज्ञस्य प्रयोगा न सन्ति । छान्दसाः प्रयोगाश्च—

विश्वेभिः । ३ । ३ । (ऋ० १ । ९ । १ ॥ का० २ । १५ ॥...), विश्वाय । ४ । १ । (ऋ० १ । ५० । १ ॥ का० ४ । ६ ॥ ...), विश्वात् । ५ । १ (ऋ० १ । १८९ । ६ ॥ का० ३८ । ५ ॥...) इत्यादयः ॥

[१०] त्वत् । [११] त्व[1]। [१२] नेम[2]। [१३] सम[3]। [१४] सिम[4]॥[१५--२१] 'पूर्व-पर-अवर-दक्षिण-उत्तर-अपर-अधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्[5]॥'[२२] 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्[6]॥' [२३] 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः[7] ॥'[8]

[२४] त्यद्[9] । [२५] तद् । [२६] यद् । [२७] एतद् । [२८] इदम् । [२९] अदस् । [३०] एक ।[10]

[३१] द्वि । [३२] युष्मद् । [३३] अस्मद् । [३४] भवतु । [३५] किम् ॥[11] इति सर्वादिः ॥

भा०—अथोभस्य सर्वनामत्वे कोऽर्थः । उभस्य सर्वनामत्वेऽक-जर्थः पाठः क्रियते । उभकौ ॥

---

१. अनुदात्तमिदं पदम् । प्रायेण विंशतिवारमिदमृग्वेदे प्रयुक्तम् । लोकेऽस्य प्रयोगो न कश्चिदुपलभ्यते । ऋग्वेदे प्रयुक्तानि रूपाणि—त्वः । १ । १ । त्वे । १ । ३ । त्वं । २ । १ । त्वेन । ३ । १ । त्वस्मै । ४ । १ । त्वा । स्त्री० १ । १ । त्वस्यै । स्त्री० ४ । १ । त्वद् । नपुं० १ । १ ॥

निरुक्ते (१ । ७–९) च—

"त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तमर्धनामेत्येके । ... निपात इत्येके । तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् । दृष्टव्ययं तु भवति । 'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः ।' इति द्वितीयायां, 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे ।' इति चतुर्थ्याम् । ..."

यथा "ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।" (ऋ० १० । ७१ । ११) इति निरुक्तोदाहृते मन्त्रे, तथैवान्येष्वपि बहुषु मन्त्रेषु "त्वः...त्वः" इति "एकः...अपरः" इत्यर्थे त्व-शब्दो द्विर्मिथः सापेक्षत्वेन प्रयुज्यते ॥

मैत्रायणीयसंहितायां (४ । २ । २) प्रयुक्तोऽनुदात्तः त्वदानीं-शब्दोऽपि अस्मादेव ॥

२. ऋग्वेदे प्रयुक्तान्यस्य रूपाणि—नेमे । १ । ३ । नेमानाम् । ६ । ३ । नेमस्मिन् । ७ । १ । नेमम् । नपुं १ । १ ॥

३. इदमप्यनुदात्तं पदम् । ऋग्वेदे प्रयुक्तान्यस्य रूपाणि—समे । १ । ३ । समम् । २ । १ । समस्मै । ४ । १ । समस्मात् । ५ । १ । समस्य । ६ । १ । समस्मिन् । ७ । १ ॥

४. ऋग्वेदे प्रयुक्तान्यस्य रूपाणि—सिम । सम्बु० । सिमः । १ । १ । सिमे । १ । ३ । सिमस्मै । नपुं० ४ । १ । सिमस्मात् । ५ । १ ॥

लोके सर्वनाम-सञ्ज्ञयोः सम-सिम-शब्दयोः प्रयोगाः प्रायशो नोपलभ्यन्ते ॥

५. १ । १ । ३३ ॥

६. १ । १ । ३४ ॥

७. १ । १ । ३५ ॥

८. ५–२३ सङ्ख्याका डतरादयः (७ । १ । २५)॥

९. ऋग्वेदे भूयिष्ठमस्य प्रयोगाः । वाजसनेयितैत्तिरीयसंहितयोर्ब्राह्मणेषु चापि पञ्चषाः प्रयोगाःसन्ति॥

वाक्यादौ "उ, चिद्, नु, सु" इत्येतैः पदैरनुगम्यमान एवैष दृश्यते ॥

१०. २४–३०सङ्ख्याकाः त्यदादयः (१ । १ । ७३ ॥...) ॥

११. ३१–३५ सङ्ख्याका द्व्यादयः (५ । ३ । २)॥

अथ भवतः सर्वनामत्वे कानि प्रयोजनानि । भवतोऽकच्छेषात्वानि प्रयोजनानि । अकच्—भवकान् । शेषः—स च भवांश्च = भवन्तौ । आत्वम्—भवादृगिति ॥[1]

उभ-भवत्-शब्दौ न्यूनप्रयोजनौ । तस्मात् तयोः प्रयोजनानि दर्शितानि । अन्ये तु सर्वादयो बहुप्रयोजनाः, तस्मान्न दर्शिताः । सर्व-शब्दपर्यायस्य सम-शब्दस्य सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्[2] ॥' इति निर्देशात् तुल्यवाचिनः समस्य सर्वनामत्वे निषेधः ॥ २६ ॥[3]

अब सर्वनाम-सञ्ज्ञा का अधिकार है ॥

'सर्वादीनि' सर्व-शब्द जिन के आदि में है, उन सर्व-शब्द के सहित सर्वादिगण में पढ़े हुए शब्दों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा हो । सर्वस्मै । विश्वस्मै । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के होने से ङे-विभक्ति के स्थान में स्मै-आदेश हो गया है । सर्वनाम-शब्द में नकार को णकार आदेश पाता था, सो निपातन से नहीं हुआ । निपातन उस को कहते हैं कि जो सामान्य विधान से कोई कार्य पाता है, और विशेष करके उस का निषेध कर देना । जैसे णत्वविधान सामान्य से पाता है, फिर यहां उस के न होने से प्रकट पाणिनिजी महाराज का अभिप्राय मालूम होता है कि यह न हो ॥

सञ्ज्ञा उस को कहते हैं कि जो सब से छोटी हो, क्योंकि उस का करना ही इसलिये है कि बहुतसा काम थोड़े से निकले । फिर इस सूत्र में बड़ी सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन यह है कि जिससे **'अन्वर्था०॥'** अर्थात् सार्थक सञ्ज्ञा समझी जाय । सर्वनाम-सञ्ज्ञा का अर्थ यह है कि जो सब के नाम हों, वे सर्वनाम कहावें । इस से प्रयोजन यह है कि सर्वादि-शब्द किसी एक वस्तु के वाचक हों, तो वहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो । जैसे—सर्वाय देहि । यहां किसी एक मनुष्य का नाम 'सर्व' है । इससे सर्वनाम-सञ्ज्ञा का कार्य नहीं हुआ ॥

सर्वादिगण के शब्द संस्कृत में सब लिख दिये हैं । उस गण में उभ-शब्द का प्रयोजन यह है कि 'उभकौ' यहां उस की सर्वनाम-सञ्ज्ञा के होने से अकच्-प्रत्यय हो जाय । और भवत्-शब्द के प्रयोजन ये हैं कि 'भवकान्' यहां भी अकच्-प्रत्यय हो जाय । **'भवन्तौ'** यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा से एकशेष हो गया, और **'भवादृक्'** यहां इस की सर्वनाम-सञ्ज्ञा होने से अन्त्य को आकारादेश हो गया । इन दो शब्दों के प्रयोजन कम थे, इससे दिखा दिये । और शब्दों के प्रयोजन बहुत हैं, इससे नहीं दिखाये । सम-शब्द, जो सर्वादिगण में पढ़ा है, वह जहां सर्व-शब्द का पर्यायवाची हो, वहीं उस की सर्वनाम-सञ्ज्ञा हो । इससे **'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्[2]॥'** यहां तुल्यवाची सम-शब्द की सर्वनाम-सञ्ज्ञा नहीं हुई ॥ २६ ॥

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ॥ २७ ॥

---

१. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

२. १ । ३ । १० ॥

३. कोशेऽत्र—"आ० ६ [व्या०]" इति ॥

'सर्वादीनि सर्वनामानि ॥' इति सर्वमनुवर्त्तते । विभाषा [१ । १ ।] दिक्समासे । ७ । १ । बहुव्रीहौ । ७ । १ । दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि विभाषा भवन्ति । अप्राप्तविभाषेयम् । 'न बहुव्रीहौ[1] ॥' इति निषेधे प्राप्ते विभाषाऽऽरभ्यते । दिशां समासः = दिक्समासः । अथ वा 'दिक्०[2] ॥' इति सूत्रेण समासः = दिक्समासः, तस्मिन् । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञत्वात् 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च[3] ॥' इति ङितः स्याट्-आगमः, सर्वनाम्नो ह्रस्वत्वं च ॥

भा०—दिग्-ग्रहणं किमर्थम् । 'न बहुव्रीहौ[1] ॥' इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तत्र न ज्ञायते—क्व विभाषा, क्व प्रतिषेध इति । दिग्-ग्रहणे क्रियमाणे ज्ञायते[4]—दिगुपदिष्टे विभाषा, अन्यत्र प्रतिषेधः ॥

अथ समास-ग्रहणं किमर्थम् । समास एव यो बहुव्रीहिः, तत्र यथा स्यात् । बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिः, तत्र मा भूदिति । दक्षिणदक्षिणस्यै देहि ॥[5]

अत्र 'नित्यवीप्सयोः[6] ॥' इति द्वित्वं, न तु मुख्येन समासः ॥

अथ 'बहुव्रीहौ' इति किमर्थम् । उत्तरार्थम् । 'न बहुव्रीहौ[1] ॥' इत्यत्र अवयवभूतस्याऽपि बहुव्रीहेः प्रतिषेधो यथा स्यात् । इह मा भूत्—वस्त्रमन्तरमेषां त इमे वस्त्रान्तराः । वसनमन्तरमेषां त इमे वसनान्तराः । वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च = वस्त्रान्तर-वसनान्तराः ॥

अत्र बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः । तत्र 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः[7] ॥' इति विकल्पेन जसि सर्वनाम-सञ्ज्ञा प्राप्ता, सा 'न बहुव्रीहौ[1] ॥' इति सूत्रे प्रतिषिध्यते ॥ २७ ॥[8]

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा अर्थात् बहुव्रीहि दिक्समास में 'न बहुव्रीहौ[1] ॥' इस सूत्र से निषेध की प्राप्ति में विकल्प का आरम्भ किया है । 'दिक्समासे' दिशावाची सर्वनाम-सञ्ज्ञक

---

१. १ । १ । २८ ॥

२. २ । २ । २६ ॥

३. ७ । ३ । ११४ ॥

४. पाठान्तरम्—"दिग्-ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति—"

५. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

६. ८ । १ । ४ ॥

७. १ । १ । ३५ ॥

८. कोशेऽत्र—"आ० ६ [व्या०]" इति ॥

शब्दों के 'बहुव्रीहौ' बहुव्रीहि समास में 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'विभाषा' विकल्प करके होती है । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प करके होने से ङे-विभक्ति को स्याट् का आगम, और सर्वनाम को ह्रस्व विकल्प करके होता है ॥

इस सूत्र में दिक्-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'न बहु०[1]॥' इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में निषेध किया है, सो यह मालूम नहीं होता कि कहां विकल्प और कहां निषेध है, सो दिक्-शब्द के ग्रहण से जाना गया कि दिक्-समास में विकल्प और केवल बहुव्रीहि समास में निषेध है । समास-ग्रहण इसलिये है कि 'दक्षिणदक्षिणस्यै' यहां विकल्प करके सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो । और बहुव्रीहि-ग्रहण इसलिये है कि 'न बहु०[1]॥' इस सूत्र में 'वस्त्रान्तर-वसनान्तराः' यहां बहुव्रीहिगर्भद्वन्द्व समास में भी सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो ॥ २७ ॥

न बहुव्रीहौ ॥ २८ ॥

'समासे' इत्यनुवर्त्तते । सर्वाद्यन्तस्याऽपि तदन्तविधिना सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवतीति मत्वा प्रतिषेध आरभ्यते । [न । अ० । बहुव्रीहौ । ७ । १ ।] बहुव्रीहौ समासे सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि न भवन्ति । प्रियं विश्वं यस्य तस्मै प्रियविश्वाय । प्रियावुभौ यस्य तस्मै प्रियोभाय । अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाप्रतिषेधाद् ङेः स्मै न भवति ॥ २८ ॥

'बहुव्रीहौ' बहुव्रीहि समास में 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'न' न हो । सर्वादि जिस के अन्त में हों, उस की भी सर्वनाम-सञ्ज्ञा होती है, ऐसा जानके इस सूत्र का आरम्भ किया है । 'प्रियविश्वाय' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के नहीं होने से ङे-विभक्ति के स्थान में स्मै-आदेश नहीं हुआ ॥ २८ ॥

तृतीयासमासे[2] ॥ २९ ॥

'न' इत्यनुवर्त्तते । [तृतीयासमासे । ७ । १ ।] तृतीयया समासः = तृतीया-समासः, तस्मिन् । सर्वाद्यन्ते तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि न भवन्ति । मासपूर्वाय देहि । संवत्सरपूर्वाय देहि । असत्यां सर्वनाम-सञ्ज्ञायां स्मै न भवति ॥

'समासे' इत्यनुवर्त्तमाने पुनः समास-ग्रहणं तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि प्रति-षेधो यथा स्यात् । मासेन पूर्वाय । संवत्सरेण पूर्वाय । अत्रापि सर्वनाम-सञ्ज्ञा न भवति ॥ २९ ॥

'तृतीयासमासे' तृतीया समास में 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'न' न हो । 'मासपूर्वाय' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के न होने से ङे के स्थान में स्मै-

---

१. १ । १ । २८ ॥

२. दृश्यतां चा० श०—"तृतीयार्थयोगे ॥" (२ । १ । ११)

आदेश न हुआ। समास की अनुवृत्ति चली आती है, फिर समास-ग्रहण इसलिये है कि तृतीया समास के लिये 'मासेन पूर्वाय' यह जो वाक्य है, वहां भी सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो॥२९॥

द्वन्द्वे च[1] ॥ ३० ॥

[द्वन्द्वे । ७ । १ । च । अ० ।] द्वन्द्वसमासे सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि न भवन्ति । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाप्रतिषेधाद् 'आमि सर्वनाम्नः सुट्[2] ॥' इति सुट् न भवति ॥

चकारः सर्वनाम-सञ्ज्ञाया निषेधपूर्त्त्यर्थः ॥ ३० ॥

'द्वन्द्वे' द्वन्द्व समास में 'च' भी 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा ['न'] न हो। जैसे—दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्। यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के नहीं होने से सुट् का आगम नहीं हुआ। इस सूत्र में चकार इसलिये है कि निषेध पूरा हुआ, आगे नहीं जायगा ॥ ३० ॥

विभाषा जसि[3] ॥ ३१ ।

[विभाषा । १ । १ । जसि । ७ । १ ।] 'द्वन्द्वे' इत्यनुवर्त्तते । द्वन्द्वे समासे जसि विभाषा सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि भवन्ति । अप्राप्तविभाषेयम् । पूर्वेण सूत्रेण प्रतिषेधे प्राप्ते विभाषाऽऽरभ्यते । कतरकतमे । कतरकतमाः । सर्वनाम-सञ्ज्ञाविकल्पात् 'जसः शी[4] ॥' इति शी-आदेशो वा भवति ॥

भा०—जसः कार्यं प्रति विभाषा । अकज्भि न भवति, 'द्वन्द्वे च[5] ॥' इति प्रतिषेधात्[6] ॥[7]

कतरकतमकाः । अकच्-प्रतिषेधे कः प्रत्ययः ॥ ३१ ॥

पूर्व सूत्र से द्वन्द्व समास में सर्वनाम-सञ्ज्ञा प्राप्त नहीं। इससे अप्राप्तविभाषा अर्थात् सर्वनाम-सञ्ज्ञा की अप्राप्ति में विकल्प का आरम्भ है। 'द्वन्द्वे' द्वन्द्व समास में 'जसि' जस्-विभक्ति के परे 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'विभाषा' विकल्प करके हो। कतरकतमे। कतरकतमाः। यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प करके होता है। जस् को विधान जो कार्य हैं, उन्हीं में यह विकल्प है। इस से 'कतरकतमकाः' यहां अकच्-प्रत्यय नहीं होता। पूर्व सूत्र से सर्वनाम-सञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है ॥ ३१ ॥

---

१. चा० श०—"चार्थसमासे ॥" (२।१।१२)

२. ७ । १ । ५२ ॥

३. चा० श०—"शी वा ॥" (२ । १ । १३)

४. ७ । १ । १७ ॥

५. १ । १ । ३० ॥

६. " 'द्वन्द्वे च ॥' इति प्रतिषेधात् ॥" इति पाठो भाष्यकोशेषु न सार्वत्रिकः ॥

७. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

प्रथमचरमतयाल्पार्द्धकतिपयनेमाश्च[1] ॥ ३२ ॥

'विभाषा जसि' इत्यनुवर्त्तते । 'द्वन्द्वे' इति निवृत्तम् । एषां द्वन्द्वः । प्रथम, चरम, तयप्-प्रत्ययान्त, अल्प, अर्द्ध, कतिपय, नेम—इत्येते शब्दा जसि विभाषा सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवन्ति । प्रथमे, प्रथमाः । चरमे, चरमाः । द्वितये, द्वितयाः । अल्पे, अल्पाः । अर्धे, अर्धाः । कतिपये, कतिपयाः । नेमे, नेमाः । अत्र सर्वत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाविकल्पात् जसः स्थाने शी विकल्पेन भवति । प्रथमादिष्वप्राप्त-विभाषा । नेम-शब्दः सर्वादिषु पठ्यते । तस्मिन् प्राप्तविभाषा ॥ ३२ ॥

'प्रथम, चरम, तयप्-प्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय, नेम' इन शब्दों की भी जस्-विभक्ति के परे सर्वनाम-सञ्ज्ञा विकल्प करके होती है । प्रथमे । प्रथमाः इत्यादि । इसी प्रकार के उदाहरण सब शब्दों के बनते हैं । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प के होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प करके होता है । प्रथमादि शब्दों में अप्राप्तविभाषा और नेम-शब्द के सर्वादिकों में पाठ होने से प्राप्तविभाषा है ॥ ३२ ॥

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्[2] ॥३३॥

ईदृशमेव सूत्रं गणे पठितं, तस्मान्नित्यायां सर्वनाम-सञ्ज्ञायां प्राप्तायां जसि विभाषाऽऽरम्भ इति प्राप्तविभाषा । पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इत्येतेषां शब्दानां जसि विभाषा सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । नियमपूर्वक-स्थितिर्व्यवस्था । तस्यां व्यवस्थायां सत्यामसञ्ज्ञायाम् । सञ्ज्ञायां वर्त्तमानाः स्युश्चेत् तदा न । पूर्वे, पूर्वाः । परे, पराः । अवरे, अवराः । दक्षिणे, दक्षिणाः । उत्तरे, उत्तराः । अपरे, अपराः । अधरे, अधराः ॥

'व्यवस्थायाम्' इति किमर्थम् । दक्षिणा इमे गाथकाः । प्रवीणा इत्यर्थः ॥ 'असञ्ज्ञायाम्' इति किम् । उत्तराः कुरवः ॥

सत्यामेव व्यवस्थायां तेषामियं सञ्ज्ञा ॥ ३३ ॥

पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इन शब्दों की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था में जस् के परे विकल्प करके सर्वनाम-सञ्ज्ञा होती है । यह सूत्र इसी प्रकार का गणपाठ में भी पढ़ा है, इससे सर्वनाम-सञ्ज्ञा नित्य प्राप्त है । उस में [अर्थात् सर्वनाम-सञ्ज्ञा की नित्य प्राप्ति में] जस् के परे [यहां] विकल्प का आरम्भ है । इससे प्राप्तविभाषा है । पूर्वे । पूर्वाः इत्यादि उदाहरणों में सर्वनाम-सञ्ज्ञा से जस् के स्थान में शी-भाव विकल्प करके होता है ॥

---

१. ना०—१७३ ॥

चा० श०—"प्रथमचरमतयाल्पार्धनेमकतिपयात् ॥" (२ । १ । १४ ॥)

२. ना०—१७४ ॥

व्यवस्था उसे कहते हैं, जो नियम पूर्वक स्थिति हो । सो व्यवस्था-शब्द इस सूत्र में इसलिये पढ़ा है कि 'दक्षिणा इमे गाथकाः' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो । 'असञ्ज्ञा' इसलिये है कि 'उत्तराः कुरवः' यहां सञ्ज्ञा में सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो ॥ ३३ ॥

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्[१] ॥ ३४ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । अस्यापि सूत्रस्य गणे पठितत्वात् । स्वम् । १ । १ । अज्ञातिधनाख्यायाम् । ७ । १ । ज्ञातिश्च धनं च = ज्ञातिधने, तयोराख्या = ज्ञातिधनाख्या, न ज्ञातिधनाख्या = अज्ञातिधनाख्या, तस्याम् । ज्ञाति-धनपर्यायवाचिनं स्व-शब्दं विहायान्यवाचिनः स्व-शब्दस्य जसि विभाषा सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः । स्वे गावः, स्वाः गावः ॥

'अज्ञातिधनाख्यायाम्' इति किम् । स्वाः = ज्ञातयः । प्रभूताः स्वा न दीयन्ते [प्रभूताः स्वाः =] प्रभूतानि धनानीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

'अज्ञातिधनाख्यायाम्' ज्ञाति और धन के पर्यायवाची स्व-शब्द को छोड़के अन्यवाची 'स्वम्' स्व-शब्द की 'जसि विभाषा' जस् के परे विकल्प करके 'सर्वनाम' सर्वनाम-सञ्ज्ञा हो । यह सूत्र भी गणपाठ में पढ़ा है, इससे यहां भी प्राप्तविभाषा है । जैसे—'स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प के होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प से होता है ॥

इस सूत्र में अज्ञातिधनाख्या-ग्रहण इसलिये है कि 'स्वाः = ज्ञातयः, स्वाः प्रभूता न दीयन्ते' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो ॥ ३४ ॥

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥ ३५ ॥

अन्तरम् । १ । १ । बहिर्योग-उपसंव्यानयोः । ७ । २ । अस्य सूत्रस्य गणे पाठादियमपि प्राप्तविभाषा । अतिसामीप्ये वर्त्तमानमुपसंव्यानम् । किञ्चिद् बाह्यं वर्त्तमानं बहिर्योगः । अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः । नगराद् बहिःस्थाश्चाण्डालादिगृहा भवन्तीति । अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः । [अन्तरे, अन्तराः =] अतिसामीप्य आच्छादिता इत्यर्थः ॥

'बहिर्योगोपसंव्यानयोः' इति किम् । अनयोर्ग्रामयोरन्तरा इमे वृक्षाः । [अन्तराः =] मध्यस्था इत्यर्थः ॥

> भा० — अपुरीति वक्तव्यम् । इह मा भूत् — अन्तरायां पुरि वसति ॥[२]

---

१. "क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।" (१० । ८५ । ४२) इत्यत्र अन्येषु च ३१ "स्वसिच्चञ्जासि क्राणस्य स्वसिच्चञ्जासि ।" (१ । १३२ । २) इत्येकं मन्त्रं विहाय ॥ मन्त्रेषु ऋग्वेदे स्व-शब्दे सिन्-आदेशो न भवति, २. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

गणसूत्रस्येदं प्रत्युदाहरणम् । तेन पुरिसामान्येन **सर्वत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञा** निषिध्यते ॥

भा०—*वा-प्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसङ्ख्यानम्*[1]॥[2]

द्वितीयायै । द्वितीयाय । तृतीयायै । तृतीयाय । द्वितीयस्यै । **द्वितीयस्मै** । तृतीयस्यै । तृतीयस्मै । ङित्सु = ङे, ङसि, ङस्, ङि, एतासां विभक्तीनां कार्येषु ॥३५॥

इति सर्वनाम-सञ्ज्ञाधिकारः ॥

'बहिर्योग-उपसंव्यानयोः' बहिर्योग और उपसंव्यान अर्थ में वर्त्तमान जो **'अन्तरम्'** अन्तर-शब्द है, उस की 'जसि विभाषा' जस् के परे सर्वनाम-सञ्ज्ञा विकल्प करके हो। यहां भी प्राप्तविभाषा है। उपसंव्यान उस को कहते हैं कि जो अत्यन्त समीप वर्त्तमान हो। और बहिर्योग वह होता है कि जो कुछ बाहर को वर्त्तमान हो। बहिर्योग का उदाहरण यह है—**'अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः'** अर्थात् चाण्डाल आदि नीच मनुष्यों के घर नगर से बाहर होते हैं। और उपसंव्यान का उदाहरण यह है कि 'अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः' [अर्थात्] अत्यन्त शरीर से लगे हुए दुपट्टे। यहां दोनों जगह सर्वनाम-सञ्ज्ञा होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प करके होता है ॥

इस सूत्र में बहिर्योग और उपसंव्यान-ग्रहण इसलिये है कि 'अनयोर्ग्रामयोरन्तरा इमे वृक्षाः' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो। 'अपुरीति० ॥' इस वार्त्तिक से पुरि अर्थ में अन्तर-शब्द की सर्वनाम-सञ्ज्ञा सर्वत्र नहीं होती। 'वा-प्रकरणे० ॥' इस वार्त्तिक से तीय-प्रत्ययान्त अर्थात् द्वितीय-तृतीय-शब्दों की ङित्-विभक्तियों के कार्यों में सर्वनाम-सञ्ज्ञा विकल्प करके होती है ॥ ३५ ॥

यह सर्वनाम-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ ॥

अथाव्यय-सञ्ज्ञाधिकारः ॥

स्वरादिनिपातमव्ययम्[3] ॥ ३६ ॥

स्वरादि-निपातम् । १ । १ । अव्ययम् । १ । १ । स्वरादयश्च निपाताश्च = स्वरादिनिपातम् । समाहारद्वन्द्वः । स्वरादयः शब्दा वक्ष्यमाणा निपाताश्चाव्यय-सञ्ज्ञा भवन्ति ॥

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

३. अव्ययानां सोदाहरणा अर्था भगवद्दयानन्दसरस्वतीकृतेऽव्ययार्थे श्रीवर्धमानकृतौ गणरत्नमहोदधौ (प्रथमाध्याये) च द्रष्टव्याः । विद्यार्थिनां सुखावबोधायासाभिर्वैदिकानां शब्दानामुदाहरणान्यपि टिप्पणेषु दत्तानि । भगवद्दयानन्दकृता अर्था अपि ऊर्ध्वकोष्ठकेषु निर्दिष्टाः । परं नैतेन मन्तव्यं, एतावन्त एवार्थास्तेषां सन्तीति । विभिन्नमतानि च तत्र तत्र भाष्येषु सम्यग् ज्ञातव्यानि ॥

[१] स्वर्[1], [२] अन्तर्, [३] प्रातर्—अन्तोदात्ताः ।

[४] पुनर्—आद्युदात्तः ।

[५] सनुतर्[2] [=सर्वदा[3]], [६] उच्चैस्, [७] नीच्चैस्, [८] शनैस्, [९] ऋधक्[4] [स्वीकारे[5]], [१०] आरात्,[6] [११] ऋते, [१२] युगपत्, [१३] पृथक्—अन्तोदात्ताः[7]।

[१४] ह्यस्, [१५] श्वस्, [१६] दिवा, [१७] रात्रौ, [१८] सायम्, [१९] चिरम्, [२०] मनाक्, [२१] ईषत्,[8] [२२] जोषम्, [२३] तूष्णीम्, [२४] बहिस्, [२५] आविस्, [२६] अवस्[9] [= अधस्तात्], [२७] अधस्, [२८] समया, [२९] निकषा, [३०] स्वयम्, [३१] मृषा, [३२] नक्तम्, [३३] नञ्, [३४] हेतौ,[10] [३५] अद्धा[11] [=साक्षात्], [३६] इद्धा[12] [प्रकाशे], [३७] सामि[13] [अर्द्धजुगुप्सयोः]—अन्तोदात्ताः।[14]

[३८] सन्, [३९. सनत्[15] =सदा], [४०] सनात्[16] [=सदा], [४१] तिरस्—आद्युदात्ताः ।

[४२] अन्तरा—अन्तोदात्तः ।

---

१. तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण-आरण्यकेषु (क्रमेण ५ । ५ । ५ । ३ ॥ १ । १ । ५ । १ ॥ ३ । ६ । १ ॥...) सूत्रादिषु च "सुवर्" इति पाठान्तरम् ॥

"एता वै व्याहृतयः (=भूर्भुवःस्वः) सर्वप्रायश्चित्तयः ।" "भूर्भुवस्स्वरिति सा त्रयी विद्या ।" इति च ॥ (जै० उ०—क्रमेण ३ । १७ । ३ ॥ २ । ९ । ७)

२. "आराच्चिद् द्वेषस्सनुतर्युयोतु ।" (का० ८।१६)

३. निघण्टौ (३ । २५) अन्तर्हितनामसु पठितम् ॥

४. "ऋधक् सोम स्वस्तये।" (ऋ० ९ । ६४ । ३०)

५. गण० म०—"ऋधगिति सत्ये ।"

६. अन्यत्र "आरात्" इत्यतः परं "अन्तिकात्" इति ॥

७. श्रीबोटलिङ्कसम्पादिते गणपाठे—"एत आद्युदात्ताः ।" इति । परमृग्वेदे "शनैस्, पृथक्" इत्येवाद्युदात्तौ, "शनकैस्" (८ । ९१ । ३) इति तु अन्तोदात्त एव ॥

८. अन्यत्र "ईषत्" इत्यतः परं "शश्वत्" इति ॥

९. "अवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम् ।" (वा० २९ । १७)

१०. अन्यत्र "हेतौ" इत्यस्मात् परं क्वचित् "हे, है" इत्यपि ॥

११. "को अद्धा वेद ।" (ऋ० ३ । ५४ । ५) निघण्टौ सत्यनामसु (३ । १०) पठितम् ॥

१२. "इद्धा तपत्ययं राजा ।" इत्यव्ययार्थे उदाहरणम् ॥

१३. "न सामि प्रस्तावयेताग्निष्टोममेवासीत ।" (का० २८ । १)

१४. अत्र काशिकायामन्यत्र च—"वत् । वदन्तमव्ययसञ्ज्ञं भवति । ब्राह्मणवत् । क्षत्रियवत् ॥" अथाप्यस्मात् परमपरत्र "वत" इति ॥

१५. "सनत् कक्षीवाँ अभिपित्वे अह्नाम् ।" (ऋ० १ । १२६ । ३)

१६. "सनात् सनीळा अवनीरवाता व्रता रक्षन्ते अमृताः सहोभिः ।" (ऋ० १ । ६२ । १०)

[४३] अन्तरेण[1], [४४] ज्योक्[2] [चिरार्थे],[3] [४५] कम्[4], [४६] शम्, [४७] सना[5], [४८] सहसा,[6] [४९] स्वस्ति[7], [५०] स्वधा[8], [५१] अलम्, [५२] वषट्[9], [५३] अन्यत्, [५४] अस्ति, [५५] उपांशु, [५६] क्षमा, [५७] विहायसा, [५८] दोषा, [५९] मुधा,[10] [६०] मिथ्या,[11] [६१] वृथा, [६२] पुरा, [६३] मिथो, [६४] मिथस्,[12] [६५] प्रबाहुकम्[13] [प्राबल्ये],[14] [६६] आर्य्यहलम्[15], [६७] अभीक्ष्णम्, [६८] साकम्, [६९] सार्द्धम्,[16] [७०] समम्, [७१] नमस्, [७२] हिरुक्[17] [= पृथक्],[18] [७३] प्रतान्, [७४] प्रशान्,[19] [७५] तथा, [७६] माङ्, [७७] अम्, [७८] कामम्, [७९] प्रकामम्, [८०] भूयस्, [८१] परम्, [८२] साक्षात्, [८३] साचि, [८४] सत्यम्, [८५]

---

१. उपरिष्टाल्लिखितेषु शब्देषु कस्मिंश्चिदपि गणपाठे स्वरनिर्देशो न विद्यते ॥

अन्यत्र "अन्तरेण" इत्यस्मात् परं "मक्" इति ॥

२. "ज्योक् च सूर्यं दृशे ।" (ऋ० १ । २३ । २१)

३. अन्यत्र "ज्योक्" इत्यतः परं "योक्, नक्" इति ॥

"अप स्वसुरुषसो नग् जिहीते ।" (ऋ० ७ । ७१ । १) नक्तमित्यर्थः ॥

४. द्रष्टव्यं निरुक्ते (१ । ९)—"अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कम्, ईम्, इद्, उ इति । 'शिशिरं जीवनाय कम् ।' ..."

५. "सना पुराणमध्येमि ।" (ऋ० ३ । ५४ । ९)

६. "सहसा" इत्यतः परं काशिकायां "विना, नाना" इति । क्वचित् "श्रद्धा" इत्यतोऽप्यधिकम् ॥

७. "स्वस्त्युत्तरमशीय ।" (मै० १ । २ । १)

८. "पितृभ्यः स्वधास्तु ।" (आन्ध्रशाखीयतैत्तिरीयारण्यके १० । ६७ । २) इति सम्प्रदानार्थः ॥

९. "कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ।" (वा० ११ । ३९)

१०. अन्यत्र "मुधा" इत्यतः परं "दिष्ट्या" इत्यपि ॥

११. "मिथ्या" इत्यतः परं काशिकायां "कृत्वार्थाः तसिवती । कृन्मकारान्तः सन्ध्यक्षरान्तोऽव्ययीभावश्च" (द्रष्टव्यं १ । १ । ३८, ४०)" इति ॥

१२. अन्यत्र "मिथस्" इत्यतः परं "प्रायस्, मुहुस्" इति ॥

१३. "प्रबाहुक्" इति पाठान्तरम् ॥

"देवा वा असुरान् यज्ञमभिजित्य ते प्रबाहुग् ग्रहान् गृह्णाना आयन् ।" (का० २९ । ६)

१४. अन्यत्र "प्रबाहुकम्" इत्यतःपरं "प्रवाहिका" इति ॥

१५. गण० म०—"आर्य्यहलमिति बलात्कारे । आर्य्यहलं गृह्णाति । 'आर्येति प्रीतिबन्धने, हलमिति च प्रतिषेधविषादयोः ।' इति शाकटायनः ॥"

१६. अन्यत्र "सार्द्धम्" इत्यतः परं "सत्रम्" इति ॥

१७. "य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ॥" (ऋ० १ । १६४ । ३२)

निघण्टौ (३ । २५) अन्तर्हितनामसु पठितम् ॥

१८. अन्यत्र "हिरुक्" इत्यतः परं "तसिलादयस्तद्धिताः एधाच्पर्यन्ताः, शस्तसी, कृत्वसुच्, सुच्, आस्थालौ (पाठान्तरं—आच्थालौ) च्व्यर्थाश्च, अथ, अम्, आम्, प्रताम् ।" इति ॥

१९. अत्र काशिकायां स्वरादिः समाप्तः । अतः परमन्यत्र "आकृतिगणोऽयम् । तेनान्येऽपि । तथाहि, माङ् ..." इति ॥

मक्षु[1][=शीघ्रम्], [८६] संवत्, [८७] अवश्यम्, [८८] सपदि, [८९] प्रादुस्,[2] [९०] अनिशम्, [९१] नित्यम्, [९२] नित्यदा,[3] [९३] अजस्रम्[4], [९४] सन्ततम्, [९५] उषा, [९६] ओम्[5][=प्रणवः], [९७] भूर्[6], [९८] भुवर्[6], [९९] झटिति, [१००] तरसा, [१०१] सुष्ठु, [१०२] कु, [१०३] अञ्जसा, [१०४] अ, [१०५] मिथु[7], [१०६] विथक्, [१०७] भाजक्, [१०८] अन्वक्, [१०९] चिराय, [११०] चिरम्, [१११] चिररात्राय, [११२] चिरस्य, [११३] चिरेण, [११४] चिरात्, [११५] अस्तम्, [११६] आनुषक्[8] [= अनुकूलतया], [११७] अनुषक्[9], [११८] अनुषट्, [११९] अम्नस्[10], [१२०] अम्नर्[11], [१२१] स्थाने, [१२२] वरम्, [१२३] दुष्ठु, [१२४] बलात्, [१२५] शु[12], [१२६] अर्वाक्, [१२७] शुदि[13], [१२८] वदि[13] [इत्यादि] ॥ एतेषामव्यय-सञ्ज्ञत्वाद् विभक्तेर्लुक् ॥

निपाताः, 'प्राग्रीश्वरा०[14]॥' [इति] अस्मिन्नधिकारे येषां येषां निपात-सञ्ज्ञोक्ता, ते ते ग्राह्याः ॥

अत्र स्वरादिगणे केनचिद् भाष्यसिद्धान्तमविज्ञाय कृत्-तद्धितानां गणना कृता, सा सूत्रैः सिद्धा । गणोऽस्ति चेत्, सूत्राणि व्यर्थानि स्युः ॥ ३६ ॥

---

१. अन्यत्र "मङ्क्षु" इति । लोके न क्वचित् "मक्षु" इति दृश्यते । वेदे च न कचित् "मङ्क्षु" इति । निघण्टौ (२ । १५) क्षिप्रनामसु पठितः ।

"प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ।" (ऋ० १ । ६० । ५), "मङ्क्षूदपाति परितः पटलैरलीनाम् ।" (शिशुपालवधे ५ । ३७) इति वेद-लोकयोरुदाहरणौ ॥

२. अन्यत्र "प्रादुस्" इत्यतः परं "आविस्" इति ॥

३. अन्यत्र "नित्यदा" इत्यतः परं "सदा" इति ॥

४. कचिद् "अजस्रम्" इति ॥

५. दृश्यतां गोपथब्राह्मणे—"ओङ्कारस्य को धातुरिति । अवतिमप्येके रूपसामान्यादर्थसामान्यान्नेदीयः, तस्मादापेरोङ्कारः, सर्वमाप्नोतीत्यर्थः ।" (पू० १ । २६)

६. दृश्यतां "स्वर्" इति ॥

७. "छिद्रा वाचाप्यसिना मिथू कः ।" (ऋ० १ । १६२ । २०)

"न मिथु ब्रूयाद्, यन्मिथु ब्रूयात्, प्रियतमेन यातयेत् ।" (का० ३६ । ५)

८. "आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।" (वा० ७ । ३२)

९. गण० म०—"अनुमानेऽनुषगिति शाकटायनः । 'आनुषद्' इति आकारं दकारं च केचित् ॥"

१०. "यावद् वै कुमारेऽम्नो जात एनस्तावदेतस्मिन्नेनो भवति ।" (का० ३६ । ५)

गण० म०—"अम्न इति शीघ्रसाम्प्रतिकयोः ।"

११. दृश्यताम्—"अम्नर्-ऊधर्-अवरित्युभयथा छन्दसि ॥" (८ । २ । ७०)

१२. निघण्टौ (२ । १५) क्षिप्रनामसु पठितम् ॥

१३. "शुक्लदिने, बहुलदिने" इत्येतयोः सङ्केतौ सम्भवतः ॥

१४. १ । ४ । ५६ ॥

'स्वरादि-निपातम्' स्वरादि और निपात इन की 'अव्ययम्' अव्यय-सञ्ज्ञा हो। उन की अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्तियों का लुक् होता है। स्वरादि-शब्द पूर्व संस्कृत में लिख दिये। निपात 'चादयोऽसत्त्वे[1]॥' इत्यादि सूत्रों से विधायक आवेंगे ॥ ३६ ॥

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥ ३७ ॥

तद्धितः । १ । १ । च । अ० । असर्वविभक्तिः । १ । १ । नोत्पद्यन्ते सर्वा विभक्तयो यस्मात्, सोऽसर्वविभक्तिस्तद्धित-प्रत्ययान्तः शब्दोऽव्यय-सञ्ज्ञो भवतीति । ततः । यतः । यदा । तदा । विना । नाना । अव्यय-सञ्ज्ञत्वाद् विभक्तेर्लुक् ॥

तद्धित-ग्रहणं किमर्थम् । एकः । द्वौ । बहवः। अत्रासर्वविभक्तिशब्दा अव्यय-सञ्ज्ञा न भवन्ति ॥

'असर्वविभक्तिः' इति किम्। औपगवः। औपगवौ। औपगवाः। अत्र मा भूत् ॥

[१] तसिल्[2], [२] त्रल्, [३] ह, [४] अत्, [५] दा, [६] र्हिल्, [७] अधुना, [८] दानीम्, [९] थाल्, [१०] थमु, [११] था, [१२] अस्ताति, [१३] अतसुच्, [१४] आति, [१५] एनप्, [१६] आच्, [१७] आहि, [१८] असि, [१९] धा, [२०] ध्यमुञ्, [२१] धमुञ्, [२२] एधाच्[2], [२३] शस्[3], [२४] तसि[4], [२५] च्वि[5], [२६] साति[6], [२७] त्रा[7], [२८] डाच्[8], [२९] वति[9], [३०] आम्[10], [३१] अम्[11], [३२] कृत्वसुच्[12], [३३] सुच्[13], [३४] धा[14], [३५] ना[15], [३६] नाञ्[15]—एतत्प्रत्ययान्ताः शब्दास्तथा ॥

[१] सद्यः,[16] [२] परुत् [३] परारि, [४] ऐषमः, [५] परेद्यवि, [६] अद्य, [७] पूर्वेद्युः, [८] अन्येद्युः, [९] अन्यतरेद्युः, [१०] इतरेद्युः, [११] अपरेद्युः, [१२] अधरेद्युः, [१३] उभयेद्युः, [१४] उत्तरेद्युः[16], [१५] प्राक्[17], [१६] उपरि, [१७] उपरिष्टात्, [१८] पश्चात्, [१९] पश्च, [२०] पश्चा[17]—

१. १ । ४ । ५७ ॥
२—२. दृश्यतां सूत्राणि ५ । ३ । ७—४६ ॥
३. ५ । ४ । ४२ ॥
४. ५ । ४ । ४४ ॥
५. ५ । ४ । ५० ॥
६. ५ । ४ । ५२ ॥
७. ५ । ४ । ५५ ॥
८. ५ । ४ । ५७ ॥
९. ५ । १ । ११५ ॥
१०. ५ । ४ । ११ ॥
११. "अमु च छन्दसि ॥" (५ । ४ । १२) इत्युकारोऽनुबन्धार्थः ॥
१२. ५ । ४ । १७ ॥
१३. ५ । ४ । १८ ॥
१४. ५ । ४ । २० ॥
१५. ५ । २ । २७ ॥
१६—१६. ५ । ३ । २२ ॥
१७—१७. ५ । ३ । ३०—३३ ॥

ऐते सर्वे शब्दास्तद्धितोपदिष्टा अव्यय-सञ्ज्ञका भवन्ति ॥

मा०—किञ्चिदव्ययं विभक्त्यर्थप्रधानं, किञ्चित् क्रियाप्रधानम्। उच्चैः, नीचैरिति विभक्त्यर्थप्रधानम्, हिरुक्, पृथगिति क्रियाप्रधानम्। तद्धितश्चापि कश्चिद् विभक्त्यर्थप्रधानः, कश्चित् क्रियाप्रधानः। तत्र, यत्रेति विभक्त्यर्थप्रधानः, विना, नानेति क्रियाप्रधानः ॥

महतीयं सञ्ज्ञा क्रियते। सञ्ज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि सञ्ज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनम्—अन्वर्था सञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत—न व्येतीत्यव्ययम् [इति]। क्व पुनर्न व्येति। स्त्री-पुं-नपुंसकानि सत्त्वगुणाः, एकत्व-द्वित्व-बहुत्वानि च। एतानर्थान् केचिद् वियन्ति, केचिन्न वियन्ति। ये न वियन्ति, तदव्ययम्।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्[1] ॥ १ ॥[2]

अव्ययं द्विविधं भवति, विभक्त्यर्थः प्रधानं यस्मिन् तत्, क्रियार्थः प्रधानं च यस्मिन् तत्। यत् स्त्री-पुं-नपुंसकेषु, सर्वासु विभक्तिषु, वचनेषु सर्वेषु चैकरसमेव तिष्ठति, तदव्ययम्। इदमव्ययलक्षणं सामान्येन परमा[त्म]न्यपि सङ्घटितमस्ति[3] ॥ ३७ ॥

'असर्वविभक्तिः' सब विभक्ति जिन से उत्पन्न न हों, 'तद्धितः' उन तद्धित-प्रत्ययान्त शब्दों की 'च' भी 'अव्ययम्' अव्यय-सञ्ज्ञा हो। 'ततः, यतः, विना, नाना,' इत्यादि शब्दों की अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्ति का लुक् हो जाता है। इस सूत्र के व्याख्यान संस्कृत में तसिल् से लेके नाञ् पर्यन्त प्रत्यय गिने हैं। उन से जो शब्द बनते हैं, तथा सद्यः-शब्द से लेके पश्चा-शब्द तक इन तद्धित में उपदेश किये शब्दों की अव्यय-सञ्ज्ञा है ॥

अव्यय दो प्रकार के होते हैं। एक विभक्त्यर्थप्रधान अर्थात् 'यदा, तदा' = जब, तब इत्यादि में विभक्तियों का अर्थ मुख्य है। दूसरे क्रियार्थप्रधान अर्थात् 'विना, नाना' इत्यादि में क्रियार्थ मुख्य है ॥

---

१. गो० ब्रा०—पू० १ । २६ ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

३. दृश्यतां कठोपनिषदि—"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्।" (३ । १५) श्वेताश्वतरोपनिषदि—"ईशानो ज्योतिरव्ययः।" (३ । १२) मुण्डकोपनिषदि—"सुसूक्ष्मं तदव्ययम्।" (१।१।१६) गौडपादकारिकासु—"अनपरः प्रणवोऽव्ययः।" (१ । २६)

सञ्ज्ञा इसलिये होती है कि बहुतसा काम थोड़े से ही निकले। सो इस सूत्र में बड़ी सञ्ज्ञा करने का यह प्रयोजन है कि अन्वर्था अर्थात् सार्थक सञ्ज्ञा समझी जाय ॥

'सदृशं० ॥' स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग, सात विभक्ति और तीनों वचनों में जो शब्द एकतार बने रहते हैं, अर्थात् कहीं जिन का विपरीतभाव नहीं होता, वे अव्यय कहाते हैं। यह अव्यय का लक्षण सर्वत्र के लिये सामान्य है ॥ ३७ ॥

कृन्मेजन्तः ॥ ३८ ॥

मश्च एच्च = मेचौ। मेचावन्तावस्य सः = मेजन्तः। कृच्चासौ मेजन्तश्च = कृन्मेजन्तः। मकारान्त एजन्तश्च कृदन्तः शब्दोऽव्यय-सञ्ज्ञो भवति। भोक्तुम्। उदरपूरं भुङ्क्ते। जीवसे[1]। म्लेच्छितवै[2]। अत्राव्यय-सञ्ज्ञाश्रयाद् विभक्तेर्लुक्। तुमुन्-णमुल्-कमुलो[3] मान्ताः। [१] से,[4] [२] सेन्, [३] असे, [४] असेन्, [५] कसे, [६] कसेन्, [७] अध्यै, [८] अध्यैन्, [९] कध्यै, [१०] कध्यैन्, [११] शध्यै, [१२] शध्यैन्, [१३] तवै, [१४] तवेङ्, [१५] तवेन्[4], [१६] केन्[5] —एजन्ताश्च [एते]प्रत्ययाः। एतदन्ताः शब्दास्तथा। [१] प्रयै[6], [२] रोहिष्यै[7], [३] अव्यथिष्यै, [४]दृशे,[8] [५] विख्ये, [६] अवचक्षे[9]—एते कृदन्तोपदिष्टाः शब्दा अव्यय-सञ्ज्ञा भवन्ति ॥

भा०—*सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य*[10] ॥ इति ॥ अवश्यमेषा परिभाषा कर्त्तव्या। बहून्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि। शतानि। सहस्राणि। तुमि कृते '*ष्णान्ता षट्*[11]' ॥ इति षट्-सञ्ज्ञा प्राप्नोति। '*सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य*[10] ॥' इति न दोषो भवति ॥[12]

---

१. ऋ०—३ । ३६ । १० ॥...

२. महाभाष्ये—(अ० १ । पा० १ । आ० १) "तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।" इति कस्याश्चिच्छाखाया वचनम् ॥

३. क्रमेण ३ । ३ । १० ॥ ३ । ४ । १२ ॥

४-४. ३ । ४ । ९ ॥

५. ३ । ४ । १४ ॥

६. ऋ०—१० । १०४ । ३ ॥...

अपि च सूत्रं—३ । ४ । १० ॥

७. का०—३ । ७ ॥

८. ऋ०—४ । ११ । १ ॥...

अपि च सूत्रं—३ । ४ । ११ ॥

९. ऋ०—४ । ५८ । ५ ॥

अपि च सूत्रं—३ । ४ । १५ ॥

१०. पा०—सू० ७४ ॥

प०—सू० ८५ ॥

११. १ । १ । २३ ॥

१२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

यं मत्वा यः समर्थो भवति, स तद्विघातस्यानिमित्तं, तद् विहन्तुं न शक्नोति। महाभाष्येऽस्याः परिभाषाया बहूनि[1] प्रयोजनानि सन्ति ॥ ३८ ॥

'मेजन्तः' म और एच्-प्रत्याहार हैं अन्त में जिन के, ऐसे जो 'कृत्' कृदन्त शब्द हैं, उन की 'अव्ययम्' अव्यय-सञ्ज्ञा हो। 'भोक्तुं, उदरपूरं भुङ्क्ते, जीवसे, म्लेच्छितवै' इत्यादि शब्दों में अव्यय-सञ्ज्ञा से विभक्ति का लुक् हो जाता है। इस सूत्र के संस्कृत में तुमुन् से लेके केन् पर्य्यन्त प्रत्ययों से जो शब्द बनते हैं, तथा प्रयै-शब्द से लेके अवचक्षे-पर्यन्त, इन कृदन्त में उपदेश किये हुए शब्दों की अव्यय-सञ्ज्ञा होती है ॥

'सन्निपात० ॥' इस परिभाषा का यह प्रयोजन है कि जिस को मानके जो कोई कार्य करने को समर्थ होता है, वह उस के नाश करने को समर्थ नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥

क्त्वातोसुन्कसुनः ॥ ३९ ॥

क्त्वा, तोसुन् , कसुन्—एतत्प्रत्ययान्ताः शब्दा अव्यय-सञ्ज्ञा भवन्ति। कृत्वा। भुक्त्वा। **पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः**[2]। अत्र इण्-धातोस्तोसुन्। **पुरा सूर्यस्य विसृपः**[3]। **'सृपि-तृदोः कसुन्[4] ॥'** इति कसुन्-प्रत्ययः। अव्यय-सञ्ज्ञत्वाद् विभक्तेर्लुक् ॥ ३९ ॥

'क्त्वा-तोसुन्-कसुनः' क्त्वा, तोसुन्, कसुन्—इतने प्रत्ययान्त जो शब्द हैं, उन की 'अव्ययम्' अव्यय-सञ्ज्ञा है। जैसे— भुक्त्वा। उदेतोः। विसृपः। यहां अव्यय-सञ्ज्ञा से विभक्ति का लुक् होता है ॥ ३९ ॥

अव्ययीभावश्च[5] ॥ ४० ॥

अव्ययीभावः समासोऽव्यय-सञ्ज्ञो भवति। चकारोऽव्यय-सञ्ज्ञापूर्त्यर्थः ॥

भा०—अव्ययीभावस्याव्ययत्वे प्रयोजनं किम्। लुङ्मुखस्वर-उपचाराः। लुक्—उपाग्नि। प्रत्यग्नि। '*अव्ययात्०*[6] ॥' इति लुक् सिद्धो भवति। मुखस्वरः—उपाग्निमुखः। प्रत्यग्निमुखः। '*नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः*[7] ॥'

---

१. यथा—"इयेष। उवोष। गुणे कृते 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ॥' (३।१।३६) इत्याम् प्राप्नोति। 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य।' इति न दोषो भवति।" इत्यादीनि ॥

२. काठकसंहितायाम् (८।३)—"व्युष्टायां पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः, एतस्मिन् वै लोके प्रजापतिः प्रजा असृजत, ताः प्राजायन्त। प्रजननायैवमाधेयः ॥" इति ॥

३. दृश्यतां वाजसनेयि-काठकादिसंहितासु—"पुरा क्रूरस्य विसृपः।" (क्रमेण १।२८ ॥ १।६)

४. ३।४।१७ ॥

५. चा० श०—"ततः प्राक्कारकात् ॥" (२।१।४०)

६. २।४।८२ ॥

७. ६।२।१६८ ॥

इत्येष प्रतिषेधः सिद्धो भवति । उपचारः—उपपयः-कारः । उपपयःकाम इति । 'अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य[1] ॥' इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति ॥[2]

मुख्यत्वेन त्रीण्येव प्रयोजनानि ॥ ४० ॥

[इत्यव्यय-सञ्ज्ञाधिकारः]

'अव्ययीभावः' अव्ययीभाव जो समास है, सो 'च' भी **'अव्ययम्'** अव्यय-सञ्ज्ञक हो । जैसे—**उपाग्नि** । **प्रत्यग्नि** । यहां अव्ययीभाव समास में अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्ति का लुक् हो गया । इस सूत्र में चकार-ग्रहण अव्यय-सञ्ज्ञा की पूर्त्ति जनाने के लिये है ॥ ४० ॥

[यह अव्यय-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ]

[अथ सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञाधिकारः]

शि सर्वनामस्थानम्[3] ॥ ४१ ॥

जश्शसोरादेशः शिः सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञो भवति । कुण्डानि तिष्ठन्ति । वनानि पश्य । अत्र सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञाश्रयात् **'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ[4] ॥'** इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वम् ॥ ४१ ॥

'शि' जस् और शस्-विभक्ति के स्थान में शि-आदेश होता है । उस की **'सर्वनामस्थानम्'** सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा होती है । कुण्डानि । यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा के आश्रय से नान्त की उपधा को दीर्घ-आदेश हो गया है ॥ ४१ ॥

सुडनपुंसकस्य ॥ ४२ ॥

सुट् । [१ । १ ।] अनपुंसकस्य । ६ । १ । नपुंसकाद् भिन्नस्य यः सुट् = पञ्चवचनानि, स सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञो भवति । राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । अत्र सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञत्वात् पूर्ववद् दीर्घः ॥

'सुट्' इति किम् । राज्ञा छिन्नः । अत्र मा भूत् । 'अनपुंसकस्य' इति किम् । साम । सामनी । अत्र मा भूत् ॥

भा०—नायं प्रसज्यः प्रतिषेधः[5]—नपुंसकस्य नेति । किं

---

१. ८ । ३ । ४६ ॥
२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥
३. ना०—सू० ४४ ॥
४. ६ । ४ । ८ ॥
५. पाठान्तरम्—प्रसज्यप्रतिषेधः ॥

तर्हि । पर्युदासोऽयम्—यदन्यन्नपुंसकादिति । नपुंसके न व्यापारः । यदि केनचित् प्राप्नोति, तेन भविष्यति । पूर्वेण च प्राप्नोति ॥[1]

तथा च शिष्टवाक्यम्—

प्राधान्यं तु विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्य्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥ १ ॥

यथा—अब्राह्मणमानय । ब्राह्मणादन्यमानयेत्यर्थः । यदि कस्मिंश्चिद् विषये ब्राह्मणस्य कार्यं भवति, तर्हि सोऽप्यानीयते ।

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यः स तु विज्ञेयः[2] क्रियया सह यत्र नञ् ॥ २ ॥

यथा 'न बहुव्रीहौ[3]॥' इति सर्वादीनां सर्वनाम-सञ्ज्ञा सर्वतो न भवतीति भवतिना सह नञ् । अस्मिन् सूत्रे तु पर्य्युदासः प्रतिषेधः, तेन 'कुण्डानि, वनानि' इत्यत्र प्रतिषेधो न भवति ॥ ४२ ॥

[इति सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञाधिकारः]

'अनपुंसकस्य' स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग शब्दों से परे **'सुट्'** सु, औ, जस्, अम्, औट् —इन पांच वचनों की **'सर्वनामस्थानम्'** सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा हो। जैसे—**राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ ।** यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा के होने से राजन्-शब्द के जकार को दीर्घ हो गया ॥

इस सूत्र में सुट्-ग्रहण इसलिये है कि **'राज्ञा छिन्नः'** यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा न हो । तथा **'अनपुंसकस्य'** इस का ग्रहण इसलिये है कि **'साम, सामनी'** यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा से दीर्घ-आदेश न हो ॥

निषेध दो प्रकार का होता है—एक पर्य्युदास, दूसरा प्रसज्य । पर्य्युदास उस को कहते हैं कि जहां मुख्य करके विधान, और गौण करके निषेध किया जाय । जैसे—**'अब्राह्मणमानय'** अर्थात् ब्राह्मण को छोड़के और मनुष्य को ले आ । इससे ब्राह्मण का सर्वथा निषेध नहीं हुआ । जो कहीं ब्राह्मण का भी काम पड़े, तो ले आ सकते हैं । और प्रसज्य उस को कहते हैं कि जो सर्वथा निषेध ही हो जाय । जैसे—**'अनृतं न वक्तव्यम्'** अर्थात् झूठ नहीं बोलना । यहां सर्वथा निषेध ही है । इस विषय में किसी प्रकार की विधि नहीं ॥ ४२ ॥

[यह सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ]

---

१. कोशेऽत्र—"आ० ६ [व्या०]" इत्युद्धरण-स्थलम् ॥ —प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् (अन्यत्र "अयं" इत्यस्य स्थाने "असौ" इति) ॥

२. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां विठ्ठलाचार्योद्धृतः पाठः

३. १ । १ । २८ ॥

[अथ विभाषा-सञ्ज्ञासूत्रम्]

न वेति विभाषा ॥ ४३ ॥

न । [अ० ।] वा । [अ० ।] इति । [अ० ।] विभाषा । [१।१।]
नकारः प्रतिषेधार्थः । वा-शब्दो विकल्पार्थः । अनयोर्योऽर्थस्तस्य विभाषा-सञ्ज्ञा भवति । विभाषा-प्रदेशेषु सूत्रेषु प्रतिषेधविकल्पावुपतिष्ठेते । तेन '**विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ**[1] ॥' इति विधिनिषेधावुभौ भवतः ॥

भा०—*इति-करणोऽर्थनिर्देशार्थः*[2] ॥

इति-करणः क्रियते सोऽर्थनिर्देशार्थो भविष्यति ॥

महत्याः सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनम्—उभयोः सञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत, नेति च वेति च । या[3] तावदप्राप्ते विभाषा, तत्र प्रतिषेध्यं नास्तीति कृत्वा वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति । या हि प्राप्ते विभाषा, तत्रोभयमुपस्थितं भवति, नेति च वेति च । तत्र नेत्यनेन प्रतिषिद्धे, वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति ॥

आचार्यः खल्वपि सञ्ज्ञामारभमाणो भूयिष्ठमन्यैरेव[4] शब्दैरेतमर्थं सम्प्रत्याययति—बहुलम्,[5] अन्यतरस्याम्,[6] उभयथा,[7] वा,[8] एकेषामिति ॥[9]

अस्मिन् शब्दशास्त्रे शब्दानां सञ्ज्ञाः क्रियन्ते । तत्र शब्दानामेव प्रतीतिर्भवति नार्थस्य । अतोऽस्मिन् सूत्रे इति-शब्दः पठ्यते । तेन न-वा-शब्दयोर्योऽर्थस्तस्य विभाषा-सञ्ज्ञा भवति ॥

त्रिधा विभाषा भवन्ति—प्राप्ता, अप्राप्ता, प्राप्ताप्राप्ता च । ता महाभाष्यकारेण बहुधो[11] दर्शिताः । अत्र लेखितुमशक्याः । तत्र अप्राप्तविभाषायां 'वा' इत्युपति-

---

१. २ । १ । २७ ॥
२. वार्त्तिकमिदम् ॥
३. पाठान्तरम्—तत्र या ॥
४. पाठान्तरम्—०मन्यैरपि ॥
५. यथा—"बहुलमाभीक्ष्ण्ये ॥" (३ । २ । ८१)
६. यथा—"वश्चास्यान्यतरस्यां किति ॥" (६ । १ । ३६)
७. यथा—"उभयथर्क्षु ॥" (८ । ३ । ८)
८. यथा—"वा जाते ॥" (६ । २ । १७१)
९. यथा—"यजुष्येकेषाम् ॥" (८ । ३ । १०४)
१०. कोशेऽत्र—"भा० ६ [व्या०]" इत्युद्धरण-स्थलम् ॥
११. = बहुधा ॥

ष्ठते, निषेधस्य प्रयोजनाभावात् । प्राप्तविभाषायां पूर्वं निषेधे प्राप्ते 'वा' इत्यनेन विकल्पो भवति । प्राप्ताप्राप्तविभाषायामुभयमुपतिष्ठते ॥

'आचार्य:०' अनेन सूत्रं प्रत्याख्याति । कथम् । विकल्पसिद्ध्यर्था विभाषा-सञ्ज्ञा क्रियते । विभाषा-शब्देन विनाऽन्यैरपि बहुलादिभिर्विकल्पसिद्धिर्भवति ॥४३॥

'न वेति' नकार का अर्थ है निषेध, वा का अर्थ है विकल्प । इन दोनों के अर्थ की 'विभाषा' विभाषा-सञ्ज्ञा हो । विभाषाविधायक सूत्रों में निषेध और विकल्प दोनोंही उपस्थित होते हैं । जैसे—'विभाषा श्वेः[1]॥' इस सूत्र में निषेध और विकल्प से 'शुशाव, शिश्वाय' ये दो उदाहरण बनते हैं । इस सूत्र में इति-शब्द अर्थ की सञ्ज्ञा होने के लिये है, अर्थात् 'न' और 'वा' इन के अर्थ की विभाषा-सञ्ज्ञा है ॥

बड़ी सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन यह है कि न, वा, इन दोनों की विभाषा-सञ्ज्ञा हो । विभाषा तीन प्रकार के होते हैं—प्राप्त, अप्राप्त और प्राप्ताप्राप्त । प्राप्त-विभाषा उसे कहते हैं कि जो किसी कार्य की प्राप्ति में विभाषा का आरम्भ हो । अप्राप्त-विभाषा उसे कहते हैं, जो कार्य किसी से प्राप्त न हो, और विभाषा का आरम्भ किया जाय । तथा प्राप्ताप्राप्त-विभाषा वह कहाता है कि जो किसी से नित्य प्राप्त हो और किसी से निषेध पाता हो, तब विभाषा का आरम्भ हो । ये तीनों प्रकार के विभाषा महाभाष्यकार ने इसी सूत्र की व्याख्या में बहुत प्रकार से दिखाये हैं । सब अष्टाध्यायी में ये तीन प्रकार के ही विभाषा हैं ॥

'आचार्य:० ।' इस पंक्ति से सूत्र का खण्डन जाना जाता है, क्योंकि अष्टाध्यायी में जिस की विभाषा-सञ्ज्ञा है, उस में 'अन्यतरस्याम्' आदि भिन्न शब्दों से भी विभाषा का काम निकलता है ॥ ४३ ॥

[अथ सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा सूत्रम्]

इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥ ४४ ॥

इक् । १ । १ । यणः । ६ । १ । सम्प्रसारणम् । १ । १ । सूत्रशाटकन्यायेनात्र[2] भाविनी सञ्ज्ञा विधीयते । यणः स्थाने भावी य इक्, स सम्प्रसारण-सञ्ज्ञो भवति । इष्टम् । उप्तम् । गृहीतम् । अत्र 'इ, उ, ऋ' इत्येतेषां सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा । तदाश्रयं 'सम्प्रसारणाच्च[3]॥' इति पूर्वसवर्णत्वम् । सङ्ख्यातानुदेशादिह न भवति—अदुहितराम् ॥ ४४ ॥

---

१. ६ । १ । ३० ॥

२. महाभाष्ये—"कश्चित् कञ्चित् तन्तुवायमाह 'अस्य सूत्रस्य शाटकं वय' इति । स पश्यति, यदि शाटको न वातव्यः, अथ वातव्यो न शाटकः, शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम् । भाविनी खल्वस्य सञ्ज्ञाऽभिप्रेता । सः, मन्ये, वातव्यः, यस्मिन्नुते 'शाटक:' इत्येतद् भवतीति । एवमिहापि स यणः स्थाने भवति, यस्याभिनिर्वृत्तस्य 'सम्प्रसारणम्' इत्येषा सञ्ज्ञा भविष्यति ॥"

३. ६ । १ । १०८ ॥

'यणः' यण् के स्थान में जो 'इक्' इक् होने वाले हैं, उन की 'सम्प्रसारणम्' सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा हो। इष्टम्। उप्तम्। गृहीतम्। यहां 'इ, उ, ऋ' ये तीनों वर्ण यण् के स्थान में हुए हैं। इन की सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा हो। इन के परे जो अकार था, उस को पूर्वसवर्ण हो गया। यथासङ्ख्य यण् के स्थान में होने वाले इक् की सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा होती है। जैसे—अदुहितराम्। यहां लङ् के स्थान में इट्-प्रत्यय हुआ है। इससे हलुत्तर-सम्प्रसारण को कहा दीर्घ यहां नहीं होता। यथासङ्ख्य से य के स्थान में होने वाले इकार की सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा होगी ॥ ४४ ॥

अथ परिभाषाः ॥

आद्यन्तौ टकितौ[1] ॥ ४५ ॥

आद्यन्तौ। १। २। टकितौ। १। २। आदिश्च अन्तश्च तौ [= आद्यन्तौ।] टश्च कश्च = टकौ। टकावितौ ययोस्तौ आगमौ [= टकितौ।] टिद्-आगमः परस्यादौ, किद्-आगमः पूर्वस्यान्ते भवति। लविता। भीषयते। अत्रार्धधातुकस्य इट्-आगमस्तस्य [लू-धातोः] आदौ, भी-धातोः षुक्-आगमस्तस्यान्ते भवति ॥ ४५ ॥

'टकितौ आद्यन्तौ' टित्-आगम जिस को विधान हो, उस के आदि में, और कित्-आगम जिस को विधान हो, उस के अन्त में होता है। 'लविता' यहां इट्-आगम आर्धधातुक को विधान है, सो उस के आदि में होता है। 'भीषयते' यहां भी धातु को षुक्-आगम विधान है, सो उस के अन्त में होता है ॥ ४५ ॥

मिदचोऽन्त्यात् परः[2] ॥ ४६ ॥

मित्। १। १। अचः। ६। १। अन्यात्। ५। १। परः। १। १। 'अचः' इति निर्द्धारणे षष्ठी। जातावेकवचनम्। अचां मध्ये योऽन्त्योऽच्, तस्मात् परो मिद्-आगमो भवति। कुण्डानि। वनानि। पयांसि। यशांसि। अत्र नुमागमोऽन्त्यादचः परो भवति ॥

भा०—*अन्त्यात् पूर्वो मस्जेर्मिदनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्*[3] ॥

अनुषङ्गलोपार्थं[4] तावत्—मग्नः। मग्नवान्।

संयोगादिलोपार्थम्—मङ्क्ता, मङ्क्तुम् ॥[5]

---

१. स०—सू० ५२ ॥

२. स०—सू० ५३ ॥

३. वार्त्तिकमिदम् ॥

४. अत्र जिनेन्द्रबुद्धिकृतौ काशिकाविवरणपञ्जिकायाम्—"नकारस्योपधायाः 'अनुषङ्गः' इति पूर्वाचार्यैः सञ्ज्ञा कृता।" इति ॥

५. कोशेऽत्र—"आ० ७ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

मस्ज्-धातोः सकारजकारयोर्मध्ये नुम्-आगमो भवति । अन्यथा '**स्कोः संयोगाद्योरन्ते च**[1] ॥' इति सकारलोपो न स्यात् । 'मग्नः' इत्यत्रान्त्यादचः परे नुमि कृते सति सकारलोपस्यासिद्धत्वादुपधाऽभावे न-लोपो न प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

'**अचः**' अचों के बीच में जो '**अन्त्यात्**' अन्त्य अच्, उस से '**परः**' परे '**मित्**' मित् का आगम होता है । कुण्डानि । पयांसि । यहां नुम् का आगम [अन्त्य] अच् से परे होता है । '**अन्त्यात् पूर्वो०** ।' इस वार्त्तिक से मस्ज् धातु के सकार जकार के बीच में नुम् का आगम होता है। इस के होने से '**मङ्क्ता**' यहां संयोग के आदि के सकार का लोप हो जाता है । तथा '**मग्नः**' यहां नकार का लोप नुम् के [सकार और जकार के] बीच में होने से हुआ है ॥ ४६ ॥

एच इग्घ्रस्वादेशे[2] ॥ ४७ ॥

एचः । ६ । १ । इक् । १ । १ । ह्रस्वादेशे । ७ । १ । एचो ह्रस्वादेशे कर्त्तव्ये इगेव ह्रस्वो भवति, नान्यः । रै—अतिरि । नौ—अतिनु । गो—उपगु । '**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**[3] ॥' इति विधीयमानो ह्रस्व एचः स्थाने इग् भवति ॥

'एचः' इति किम् । अतिखट्वः । अतिमालः । अत्र आकारस्थाने ह्रस्व इग् न भवति । 'ह्रस्वादेशे' इति किम् । दे३वदत्त । अत्र एचः प्लुतो विधीयते, अत इग् न भवति ॥ ४७ ॥

'**एचः**' एच् के स्थान में '**ह्रस्वादेशे**' जहां ह्रस्व करना हो, वहां '**इकः**' इक् ह्रस्व होते हैं । [जैसे—] अतिरि । अतिनु । उपगु । यहां 'ह्रस्वो नपुंसके०[3] ॥' इस सूत्र से ऐ, औ, ओ, इन के स्थान में इ, उ, उ, ये ह्रस्व हुए हैं ॥

इस सूत्र में एच्-ग्रहण इसलिये है कि '**अतिखट्वः**' यहां एच् के स्थान में ह्रस्व नहीं है, इससे इक् नहीं हुआ । ह्रस्वादेश-ग्रहण इसलिये है कि '**दे३वदत्त**' यहां एच् के स्थान में ह्रस्व विधान नहीं है, इससे इक् नहीं हुआ ॥ ४७ ॥

षष्ठी स्थानेयोगा[4] ॥ ४८ ॥

षष्ठी । १ । १ । स्थानेयोगा । १ । १ । अनियतसम्बन्धा षष्ठी स्थानेयोगा भवति ।

भा०—किमिदं स्थानेयोगेति । स्थाने योगोऽस्याः, सेयं स्थाने-

---

१. ८ । २ । २९ ॥

२. स०—सू० ५४ ॥

३. १ । २ । ४७ ॥

४. स०—सू० ५५ ॥

वाजसनेयिप्रातिशाख्येऽपि—"षष्ठी स्थानेयोगा ॥" (१ । १३६)

योगा । सप्तम्यलोपो निपातनात् । तृतीयाया वा एत्वम् । स्थानेन योगोऽस्याः, सेयं स्थानेयोगेति ॥[१]

एत्वमपि निपातनादेव । योगनियमार्था परिभाषेयम् । सूत्रेषु या षष्ठी, सा स्थानेयोगैव भवति । स्थान-शब्दः प्रसङ्गवाची । 'ब्रुवो वचिः[२]॥' इति ब्रूप्रसङ्गे वचिर्भवति । बह्वो हि षष्ठ्यर्थाः—समीप-समूह-विकार-अवयवाद्याः, तत्र यावन्तः शब्दे सम्भवन्ति, तेषु सर्वेषु प्राप्तेषु नियमः क्रियते, षष्ठी स्थानेयोगेति ॥४८॥[३]

'षष्ठी' जिस का सम्बन्ध नियत नहीं, ऐसी सूत्रों में जो षष्ठी विभक्ति आती है, उस का **'स्थानेयोगा'** स्थान में, वा स्थान के साथ योग हो । 'ब्रुवो वचिः[२]॥' यहां ब्रू धातु में जो षष्ठी है, उस का स्थान के साथ योग होता है, कि ब्रू के स्थान में वचि-आदेश हो । उस से **'वक्ता'** इत्यादि उदाहरण बनते हैं ॥

षष्ठी के बहुत से अर्थ हैं । उन में से जितने शब्दों में सम्भव होते हैं, उन सब की प्राप्ति में इस परिभाषा सूत्र से नियम किया है कि स्थान में ही योग हो ॥ ४८ ॥

स्थानेऽन्तरतमः[४] ॥ ४९ ॥

स्थाने । ७ । १ । अन्तरतमः । १ । १ । स्थाने प्राप्यमाण आदेशोऽन्तरतमः = सदृशतमः भवति । चेता । स्तोता । अत्र स्थानकृतमान्तर्यम् । इकारस्य तालुस्थानस्य एकारः । उकारस्य ओष्ठस्थानस्य ओकारो गुणो भवति ॥

भा०—'*तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः*[५]॥' इति एकार्थस्यैकार्थः, द्व्यर्थस्य द्व्यर्थः, बह्वर्थस्य बह्वर्थो यथा स्यात् ॥

'*अकः सवर्णे दीर्घः*[६]॥' इति दण्डाग्रं, क्षुपाग्रं, दधीन्द्रः, मधूष्णः[७] । कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थानः, तालुस्थानयोस्तालुस्थानः, ओष्ठस्थानयोरोष्ठस्थानो यथा स्यात् ॥

अथ 'स्थाने' इत्यनुवर्त्तमाने[८] पुनः स्थान-ग्रहणं किमर्थम् । यत्राऽनेकविधमान्तर्य्यं[९], तत्र स्थानत एवान्तर्य्यं बलीयो यथा स्यात् । किं पुनस्तत् । चेता । स्तोता । प्रमाणतोऽकारो गुणः प्राप्नोति,

---

१. कोशेऽत्र—"आ० ७ [व्या०]" इत्युद्धरण-स्थलम् ॥
२. २ । ४ । ५३ ॥
३. कोशेऽत्र पुनः—"आ० ७ [व्या०]" इति ॥
४. स०—सू० ५६ ॥
५. ३ । ४ । १०१ ॥
६. ६ । १ । १०१ ॥
७. पाठान्तरम्—मधूद्रः ॥
८. पाठान्तरम्—इति वर्त्तमाने ॥
९. पाठान्तरम्—यत्राऽनेकमान्तर्यम् ॥

स्थानत एकारौकारौ । पुनः स्थानग्रहणादेकारौकारौ भवतः ॥
अथ तम-ग्रहणं किमर्थम् । '*झयो होऽन्यतरस्याम्*[1] ॥' इत्यत्र सोष्मणः सोष्माण इति द्वितीयाः प्रसक्ताः, नादवतो नादवन्त इति तृतीयाः प्रसक्ताः । तमब्[2]-ग्रहणाद् ये सोष्माणो नादवन्तश्च, ते भवन्ति चतुर्थाः । वाग् घसति । त्रिष्टुब् भसति ॥[3]

आन्तर्यं चतुर्विधं भवति—स्थानकृतं, अर्थकृतं, प्रमाणकृतं, गुणकृतं चेति । स्थानकृतम्—'**अकः सवर्णे दीर्घः**[4] ॥' दण्डाग्रम् । दधीन्द्रः । अत्र द्वयोरकारयोः कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थान आकार एव दीर्घो भवति । एवं तालुस्थानयोरिकारयोस्तालुस्थान ईकारः । इति स्थानकृतमान्तर्यम् ॥

अर्थकृतम्—'**तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः**[5] ॥' अभवम् । भवतम् । भवत—इत्येकवचनद्विवचनबहुवचनस्थानेषु एकद्विबह्वर्थवाचका आदेशा भवन्ति । इत्यर्थकृतमान्तर्यम् ॥

प्रमाणकृतम्—अमुष्मै । अमूभ्याम् । '**अदसोऽसेर्दादु दो मः**[6] ॥' अकारस्य ह्रस्वस्य ह्रस्व उकारः, दीर्घस्य आकारस्य दीर्घ ऊकारो भवति । इति प्रमाणकृतमान्तर्यम् ॥

गुणकृतम्—'**चजोः कु घिण्ण्यतोः**[7] ॥' भागः । रागः । अल्पप्राणस्य जकारस्य अल्पप्राणो गकार आदिश्यते । इति गुणकृतं [आन्तर्यम्] ॥

'स्थाने' इति किमर्थम् । चेता । स्तोता । अकारोऽत्र गुणः प्राप्तः, स स्थानग्रहणान्न भवति । तमब्-ग्रहणं किमर्थम् । वाग् घसति, त्रिष्टुब् भसतीति द्वितीयतृतीयाः प्राप्ताः, तमब्-ग्रहणाच्चतुर्था भवन्ति ॥ ४९ ॥

'स्थाने' स्थान में जो आदेश प्राप्त हैं, वे **'अन्तरतमः'** स्थानी के तुल्य हों, अर्थात् जैसे स्थानी हों, वैसे ही आदेश भी हों । **चेता** । **स्तोता** । यहां तालु-स्थान [नीय] इकार के स्थान में तालु-स्थान [नीय] एकार गुण होता है, तथा ओष्ठ-स्थान [नीय] उकार के स्थान में ओकार गुण होता है ॥

व्याकरणशास्त्र में आन्तर्य अर्थात् पद और वर्णों की तुल्यता चार प्रकार की होती है—स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत, प्रमाणकृत । स्थानकृत उसे कहते हैं कि जो तालु आदि स्थान

---

१. ८ । ४ । ६२ ॥
२. पाठान्तरम्—तम-ग्रहणाद् ॥
३. कोशेऽत्र—"आ० ७ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
४. ६ । १ । १०१ ॥
५. ३ । ४ । १०१ ॥
६. ८ । २ । ८० ॥
७. ७ । ३ । ५२ ॥

आदेशी का हो, वही आदेश का भी । जैसे—दण्डाग्रम् । दधीन्द्रः । यहां कण्ठ-स्थान [नीय] दो अकारों के स्थान में कण्ठ-स्थान वाला दीर्घ आकार होता [है], तथा तालु-स्थान [नीय] दो इकारों के स्थान में तालु-स्थान वाला दीर्घ ईकार होता है ॥

अर्थकृत उसे कहते हैं कि जो एक पदार्थ के वाची शब्द के स्थान में एक का ही वाची आदेश हो । जैसे—**अभवम्** । यहां एक वचन के स्थान में एक वचन ही आदेश हुआ है ॥

प्रमाणकृत वह होता है कि जो ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व, और दीर्घ के स्थान में दीर्घ-आदेश हो । जैसे—**अमुष्मै । अमूभ्याम्** । यहां ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व उकार, और दीर्घ आकार के स्थान में दीर्घ ऊकार होता है ॥

और गुणकृत आन्तर्य उस को कहते हैं कि जो अल्पप्राण वर्ण के स्थान में अल्पप्राण, और महाप्राण वर्ण के स्थान में महाप्राण आदेश हो । जैसे—रागः । यहां अल्पप्राण जकार के स्थान में अल्पप्राण गुण वाला गकार-आदेश, तथा 'घातः' यहां महाप्राण हकार के स्थान में महाप्राण वाला घकार हो गया ॥

इस सूत्र में पीछे के सूत्र से स्थान-शब्द की अनुवृत्ति हो जाती, फिर स्थान-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि चार प्रकार के आन्तर्य की प्राप्ति में स्थानकृत आन्तर्य सब से बलवान् हो । '**चेता, स्तोता**' इन शब्दों में प्रमाणकृत आन्तर्य से अकार गुण पाता है, सो नहीं हुआ, किन्तु स्थानकृत आन्तर्य से एकार ओकार गुण हो जाता है ॥

और तम-ग्रहण इसलिये है कि 'वाग्घसति' यहां हकार के स्थान में खकार, गकार पाते हैं, सो न हों, किन्तु घकार हो जाता है ॥ ४९ ॥

उरण् रपरः[1] ॥ ५० ॥

उः । ६ । १ । अण् । १ । १ । र-परः । १ । १ । ऋ-वर्णस्य स्थाने अण् प्रसज्यमान एव र-परो भवति । कर्त्ता । किरति । अत्र ऋकारस्थाने 'अर्, इर्' [इति अकार-इकारौ] रेफपरौ भवतः ॥

अण्-ग्रहणं किमर्थम् । होतापोतारौ । अत्र ऋकारस्य स्थान आनङ्-आदेशो विधीयते, स रपरो न भवति ॥

भा०—स्थान इति वर्त्तते । स्थान-शब्दश्च प्रसङ्गवाची । यद्येवमादेशो विशेषितो भवति । आदेशश्च विशेषितः । कथम् । द्वितीयं स्थान-ग्रहणं [प्रकृतम्][2] अनुवर्त्तते । तत्रैवमभिसम्बन्धः करिष्यते—उः स्थाने अण् स्थान इति । उः प्रसङ्गेऽण् प्रसज्यमान एव रपरो भवति ॥[3]

---

१. स०—सू० ५७ ॥

२. "प्रकृतम्" इति कोशे न दृश्यते ॥

३. कोशेऽत्र—"आ० ७ [व्या०]" इत्युद्धरण-स्थलम् ॥

एकं स्थान-ग्रहणं षष्ठीस्थानेयोगः । द्वितीयं स्थानेऽन्तरतमः । द्वयमप्यनुवर्त्तते ॥ ५० ॥

'उः' ऋ-वर्ण के स्थान में प्राप्त जो 'अण्' अण् हैं, वे 'र-परः' र-पर अर्थात् उन से परे रेफ हुआ करे, यह इस सूत्र का प्रयोजन है । जैसे—कर्त्ता । यहां कृ धातु को अकार गुण हुआ, और रेफ उस से पर आया ॥

इस सूत्र में अण् ग्रहण इसलिये है कि ऋ के स्थान में और कोई आदेश विधान किया हो, तो वह रपर न हो । जैसे—होतापोतारौ । यहां ऋकार के स्थान में आनङ्-आदेश रपर नहीं हुआ ॥ ५० ॥

अलोऽन्त्यस्य[1] ॥ ५१ ॥

अलः । ६ । १ । अन्त्यस्य । ६ । १ । स्थाने प्रसक्तस्यानुसंहारः क्रियते । स्थाने विधीयमान आदेशोऽन्त्यस्यालः स्थाने विज्ञेयः । 'त्यदादीनामः[2] ॥' सः । एषः । अकारादेशोऽन्त्यस्य तकारस्य स्थाने भवति ॥ ५१ ॥

स्थान में जो आदेश का विधान किया है, सो जिस को विधान हो, उस के 'अन्त्यस्य' अन्त के 'अलः' वर्ण के स्थान में हो । जैसे—'त्यदादीनामः[2] ॥' इस सूत्र में त्यदादि-शब्दों को अकारादेश विधान है, सो अन्त्य तकार के स्थान में हो गया ॥ ५१ ॥

ङिच्च[3] ॥ ५२ ॥

'अनेकाल्शित् सर्वस्य[4] ॥' इत्यस्य पूर्वमेवापवादः । अनेकालपि ङिदादेशोऽन्त्यस्यालः स्थाने वेद्यः । मातापितरौ । 'आनङृतो द्वन्द्वे[5] ॥' इत्यानङ्-आदेशोऽन्त्यस्य स्थाने भवति ॥

> भा०—तातङन्त्यस्य स्थाने कस्मान्न भवति । एवं तर्ह्येतदेव ज्ञापयति, न तातङन्त्यस्य स्थाने भवतीति । यदेतं ङितं करोति । इतरथा हि लोट एरुप्रकरण एव ब्रूयात्—तिह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्यामिति[6] ॥[7]

तातङि ङित्करणं गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थम् । अन्त्यादेशार्थं ङित्करणं चेत्, तर्हि एरुप्रकरणे ताति विधीयमाने लोट इकारस्य स्थाने ताति सत्यन्त्यस्य स्थाने भविष्यत्येव । पुनर्ङित्करणं गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थमेव ॥ ५२ ॥

---

१. स०—सू० ५८ ॥
२. ७ । २ । १०२ ॥
३. स०—सू० ५६ ॥
४. १ । १ । ५४ ॥
५. ६ । ३ । २५ ॥
६. द्रष्टव्यताम्—७ । १ । ३५ ॥
७. कोशेऽत्र—"भा० ७ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

इस सूत्र में 'अनेकाल०[1] ॥' इस सूत्र का प्रथम ही अपवाद किया है। ['अनेकाल्'] अनेकाल् 'च' भी 'ङित्' ङित्-आदेश हो, तो अन्त्य अल् के स्थान में हो। जैसे—मातापितरौ। यहां आनङ्-आदेश अन्त्य अल् के स्थान में हुआ ॥

(प्र०) तातङ्-आदेश अन्त्य अल् के स्थान में क्यों नहीं होता। [उ०] तातङ्-शब्द में ङित्करण इसलिये है कि ङित् के परे गुण वृद्धि का निषेध हो। और जो अन्त्य [अल्] के स्थान में होने के लिये होता, [तो] इस को ङित् नहीं करते, क्योंकि 'एरुः[2] ॥' इस सूत्र के प्रकरण में 'तात्' ऐसा करते, तो लोट् के इकार के स्थान में होने से अन्त्य को हो जाता। फिर ङित्-करण किया है, इससे अन्त्य के स्थान में नहीं होता ॥ ५२ ॥

आदेः परस्य[3] ॥ ५३ ॥

'अलः' इत्यनुवर्त्तते। 'तस्मादित्युत्तरस्य[4] ॥' इत्यस्यापवादः। परस्य कार्यमुच्यमानं तस्यादेरलः स्थाने बोध्यम्। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्[5] ॥' [इति] द्वीपम्, अन्तरीपम्, प्रतीपम्, समीपम्। अत्र द्वि, अन्तर, उपसर्ग, एतेभ्यः परस्याप-शब्दस्य ईत्वं विधीयते। तत्तस्यादेरकारस्य भवतीति ॥ ५३ ॥

यह सूत्र 'तस्मादित्युत्तरस्य[4] ॥' इस का अपवाद अर्थात् इसकी प्राप्ति में इस का आरम्भ है। 'परस्य' किसी से पर शब्द को जो कार्य कहा हो, वह पर के 'आदेः' आदि के वर्ण को हो। जैसे— द्वीपम्। अन्तरीपम्। यहां द्वि और अन्तर्-शब्द से परे अप-शब्द को ईकारादेश कहा है, सो उस के आदि अकार को होता है ॥ ५३ ॥

अनेकाल्शित् सर्वस्य[6] ॥ ५४ ॥

'अलोऽन्त्यस्य[7] ॥' इत्यस्यापवादः। [अनेकाल्शित्। १। १।] अनेकाल् च शिच्च, अनयोः समाहारः। अनेकाल्शिच्च य आदेशः, स सर्वस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने भवति। अनेकाल्—ब्रुवो वचिः सर्वस्य स्थाने भवति। शित्—'इदम इश्[8] ॥' [इति] इह। इदं-शब्दस्य इशादेशः शित्त्वात् सर्वस्य स्थाने भवति ॥

> भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यच्छित्सर्वस्येत्याह, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—भवत्येषा[9] परिभाषा— नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वं भवति[10] ॥ इति ॥

---

१. १ । १ । ५४ ॥
२. ३ । ४ । ८६ ॥
३. स०—सू० ६० ॥
दृश्यतां वाजसनेयिनां प्रातिशाख्ये—"तस्मादित्युत्तरस्यादेः ॥" (१ । १३५)
४. १ । १ । ६६ ॥
५. ६ । ३ । ९७ ॥
६. स०—सू० ६१ ॥
७. १ । १ । ५१ ॥
८. ५ । ३ । ३ ॥
९. पाठान्तरम्—अस्त्येषा ॥
१०. दृश्यतां पा०—सू० ५ ॥
प०—सू० ६ ॥

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । तत्राऽसरूपसर्वादेशदाप्प्रतिषेधेषु पृथग् निर्देशोऽनकारान्तत्वादित्युक्तम्, तन्न वक्तव्यं भवति ॥[1]

अत्राऽनुबन्धकृतं 'अष्टाभ्य औश् ॥'[2] इति शित्त्वादनेकाल्त्वं न भवति । अन्यथा 'अनेकाल् सर्वस्य ॥' इत्येव सिद्धे शिद्-ग्रहणमनर्थकं स्यात् । एव सतीयं परिभाषा निःसृता ॥ ५४ ॥

[इति परिभाषाः]

यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य[3]॥' इस सूत्र का अपवाद है । 'अनेकाल्' अनेक वर्ण का आदेश और शित्, अर्थात् शकार जिस का इत्-सञ्ज्ञक हुआ हो. ये दोनों आदेश [समस्त] वर्ण समुदाय [=शब्द] के स्थान में हों । अनेकाल्—जैसे ब्रू धातु को वचि-आदेश होता है । तथा शित्—इह । यहां इदम्-शब्द को इश्-आदेश हुआ है, सो शित् के होने से सब के स्थान में हो गया ॥

इस सूत्र में शित्-ग्रहण के ज्ञापक से 'नानुबन्धकृतम० ॥' यह परिभाषा निकली है । इस का अर्थ यह है कि जिन शब्दों के अन्त में इत्-सञ्ज्ञा के लिये हल् अक्षर पढ़ा जाता है, इससे उस शब्द को अनेक वर्ण वाला नहीं मान सकते, क्योंकि शकार के होने से एक वर्ण का आदेश अनेकाल् हो जाता फिर 'अनेकाल् सर्वस्य ॥' इतना ही सूत्र बनाते । इससे सिद्ध हुआ कि अनुबन्ध के होने से अनेकाल् नहीं होता ॥ ५४ ॥

[यह परिभाषाप्रकरण पूरा हुआ]

[अथातिदेशसूत्राणि]

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ[4] ॥ ५५ ॥

स्थानिवत् । [अ० ।] आदेशः । १ । १ । अनल्विधौ । ७ । १ । अनलाश्रयविधिषु स्थान्याश्रयेषु कार्येषु कर्त्तव्येष्वादेशः स्थानिवद् भवति । अतिदेशोऽयम् ॥

भा०—किमर्थं पुनरिदमुच्यते । अन्यः स्थानी, अन्य आदेशः । स्थान्यादेशपृथक्त्वादेतस्मात् कारणात् स्थानिकार्यमादेशे न प्राप्नोति । तत्र को दोषः । '*आङो यमहनः*[5] ॥' इति[6] आत्मनेपदं भवतीति हन्तेरेव स्यात्, वधेर्न स्यात् । इष्यते च,

१. कोऽत्र—"आ० ७ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
२. ७ । १ । २१ ॥
३. १ । १ । ५१ ॥
४. स०—सू० ६२ ॥
५. १ । ३ । २८ ॥
६. महाभाष्ये इति-शब्दो न दृश्यते ॥

वधेरपि स्यात्[1] । तच्चान्तरेण यत्नं न सिद्ध्यतीति तस्मात् स्थानिवदनुदेशः । एवमर्थमिदमुच्यते ॥[2]

सर्वमेतत् स्पष्टम् । स्थानिना तुल्यं = स्थानिवत् ॥

सर्वविभक्त्यन्तः समासोऽत्रविज्ञेयः ।

अलः परस्य विधिः = अल्विधिः । अलो विधिः = अल्विधिः । अलि विधिः = अल्विधिः । अला विधिः = अल्विधिः ।

न अल्विधिः = अनल्विधिः, तस्मिन् । आवधिषीष्ट । अत्र हन्-धातोर्वधादेशस्य स्थानिवद्भावादात्मनेपदं भवति ।

भा०—वत्करणं किमर्थम् । 'स्थान्यादेशोऽनल्विधौ' इतीयत्युच्यमाने सञ्ज्ञाधिकारोऽयं, तत्र स्थानी आदेशस्य सञ्ज्ञा स्यात् । तत्र को दोषः । '*आङो यमहनः*[3]॥' आत्मनेपदं भवतीति वधेरेव स्याद्, हन्तेर्न स्यात् । वत्करणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति । स्थानिकार्यमादेशेऽतिदिश्यते ॥[4]

अथादेश-ग्रहणं किमर्थम् । आदेशमात्रं स्थानिवद् यथा स्यात् । तेनैकदेशोऽपि भवति । भवतु । पचतु । अत्र इकारस्य उकार-आदेशः स्थानिवद् भवति । तेन तिङ्-ग्रहणेन ग्रहणं भवतीति ॥

अथ विधि-ग्रहणं किमर्थम् ।

अलः परस्य विधौ स्थानिवन्न भवति । द्यौः । अत्र वकारस्थान औकार-आदेशो यदि स्थानिवत् स्यात्, तर्हि 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०[5]॥' इति सु-लोपः प्रसज्येत । अलो वर्णसम्बन्धिनि विधौ कर्त्तव्ये स्थानिवन्न भवति । द्युकामः । अत्र दिव्-शब्दस्य वकारस्थान उकार-आदेशो यदि स्थानिवत् स्यात्, तर्हि वकार-लोपः प्राप्नुयात् । 'अनल्विधौ' इति प्रतिषेधात् स्थानिवद्भावोऽत्र न भवति ॥

भा०—स्थानी हि नाम—भूत्वा यो[6] न भवति । आदेशो हि नाम—योऽभूत्वा भवति । एतच्च नित्येषु शब्देषु नोप-

---

१. पाठान्तरम्—स्यादिति ॥

२. कोशेऽत्र—"आ० ८ [व्या०]" इत्युद्धरण-स्थलम् ॥

३. १ । ३ । २८ ॥

४. अ० १ । पा० १ । आ० ८ ॥

५. ६ । १ । ६८ ॥

६. पाठान्तरम्—यो भूत्वा ॥

पद्यते—यत् सतो नाम विनाशः स्यात्, असतो वा प्रादुर्भाव इति ॥

कार्यविपरिणामाद् वा सिद्धम्[1] ॥

किमिदं 'कार्यविपरिणामाद्' इति। कार्या बुद्धिः, सा विपरिणम्यते। तद्यथा कश्चित् कस्मैचिदुपदिशति—प्राचीनं ग्रामादाम्रा इति। तस्य सर्वत्राम्रबुद्धिः प्रसक्ता। ततः पश्चादाह—ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णाः, ते न्यग्रोधा इति। स तत्राम्रबुद्ध्या न्यग्रोधबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्ध्या आम्रांश्चापकृष्यमाणान् न्यग्रोधांश्चाधीयमानान्[2]। नित्या एव च स्वस्मिन् विषये आम्राः, नित्याश्च न्यग्रोधाः। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते। एवमिहाप्यस्तिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः। तस्य सर्वत्रास्तिबुद्धिः प्रसक्ता। सः 'अस्तेर्भूः[3] ॥' इत्यनेनास्तिबुद्ध्या भवतिबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्ध्या अस्तिं चापकृष्यमाणं, भवतिं चोपादीयमानम्[4]। नित्य एव च स्वस्मिन् विषयेऽस्तिः, नित्यो भवतिश्च। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते ॥[5]

आदेशविधायकेषु सूत्रेषु सत्स्वपि शब्दनित्यत्व इदं समाधानम् ॥ ५५ ॥

एक के तुल्य दूसरे को जो कहना है, उस को अतिदेश कहते हैं, सो यह अतिदेशविधायक सूत्र है। (प्र०) इस सूत्र का उपदेश क्यों किया है। (उ०) स्थानी और आदेश के पृथक् २ होने से स्थानी का कार्य आदेश में नहीं पाता है। इस के नहीं पाने से दोष यह आता है कि हन् धातु को आत्मनेपद विधान किया है, तो हन् के स्थान में जो वध्-आदेश होता है, उस को आत्मनेपद नहीं पाता। इष्ट है कि उस को भी हो, कि हन्-स्थानी को जो कार्य होता है, वह वध्-आदेश को भी हो जाय। इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥

स्थानी के आश्रित कार्यों के करने में 'आदेशः' आदेश 'स्थानिवत्' स्थानी के तुल्य माना जाय, अर्थात् स्थानी को जो कार्य होते हैं, वे आदेश को भी हों। परन्तु 'अनल्विधौ' अल्विधि अर्थात् प्रत्याहार और एक वर्ण के आश्रय जो विधि हों, उन में उक्त स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—आवधिषीष्ट। यहां हन् धातु के स्थान में जो वध्-आदेश हुआ है, [सो] हन् धातु का कार्य आत्मनेपद वध् को भी हो गया। इसी प्रकार प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात आदि के आदेशों का भी उन के ग्रहण से ग्रहण होता है ॥

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥

२. पाठान्तरम्—०चोपधीयमानान् ॥

३. २ । ४ । ५२ ॥

४. पाठान्तरम्—चोपधीयमानम् ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ८ ॥

इस सूत्र में वत्-शब्द इसलिये पढ़ा है कि यह सञ्ज्ञाधिकार है। तो आदेश की स्थानी-सञ्ज्ञा हो जाती, फिर स्थानी का कार्य आदेश को ही हुआ करता, स्थानी को न होता, क्योंकि जिस की सञ्ज्ञा करते हैं, उसी से काम लिया जाता है, और सञ्ज्ञा से कुछ भी काम नहीं निकलता। इसलिये वत्-शब्द का ग्रहण किया है ॥

आदेश-ग्रहण इसलिये है कि आदेशमात्र स्थानिवत् हो जाय, अर्थात् अवयव के स्थान में जो आदेश हो, वह भी स्थानिवत् हो जाय। जैसे—भवतु। यहां इकार के स्थान में उकार हुआ है, वह भी स्थानिवत् हो जाय। और अनल्विधि-ग्रहण इसलिये है कि अल्विधि में स्थानिवद्भाव न हो ॥

अल्विधि-शब्द में कई प्रकार का समास होता है, अर्थात् अल् से परे जो विधि, अल् की जो विधि, अल् में जो विधि, और अल् करके जो विधि करना हो, वहां स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—द्यौः। यहां दिव्-शब्द के वकार को औकार-आदेश होता है। उस वकार से परे विभक्ति का लोप पाता है, सो नहीं हुआ ॥

स्थानी उस को कहते हैं कि प्रथम वर्त्तमान होके फिर न रहे। और आदेश उसे कहते हैं कि जो पहिले न हो, और पीछे प्रकट हो जाय। [प्र०] सो यह बात नित्य शब्दों के मानने में नहीं बन सकती कि जो वर्तमान है, उस का तो विनाश हो, और जो नहीं है, उस की उत्पत्ति हो। (उ०) इस विषय में समझ का भेद है। इस से शब्द अनित्य नहीं हो सकते, केवल बुद्धि का फेर है। जैसे कोई किसी से कहता है कि ग्राम से पूर्व दिशा में आम के वृक्ष हैं। उस की सर्वत्र पूर्व दिशा में जितने वृक्ष हैं, उन में आम्र-बुद्धि हुई। उस के पीछे कहा कि जो दूध वाले और मोटे २ पत्तों वाले वृक्ष हैं, वह गूलरि के हैं। उस ने वहां आम्र-बुद्धि को छोड़के गूलरि की बुद्धि कर ली। यह मनुष्य अपनी बुद्धि से दोनों प्रकार के वृक्षों को देखता है, अर्थात् जैसा उपदेश सुनता समझता है, वैसे ही बुद्धि फिरती जाती है। नित्य अपने विषय में आम और नित्य गूलरि के वृक्ष हैं। केवल आम्र से गूलरि-बुद्धि हो जाती है, यह बुद्धि का ही फेर है। इसी प्रकार अस्ति धातु का उपदेश मनुष्यों के लिये सामान्य से किया, तो सर्वत्र अस्ति-बुद्धि हो गई। फिर 'अस्तेर्भूः[१]॥' इस विशेष सूत्र से उपदेश किया कि आर्द्धधातुक विषय में अस् धातु के प्रसङ्ग में 'भवति' हो जाता है, इससे आर्द्धधातुक विषय में अस्ति-बुद्धि बदल के भवति-बुद्धि हो गई। नित्य ही तो अपने विषय में 'अस्ति' और नित्य 'भवति' है। केवल मनुष्यों की बुद्धि बदलती रहती है। इससे शब्द अनित्य नहीं है। आदेशविधायक सूत्रों के करने में भी शब्द नित्य ही माननें चाहिये। इसलिये ये पूर्वोक्त सब समाधान है ॥ ५५ ॥

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ[२] ॥ ५६ ॥

अचः । ६ । १ ॥ ५ । १ । परस्मिन् । ७ । १ । पूर्वविधौ । ७ । १ । योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति परनिमित्तकोऽजादेशः स्थानिवद् भवति । 'अचः' इति पञ्चमी षष्ठी वा । 'परस्मिन्' इति निमित्तसप्तमी । 'पूर्वविधौ' इति

१. २ । ४ । ५२ ॥ २. स०—सू० ६३ ॥

विषयसप्तमी। पूर्वेण सूत्रेणाल्विधौ स्थानिवद्भावः प्रतिषिद्धः, तत्रैवानेन विधीयते॥

पटयति । लघयति । अवधीत् । बहुखट्वकः । 'पटयति, लघयति' इति पटु-लघु-शब्दाभ्यां 'आचष्टे' इत्यस्मिन्नर्थे णिचि कृते, तत्र टि-लोपे कृते *'अत उपधायाः*[1]*॥'* इति वृद्धिः प्राप्नोति । टि-लोपस्य स्थानिवद्भावान्न भवति । 'अवधीत्' इति अत्र हन्-धातोर्वध-आदेशस्य अकारलोपे कृते *'अतो हलादेर्लघोः*[2]*॥'* इति विभाषा वृद्धिः प्राप्नोति । अ-लोपस्य स्थानिवद्भावान्न भवति । बहुखट्वक इति अत्र बह्व्यः खट्वा यस्येति बहुव्रीहौ कपि कृते *'आपोऽन्यतरस्याम्*[3]*॥'* इति खट्वा-शब्दस्य ह्रस्वे कृते *'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्*[4]*॥'* इत्येष स्वरः प्राप्नोति । ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावान्न भवति ॥

'अचः' इति किमर्थम् । आगत्य । अभिगत्य । अनुनासिकलोपः परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावाद् *'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्*[5] *॥'* इति[6] तुग् न प्राप्नोति । 'अचः' इति वचनाद् भवति ॥

अथ 'परस्मिन्' इति किमर्थम् । आदीध्ये । इकारस्यैकारो न परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावाद् *'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः*[7]*॥'* इति ईकार-लोपः प्राप्नोति । 'परस्मिन्' इति वचनान्न भवति ॥

अथ 'पूर्वविधौ' इति किमर्थम् । नैधेयः । आकारलोपः परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावाद् द्व्यज्लक्षणो ढग् न प्राप्नोति । 'पूर्वविधौ' इति वचनाद् भवति ॥

अथ विधि-ग्रहणं किमर्थम् । विधिमात्रे स्थानिवद्भावो यथा स्यात् ॥

नियमार्थमेतत् स्यात् । स्वाश्रयमपि कार्यं न भवेत् ॥

---

१. ७ । २ । ११६ ॥
२. ७ । २ । ७ ॥
३. ७ । ४ । १५ ॥
४. ६ । २ । १७४ ॥
५. ६ । १ । ७१ ॥
६. पाठान्तरम्—'ह्रस्वस्य० ॥' इति ॥
७. ७ । ४ । ५३ ॥

भा०—'असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे[1]॥' इत्यसिद्धत्वाद् बहिरङ्गलक्षणस्य [पर-]यणादेशस्यान्तरङ्गलक्षणः पूर्वयणादेशो भविष्यति। अवश्यं चैषा परिभाषा आश्रयितव्या स्वरार्थम्। 'कर्त्र्यो, हर्त्र्यो' इति 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्[2]॥' इत्येष स्वरो यथा स्यात्॥

साचाप्येषा लोकतः सिद्धा। कथम्। प्रत्यङ्गवर्त्ती लोको लक्ष्यते। तद्यथा—पुरुषोऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं कार्याणि तानि तावत् करोति, ततः सुहृदां, ततः सम्बन्धिनाम्॥[3]

'असिद्धं बहिरङ्ग०'॥' इतीयं परिभाषा 'पट्व्या' इत्यत्र घटते। तद्यथा—'पटु+ई+आ' इत्यवस्थायां परत्वादीकारस्य यणादेशः, तस्यानयाऽसिद्धत्वादुकारस्य यणादेशो भवतीति। अन्यत् स्पष्टम्॥ ५६॥

पूर्व सूत्र से जो अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है, उसी विषय में इस सूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान है। जिस अच् के स्थान में आदेश होने वाला हो, उस 'अचः' अच् से 'पूर्वविधौ' पूर्व की विधि करने में 'परस्मिन्' पर को मानके अच् के स्थान में जो 'आदेशः' आदेश है, वह स्थानिवत् हो जाय। उदाहरण—पटयति। यहां पटु शब्द से णिच्-प्रत्यय के परे उस के उकार का लोप हुआ है, उस उकार को इस सूत्र से स्थानिवत् मानने से 'पटयति' [में] पकार [के अकार] को वृद्धि पाती है, सो न हुई॥

इस सूत्र में अच्-ग्रहण इसलिये है कि हल् के स्थान में जो आदेश है, सो स्थानिवत् न हो। जैसे—आगत्य। यहां मकार का लोप हुआ है। वह जो स्थानिवत् होता, तो तुक् का आगम [जो] यकार के पूर्व होता है, सो नहीं पाता॥

परस्मिन्-ग्रहण इसलिये है कि जो परनिमित्त अच् को आदेश न हो, वहां स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—आदीध्ये। यहां अन्त के इकार को एकारादेश परनिमित्त नहीं है। उस के स्थानिवत् होने से दीधी के ईकार का लोप पाता है, सो नहीं हुआ॥

पूर्वविधि-ग्रहण इसलिये है कि जहां परविधि कर्त्तव्य हो, वहां स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—नैधेयः। यहां निधि-शब्द में आकार का लोप हुआ है। उस के स्थानिवत् होने से निधि-शब्द से ढक्-प्रत्यय नहीं प्राप्त होता, इसलिये वह स्थानिवत् न हो। और विधि-ग्रहण इसलिये है कि विधिमात्र में स्थानिवद्भाव हो जाय॥

'असिद्धं बहि०॥' इस परिभाषा से प्रयोजन यह है कि समीप का कार्य प्रथम होता है, और दूर का पीछे, और जो किसी प्रकार से दूर का कार्य हो भी जाय, तो वह सिद्ध नहीं माना

---

१. पा०—सू० ४४॥ प०—सू० ५०॥

२. ६। १। १७४॥

३. कोशेऽत्र—"आ० ८ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम्॥

जाता। जैसे—पट्व्या। इस उदाहरण में 'पटु+ई+आ' इस अवस्था में परत्व से ईकार को पहिले यणादेश हो गया, फिर उस को असिद्ध मानके पूर्व उकार को भी यणादेश हो गया ॥२६॥

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु[1] ॥ ५७ ॥

'न' इति पृथगव्ययपदम्। अन्यत् सर्वं सप्तम्या बहुवचनं, द्वन्द्वगर्भस्तत्पुरुषः समासश्च। पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश्, चर्—एषां विधिषु कर्त्तव्येषु परनिमित्तकोऽजादेशो न स्थानिवद् भवति। पदान्तविधौ—कौ स्तः। यौ स्तः। कानि सन्ति। यानि सन्ति। अत्र अस्ति-धातोरकारो लुप्यते। तस्य स्थानिवद्भावादावादेशो यणादेशश्च प्राप्नोति, सोऽनेन प्रतिषिध्यते ॥

द्विर्वचनविधौ—दद्ध्यत्र। मद्ध्वत्र। यणादेशः परनिमित्तकः, तस्य स्थानिवद्भावाद् 'अनचि च[2] ॥' इति धकारस्य द्विर्वचनं न प्राप्तं, तद् भवति ॥

वरे प्रत्यये परेऽजादेशो न स्थानिवत्। 'अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्[3]।' यङन्ताद् 'या प्रापणे[4]' इत्यस्माद् धातोर्वरचि प्रत्यये कृते 'अतो लोपः[5] ॥' इत्यलोपे 'लोपो व्योर्वलि[6] ॥' इति य-लोपे च कृते 'आतो लोप इटि च[7] ॥' इत्याकार-लोपः प्राप्नोति, स न भवति, यकारस्य स्थानिवत्प्रतिषेधात् ॥

य-लोपविधावजादेशो न स्थानिवत्। कण्डूतिः। कण्डूयतेः क्तिन्-प्रत्यये कृते, अ-लोपे च कृते 'लोपो व्योर्वलि[6] ॥' इति य-लोपे कर्त्तव्ये अ-लोपः स्थानिवन्न भवति ॥

स्वरविधौ स्थानिवद्भावो न भवति। चिकीर्षकः। ण्वुलि कृते अतो लोपः परनिमित्तको लित्-प्रत्ययात् पूर्वमुदात्ते कर्त्तव्ये स्थानिवन्न भवति ॥

---

१. स०—सू० ६४ ॥

२. ८ । ४ । ४७ ॥

३. महाभाष्ये काचित्कमिदमुद्धरणम् ॥

काठकसंहितायां च यायावरविषयं वचनम्—"तस्माद् यायावरः क्षेमस्येशे, तस्माद् यायावरः क्षेम्यमध्यवस्यति।" अपि च तत्रैव श्रूयतेऽप्सु भस्मप्रवापः—"यथाछन्दसमेवापो देवीः प्रतिगृह्णीत भस्मैतदित्यप्सु भस्म प्रवपति।... परा वा एषोऽग्निं वपति, योऽप्सु भस्म प्रवपति।... ऊर्जा वा एष पशुभिर्व्यृध्यते, योऽप्सु भस्म प्रवपति।" (१९ । १२)

अत्र मैत्रायणीय-तैत्तिरीयसंहितयोरपि ईदृशानि (क्रमेण ३ । २ । २ ॥ ५ । २ । १.) वचनान्यनुसन्धेयानि ॥

४. धा०—अदा० ४० ॥

५. ६ । ४ । ४८ ॥

६. ६ । १ । ६६ ॥

७. ६ । ४ । ६४ ॥

सवर्णानुस्वारविध्योः स्थानिवद्भावो न भवति । रुन्धः । रुध्-धातोर्लट्प्रथमपुरुषस्य द्विवचने 'श्नसोरल्लोपः[1] ॥' इत्यकारलोपे कृते 'नश्चापदान्तस्य झलि[2] ॥' इत्यनुस्वारे कर्त्तव्येऽकारलोपो न स्थानिवद् भवति । तथा 'रुन्धः' इत्यत्रैव नकारस्यानुस्वारे कृते 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः[3] ॥' इति सवर्णविधौ अ-लोपः स्थानिवन्न भवति ॥

दीर्घविधावजादेशः स्थानिवन्न भवति । प्रतिदीव्ना । प्रतिदीव्ने । प्रतिदिवन्-शब्दात् तृतीयैकवचने चतुर्थ्येकवचने प्रयोगौ । तत्र भ-सञ्ज्ञत्वाद् 'अल्लोपोऽनः[4] ॥' इति परनिमित्तेऽकारलोपे कृते 'हलि च[5] ॥' इति दीर्घे कर्त्तव्ये अ-लोपः स्थानिवन्न भवति ॥

जश्विधौ स्थानिवद्भावो न भवति । 'सग्धिश्च मे[6] ।' अद्-धातोः क्तिनि प्रत्यये कृते 'बहुलं छन्दसि[7] ॥' इति घस्लृ-आदेशे कृते 'घसिभसोर्हलि च[8] ॥' इत्युपधालोपः । 'झलो झलि[9] ॥' इति सकारलोपः । 'झषस्तथोर्धोऽधः[10] ॥' इति धत्वम् । उपधालोपस्य स्थानिवद्भावाद् 'झलां जश् झशि[11] ॥' इति जश्त्वं न प्राप्तम् । तदनेन स्थानिवत्प्रतिषेधाद् विधीयते । समानाऽग्धिः = सग्धिः । समानस्य सकारादेशः ॥

चर्विधिं प्रति चाजादेशो न स्थानिवद् भवति । जक्षतुः । जक्षुः । अद्-धातोर्लिटि प्रथमनरि द्विवचन-बहुवचनयोः प्रयोगौ । 'गमहनजनखनघसां०[12] ॥' इत्युपधालोपे कृते, तत्रोपधालोपस्य स्थानिवद्भावान् 'खरि च[13] ॥' इति घकारस्य चर्त्वं न प्राप्नोति । तदनेन स्थानिवद्भावाभावाद् भवति ॥

---

१. ६ । ४ । १११ ॥
२. ८ । ३ । २४ ॥
३. ८ । ४ । ५८ ॥
४. ६ । ४ । १३४ ॥
५. ८ । २ । ७७ ॥
६. "सग्धिश्च मे, सपीतिश्च मे ।" इति द्रष्टव्यम्—
वा०—१८ । ९ ॥
तै०—४ । ७ । ४ । १ ॥
मै०—२ । ११ । ४ ॥
का०—१८ । ९ ॥
"देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्या वक्षत् सग्धिं सपीतिमन्या ...॥" (मै० ४ । १३ । ८ ॥ का० १९ । १३) इत्यस्य मन्त्रव्याख्याने निरुक्तकारः "सग्धिम्" इत्येतत् पदं "सहजग्धिम्" इत्येवं व्याख्याति ॥ (नि० ९ । ४३)
७. कोशे "२ । ४ । ३९ ॥" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
८. ६ । ४ । १०० ॥
९. ८ । २ । २६ ॥
१०. ८ । २ । ४० ॥
११. ८ । ४ । ५३ ॥
१२. ६ । ४ । ९८ ॥
१३. ८ । ४ । ५५ ॥

भा०—प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवत् । यो ह्यन्य आदेशः, स्थानिवदेवासौ भवति । पञ्चारत्न्यः । दशारत्न्यः । किर्योः । गिर्योः । वाय्वोः ।[1]

अत्र स्थानिवत्त्वात् स्वर-दीर्घ-यलोपा न भवन्ति । 'पञ्चारत्न्यः, दशारत्न्यः' इत्यत्र 'इगन्तकालकपाल०[2] ॥' इति सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरो भवति । स यणादेशे कृते स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्न प्राप्नोति । स्वरविधौ लोपाजादेशः स्थानिवन्न भवतीति स्थानिवद्भावात् प्रकृतिस्वरो भविष्यति । 'किर्य्योः, गिर्य्योः' इत्यत्र ओसि यणादेशे कृते 'हलि च[3] ॥' इति दीर्घत्वं प्राप्नोति । दीर्घविधौ लोपाजादेशो न स्थानिवदिति स्थानिवद्भावाद् दीर्घत्वं न भविष्यति । 'वाय्वोः' इत्यत्र यणादेशे कृते 'लोपो व्योर्वलि[4] ॥' इति यकारलोपः प्राप्नोति । य-लोपविधावपि लोपाजादेशो न स्थानिवदिति स्थानिवद्भावाद् य-लोपो न भवति ॥

भा०—*क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसङ्ख्यानम्*[5] ॥

क्वौ— लवमाचष्टे लवयति । लवतेरप्रत्यये लौः । स्थानिवद्भावाद् णेरूण् न प्राप्नोति । क्वौ लुप्तं न स्थानिवदिति भवति ॥

लुकि—पञ्चभिः पट्वीभिः क्रीतः = पञ्चपटुः । दशपटुः ॥

उपधात्वे—पारिखीयः ॥

चङ्परनिर्ह्रासे—वादितवन्तं प्रयोजितवान् = अवीवदद् वीणां परिवादकेन ॥

कुत्वे—अर्चयतेरर्कः । मर्चयतेर्मर्कः ॥

पूर्वत्रासिद्धे च[5] ॥

किं प्रयोजनम् । अल्लोप-णिलोपौ संयोगान्तलोपप्रभृतिषु प्रयोजनम् । पापच्यतेः पापक्तिः । यायज्यतेर्यायष्टिः । पाचयतेः पाक्तिः । याजयतेर्याष्टिः ॥

द्विर्वचनादीनि प्रयोजनानि च[6] न पठितव्यानि भवन्ति ।

---

१. अ० १ । पा० १ । आ० ८ ॥
२. ६ । २ । २९ ॥
३. ८ । २ । ७७ ॥
४. ६ । १ । ६६ ॥
५. वार्त्तिकमिदम् ॥
६. पाठान्तरम्—द्विर्वचनादीनि च ॥

पूर्वत्रासिद्धेनैव सिद्धानि भवन्ति । किमविशेषेण । नेत्याह ।

वरेयलोपस्वरवर्जम्[1] ॥[2]

लवि-धातोः क्विपि परे 'णेरनिटि[3]॥' इति णौ लुप्ते तस्य स्थानिवद्भावात् 'छ्वोः शूडनुनासिके च[4] ॥' इत्यूठ् न प्राप्नोति । सोऽनेन वार्त्तिकेन स्थानिवद्भावो निषिद्ध्यते ॥

'पञ्चपटुः' इत्यत्र क्रीतार्थे ठक् । तस्य 'अध्यर्धपूर्वद्विगोः०[5] ॥' इति लुक् । अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधत इति यणादेशात् पूर्वमेव 'लुक् तद्धितलुकि[6]॥' इति ङीपो लुक् । तत्र ङीप ईकारस्य स्थानिवद्भावाद् यणादेशः प्राप्तः, स न भवति ॥

'पारिखीयः' इत्यत्र परिखा-शब्दात् सामान्येऽर्थेऽणि कृते तत्राकारलोपे च कृते, आकारस्य स्थानिवद्भावात् ख-उपधाभावे छः प्रत्ययो न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावप्रतिषेधाद् भवति ॥

'अवीवदद्' इति वादि-धातोर्णिचि लुप्ते 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः[7] ॥' इति णेः स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति । तदनेन प्रतिषेधेन विधीयते ॥

'अर्कः' इत्यत्र अर्चि-धातोर्णिलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावात् 'चजोः कु घिण्ण्यतोः[8]॥' इति कुत्वं न प्राप्नोति । तदत्र स्थानिवद्भावात् कुत्वं भवति ॥

'पूर्वत्रासिद्धे च' इति चकारेण 'उपसङ्ख्यानम्' [इति] अनुवर्त्तते । 'पापक्तिः' इत्यत्राल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् कुत्वं न प्राप्तं, तद् भवति । 'यायष्टिः' इति यज्-धातोर्जकारस्य षत्वे कर्त्तव्ये अल्लोपो न स्थानिवद् भवति ॥ ५७ ॥

पूर्व सूत्र से जो स्थानिवद्भाव का विधान किया है, उसी का नियत स्थानों में यह सूत्र निषेध करता है । 'पदान्त...विधिषु' पदान्त, द्विवर्चन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश्, चर्, इन 'पूर्वविधौ' विधियों के करने में 'परस्मिन्' पर को निमित्त मानके 'अचः' अच् के स्थान में जो 'आदेशः' आदेश हुआ है, वह 'स्थानिवत्' स्थानिवत् [न] न हो ॥

पदान्तविधि—कौ स्तः । कानि सन्ति यहां अस् धातु के अकार का लोप पर को

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥
२. कोशऽत्र—"आ० ८ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
३. ६ । ४ । ५१ ॥
४. ६ । ४ । १९ ॥
५. ५ । १ । २८ ॥
६. १ । २ । ४९ ॥
७. ७ । ४ । १ ॥
८. ७ । ३ । ५२ ॥

मानके हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से पदान्त जो 'कौ' का औकार, उस को आव् और 'नि' के इकार को यण्-आदेश पाता है, सो पदान्तविधि में स्थानिवत् के निषेध होने से नहीं हुआ ॥

द्विर्वचनविधि—**दद्ध्यत्र । मद्ध्वत्र ।** यहां इकार [और उकार] को यण्-आदेश पर को मानके हुआ है। उस के स्थानिवत् होने से धकार को द्विर्वचन नहीं पाता, इसलिये द्विर्वचनविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है ॥

वरेविधि—अर्थात् वरच्-प्रत्यय के परे जो लोप हुआ हो, वहां स्थानिवत् न हो । **यायावरः ।** यहां अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से आकार का लोप पाता है, सो न हो, इसलिये वरच्-प्रत्यय के परे स्थानिवत् होने का निषेध है ॥

य-लोपविधि—**ब्राह्मणकण्डूतिः ।** यहां अकार का लोप हुआ है, उस के स्थानिवत् होने सेयकार का लोप नहीं पाता, इससे य-लोपविधि में स्थानिवत् न हो ॥

स्वरविधि—**चिकीर्षकः ।** यहां ण्वुल्-प्रत्यय के परे चिकीर्ष धातु के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से लित्-प्रत्यय से पूर्व 'की' में उदात्त स्वर विधान है, सो नहीं हो सकता । इससे स्वरविधि में स्थानिवद्भाव न हो ॥

सवर्णविधि—**रुन्धः ।** यहां श्नम्-प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से अनुस्वार को धकार के परे परसवर्ण अर्थात् नकारादेश नहीं हो सकता, इसलिये सवर्ण-विधि में स्थानिवत् का निषेध है ॥

अनुस्वार[विधि]—**शिंषन्ति ।** यहां श्नम्-प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है, उस के स्थानिवत् होने से नकार को अनुस्वार नहीं पाता, इसलिये अनुस्वारविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है ॥

दीर्घविधि—**प्रतिदीव्ना । प्रतिदीव्ने ।** यहां प्रतिदिवन्-शब्द से तृतीया और चतुर्थी विभक्ति के एक वचन में प्रतिदिवन्-शब्द के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से 'दि' के इकार को दीर्घ नहीं पाता, इसलिये दीर्घविधि में स्थानिवत् न हो ॥

जश्विधि—**सग्धिः ।** यहां घस् धातु के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से तकार को धकारादेश नहीं पाता । सो जश्विधि में स्थानिवत् के नहीं होने से हो गया ॥

चर्विधि—**जक्षतुः ।** यहां अद् धातु के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से घकार को ककारादेश नहीं पाता, इसलिये चर्विधि में स्थानिवत् होने का निषेध किया है ॥

'प्रतिषेधे०॥' इस वार्त्तिक से स्वर, दीर्घ और य-लोप, इन तीन विधियों में नियम है कि इन तीन विधियों के करने में लोपरूप जो अच् के स्थान में आदेश है, सो स्थानिवत् न हो । अन्य आदेश तो स्थानिवत् हो जाय । [स्वरविधि में] जैसे—**पञ्चारत्न्यः ।** यहां इकार के स्थान में यण्-आदेश हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से 'इगन्तकाल० ॥' इस सूत्र से पूर्वपदप्रकृति स्वर हो जाता है । दीर्घविधि—**किर्य्योः ।** यहां इकार के स्थान में यण् हो गया है । उस के स्थानिवत् होने से दीर्घ नहीं होता । य-लोपविधि—**वाय्वोः ।** यहां उकार के

स्थान में व् हुआ है । इस के स्थानिवत् होने से यकार का लोप नहीं होता ॥ १ ॥

'क्विलुगुपधा० ।' यह दूसरा वार्त्तिक सूत्र के विषय से अलग स्थानिवद्भाव का निषेध करता है । 'क्वौ लुप्ते न स्थानिवत् ।' क्विप्-प्रत्यय के परे किसी का लोप हुआ हो, तो वहां स्थानिवद्भाव न हो । लौः । यहां क्विप्-प्रत्यय के परे 'णि' का लोप हुआ है, उस के स्थानिवत् नहीं होने से वकार को ऊठ्-आदेश होता है । 'लुकि न स्थानिवत् ।' लुक् होने में स्थानिवद्-भाव न हो । पञ्चपट्वः । यहां तद्धित प्रत्यय के लुक् के होने से ङीप्-प्रत्यय के ईकार का लुक् हुआ है । उस के स्थानिवत् नहीं होने से पटु के उकार को वकार-आदेश नहीं हुआ । 'उपधात्वे न स्थानिवत् ।' उपधा के कार्य के करने में स्थानिवद्भाव न हो । पारिखीयः । यहां परिखा-शब्द से अण्-प्रत्यय के परे उस के आकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् नहीं होने से पारिख-शब्द से छ-प्रत्यय होता है । 'चङ्परनिर्ह्रासे ।' अवीवदत् । यहां णि के परे णि का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् नहीं होने से उपधा को ह्रस्व हो जाता है । 'कुत्वे न स्थानिवत् ।' कुत्वविधि करने में स्थानिवद्भाव न हो । अर्कः । यहां अर्च् धातु से 'णि' का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् नहीं होने से चकार को ककार-आदेश होता है ॥ [२॥]

'पूर्वत्रासिद्धे च ।' इस तीसरे वार्त्तिक से अष्टाध्यायी के अन्त के तीन पादों के कार्य करने में स्थानिवत् न हो । जैसे—यायष्टिः । यहां अकार का लोप हुआ है, सो यज् धातु के जकार को षकार करने में स्थानिवत् न हो । इत्यादि ॥ [३॥] ४७ ॥

द्विर्वचनेऽचि[१] ॥ ५८ ॥

'न' इति निवृत्तम् । द्विर्वचने । ७ । १ । अचि । ७ । १ । द्विर्वचननिमित्तेऽजादौ प्रत्यये द्विर्वचनकर्त्तव्येऽजादेशः स्थानिरूपो भवति[२] । 'द्विर्वचने' इति निमित्तसप्तमी ॥

अतिदेशो द्विविधो भवति— कार्यातिदेशः, रूपातिदेशश्च । तत्र कार्यातिदेशे कार्यसिद्ध्यर्थमादेशं स्थानितुल्यं मत्वाऽऽदेशेनैव कार्याणि क्रियन्ते । तेन स्थान्यादेशोभयाश्रयाणि कार्याण्यादेशे भवन्ति । रूपातिदेशे तु स्थानिनो यद् रूपं, तदेव तत्रागच्छति । तेन स्थान्याश्रयाण्येव कार्याणि भवन्ति, नैवादेशाश्रयाणि । अस्मिन् सूत्रे तु रूपातिदेशोऽस्ति । तद्यथा— पपतुः । पा-धातोरतुसि-प्रत्यये 'आतो लोप इटि च[३] ॥' इत्याकार-लोपे कृते 'एकाचो द्वे प्रथमस्य[४] ॥' इत्यजभावाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति । आकारस्तत्रागच्छतीति द्विर्वचनं भवति । जग्मतुः । गमि-धातोरतुसि परत्वाद् 'गमहन०[५] ॥' इत्युपधालोपे कृतेऽजभावाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति । रूपं स्थानिवद् भवतीति द्विर्वचनं भविष्यति ॥

---

१. स०—सू० ६८ ॥
२. परन्तु सि० कौ०—"द्विर्वचननिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये ।"
३. ६ । ४ । ६४ ॥
४. ६ । १ । १ ॥
५. ६ । ४ । ९८ ॥

'द्विर्वचने' इति किम् । गोदः । गो-शब्द उपपदे डुदाञ्-धातोः के प्रत्यये 'आतो लोप इटि च'[1] ॥' इत्याकारलोपे कृते तस्य स्थानिवत्त्वाद् अकः सवर्णे दीर्घत्वं प्राप्नोति । तन्न भवति ॥

'अचि' इति किमर्थम् । जेघ्नीयते । देध्मीयते । अत्र यदीकारः स्थानिवत् स्यात्, तर्हि आकारस्य द्विर्वचनं प्रसज्येत । अज्-ग्रहणान्न भवति ॥

भा० — *अज्-ग्रहणं तु ज्ञापकं रूपस्थानिवद्भावस्य*[2] ॥
यदयमज्-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—रूपं स्थानिवद् भवतीति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । अज्-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम् । इह मा भूत्—जेघ्नीयते[3] । देध्मीयते । यदि च रूपं स्थानिवद् भवतीति,[4] ततोऽज्-ग्रहणमर्थवद् भवति । अथ हि कार्यं, नार्थोऽज्-ग्रहणेन, भवत्येवात्र द्विर्वचनम् ॥[5]

यद्यत्र कार्यातिदेशोऽस्ति, तर्हि अज्-ग्रहणं व्यर्थं, रूपातिदेशे तु सार्थम् । कथम् । 'जेघ्नीयते, देध्मीयते' इत्यत्र कार्यातिदेशे किमपि कर्त्तव्यं नास्तीति यदर्थमज्-ग्रहणं स्यात् । रूपातिदेशे त्वाकारस्य द्विर्वचनं स्याद् । एतदर्थमज्-ग्रहणम् ॥

भा०—एवं तर्हि, 'द्विर्वचननिमित्ते अच्यजादेशः स्थानिवद्' इति वक्ष्यामि । स तर्हि निमित्त-शब्द उपादेयः । न ह्यन्तरेण निमित्त-शब्दं निमित्तार्थो गम्यते । अन्तरेणाऽपि निमित्त-शब्दं निमित्तार्थो गम्यते । तद्यथा— *दधित्रपुसं*[6] *प्रत्यक्षो ज्वरः* । ज्वरनिमित्तमिति गम्यते । *नड्वलोदकं पादरोगः* । पादरोगनिमित्तमिति गम्यते । *आयुर्घृतम्*[7] । आयुषो निमित्तमिति गम्यते ॥[5]

स्पष्टम् ॥ ५८ ॥

[इत्यतिदेशाधिकारः]

---

१. ६ । ४ । ६४ ॥
२. वार्त्तिकमिदम् ॥
३. पाठान्तरम्—जेघ्रीयते ॥
४. पाठान्तरम्—भवति ॥
५. कोशेऽत्र—"आ० ८ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
६. पाठान्तरम्—०त्रपुसम् ॥
७. मैत्रायणीयसंहितायां काम्येष्टिप्रकरणे (२ । ३ । ५)—हिरण्यादधि घृतं निष्पाययन्ति । अमृतं वै हिरण्यम् । आयुर्घृतम् । अमृतादेवैनमध्यायुर्निष्पाययन्ति, शितिव भवति ।"

एवमेव काठकसंहितायां (११।८) इठिमिकायाँ मारुते नाम्नि एकादशे स्थानके—"तेजो वै हिरण्यम् । आयुर्घृतम् । तेजस एवाध्यायुरात्मन्धत्ते ।"

तथा च तैत्तिरीयसंहितायामायुष्कामेष्टिविधौ (२ । ३ । ११)—
"आयुर्वै घृतम् । अमृतꣳ हिरण्यम् । अमृतादेवायुर्निष्पिबति, शतमानं भवति ।"

'द्विर्वचने' द्विर्वचन का निमित्त **'अचि'** अजादि प्रत्यय परे हो, तो द्विर्वचन करने के लिये **'अचः'** अच् के स्थान में जो **'आदेशः'** आदेश है, सो **'स्थानिवत्'** स्थानी का ही रूप हो जाय ॥

इस सूत्र में स्थानिवद्भाव का विधान किया है। अतिदेश उस को कहते हैं कि आदेश को स्थानी के तुल्य मानना। सो दो प्रकार का होता है—एक कार्यातिदेश, दूसरा रूपातिदेश। कार्यातिदेश उस को कहते हैं कि जो आदेश को स्थानी के तुल्य मानके स्थानी का काम आदेश से ले लेना। और रूपातिदेश उसे कहते है कि आदेश के स्थान में स्थानी स्वयं आ जाय। क्योंकि जहां स्थानीतुल्य मानने से काम नहीं चलता, वहां रूपातिदेश माना जाता है। सो इस सूत्र में रूपातिदेश है। जैसे—पपतुः। यहां अतुस्-प्रत्यय के परे [होने से] पा धातु के आकार का लोप हुआ है। उस के स्थानिवत् होने से ही द्विर्वचन होता है ॥

इस सूत्र में द्विर्वचन-ग्रहण इसलिये है कि 'गोदः' यहां आकार का लोप अजादि प्रत्यय के परे हुआ है, परन्तु द्विर्वचननिमित्त प्रत्यय नहीं, और द्विर्वचन करना भी नहीं। इससे स्थानिवद्भाव नहीं होता ॥

और अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'देध्मीयते' यहां अजादि प्रत्यय परे नहीं, इससे स्थानिवत् नहीं होता। इस सूत्र में अच्-ग्रहण से यह भी जाना जाता है कि यहां रूपातिदेश है, क्योंकि अच्-ग्रहण का यही प्रयोजन है कि हल्-आदि प्रत्यय में न हो। सो 'देध्मीयते' इस प्रयोग के लिये अच्-ग्रहण नहीं करना, क्योंकि कार्यातिदेश से तो कुछ काम करना ही नहीं। फिर अच्-ग्रहण व्यर्थ होके ज्ञापक होता है कि यहां रूपातिदेश है। इसलिये अच्-ग्रहण किया है ॥

'अचि' यहां निमित्तार्थ में सप्तमी है। सो निमित्त-शब्द के विना ही उस का अर्थ जाना जाता है। जैसे—**आयुर्घृतम्**। यहां निमित्त-शब्द के विना उस का अर्थ स्पष्ट मालूम होता है। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये ॥ ५८ ॥

[यह अतिदेशाधिकार पूरा हुआ]

[अथ लोप-सञ्ज्ञासूत्रम्]

अदर्शनं लोपः[१] ॥ ५९ ॥

अस्मिन् सूत्रे मण्डूकप्लुतगत्या **'न वेति विभाषा[२] ॥'** इत्यस्मात् सूत्राद् इति-शब्दानुवर्त्तनादर्थस्य सञ्ज्ञा भवति। [अदर्शनम् । १ । १ । लोपः । १ । १ ।] इन्द्रियैर्ग्राह्यं भूत्वाऽग्राह्यम् अदर्शनम्। यन्नास्ति, तस्याऽदर्शन-सञ्ज्ञा न भवति, किन्तु यद् भूत्वा न भवति, तद् अदर्शनम्। विद्यमानस्याऽदर्शनं लोप-सञ्ज्ञं

१. वाजसनेयिप्रातिशाख्येऽपि—"वर्णस्यादर्शनं लोपः ॥" (१ । १४१)

२. १ । १ । ४३ ॥

भवति । भगवान् । धनवान् । अत्र 'संयोगान्तस्य लोपः[1] ॥' इति तकारस्यादर्शनम् ॥ ५९ ॥

'अदर्शनम्' किसी विद्यमान वस्तु का जो अदर्शन है, सो 'लोपः' लोप-सञ्ज्ञक हो। जैसे—धनवान्। इस शब्द के अन्त में तकार का लोप अर्थात् अदर्शन हुआ है ॥

मण्डूकप्लुतगति, अर्थात् मिड्डुक जैसे कूद कर दूर जा पड़ते हैं और बीच में जगह छूट जाती है, इसी प्रकार सूत्रों में अनुवृत्ति भी होती है, कि एक सूत्र की अनुवृत्ति दूर जाती है, और बीच में सूत्र छूट भी जाते हैं। सो इस सूत्र में 'न वेति विभाषा[2] ॥' इस सूत्र से इति-शब्द की अनुवृत्ति से अर्थ की [लोप-]सञ्ज्ञा होती है। अदर्शन उस को कहते हैं कि जो किसी का वर्त्तमान होके किसी प्रकार का अभाव हो। उस को अदर्शन नहीं कह सकते कि जो सदा अभाव ही हो ॥ ५९ ॥

[अथ लुक्-श्लु-लुप्-सञ्ज्ञासूत्रम्]

प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ॥ [६० ॥]

प्रत्ययस्य । ६ । १ । लुक्-श्लु-लुपः । १ । ३ । द्वन्द्वसमासः । अत्राप्यर्थस्यैव सञ्ज्ञास्ति । भाविनः प्रत्ययादर्शनस्य 'लुक्, श्लु, लुप्' इति प्रत्येकमेताः सञ्ज्ञा भवन्ति । विशाखः । अत्र जातार्थे तद्धितलुकि सति स्त्रीप्रत्ययस्य टापो लुग् भवति । जुहोति । अत्र 'श्लौ[3] ॥' इति द्विर्वचनम् । पञ्चालाः[4] । अत्र निवासार्थे प्रत्ययस्य लुप् ॥

---

१. ८ । २ । २३ ॥
२. १ । १ । ४३ ॥
३. ६ । १ । १० ॥
४. पञ्चालानामैतिह्यं यत्र कचित् संहिताब्राह्मणादीषूपलभ्यमानमत्र पाठकानां रुच्यर्थमुद्ध्रियते । यथा—"स होवाच त्र्यनीकमस्य प्रजा भविष्यतीति, ततः पञ्चालास्त्रेधाभवन् ।" (का० ३० । २)

"अथो यत्कुत्रं मा नेष्यन्ति, ततस्त्वाभीत्य ज्यास्यन्तीति ते मीमांसित्वेतो नो भयं नास्तीति दक्षिणाः प्रत्यञ्चं निन्युः । ततः कुन्तयः पञ्चालानभीत्य जिनन्ति ।" (का० २६ । ९)

"क्रिवय इति ह वै पुरा पञ्चालानाचक्षते, तदेतद् गाथयाभिगीतम् अश्वं मेध्यमालभत । क्रिवीणामतिपूरुषः पाञ्चालः परिव(पाठान्तरम्—च)क्रायां सहस्रशतदक्षिणमिति ।" (श० ब्रा० १३ । ५ । ४ । ७)

"तस्मादस्यां ध्रुवायां मध्यमस्यां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां राजानः सवशोशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते, राजेत्येतान् अभिषिक्तानाचक्षते ।" (ए० ब्रा० ८ । १४)

अन्यत्रापि कुरूणां पञ्चालैस्साहचर्य्यं लक्ष्यते । अपि च श्रूयते तेषां प्रवाहणो नाम राजा—"श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय । तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच, कुमारानु त्वाशिषत् पितेत्यनु हि भगव इति ।" (छा० उ० ५ । ३ । १ ॥ अपि च बृ० उ० ६ । २ । १)

अथ प्राच्यपञ्चाला ऋक्प्रातिशाख्ये—"प्राच्यपञ्चालपदवृत्तयस्ताः पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वा भवन्ति ।" (२ । १२ ॥ अपि च २ । ४४)

प्रत्यय-ग्रहणं किमर्थम् । प्रत्ययैकदेशादर्शनस्यैताः सञ्ज्ञा मा भूवन् ॥ ६० ॥

इस सूत्र में भी अदर्शन-शब्द के अर्थ की ही सञ्ज्ञा की है । होने वाले 'प्रत्ययस्य' प्रत्यय के 'अदर्शनम्' अदर्शन की 'लुक्-श्लु-लुपः' लुक्, श्लु, लुप्, ये तीन सञ्ज्ञा होती हैं । विशाखः । यहां जात-अर्थ में प्रत्यय के अदर्शन होने से श्रीप्रत्यय का लुक् अर्थात् अदर्शन हुआ है । जुहोति । यहां श्लु के होने से हु धातु को द्विर्वचन होता है । और 'पञ्चालाः' यहां निवास अर्थ में प्रत्यय का लुप् हुआ है ॥

इस सूत्र में प्रत्यय-ग्रहण इसलिये [है] कि प्रत्यय के अवयव का जो अदर्शन है, उस की ये तीनों सञ्ज्ञा न हों ॥ ६० ॥

[अथ प्रत्ययलक्षणातिदेशसूत्रम्]

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्[1] ॥ ६१ ॥

प्रत्ययलोपे । ७ । १ । प्रत्ययलक्षणम् । १ । १ । प्रत्ययलोपे सति प्रत्यय-निमित्तं कार्यं भवतीति अग्निचित्, सोमसुत् । अत्र लोपस्य बलवत्त्वात् क्विपो लोपे सति क्विम्निमित्ते 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्[2] ॥' इति तुग् यथा स्यात् ॥

प्रत्यय-ग्रहणं किमर्थम् । कृत्स्नस्य प्रत्ययस्य लोपे[3] प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात्, एकदेशलोपे मा भूत् । आ घ्नीत ।

अत्र सीयुटः सकारे लुप्ते यदि प्रत्ययलक्षणं स्यात्, तर्हि 'गमहन०[4] ॥' इत्युपधालोपो न स्यात् ॥

द्वितीयं प्रत्यय-ग्रहणं किमर्थम् । प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात्, वर्णलक्षणं मा भूत् । रायः कुलम् = रैकुलम् ।

अत्रैच्-प्रत्याहाराश्रय आयू-आदेशः प्राप्नोति । प्रत्यय-ग्रहणान्न भवति ॥६१॥

बौद्धजातकेषु रामायणमहाभारतादिषु चोत्तरा दक्षिणाश्च पञ्चाला भूयिष्ठमुपवर्णिताः । अस्ति च पुरावृत्तं (म० भा० १ । १३८) यद् द्रोणेन द्रुपदमभिजित्योत्तरपञ्चालाः स्वायत्तीकृताः । यव-नाधिपद्धिश्रोमणिना श्रीटॉलेमिना "आदिसद्र" इति गृहीतनामधेया उत्तरपञ्चालानामहिच्छत्रनाम्नी (चीनाक्षरेषु "श्रो-हि-चि-ट-लो") राजधानी चीनदेशवास्तव्येन बौद्धयात्रिणा श्रीयूनत्सांगेन विक्रमस्य सप्तमे दशके परमाभ्युदयशालिनीति वर्णिता ॥

दक्षिणानामपि पञ्चालानां राजधानी महा-भारतादेव ज्ञायते काम्पिल्यमिति ॥

राजशेखरो बालरामायणे (१० । ८६) —"इमेऽन्तर्वेदीभूषणं पञ्चालाः ।"

१. स०—सू० ६६ ॥

२. ६ । १ । ७१ ॥

३. भाष्ये—कृत्स्नप्रत्ययलोपे ॥

४. ६ । ४ । ९८ ॥

'प्रत्ययलोपे' जहां प्रत्यय का लोप हो जाय, वहां 'प्रत्ययलक्षणम्' उस को मानके कोई कार्य पाता हो, तो हो जाय। अग्निचित्। यहां लोप के बलवान् होने से प्रथम क्विप्-प्रत्यय का लोप हो जाता है, पीछे उस को मानके तुक्-आगम होता है ॥

इस सूत्र में प्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि सम्पूर्ण प्रत्यय का जहां लोप हो, वहीं प्रत्यय-निमित्त कार्य हो, और जहां प्रत्यय के अवयव का लोप हो, वहां न हो। जैसे—आ घ्नीत। यहां प्रत्यय के अवयव सकार का लोप हुआ है। सो जो प्रत्ययलक्षण हो, तो हन् धातु की उपधा का लोप नहीं पाता ॥

दूसरा प्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि प्रत्यय के लोप में वर्णाश्रय कार्य पाता हो, सो न हो। रायः कुलम् = रैकुलम्। यहां प्रत्यय के लोप में एच्-प्रत्याहार के आश्रय ऐकार को आय्-आदेश पाता है, सो नहीं हुआ ॥ ६१ ॥

[अथ पूर्वसूत्रनिषेधसूत्रम्]

न लुमताऽङ्गस्य[1] ॥ ६२ ॥

न। [अ० ।] लुमता । ३ । १ । अङ्गस्य । ६ । १ । लुप् विधीयते यस्मिन् तेन लुक्-श्लु-लुप्भिर्यत्र प्रत्ययो लुप्यते, तस्मिन् परे यदङ्गं, तस्य यत् प्रत्ययलक्षणं कार्यं, तन्न भवति। पूर्वस्मिन् सूत्रे सामान्यतया प्रत्ययलोपे प्रत्यया-दर्शने प्रत्ययलक्षणं विहितं, तदस्मिन् सूत्रे विशेषतयाऽपवादत्वेन प्रतिषिध्यते। गर्गाः। अत्र प्रत्ययलक्षणेन वृद्धिः प्राप्नोति, सा प्रतिषिध्यते। हतः। अत्र प्रत्ययलक्षणेनाऽनुनासिकलोपो न प्राप्नोति ॥

'लुमता' इति किमर्थम्। धार्यते। अत्र णेर्लोपः ॥ ६२ ॥

'लुमता' लुक्, श्लु और लुप्, इन शब्दों से जहां प्रत्यय का अदर्शन हो, वहां उस प्रत्यय के परे जो 'अङ्गस्य' अंग-सञ्ज्ञक शब्द हो, उस को 'प्रत्ययलक्षणम्' प्रत्ययलक्षण कार्य 'न' न हो। पूर्व सूत्र में जो प्रत्ययलक्षण कार्य सामान्य से कहा है, उस का इस सूत्र में विशेष विषय में प्रतिषेध किया है। गर्गाः। यहां यञ्-प्रत्यय को मानके वृद्धि और आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता था, सो नहीं हुआ ॥

इस सूत्र में 'लुमता' का ग्रहण इसलिये है कि 'धार्यते' यहां णिच्-प्रत्यय का लोप हुआ है, इससे प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध नहीं हुआ ॥ ६२ ॥

[अथ टि-सञ्ज्ञासूत्रम्]

अचोऽन्त्यादि टि[2] ॥ ६३ ॥

अचः । ५ । १ । अन्त्यादि । १ । १ । [टि । १ । १ ।] 'अचः'

---

१. स०—सू० ७० ॥ २. स०—सू० ४७ ॥

इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अन्त्यश्च आदिश्च, [=तदादिश्च] अनयोः समाहारः । अचं प्रगृह्य यदन्त्यादि, तत् टि-सञ्ज्ञं भवति । अग्निचित् । [अत्र] 'इत्' टि-सञ्ज्ञो भवति । पचेते । [अत्र] 'आम्' टि-सञ्ज्ञो भवति । तस्मात् 'टित आत्मनेपदानां टेरे[1]॥' इत्येत्त्वं भवति ॥ ६३ ॥

'अचः' अच् से लेके जो 'अन्त्यादि' अन्त्य और [तद्-] आदि समुदाय है, उस की 'टि' टि-सञ्ज्ञा हो । 'अचः' इस शब्द में ल्यप् के लोप में पञ्चमी विभक्ति हुई है । जैसे —पचेते । यहां टि-सञ्ज्ञा के होने से अन्त में एकारादेश हो गया है ॥ ६३ ॥

[अथोपधा-सञ्ज्ञासूत्रम्]

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा[2]॥ ६४ ॥

अलः । ५ । १ । अन्त्यात् । ५ । १ । पूर्वः । १ । १ । उपधा । १ । १ । धात्वादिवर्णसमुदायेऽन्त्यादलः पूर्वो यो वर्णः, स उपधा-सञ्ज्ञो भवति । पाठकः । अकारस्य उपधा-सञ्ज्ञत्वाद् वृद्धिः । छेदकः । बोधकः । [अत्र] इकार-उकारयोरुपधा-सञ्ज्ञाकरणाल्लघूपधगुणः ॥

अल्-ग्रहणं किमर्थम् । समुदायात् पूर्वस्य वर्णस्योपधा-सञ्ज्ञा मा भूत् । 'शिष्टात्' इति शकारस्योपधा-सञ्ज्ञत्वादित्त्वं प्राप्नोति, तन्न भवति ॥ ६४ ॥

धातु आदि के वर्णसमुदाय में 'अन्त्यात्' अन्त्य 'अलः' वर्ण से 'पूर्वः' पूर्व जो वर्ण है, उस की 'उपधा' उपधा-सञ्ज्ञा हो । पाठकः । यहां पठ् धातु के अकार की उपधा-सञ्ज्ञा होने से उस को वृद्धि हुई है ॥

इस सूत्र में अल्-ग्रहण इसलिये है कि वर्णसमुदाय से पूर्व वर्ण की उपधा-सञ्ज्ञा न हो। जैसे—शिष्टात् । यहां जो शकार की उपधा-सञ्ज्ञा हो, तो उस को इकारादेश पाता है, सो न हुआ ॥ ६४ ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य[3]॥ ६५ ॥

तस्मिन् । ७ । १ । इति । [अ० ।] निर्दिष्टे । ७ । १ । पूर्वस्य । ६ । १ । इति-शब्दोऽर्थनिर्देशार्थः । परिभाषेयम् । सप्तम्यर्थनिर्देशाद् यत् पूर्वं, तस्य कार्यं भवतीति व्यवहितपूर्वस्य परस्य च न भवतीति नियमः । दध्यत्र । मध्वत्र । 'इको यणचि[4]॥' इति अव्यवहितस्येकारस्य [उकारस्य च] यण्-आदेशो भवति ॥

१. ३ । ४ । ७६ ॥
२. स०—सू० ४८ ॥
३. स०—सू० ७१ ॥ वा० प्रा०—"तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥" (१ । १३४)
४. ६ । १ । ७७ ॥

भा०—अथ निर्दिष्ट-ग्रहणं किमर्थम् ।

निर्दिष्ट-ग्रहणमानन्तर्यार्थम्[1] ॥

आनन्तर्यमात्रे कार्यं यथा स्यात्—'*इको यणचि*[2] ॥' दध्यत्र । मध्वत्र । इह मा भूत्—समिधौ, समिधः । दृषदौ, दृषदः ॥[3]

आनन्तर्य्यार्थम् = अव्यवधानार्थम् । 'समिधौ, समिधः' इति धकारस्य, 'दृषदौ, दृषदः' इति षकारस्य व्यवधाने यण्-आदेशो मा भूदित्यर्थः ॥ ६५ ॥

'तस्मिन् इति' सप्तमी विभक्ति से 'निर्दिष्टे' निर्देश किया हुआ जो शब्द पढ़ा हो, तो उस से जो 'पूर्वस्य' पूर्व शब्द हो, उसी को कार्य हो, पर और व्यवधान को न हो। दध्यत्र । मध्वत्र । यहां इकार उकार के स्थान में यण् हुआ है ॥

यह परिभाषा सूत्र है । इस सूत्र में इति-शब्द अर्थ के लिये पढ़ा है । इस सूत्र में निर्दिष्ट-ग्रहण इसलिये है कि व्यवधान में यण्-आदेश न हो । जैसे—समिधः । यहां धकार के व्यवधान में यण्-आदेश न हो ॥ ६५ ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

तस्मादित्युत्तरस्य[4] ॥ ६६ ॥

निर्दिष्ट-ग्रहणमनुवर्त्तते [तस्मात् । ५ । १ । इति । अ० । उत्तरस्य । ६ । १ ।] अत्रापि इति-करणोऽर्थनिर्देशार्थः । पञ्चम्यर्थनिर्देशाद् यत् परं, तस्यैव कार्यं भ[वि]ते । द्वीपम् । अन्तरीपम् । समीपम् । अत्र 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्[5] ॥' इति [द्वि], अन्तर्, उपसर्ग' इत्येतेभ्यः परस्य अप-शब्दस्य ईकारादेशो भवति ॥

निर्दिष्ट-ग्रहणं किम् । व्यवधाने मा भूत् । अन्तर्दधाना आपः । अत्र ईकारादेशो न भवति ॥ ६६ ॥

'तस्माद् इति' पञ्चमी विभक्ति से 'निर्दिष्टे' निर्देश किया जो कार्य है, सो व्यवधान-रहित 'उत्तरस्य' पर को हो । पूर्व सूत्र से यहां निर्दिष्ट-शब्द की अनुवृत्ति आती है । इति-शब्द यहां भी अर्थ जनाने के लिये है । द्वीपम् । यहां द्वि-शब्द से पर अप-शब्द को ईकारा-देश होता है ॥

इस सूत्र में निर्देश-ग्रहण इसलिये है कि अत्यन्त समीप को हो । अन्तर्दधाना आपः । यहां अप-शब्द को ईकारादेश न हुआ ॥ ६६ ॥

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥
२. ६ । १ । ७७ ॥
३. कोशेऽत्र—"भा० ६ [व्या०]" इत्युद्ध-रणस्थलम् ॥
४. स०—सू० ७२ ॥
५. ६ । ३ । ९७ ॥

[अथ सञ्ज्ञासूत्रम्]

स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसञ्ज्ञा[1] ॥ ६७ ॥

स्वम् । १ । १ । रूपम् । १ । १ । शब्दस्य । ६ । १ । अशब्द-सञ्ज्ञा । १ । १ । इह व्याकरणे यस्य शब्दस्य कार्यमुच्यते, तस्य स्वं रूपं ग्राह्यं, वाच्यार्थस्य ग्रहणं न भवेत् । अशब्द-सञ्ज्ञा = शब्दसञ्ज्ञां विहाय । अर्थात् वृद्धिप्रदेशेषु वृद्धि-शब्देन कार्यं कदापि न निस्सरति, किन्तु आदैच उपतिष्ठन्ते । यथा—'अग्नेर्ढक्[2] ॥' इत्यग्नि-शब्दाड्ढगुच्यमानस्तत्पर्यायवाचिनो वह्नि-शब्दान्न भवति ॥

भा०—किमर्थं पुनरिदमुच्यते । *शब्देनार्था गतेरर्थे[3] कार्यस्यासम्भवात् तद्वाचिनः सञ्ज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वंरूपवचनम्[4]* ॥

शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते । गामानय, दध्यशानेति अर्थ आनीयते, अर्थश्च भुज्यते । अर्थे कार्यस्यासम्भवादिह च व्याकरणेऽर्थे कार्यस्यासम्भवः । '*अग्नेर्ढक्*[2] ॥' **इति न शक्यतेऽङ्गारेभ्यः परो ढक् कर्त्तुम् । शब्देनार्थगतेरर्थे कार्यस्यासम्भवाद् यावन्तस्तद्वाचिनः शब्दाः, तावद्भ्यः सर्वेभ्य उत्पत्तिः प्राप्नोति । इष्यते च—तस्मादेव स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति तद्वाचिनः सञ्ज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वंरूपवचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ॥**[5]

एतदुक्तौ सूत्रारम्भस्य प्रयोजनं विज्ञेयम् । अथ वार्त्तिकानि—

[वा० १] *सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम्* ॥

सिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं, तद्विशेषाणां ग्रहणं भवतीति । किं प्रयोजनम् । वृक्षाद्यर्थम् । '*विभाषा वृक्षमृग०*[6] ॥' **इति । प्लक्षन्यग्रोधं, प्लक्षन्यग्रोधाः ॥**

(वा० २) *पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम्* ॥

पिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं, पर्यायवचनस्य च तद्-

---

१. स०—सू० ७३ ॥
२. ४ । १ । ३३ ॥
३. पाठान्तरम्—शब्देनार्थगते० ॥
४. वार्त्तिकमिदम् ॥
५. कोशेऽत्र—"आ० ६ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
६. २ । ४ । १२ ॥

विशेषाणां च ग्रहणं भवति, स्वस्य च रूपस्येति । किं प्रयोजनम् । स्वाद्यर्थम् । *'स्वे पुषः*[1]*॥'* स्वपोषं पुष्यति । रैपोषम् । धनपोषम् । गोपोषम् । अश्वपोषम्[2] ॥

(वा० ३) *जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ॥*

जिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवति । किं प्रयोजनम् । राजाद्यर्थम् । *'सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा*[3]*॥'* इनसभम् । ईश्वरसभम् । तस्यैव न भवति—राजसभा । तद्विशेषाणां च न भवति—पुष्यमित्रसभा[4] ।

---

१. ३ । ४ । ४० ॥ २. पाठान्तरम्—अश्वपोषम् । गोपोषम् ॥

३. २ । ४ । २३ ॥

४. पाठान्तरम्— पुष्पमित्र० । देवनागरलिपौ "ष्य" इति "ष्प" इत्यनेन समानाकृतिर्लिख्यते । अतो भ्रमो भवति कोऽयं शब्द इति । तन्निवारणाय ब्राह्मीलिप्यक्षरां पुष्यमित्रस्य शिलालेखप्रतिलिपिमुदाहरामः । न हि तत्र "ष्य" इति "ष्प" इत्यनेन सन्दिह्यते—

(पं० १)

(पं० २)

[अयोध्यानगरे रानोपाली(=राज्ञः पल्ली)-आख्याश्रमे देवालयदेहल्यामुत्कीर्णोऽयं लेखः]

चन्द्रगुप्तसभा[1] ॥

[वा० ४] *भित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम्* ॥

भिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं, तस्य च ग्रहणं भवति, तद्विशेषाणां चेति । किं प्रयोजनम् । मत्स्याद्यर्थम् । '*पक्षि-मत्स्यमृगान् हन्ति*[2] ॥' मात्सिकः । तद्विशेषाणाम् — शाफरिकः । शाकुलिकः । पर्यायवचनानां न भवति—अजिह्मान् हन्ति । अनिमिषान् हन्तीति । अस्यैकस्य पर्यायवचनस्येष्यते — मीनान् हन्ति = मैनिकः ॥[3]

सिदादयो निर्देशास्तत्तत्कार्यविधायकेषु वृत्तादिशब्देषु कर्त्तव्याः । वृत्तस् । मृगस्

देवनागराक्षरेषु—

(पङ्क्तिः १) कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन . . .

(पङ्क्तिः २) . . . . धर्मराज्ञा पितुः फल्गुदेवस्य केतनं कारितं

अपरं च "पुष्पमित्र" इति न कञ्चिच्छोभनमर्थं गमयति । "पुष्यमित्र" इति तु शोभनं नाम—पुष्यो (पुष्णातीति कर्त्तरि यत् । समृद्धिदं नक्षत्रम) मित्रमस्येति ॥

अयं सेनापतिः पुष्यमित्रः स्वामिनं मौर्यराजं वृहद्रथं हत्वा शुङ्ग(पाठान्तरम्—शृङ्ग)-वंशं व्यवास्थापयत् । (दृश्यतां मत्स्यपुराणे २७२ । २७ ॥ वायौ ६६ । ३३७ ॥ ब्रह्माण्डे ३ । ७४ । १५० ॥ विष्णौ ४ । २४ । ६ ॥ भागवते च १२ । १ । १६, १७)

हर्षचरिते—"प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम् ।" (षष्ठोच्छ्वासे)

त्रिविष्टपदेशवास्तव्यो बौद्धस्तारानाथश्च—पुष्यमित्रेण आ मध्यप्रदेशात् जालन्धरसीमान्तानि सर्वाणि बौमद्धठानि भस्मसात् कृतानि, भिक्षवश्च प्राणैर्विमुक्ता इत्यसभ्यं विज्ञापयति ॥

---

१. अयं चाणक्यसाहाय्येन महापद्मं नन्दराजं (मुद्राराक्षसादिषु सर्वार्थसिद्धिनामानमिति प्रसिद्धिः) हत्वा राज्येऽभिषिक्तः । भागवतटीकायां श्रीधर एनं मुराभिधायां शूद्रायामुत्पन्नं नन्दराजपुत्रं मन्यते । न त्वेवं बौद्धाः । तैरस्य शाक्यवंशसमुद्भवत्वं प्रतिपाद्यते ॥

मत्स्य-वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु-भागवतपुराणेषु, कलियुगराजवृत्तान्ते, मुद्राराक्षसे, ढुण्ढिराजकृततट्टीकायां, कथासरित्सागरे, राजतरङ्गिण्यादिषु, अर्थकथा-महावंश-दीपवंशादिबौद्धग्रन्थेषु, स्थविरावलिचरित्र-नन्दिसूत्र-ऋषिमण्डलप्रकरणवृत्त्यादिजैनग्रन्थेषु च चन्द्रगुप्तोत्पत्तिः, चाणक्येन सहाभिसम्बन्धः, नन्दराजनाशः, मौर्यवंशसंस्थापनं, शासनसमयादिकं च विविधमुपन्यस्तम् । राजव्यवस्थां च कौटल्यः (=कुटलगोत्रोद्भवः, न तु कुटिलगतिकः कौटिल्यः) स्वार्थशास्त्रे विस्तरेण प्रपञ्चितवान् ॥

२. ४ । ४ । ३५ ॥

३. कोशेऽत्र—"आ० ६ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

इत्यादि । तन्निर्देशेनैतद् विज्ञेयम् । स्वरूप-ग्रहणादुक्तानामन्येषां तद्विशेषपर्यायवचनानां ग्रहणं भवति । सूत्रेण सर्वत्र स्वरूपविधिः प्राप्तः, स एतैर्वार्त्तिकैर्निषिध्यते ॥

भा०—रूप-ग्रहणं किमर्थम् । एवं तर्हि सिद्धे सति यद् रूप-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—अस्त्यन्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति । किं पुनस्तत् । अर्थः । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । '*अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य*[1]॥' इत्येषा परिभाषा न कर्त्तव्या भवति ॥[2]

स्पष्टम् ॥ ६७ ॥

व्याकरण में शब्द का जो स्वरूप है, उसी का ग्रहण हो, किन्तु उस के वाच्यार्थ का ग्रहण न हो, शब्दशास्त्र में जो सञ्ज्ञा है, उस को छोड़के । जैसे अग्नि-शब्द को कोई कार्य विधान किया है, वह अग्नि के पर्यायवाची वह्नि-शब्द को न हो ॥

शब्द के उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है । जैसे कोई किसी से कहे कि पुस्तक लाओ, तो अक्षर लिखे हुए काग़ज़ से प्रयोजन है, कुछ 'पुस्तक' इस तीन अक्षर के शब्द का लाना और उस से काम लेना नहीं बन सकता । इसी प्रकार व्याकरण में भी शब्दों को कार्य कहे हैं । वहां उन के वाच्य अर्थों की प्रतीति होना तो सम्भव नहीं, फिर उन के वाचक अन्य शब्दों से कार्य प्राप्त होंगे । इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥

इस सूत्र के ऊपर चार वार्त्तिक हैं—

[१] **'सित्तद्विशेषा० ॥'** इस वार्त्तिक से **'विभाषा वृक्ष०[3]॥'** इस सूत्र करके वृक्षादि शब्दों के विशेषवाची शब्दों का भी ग्रहण हो, अर्थात् वृक्ष तो सामान्य शब्द है, और आम्र आदि उस के विशेषवाची शब्द हैं । वृक्ष-शब्द से उन शब्दों का भी ग्रहण होता है ॥

[२] 'पित्पर्याय० ॥' इस वार्त्तिक से 'स्वे पुषः[4]॥' इस सूत्र में स्व-शब्द के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण होता है । जैसे स्व-शब्द के पर्यायवाची धनादि शब्दों का भी ग्रहण हो ॥

[३] 'जित्पर्याय० ॥' इस वार्त्तिक से 'सभा राजा०[5]॥' इस सूत्र में राजन्-शब्द के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण होता है, राजन्-शब्द का जो स्वरूप है, उस का भी ग्रहण नहीं होता । अर्थात् इन, ईश्वर इत्यादि शब्दों का तो ग्रहण हो, राजन्-शब्द का नहीं । तथा राजन्-शब्द के विशेषवाची पुष्यमित्र, चन्द्रगुप्त इत्यादिकों का भी ग्रहण न हो ॥

[४] और **'झित्तस्य च तद्विशेषा० ॥'** इस वार्त्तिक से 'पक्षिमत्स्य०[6]॥' इस सूत्र में मत्स्य-शब्द से अपने रूप और इस के विशेषवाची शब्दों का ग्रहण हो । परन्तु मत्स्य-शब्द

---

१. पा०, प०—सू० १४ ॥
२. कोशेऽत्र—"आ० ६ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
३. २ । ४ । १२ ॥
४. ३ । ४ । ४० ॥
५. २ । ४ । २३ ॥
६. ४ । ४ । ३५ ॥

के पर्यायवाचियों का ग्रहण नहीं होता। मत्स्य-शब्द के विशेषवाची शफर और शकुल इत्यादि। तथा अजिह्म, अनिमिष इत्यादि मत्स्य-शब्द के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण नहीं होता। परन्तु 'मीन' इस एक पर्यायवाची शब्द का ग्रहण होता है॥

इन चार वार्त्तिकों से जो सिद्ध किया है, उस बात का इस सूत्र से निषेध पाता था। और इन वार्त्तिकों में सित् आदि निर्देश किये हैं, सो वृक्षादि शब्दों में समझना चाहिये॥

इस सूत्र में रूप-ग्रहण इसलिये है कि शब्द का सम्बन्धी जो अर्थ है, उस का ग्रहण न हो॥ ६७॥

अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः[१] ॥ ६८ ॥

'स्वं रूपम्' इत्यनुवर्त्तते। अणुदित्। १। १। सवर्णस्य। ६। १। च। [अ०।] अप्रत्ययः। १। १। अण् च उदित् च, अनयोः समाहारः। अण्-प्रत्याहारोऽत्र परेण णकारेण गृह्यते। उद्-इत् = कु, चु, टु, तु, पु [इति] पञ्चवर्गाः। अण्-प्रत्याहार उदिच्च सवर्णस्य ग्राहकौ भवतः, स्वस्य च रूपस्य, अणुदित्प्रत्ययं वर्जयित्वा। 'अस्य च्वौ[२]॥' [इत्यत्र] आकारस्यापि ग्रहणम्। 'इको गुणवृद्धी[३]॥' [इति] ईकार-ऊकार-ॠकाराणां दीर्घाणामपि गुणवृद्धी भवतः। उदित्—'चुटू[४]॥' [इत्यत्र] चवर्गटवर्गौ गृह्येते। 'अट्कुप्वाङ्नुम्-व्यवायेऽपि[५]॥' [इत्यत्र] कवर्गपवर्गौ गृह्येते। ['तोर्लि[६]॥' इत्यत्र तवर्गो गृह्यते॥]

'अप्रत्ययः' इति किमर्थम्। *'सनाशंसभिक्ष उः[७]॥'* इत्युकारस्य दीर्घस्य ग्रहणं न भवति॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यद् 'अप्रत्ययः' इति प्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः, भवत्येषा परिभाषा—*'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न[८]॥'* **इति॥[९]**

अस्मिन् सूत्रे प्रत्यय-ग्रहणं यौगिकं, नैव धातुप्रातिपदिकेभ्यो विधीयमानाः। प्रतीयतेऽसौ प्रत्ययः। तेनेयं परिभाषा निस्सरति—'भाव्यमानेन०[८]॥' भा-

---

१. स०—सू० ७८॥
२. ७। ४। ३२॥
३. १। १। ३॥
४. १। ३। ७॥
५. ८। ४। २॥
६. ८। ४। ६०॥
७. ३। २। १६८॥
८. पा०, प०—सू० १६॥
९. अ० १। पा० १। आ० ६॥

च्यतेऽसौ भाव्यमानः = दीर्घः, स ह्रस्वान् प्लुतांश्च वर्णान् न गृह्णीयात् । अर्थाद् यादृशा वर्णा अक्षरसमाम्नाय उपदिष्टाः, त एव सवर्णानां ग्राहका भवन्ति, नान्ये । तेनेदमपि सिद्धं भवति—आकारस्य कार्यं विधीयमानं ह्रस्वप्लुतयोर्न भवति । अर्थादक्षरसमाम्नायस्था वर्णाः कारणरूपाः, तेऽन्यान् गृह्णन्ति, दीर्घादयश्च कार्यरूपाः, ते ग्राहका न भवन्ति, ग्राह्या एव भवन्तीति परिभाषाशयः ॥ ६८ ॥

'अणुदित्' अण्-प्रत्याहार और उदित्, ये दोनों अपने 'सवर्णस्य' सवर्णों के ग्रहण करने वाले हों । अर्थात् इन को जो कार्य विधान किया हो, वह इन के सवर्णो 'च' और इन सब को हो । [यहां] पूर्व सूत्र से 'स्वं रूपम्' इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है । अण्-प्रत्याहार इस सूत्र में पर णकार से लिया जाता है, और उदित् करके कु, चु, टु, तु, पु, इन पांच अक्षर [रों का ग्रहण होता है ।] जैसे— 'अस्य च्वौ[1]॥' यहां अकार को कार्य कहा है, सो आकार को भी होता है । तथा उदित्— 'चुटू[2]॥' यहां चवर्ग टवर्ग का ग्रहण होता है । 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि[3]॥' यहां कु-पु-शब्दों से कवर्ग पवर्ग का ग्रहण होता है । [तथा 'तोर्लि[4]॥' यहां तु-शब्द से तवर्ग का ग्रहण होता है ॥]

इस सूत्र में अप्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि 'अ, उ' इन प्रत्ययों में दीर्घ वर्णों का ग्रहण न हो ॥

इस सूत्र में प्रत्यय-शब्द यौगिक है, अर्थात प्रतीत हो, वह प्रत्यय कहाता है । इसी अर्थ से यह परिभाषा निकली है—'भाव्यमानेन० ॥' भाव्यमान उस को कहते है, जो सूत्रों से किया हो । जैसे दीर्घ अक्षर सूत्रों से किये जाते हैं, वे सवर्ण के ग्राहक नहीं हों । अक्षरसमाम्नाय में जो वर्ण पढ़े हैं, वे कारणरूप होते हैं । वे ही सवर्ण के ग्राहक अर्थात् अकारादि वर्ण स्वयं सिद्ध हैं । उन एक २ के जितने २ भेद 'तुल्यास्यप्रयत्नं०[5] ॥' इस सूत्र की व्याख्या में लिखे हैं, उन सब के ग्राहक होते हैं । और दीर्घ आदि भेद सूत्रों से सिद्ध होते हैं, इससे कार्यरूप समझे जाते हैं । वे किसी को ग्रहण नहीं कर सकते । [जहां] कहीं दीर्घ वर्ण को कार्य विधान किया है, वह उसी को होगा, प्लुत और ह्रस्व आदि को नहीं । ह्रस्व के विधान में सब का ग्रहण होगा ॥ ६८ ॥

तपरस्तत्कालस्य[6] ॥ ६९ ॥

'अण्' नानुवर्त्तते । 'स्वं रूपम्' इत्यनुवर्त्तते । त-परः । १ । १ । तत्कालस्य । ६ । १ । त-परो वर्णः तत्कालस्य स्वस्य रूपस्य ग्राहको भवति ।

तः परो यस्मात् सोऽयं त-परः ।

तादपि परः त-परः ।

---

१. ७ । ४ । ३२ ॥
२. १ । ३ । ७ ॥
३. ८ । ४ । २ ॥
४. ८ । ४ । ६० ॥
५. १ । १ । ९ ॥
६. स०—सू० ७६ ॥

'अतो भिस ऐस्[1]॥' 'अतो लोपः[2]॥' [इति] आकारस्य ग्रहणं न भवति कालाधिक्यात् । 'आत औ णलः[3]॥' [इति] आकारे तपरकरणमुदात्तानुदात्तस्वरितानां ग्रहणार्थम् । ह्रस्वेषु वर्णेषु पूर्वेण सूत्रेण सवर्णग्राहकत्वं सामान्येन प्राप्तं, तदनेन सूत्रेण तपरेषु ह्रस्वेषु कालाधिकयोर्दीर्घप्लुतयोर्ग्रहणं न भवति, परन्तु तत्कालानामुदात्तानुदात्तस्वरितानां सवर्णानां ग्रहणं भवति । दीर्घेषु तपरेषु पूर्वेण सूत्रेण किमपि न प्राप्तम् । अनेन किञ्चिद् विधीयते, किञ्चित् प्रतिषिध्यते । दीर्घतपरविधीयमानेषु सूत्रेषूदात्तानुदात्तस्वरितानामपि ग्रहणं भवतीति विधीयते, दीर्घेषु तपरेषु ह्रस्वप्लुतयोर्ग्रहणं कालाधिक्यान्न भवतीति प्रतिषिध्यते ॥ ६९ ॥

'तपरः' तकार जिस से परे हो, वा तकार से परे जो वर्ण हो, वह 'तत्कालस्य' जैसा पढ़ा हो, उतने ही काल और अपने रूप का बोधक हो । अर्थात् तपर वर्ण ह्रस्व को कार्य विधान किया, तो दीर्घ और प्लुत को न हो । जैसे—अत् । यहां आकार का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उस के उच्चारण में द्विगुण काल लगता है । तथा सूत्रों में आकार जो तपर पढ़ा है, उस का प्रयोजन यह है कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का भी ग्रहण हो, क्योंकि इन का कालभेद नहीं । ह्रस्व स्वरों में पूर्व सूत्र से सामान्य करके सवर्ण-ग्रहण प्राप्त था, सो इस सूत्र से ह्रस्व तपर स्वरों में अधिक काल वाले दीर्घ, प्लुत का निषेध किया है । तथा पूर्व सूत्र से दीर्घ स्वरों में सवर्ण-ग्रहण प्राप्त नहीं था, सो इस सूत्र से उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, जो एक काल वाले सवर्णी हैं, इन का ग्रहण होता है, अधिक न्यून काल वाले वर्णों का नहीं ॥ ६९ ॥

आदिरन्त्येन सहेता[4]॥ ७० ॥

'स्वं रूपम्' इत्यनुवर्त्तते । आदिः । १ । १ । अन्त्येन । ३ । १ सह । [अ० ।] इता । ३ । १ । आदिरन्त्येन इता = इत्सञ्ज्ञकेन वर्णेन सह, तयोर्मध्यस्थानां वर्णानां, स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति । तद्यथा—अण् । अक् । अच् इत्यादिप्रत्याहारग्रहणेषु सूत्रेषु णकार-ककार-चकारपर्यन्तानां वर्णानां ग्रहणं भवति ॥

'अन्त्येन' इति किमर्थम् । 'सुट्' इति तृतीयैकवचने 'टा' इत्यनेन ग्रहणं न भवति ॥

> भा०—सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यमेतत् । तद्यथा सम्बन्धिशब्दाः—मातरि वर्त्तितव्यम् । पितरि शुश्रूषितव्यमिति । न चोच्यते 'स्वस्यां मातरि, स्वस्मिन् पितरि' इति । सम्बन्धाच्च

१. ७ । १ । ९ ॥
२. ६ । ४ । ४८ ॥
३. ७ । १ । ३४ ॥
४. स०—पृ० १६ ॥

गम्यते—या यस्य माता, यो यस्य पितेति । एवमिहापि 'आदिः, अन्त्यः' इति सम्बन्धिशब्दावेतौ । तत्र सम्बन्धादेतदवगन्तव्यम्—यं प्रति यः 'आदिः', 'अन्त्यः' इति च भवति, तस्य ग्रहणं भवति, स्वस्य च रूपस्येति ॥[१]

एतत्कथनेन तन्मध्यानामिति वचनमन्तरैव तत्प्रयोजनं सिध्यति ॥ ७० ॥

'आदिः' आदि का जो वर्ण है, वह 'अन्त्येन इता' अन्त्य हल् वर्णों के साथ मध्यस्थ वर्णों और अपने रूप का ग्रहण करने वाला हो । उदाहरण[२]—अण् । अक् । अच् । यहां 'अकार' [यह] एक आदि वर्ण णकार, ककार और चकार पर्यन्त मध्यस्थ और अपने रूप का ग्रहण करता है ॥

इस सूत्र में अन्त्य-ग्रहण इसलिये है कि 'सुट्' यहां तृतीया विभक्ति के टकारपर्यन्त प्रत्याहार न समझा जाय ॥

इस सूत्र में मध्य-शब्द का ग्रहण इसलिये नहीं किया कि आदि और अन्त्य ये दोनों सम्बन्धिशब्द हैं । जिस का आदि और अन्त होगा, उसी का ग्रहण हो जावेगा ॥ ७० ॥

येन विधिस्तदन्तस्य[३] ॥ ७१ ॥

परिभाषेयम् । येन । ३ । १ । विधिः । १ । १ । तदन्तस्य । ६ । १ । सोऽन्ते यस्य, तत् तदन्तं, तस्य । येन विशेषणेन विधिः, सोऽन्ते यस्य, तस्य स्वस्य रूपस्य च कार्यं भवति । 'अचो यत्[४]॥' [इति] अजन्ताद् धातोर्यद् भवति । 'एरच्[५]॥' [इति] इवर्णान्ताद् धातोः अच्-प्रत्ययो भवति ॥

भा०—*समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः*[६]॥

समासविधौ तावत्—द्वितीया श्रितादिभिः समस्यते । कष्टश्रितः । नरकश्रितः । कष्टं परमाश्रित इत्यत्र मा भूत् । प्रत्ययविधौ—नडस्यापत्यं = नाडायनः । इह न भवति—सूत्रनडस्यापत्यं = सौत्रनाडिः ॥

किमविशेषेण । नेत्याह । *उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्*[६]॥ उगिद्-ग्रहणम्—'*उगितश्च*[७]॥' भवती । अतिभवती । वर्ण-ग्रहणम्—'*अत इञ्*[८]॥' दाक्षिः । प्लाक्षिः ॥

---

१. कोशेऽत्र—"आ० १ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

२. कोश में "उ०" इस प्रकार से है ॥

३. स०—सू० ८० ॥

४. ३ । १ । ९७ ॥

५. ३ । ३ । ५६ ॥

६. वार्त्तिकमिदम् ॥

७. ४ । १ । ६ ॥

८. ४ । १ । ९५ ॥

अस्ति चेदानीं कश्चित् केवलोऽकारः प्रातिपदिकं यदर्थो विधिः स्यात् । अस्तीत्याह । अततेर्डः, अः, तस्यापत्यमिः ॥[1]

समासविधौ तदन्तविधिर्न भवति । 'कष्टं श्रितः' इति समासो विधीयते । 'कष्टं परमश्रितः' इति न भवति । प्रत्ययविधौ तदन्तविधिर्न भवति । गर्ग-प्रातिपदिकाद् यञ् भवति । गर्गान्तान्न भवति ।

(प०) *तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते*[2]॥

तद्यथा—अनेका नदी गङ्गां यमुनां च प्रविष्टा गङ्गा-यमुना-ग्रहणेन गृह्यते । देवदत्तास्थो गर्भो देवदत्ता-ग्रहणेन गृह्यते ॥[1]

अनया परिभाषयाऽकज्वतः प्रातिपदिकान् प्रातिपदिकाश्रयो विधिर्भवति । यथा सर्व-शब्दादकचि कृते 'सर्वके, विश्वके' इति जसः स्थाने शीभावो न प्राप्नोति । अनया परिभाषया भवति ॥

(प०) *यस्मिन् विधिस्तदादावल्-ग्रहणे*[3]॥

किं प्रयोजनम् । *'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ'*[4]॥ इति इहैव स्यात् । श्रियौ । भ्रुवौ । 'श्रियः, भ्रुवः' इत्यत्र न स्यात् ॥

यस्मिन् परे कार्यं विधीयते, तच्छब्दरूपमादौ यस्य, तस्मिन् कार्यं भवतीति बोध्यम् । यथा अचि कार्यमजादौ भवति । झलि कार्यं झलादौ भवति ॥ ७१ ॥

'**येन**' जिस विशेषण करके '**विधिः**' विधि हो, '**तदन्तस्य**' वह जिस के अन्त में हो, उस को कार्य हो । जैसे—'**अचो यत्** ॥' अच् को कार्य विधान है, सो अजन्त को होता है ॥

'**समास०** ॥' इस वार्त्तिक से समासविधान और प्रत्ययविधान में तदन्तविधि का प्रतिषेध है । परन्तु '**भवती, अतिभवती, इः**' उगिदन्त के साथ समास और वर्ण से प्रत्ययविधि में तो तदन्तविधि अवश्य हो जाय ॥

'**तदेकदेश०** ॥' इस परिभाषा का प्रयोजन यह है कि बहुत के बीच में थोड़ा मिलता है, वह बहुत के ही ग्रहण से ग्रहण किया जाता है । जैसे लोक में गर्भवती स्त्री का गर्भ उसी स्त्री के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है पृथक् नहीं गिना जाता, इसी प्रकार व्याकरण में भी । '**सर्वके**' यहां सर्व-शब्द में अकच्-प्रत्यय हुआ है । उस का ग्रहण सर्व शब्द के साथ होता है, पृथक् नहीं ॥

---

१. कोशेऽत्र—"आ० ६ [व्या०]" इत्युद्धरण-स्थलम् ॥
२. पा०—सू० ७८ ॥
३. वार्त्तिकमिदम् ॥ पा०, प०—सू० ३३ ॥
४. ६ । ४ । ७७ ॥

तथा 'यस्मिन् विधि० ॥' इस दूसरी परिभाषा से यह प्रयोजन है कि जिस के परे [होने से] विधि हो, वह जिस के आदि में हो, उस के [परे होने से] कार्य समझना चाहिये । जैसे अच् के परे [होने से कार्य] होता है, तो अजादि [के] परे [होने से] समझना चाहिये ॥ ७१ ॥

[अथ वृद्ध-सञ्ज्ञाधिकारः]

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्[1] ॥ ७२ ॥

वृद्धिः । १ । १ । यस्य । ६ । १ । अचाम् । ६ । ३ । आदिः । १ । १ । तत् । १ । १ । वृद्धम् । १ । १ । यस्य समुदायस्य अचां मध्य आद्यज् वृद्धिः, तद् वृद्ध-सञ्ज्ञं भवति । शालीयः । मालीयः । शाला-शब्द आदिवृद्धिः । तस्य वृद्ध-सञ्ज्ञाकरणाद् 'वृद्धाच्छः[2] ॥' इति छः प्रत्ययः । [एवमेव 'मालीयः' इत्यत्रापि ॥]

वृद्धि-ग्रहणं किम् । पर्वत-शब्दस्य वृद्ध-सञ्ज्ञा न भवति ॥

'यस्य' इति सञ्ज्ञिनो निर्देशः ॥

'अचाम्' इति किमर्थम् । अज्-ग्रहणमन्तरा 'औपगवीयाः, ऐतिकायनीयाः' इहैव स्यात । ['गार्गीयाः, वात्सीयाः' इतीह न स्यात् ॥]

आदि-ग्रहणं किमर्थम् । सभासन्नयन-शब्दस्य वृद्ध-सञ्ज्ञा मा भूत् ॥

अथ वार्त्तिकानि ॥

[१] *वा नामधेयस्य*[3] ॥

वृद्ध-सञ्ज्ञा वक्तव्या । देवदत्तीयाः । दैवदत्ताः ॥

[२] *गोत्रोत्तरपदस्य च*[4] ॥

कम्बलचारायणीयाः[5] । ओदनपाणिनीयाः । घृतरौढीयाः ॥

किमविशेषेण । नेत्याह ॥

[३] *जिह्वाकात्य-हरितकात्यवर्जम्*[4] ॥

जैह्वाकाताः । हारितकाताः[6] ॥[7]

---

१. स्त्रै०—सू० ३४५ ॥

२. ४ । २ । ११४ ॥

३. चा० श०—"नृनाम्नो वा ॥" (३ । २ । २६)

४. चा० श०—"गोत्रान्तात्तद्वदजिह्वाकात्यहरितकात्यात् ॥" (३ । २ । २७)

५. कम्बलप्रियस्य चारायणस्य शिष्या इत्यर्थः । उपरिष्टादप्येवमेव ॥

६. अत्र शब्दकौस्तुभे—"कत-शब्दो गर्गादिः । जिह्वाचपलो हरितवर्णश्च (पदमञ्जर्याम्—"हरितभक्षश्च") कात्यः, तस्य छात्रा इत्यर्थेऽण् एव भवति ।"

७. कोशेऽत्र—"आं० ६ [न्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

'गोत्रोत्तरपदस्य' इति द्वितीयवार्त्तिके वा-शब्दो नानुवर्त्तते । जिह्वाकात्य-शब्दो गोत्रप्रत्ययान्तः ॥ ७२ ॥

'यस्य' जिस समुदाय के 'अचाम्' अचों में से 'आदिः' आदि अच् 'वृद्धिः' वृद्धि-सञ्ज्ञक हो, 'तत्' उस समुदाय की 'वृद्धम्' वृद्ध-सञ्ज्ञा हो । शाला-माला-शब्दों में अचों में आदि अच् 'आ' वृद्धि है । [अतः] उन की वृद्ध-सञ्ज्ञा होने से तद्धित में छ-प्रत्यय होता है ॥

'वा नाम० ॥' इस वार्तिक से सञ्ज्ञाशब्दों की विकल्प से वृद्ध-सञ्ज्ञा होती है ॥

'गोत्रोत्तर० ॥' इस दूसरे वार्तिक से गोत्रप्रत्ययान्त उत्तर पद जिन के, उन शब्दों की वृद्ध-सञ्ज्ञा नित्य हो । परन्तु [तीसरे वार्तिक से] जिह्वाकात्य और हरितकात्य इन दो शब्दों की वृद्ध-सञ्ज्ञा न हो ॥

इस सूत्र में आदि-शब्द इसलिये है [कि] 'सभासन्नयन' इस शब्द की वृद्ध-सञ्ज्ञा न हो ॥ ७२ ॥

त्यदादीनि च[1] ॥ ७३ ॥

[त्यदादीनि । १ । ३ । च । अ० ।] त्यदादीनि प्रातिपदिकानि सर्वादान्तर्गतानि वृद्ध-सञ्ज्ञानि भवन्ति । त्यदीयम्[2] । तदीयम् । त्वदीयम् । मदीयम् । वृद्ध-सञ्ज्ञत्वाच्छः प्रत्ययः ॥ ७३ ॥

'त्यदादीनि' त्यदादि प्रातिपदिक सर्वादिगण में पड़े हैं, इन की ['च' भी] वृद्ध-सञ्ज्ञा हो। त्वदीयम्, तदीयम् इत्यादि शब्दों में वृद्ध-सञ्ज्ञा के होने [से] छ-प्रत्यय हो गया ॥७३॥

एङ् प्राचां देशे[3] ॥ ७४ ॥

'यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्' इति मण्डूकप्लुतगत्यानुवर्त्तते । 'वृद्धिः' इति निवृत्तम् । [एङ् । १ । १ । प्राचाम् । ६ । ३ । देशे । ७ । १ ।] यस्य समुदायस्याचां मध्य आदिरेङ् तद् वृद्ध-सञ्ज्ञं भवति, प्राचीनानां पूर्वदेशनिवासिनामाचार्याणां देशाभिहिते । गोनर्दीयः । गोनर्दः[4] प्राचां देशः, तत्र भवो गोनर्दीयः । एणीपचने भव एणीपचनीयः ॥

---

१. स्वै०—सू० ३५० ॥
चा० श०—"त्यदादिभ्यः ॥"
(३ । २ । २८)

२. उदाहरणान्यनुसन्धेयानि ॥

३. चा० श०—"एङाद्यचः प्राग्देशात् ॥"
(३ । २ । २५)

४. वराहमिहिरस्तु गोनर्दान् दक्षिणस्यां दिशि गणितवान्—
"कङ्कटङ्कणवनवासिशिबिकफणिकारकोङ्कणाभीराः।
आकरवेणावन्तकदशपुरगोनर्दकेरलकाः ॥"
(बृहत्संहितायां १४ । १२ ॥ अपि च ६ । १३ ॥ ३३ । २२)

'एङ्' इति किम् । आहिच्छत्रः[1] । अत्र वृद्ध-सञ्ज्ञाऽभावाच्छो न भवति ॥

'प्राचाम्' इति किम् । क्रोडो नामोदीचां ग्रामः, तत्र वृद्ध-सञ्ज्ञाभावाच्छो न भवति ॥

'देशे' इति किम् । शरावत्यां[2] भवा मत्स्याः = शारावताः ॥

भा०—शैषिकेष्विति वक्तव्यम् । सैपुरिकी, सैपुरिका । स्कौनगरिकी, स्कौनगरिका ॥[3]

सेपुर-स्कोनगरौ वाहीकग्रामौ । ताभ्यां 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' इति ठञ्ञिठौ । 'शैषिकेषु' इति वचनाच्छेषाधिकारे यानि वृद्धकार्याणि, तान्येव स्युः ॥ ७४ ॥

[इति वृद्ध-सञ्ज्ञाधिकारः]

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

'यस्य' जिस समुदाय के **'अचाम्'** अचों के **'आदिः'** आदि में **'एङ्'** एकार, ओकार हों, उस की वृद्ध-सञ्ज्ञा हो, 'प्राचां' पूर्व के रहने वाले आचार्यों के 'देशे' देश वाच्य हों, तो ।

---

१. शिलालेखादिषु "अहिच्छेत्र, आहिचेत्र, अहिचत्र, अभिछत्र" इति पाठान्तराणि । अस्ति च यमुनोपकण्ठस्थिते प्रभासग्रामे (प्राकृते—पभोसा) महाराजविक्रमसमकालीनः प्राकृतश्लिष्टो गुहान्तर्लेखः—"अधिछत्राया राञो शोनकायनपुत्रस्य वंगपालस्य पुत्रस्य राञो तेवणीपुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण वैहिदरीपुत्रेण आषाढसेनेन कारितं [॥]"

२. शराः तृणविशेषाः सन्त्यस्यामिति । (शर+मतुप् । "शरादीनां च ॥" ६ । ३ । १२० ॥ इति दीर्घः)

महाभारते भीष्मपर्वणि—

"चर्म्मण्वतीं चन्द्रभागां हस्तिसोमां दिशं तथा ।"
शरावतीं पयोष्णीं च परां भीमरथीमपि ॥"

(जम्बुखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतीयनद्यादिकथनम्—श्लो० ३२७)

पदमञ्जर्याम्—"शरावती नाम नदी उत्तरपूर्वाभिमुखी । तस्या दक्षिणपूर्वस्यां दिशि व्यवस्थितो देशः प्राग्देशः, उत्तरापरस्यामुदग्देश, तौ शरावती विभजते । तया मर्यादया तयोर्विभागो ज्ञायते ।"

अत्र नागेशः—"ऐशानीतो नैर्ऋत्यां पश्चिमाब्धिगामिनी सा इत्येके ।"

रघुवंशे (१५ । ९७) लवस्यैतन्नाम्नी राजधानी—

"स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् ।
शरावत्यां सतां सूक्तैः जनिताश्रुलवं लवम् ॥"

३. कोशेऽत्र—"भा० ६ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

४. अत्र नागेशः—

"वाहीकलक्षणं च—

'पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः ।
वाहीका नाम ते देशा न तत्र दिवसं वसेत् ॥'

इति कर्णपर्वणि । एवं च धर्मबहिर्भूतत्वाद् वाहीकत्वम् । 'शतद्रूर्विपाशा इरावती वितस्ता चन्द्रभागा इति पञ्च नद्यः, सिन्धुः षष्ठः । तन्मध्यदेशो वाहीकः' इति तद्व्याख्यातारः ।"

पणीपचनीयः । गोनर्दीयः । पणीपचन और गोनर्द देश वाची शब्दों की वृद्ध-सञ्ज्ञा होने से छ-प्रत्यय होता है ॥

इस सूत्र में एङ्-ग्रहण इसलिये है कि आकार जिस के आदि हो, उस की वृद्ध-सञ्ज्ञा न हो ॥

प्राचां-ग्रहण इसलिये है कि उत्तर के देश में न हों ॥

देश [-ग्रहण] इसलिये है [कि] 'शारावताः' यहां शरावती नदी का नाम है, इससे वृद्ध-सञ्ज्ञा न हुई ॥

'शैषिके० ॥' इस वार्त्तिक से शेषाधिकार में ही वृद्ध-सञ्ज्ञा हो ॥ ७४ ॥

[यह वृद्ध-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ]

यह प्रथमाध्याय का प्रथम पाद पूरा हुआ ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

[अथातिदेशसूत्राणि]

गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्[1] ॥ १ ॥

अतिदेशोऽयम् । गाङ्-कुटादिभ्यः । ५ । ३ । अञ्णित् । १ । १ । ङित् । १ । १ । गाङिति इङः स्थाने य आदेशः, तस्य ग्रहणम् । गाङ् च कुटादयश्च[2], तेभ्यः । ञश्च णश्च = ञणौ । ञणौ इतौ यस्य, स ञ्णित् । न ञ्णित् = अञ्णित् । ङ इत् यस्य, स ङित् । गाङ्-आदेशात् कुटादिभ्यो धातुभ्य परे अञ्णितः प्रत्यया ङिद्वद् भवन्ति । अध्यगीष्ट । अध्यगीष्यत । अत्र गाङ्-आदेशात् परौ सिच्-स्य-प्रत्ययौ ङिद्वद् भवतः, तस्माद् 'घुमास्थागापा०[3] ॥' इति ईकारादेशः । कुटिता । कुटिष्यति । कुटितव्यम् । पुटिता । पुटिष्यति । पुटितव्यम् । अत्र ङिद्वद्भावाल्लघूपधगुणप्रतिषेधः ॥ १ ॥

यह अतिदेशसूत्र है । अतिदेश का स्वरूप पूर्व लिख दिया है । 'गाङ्-कुटादिभ्यः' इङ् धातु के स्थान में जो गाङ्-आदेश और कुटादि धातुओं से परे 'अञ्णित्' ञित्, णित् से अन्य प्रत्यय, सो 'ङित्' ङित्-प्रत्ययों के तुल्य हों । अर्थात् ङित्-सञ्ज्ञक प्रत्ययों के परे जो कार्य होता है, वह उन के परे भी हो । अध्यगीष्ट । यहां जो इङ् धातु के स्थान में गाङ्-आदेश हुआ है, उस से परे सिच्-प्रत्यय के ङिद्वत् होने से आकार को ईकार हुआ है । कुटिता । कुटिष्यति । यहां कुट् धातु से परे तास् और स्य-प्रत्यय [को] ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ ॥ १ ॥

विज इट्[4] ॥ २ ॥

'ङिद्' इत्यनुवर्त्तते । विजः । ५ । १ । इट् । १ । १ । 'ओविजी भय-

---

१. आ०—सू० ३४५ ॥
चा० श०—"कुटादीनामञ्णिति ॥ गाङ इत्स्ये च ॥" (६ । २ । १३, २८)
२. तुदादिगणे "कुट कौटिल्ये" (७३) इत्येतदारभ्य "कुङ् (कूङ्) शब्दे" (१०८) इत्येतद् यावत् ३६ धातवः ॥
३. ६ । ४ । ६६ ॥
४. आ०—सू० ४२८ ॥
चा० श०—"विज इटि ॥" (६ । २ । १४)

चलनयोः' । ' विज्-धातोः पर इडादिः प्रत्ययो ङिद्वद् भवति । उद्विजिता । उद्विजितुम् । उद्विजितव्यम् । ङित्त्वाद् गुणो न भवति ॥ २ ॥

'विजः' विज् धातु से परे जो 'इट्' इडादि प्रत्यय, सो 'ङित्' ङिद्वत् हो । उद्विजिता । यहां ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ ॥ २ ॥

विभाषोर्णोः[2] ॥ ३ ॥

'इट्' इत्यनुवर्त्तते । अप्राप्तविभाषेयम् । विभाषा । ऊर्णोः । ५ । १ । ऊर्णुञ् आच्छादने[3] इत्यस्माद् धातोः पर इडादि-प्रत्ययो विभाषा ङिद्वद् भवति । ऊर्णुविता । ऊर्णविता । ङिद्वत्पक्षे गुणाभावाद् 'अचि श्नुधातु०[4]॥' इत्युवङ्-आदेशः । ङिद्वदभावे गुणः ॥

'इट्' इति किम् । ऊर्णवनीयम् । अत्र अनीयरि प्रत्यये गुणप्रतिषेधो मा भूत् ॥३॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है । 'ऊर्णोः' ऊर्णुञ् धातु से परे जो 'इट्' इडादि प्रत्यय, सो 'ङित्' ङिद्वत् विकल्प करके हो । ऊर्णुविता । ऊर्णविता । यहां एक पक्ष में ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ, और दूसरे पक्ष में ङिद्वत् नहीं होने से गुण हो गया ॥ ३ ॥

सार्वधातुकमपित्[5] ॥ ४ ॥

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वद् भवति । कुरुतः । हतः । 'कुरुतः' इति ङित्त्वाद् गुणाभावः । 'हतः' इति ङित्त्वादनुनासिकलोपः ॥

'सार्वधातुकम्' इति किमर्थम् । 'कर्त्ता, हर्त्ता' इत्यपिदार्द्धधातुकं ङिद्वद् मा भूत् ॥

'अपित्' इति किम् । 'करोति' इति ङित्-सञ्ज्ञा मा भूत् ॥ ४ ॥

इति ङिद्वदधिकारः ॥

'अपित्' अपित् जो 'सार्वधातुकम्' सार्वधातुक-सञ्ज्ञक प्रत्यय हैं, सो 'ङित्' ङिद्वत् हों । कुरुतः । यहां तस्-प्रत्यय के ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ । हतः । यहां तस्-प्रत्यय के ङिद्वत् होने से हन् धातु के नकार का लोप हुआ है ॥

इस सूत्र में सार्वधातुक-ग्रहण इसलिये है कि 'कर्त्ता, हर्त्ता' यहां ङिद्वद्भाव न हो ॥

अपित्-ग्रहण इसलिये है कि 'करोति' यहां गुण का निषेध न हो ॥ ४ ॥

[यह ङिद्वद् अधिकार पूरा हुआ]

---

१. धा०—तु० ६ ॥

२. अा०—सू० ३२७ ॥
चा० श०—"वोर्णोः ॥"
(६ । २ । १५)

३. धा०—अदा० ३० ॥

४. ६ । ४ । ७७ ॥

५. अा०—सू० ६७ ॥
चा० श०—"तिङ्शित्यपिदाशीर्लिङि ॥
शित्यपिति ॥ तिङि हल्यपिति ॥"
(क्रमेण ६ । २ । ८ ॥ ५ । ३ । २४, ५८)

अथ किदतिदेशाधिकारः ॥

असंयोगाल्लिट् कित्[1] ॥ ५ ॥

'अपिद्' इत्यनुवर्त्तते । असंयोगात् । ५ । १ । लिट् । १ । १ । कित् । १ । १ । असंयोगान्ताद् धातोः परो [अपित्] लिट्-प्रत्ययः किद्वद् भवति । विभिदतुः । विभिदुः । कित्त्वाद् गुणाभावः ॥

'असंयोगाद्' इति किम् । ममन्थतुः । ममन्थुः । किद्वन्निषेधादनुनासिक-लोपो न भवति ॥

'अपित्' [इति] किम् । विभेद ॥ ५ ॥

'असंयोगाद्' संयोग जिस के अन्त में न हो, उस धातु से परे जो **'अपित्'** पित् रहित **'लिट्'** लिट्-प्रत्यय, वह **'कित्'** किद्वत् हो । **विभिदतुः** । यहां किद्वत् होने से गुण नहीं हुआ ॥

असंयोग-ग्रहण इसलिये है कि **'ममन्थतुः'** यहां नकार का लोप न हो, और **'अपित्'** इसलिये कि **'विभेद'** यहां गुण का निषेध न हो ॥ ५ ॥

इन्धिभवतिभ्यां च[2] ॥ ६ ॥

इन्धिश्च भवतिश्च, ताभ्यां परोऽपित् लिट् किद्वद् भवति । **पुत्र ईधे अथर्वणः**[3] । अत्र कित्त्वादनुनासिकलोपः । बभूव । बभूविथ । पित्त्वात् पूर्वं गुणः प्राप्नोति ॥

भा०—श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनामिति वक्तव्यम् । श्रेथतुः । श्रेथुः । ग्रेथतुः । ग्रेथुः । देभतुः । देभुः । परिषस्वजे । परिषस्वजाते[4] ।

कित्त्वान्नलोपः ॥ ६ ॥

---

१. आ०—सू० १३७ ॥
चा० श० "तिङ्शित्यपिदाशीर्लिङि ॥"
(६ । २ । ८)

२. आ०—सू० ४४ ॥
चा० श०—"लिटीन्धिश्रन्थग्रन्थाम् ॥ दम्भः स्तानि च ॥ स्वञ्जः ॥"
(५ । ३ । २५–२७)

३. ऋ०—६ । १६ । १४ ॥
वा०—११ । ३३ ॥
तै०—३ । ५ । ११ । ४ ॥
मै०—२ । ७ । ३ ॥
का०—१६ । ३ ॥
श० ब्रा०—६ । ४ । २ । ३ ॥

४. नेदं वार्त्तिकं तदुदाहरणानि वात्र भाष्य उपलभ्यन्ते । पूर्वटिप्पणोदाहृतचान्द्रसूत्रेभ्यस्तु शक्यते अनुमातुं भाष्ये पुराऽऽसीदयं पाठः, पश्चाद् लुप्त इति । चान्द्रवृत्तावुदाहरणान्यपि—
"श्रेथतुः । श्रेथुः । ग्रेथतुः । ग्रेथुः । देभतुः । देभुः । परिषस्वजे ।" (५ । ३ । २५, २६, २७) इति तान्येव ॥

'इन्धि-भवतिभ्याम्' इन्धि धातु और भू धातु से परे जो 'अपित्' अपित् 'लिट्' लिट्-प्रत्यय, सो 'कित्' किद्वत् हो । ईधे । यहां किद्वत् होने से नकार का लोप हुआ है । बभूव । यहां किद्वत् होने से गुण नहीं हुआ ॥

'श्रन्थि-ग्रन्थि० ॥' इस वार्त्तिक में [संख्यात्] चार धातुओं से लिट् को किद्वत् होने से नकार का लोप होता है ॥ ६ ॥

मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा[1] ॥ ७ ॥

'न क्त्वा सेट्[2] ॥' इति सामान्येन कित्त्वप्रतिषेधे प्राप्ते मृडादिभ्यः कित्त्वं विधीयते । मृडादीनां समाहारद्वन्द्वः । मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः क्त्वा-प्रत्ययः किद्वद् भवति । मृडित्वा । मृदित्वा । गुधित्वा । कुषित्वा । क्लिशित्वा । उदित्वा । उषित्वा । [अत्र] कित्त्वाद् गुणाभावः ॥ ७ ॥

'न क्त्वा सेट्[2] ॥' यह सूत्र इसी पाद में आगे आवेगा । उस से सामान्य धातुओं से परे क्त्वा सेट् किद्वत् नहीं होता, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ है । 'मृड...वसः' मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद, वस, इन सात धातुओं से परे जो 'क्त्वा' क्त्वा, सो 'कित्' किद्वत् हो । 'मृडित्वा' इत्यादि उदाहरणों में किद्वत् होने से गुण नहीं होता ॥ ७ ॥

रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः सँश्च[3] ॥ [८ ॥]

रुदादीनां समाहारद्वन्द्वः । रुद, विद, मुष, ग्रहि, स्वपि, प्रच्छ, इत्येतेभ्यः परौ क्त्वा-सन-प्रत्ययौ किद्वद् भवतः । रुदित्वा । रुरुदिषति । विदित्वा । विविदिषति । मुषित्वा । मुमुषिषति । गृहीत्वा । जिघृक्षति । सुप्त्वा । सुषुप्सति । पृष्ट्वा । पिपृच्छिषति । [एतेषां] रुदादीनां कित्त्वाद् गुणप्रतिषेधः । ग्रहादीनां कित्त्वात् सम्प्रसारणम् । 'किरश्च पञ्चभ्यः[4] ॥' इति सनि प्रच्छेरिडागमः ॥

भा०—स्वपि-प्रच्छयोः सनर्थं ग्रहणम् । किदेव हि क्त्वा ।[5]

अनिट्त्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥

'रुद...प्रच्छः' रुद, विद, मुष, ग्रह, स्वप, प्रच्छ, इन धातुओं से परे जो 'सन्' सन् 'च' और 'क्त्वा' क्त्वा-प्रत्यय, सो 'कित्' किद्वत् हों । इससे रुदादि तीन धातुओं में तो कित् होने से गुण का निषेध और ग्रहादि तीन धातुओं में कित् होने से सम्प्रसारण होता है ।

---

१. आ०—सू० १५१९ ॥
चा० श०—"मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवस-लुचग्रहां क्त्वि ॥" (६ । २ । १६)
२. १ । २ । १८ ॥
३. आ०—सू० ४०५ ॥
चा० श०—"ग्रहिप्रच्छोः सनि ॥ स्वपः ॥ रुदविदमुषग्रहाम् ॥" (क्रमेण ५ । १ । २२, २३ ॥ ६ । २ । २२)
४. ७ । २ । ७५ ॥
५. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

स्वप् और प्रच्छ्, ये दोनों धातु अनिट् हैं। इससे क्त्वा तो कित् ही है, क्योंकि सेट् क्त्वा के कित् होने का निषेध है। सो इस सूत्र में इन दोनों धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि [प्रच्छ् को तो] सन् में इट् हो जाता है, [तथा] वहां सन् को कित् होने से इन दोनों धातुओं को सम्प्रसारण होता है ॥ ८ ॥

इको झल्[1] ॥ ९ ॥

'सन्' इत्यनुवर्त्तते। 'क्त्वा' इति निवृत्तम्। [इकः। ५। १। झल्। १। १।] इगन्ताद् धातोः परो झलादिः सन् किद्वद् भवति। चिचीषति। तुष्टूषति। पुपूषति। लुलूषति। चिकीर्षति। जिहीर्षति। अत्र सर्वत्र कित्त्वाद् गुणाभावः॥

'इकः' इति किम्। पिपासति। जिहासति॥

'झल्' इति किमर्थम्। शिशयिषते। अत्र इडादौ सनि कित्त्वं न भवति ॥९॥

'इकः' इगन्त धातु से परे जो 'झल्' झलादि 'सन्' सन्, सो 'कित्' किद्वत् हो। चिचीषति इत्यादि उदाहरणों में कित् होने से गुण का निषेध होता है॥

इक्-ग्रहण इसलिये है कि 'पिपासति' यहां किद्वद्भाव न हो॥

और झल्-ग्रहण इसलिये है कि 'शिशयिषते' यहां इडादि में न हो॥ ९॥

हलन्ताच्च[2] ॥ १० ॥

'इको झल्' इत्यनुवर्त्तते, 'सन्' च। [हलन्तात्। ५। १। च। अ०।] अन्त-शब्दोऽत्र सामीप्ये वर्त्तते। हल् चासौ अन्तश्च=हलन्तः, तस्मात्। इक्समीपाद् हल्परो झलादिसन् किद्वद् भवति। दुधुक्षति। लिलिक्षति। कित्-करणाद् गुणप्रतिषेधः॥

'झल्' इति किम्। विवर्त्तिषते॥

भा०—अयमन्त-शब्दोऽस्त्येवावयववाची। तद्यथा—वस्त्रान्तः, वसनान्त इति वस्त्रावयवो वसनावयव इति गम्यते। अस्ति सामीप्ये वर्त्तते। तद्यथा–उदकान्तं गत इति उदकसमीपं गत इति गम्यते। तद् यः सामीप्ये वर्त्तते, तस्येदं ग्रहणम्॥ एवमपि दम्भेर्न सिध्यति। एवं तर्हि—*दम्भेर्हल्-ग्रहणस्य जाति-वाचकत्वात् सिद्धम्*[3]॥ हल्जातिर्निर्दिश्यते, इक उत्तरा या हल्जातिरिति॥[4]

---

१. आ०—सू० ५०८॥ चा० श०—"इकोऽनिटि॥" (६।२।२३)

२. आ०—सू० ५०९॥ चा० श०—"उपान्तस्य॥" (६।२।२४)

३. वार्त्तिकमिदम्॥

४. अ० १। पा० २। आ० १॥

सर्वं स्पष्टम् ॥ १० ॥

'च' और 'इकः' इक् के 'हलन्तात्' समीप जो हल्, उस से परे 'झल्' झलादि 'सन्' सन् 'कित्' किद्वत् हो। इस सूत्र में अन्त-शब्द समीप का वाची है। दुधुक्षति। यहां दुह्-धातु से सन् को कित्त्व हुआ है, इससे गुण नहीं हुआ ॥

इस सूत्र में झल्-ग्रहण इसलिये है कि 'विवर्त्तिषते' यहां गुण का निषेध न हो ॥१०॥

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु[1] ॥ ११ ॥

'इकः, झल्, हलन्ताद्' इत्यनुवर्त्तन्ते। 'सन्' इति निवृत्तम्। लिङ्-सिचौ। १। २। आत्मनेपदेषु। ७। ३। इक्समीपाद् हलः परौ झलादी लिङ्-सिचौ आत्मनेपदविषये किद्वद् भवतः। तिप्सीष्ट। अतिप्त। [अत्र] कित्त्वाद् गुणाभावः ॥

'इकः' इति किम्। अयष्ट। अत्र सम्प्रसारणं न भवति ॥

'आत्मनेपदेषु' इति किमर्थम्। अद्राक्षीत्। यदि कित्त्वं स्यात्, तर्हि 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति[2] ॥' इति अम्-आगमो न प्राप्नोति ॥ ११ ॥

'इकः' इक् [के] 'हलन्तात्' समीप हल् से परे जो 'झल्' झलादी 'लिङ्सिचौ' लिङ् और सिच्, सो 'आत्मनेपदेषु' आत्मनेपदविषय में 'कित्' किद्वत् हों। तिप्सीष्ट। अतिप्त। यहां कित्त्व होने से गुण नहीं हुआ ॥

इक् की अनुवृत्ति इसलिये है कि 'अयष्ट' यहां यज् धातु को सम्प्रसारण न हो ॥

आत्मनेपद-ग्रहण इसलिये [है] कि 'अद्राक्षीत्' यहां जो कित्त्व होता, तो अकित् झल् के परे अम् का आगम नहीं होता ॥ ११ ॥

उश्च[3] ॥ १२ ॥

'झल्, लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इत्येतदनुवर्त्तते। अन्यन्निवृत्तम्। [उः। ५। १। च। अ०।] ऋकारान्ताद् धातोः परावात्मनेपदविषयौ [झलादी] लिङ्सिचौ किद्वद् भवतः। कृषीष्ट। अकृत। हृषीष्ट। अहृत। [अत्र] कित्त्वाद् गुणप्रतिषेधः ॥

'झल्' इति किमर्थम्। वरिषीष्ट। अवरिष्ट। अत्रेडादौ गुणप्रतिषेधो न भवति ॥ १२ ॥

'च' और 'उः' ऋकारान्त धातु से परे 'आत्मनेपदेषु' आत्मनेपदविषयक 'झल्'

---

१. आ०—सू० १६३ ॥
चा० श०—"लिङ्सिचोस्तङि ॥" (६। २। २५)

२. ६। १। ५८ ॥

३. आ०—सू० २४० ॥
चा० श०—"उः ॥" (६। २। २६)

झलादी जो 'लिङ्सिचौ' लिङ् और सिच्, सो 'कित्' किद्वत् हों। कृषीष्ट। अकृत। यहां किद्वत् होने से गुण का निषेध हो गया ॥

झल्-ग्रहण इसलिये है कि 'वरिषीष्ट, अवरिष्ट' यहां इडादि लिङ्, सिच् किद्वत् नहीं हुए ॥ १२ ॥

वा गमः[1] ॥ १३ ॥

'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु', 'झल्' चानुवर्त्तते। [वा । अ० । गमः । ५ । १।] गमि-धातोः परावात्मनेपदविषयौ झलादी लिङ्सिचौ विकल्पेन किद्वद् भवतः। सङ्गसीष्ट । सङ्गंसीष्ट । समगँस्त । समगत । अत्र कित्त्वविकल्पादनुनासिकलोप-विकल्पः ॥ १३ ॥

'गमः' गम् धातु से परे 'आत्मनेपदेषु' आत्मनेपदविषयक जो 'झल्' झलादी 'लिङ्सिचौ' लिङ्, सिच्, सो 'वा' विकल्प करके 'कित्' किद्वत् हों। सङ्गंसीष्ट। सङ्गसीष्ट। समगँस्त। समगत। यहां विकल्प करके कित्व होने से गम् धातु के अनुनासिक का लोप विकल्प करके हुआ है ॥ १३ ॥

हनः सिच्[2] ॥ १४ ॥

सिच्-ग्रहणं लिङ्निवृत्त्यर्थम्। 'झल्', 'आत्मनेपदेषु' इति चानुवर्त्तते। [हनः। ५ । १ । सिच् । १ । १ ।] हन्-धातोः परो झलादिः सिच् आत्मनेपदेषु किद्वद् भवति। आहत। आहसाताम्। आहसत। अत्र सिचः कित्त्वादनुनासिकलोपः ॥ १४ ॥

'हनः' हन् धातु से परे जो 'झल्' झलादि 'सिच्' सिच्, सो 'कित्' किद्वत् हो आत्मनेपदविषय में। आहत। यहां सिच् को कित्व होने से हन् धातु के नकार का लोप हुआ है ॥ १४ ॥

यमो गन्धने[3] ॥ १५ ॥

यमः । ५ । १ । गन्धने । ७ । १ । 'सिच्', 'आत्मनेपदेषु' इति चानुवर्त्तते। गन्धनेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम्-धातोः परः [आत्मनेपदविषयः] सिच् किद्वद् भवति। उदायत। उदायसाताम्। [अत्र] कित्त्वादनुनासिकलोपः। 'आङो यमहनः[4] ॥' इत्यात्मनेपदम् ॥

'गन्धने' इति किम्। उदायंस्त कूपादुदकम्। उद्धृतमित्यर्थः ॥ १५ ॥

---

१. आ०—सू० ६५६ ॥
चा० श०—"लिङि ताङे गमः ॥ सिचि ॥" (५ । ३ । ४४, ४५)
२. आ०—सू० ६५६ ॥
चा० श०—"हनः ॥" (५ । ३ । ४६)
३. आ०—सू० ६५७ ॥
चा० श०—"यमः सूचने ॥" (५ । ३ । ४७)
४. १ । ३ । २८ ॥

'गन्धने' गन्धन अर्थ में वर्त्तमान् जो **'यमः'** यम् धातु, उस से परे **'आत्मनेपदेषु'** आत्मनेपदविषय में जो **'झल्'** झलादि **'सिच्'** सिच्, सो **'कित्'** किद्वत् हो। **उदायत** । यहां कित्व के होने से यम् धातु के मकार का लोप हुआ है ॥

इस सूत्र में **'गन्धने'** इसलिये ग्रहण किया है कि **'उदायंस्त कूपादुदकम्'** कि कुए से जल निकाला, यहां गन्धन अर्थ नहीं, इससे कित्व होके मकार लोप न हुआ ॥ १५ ॥

विभाषोपयमने[1] ॥ १६ ॥

'यमः सिजात्मनेपदेषु' इति वर्त्तते । [विभाषा । उपयमने । ७ । १ ।] उपयमने वर्त्तमानाद् यम्-धातोः परः [आत्मनेपदविषयः] सिच् विकल्पेन किद्वद् भवति । उपायत कन्याम् । उपायँस्त कन्याम् । उदवोढेत्यर्थः ॥ १६ ॥

'उपयमने' उपयमन [अर्थात्] विवाह अर्थ में वर्त्तमान जो **'यमः'** यम धातु, उस से परे **'आत्मनेपदेषु'** आत्मनेपदविषय में जो **'सिच्'** सिच्, सो **'कित्'** किद्वत् हो । **उपायत उपायँस्त वा कन्याम्** । यहां कित्व के विकल्प से यम् धातु के मकार का लोप [विकल्प करके] होता है ॥ १६ ॥

स्थाघ्वोरिच्च[2] ॥ १७ ॥

'सिजात्मनेपदेषु' इति वर्त्तते । [स्था-घ्वोः । ६ । २ । इत् । १ । १ । च । अ० ।] स्था-धातोः घु-सञ्ज्ञकानां च इकारादेशो भवति । एभ्यः परः सिच् किद्वत् च भवति, आत्मनेपद-सञ्ज्ञकेषु प्रत्ययेषु परतः । उपास्थित । अदित । अधित । इकारादेशे कृते सिचः कित्त्वाद् गुणो न भवति ॥ १७ ॥

'स्था-घ्वोः' स्था धातु और घुसंज्ञक धातुओं से परे जो **'सिच्'** सिच्, सो **'कित्'** किद्वत् **'च'** और **'स्था-घ्वोः'** इन को **'इत्'** इकारादेश हो । उपास्थित । अदित । अधित । इकारादेश किये पीछे सिच् [के] कित् होने से गुण नहीं हुआ ॥ १७ ॥

न क्त्वा सेट्[3] ॥ १८ ॥

[न । अ० । क्त्वा । १ । १ । सेट् । १ । १ ।] सेट् क्त्वा किन्न भवति । वर्त्तित्वा । वर्धित्वा । कित्त्वप्रतिषेधाद् गुणप्रतिषेधो न भवति ॥

'सेट्' इति किम् । कृत्वा । हृत्वा । कित्त्वाद् गुणो न भवति ॥ १८ ॥

'सेट्' सेट् जो **'क्त्वा'** क्त्वा-प्रत्यय, सो **'कित्'** किद्वत् **'न'** न हो । **वर्त्तित्वा । वर्धित्वा** । यहां कित् के नहीं होने से गुण हो गया ॥

'सेट्' इसलिये है कि **'कृत्वा'** यहां गुण न हो ॥ १८ ॥

---

१. चा० श०—"वोढाहे ॥" (५ । ३ । ४८) (६ । २ । २७)

२. आ०—सू० २६३ ॥ चा० श०—"सिचि दाधास्थामिच ॥"

३. आ०—सू० १५१८ ॥ चा० श०—"सेटि ॥" (५ । ३ । ५३)

निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः[1] ॥ १९ ॥

'न सेट्' इत्यनुवर्त्तते । [निष्ठा । १ । १ । शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः । ५ । १ ।] शीङादीनां समाहारद्वन्द्वः, तस्मादेकवचनम् । शीङ्, स्विदि, मिदि, क्ष्विदि, धृष् इत्येतेभ्यः परः सेट् निष्ठा-सञ्ज्ञः प्रत्ययः किन्न भवति । शयितः । शयितवान् । प्रस्वेदितः । प्रस्वेदितवान् । प्रमेदितः । प्रमेदितवान् । प्रक्ष्वेदितः । प्रक्ष्वेदितवान् । प्रधर्षितः । प्रधर्षितवान् । अत्र औपदेशिकस्य कित्त्वस्य प्रतिषेधाद् गुणो भवति ॥

'सेट्' इति किम् । भिन्नः । भिन्नवान् । [अत्र] गुणो न भवति ॥ १९ ॥

'शीङ्...धृषः' शीङ्, स्विदि, मिदि, क्ष्विदि, धृष् इन धातुओं से परे जो **'सेट्'** सेट् [**'निष्ठा'**] निष्ठा-संज्ञक प्रत्यय, सो **'कित्'** किद्वत् **'न'** न हो। शयितः। शयितवान् इत्यादि उदाहरणों में उपदेश के कित्त्व का प्रतिषेध होने से गुण हुआ है ॥

सेट्-ग्रहण इसलिये है कि 'भिन्नः' यहां गुण न हो ॥ १९ ॥

मृषस्तितिक्षायाम्[2] ॥ २० ॥

[मृषः । ५ । १ । तितिक्षायाम् । ७ । १ ।] मृष्-धातोः परौ निष्ठा-सञ्ज्ञकौ सेट्प्रत्ययौ किद्वन्न भवतः तितिक्षायां = सहनेऽर्थे । मर्षितः । मर्षितवान् । कित्त्व-प्रतिषेधाद् गुणो भवति ॥

'तितिक्षायाम्' इति किम् । अपमृषितं वाक्यमाह । दूषितं वाक्यमाहेति गम्यते ॥ २० ॥

'तितिक्षायाम्' तितिक्षा अर्थात् सहन अर्थ में वर्तमान जो **'मृषः'** मृषि धातु, उस से परे जो **'सेट्'** सेट् निष्ठा-सञ्ज्ञक प्रत्यय, वह **'कित्'** किद्वत् **'न'** न हो । मर्षितः । मर्षितवान् । यहां कित्त्व के नहीं होने से गुण हुआ है ॥

तितिक्षा-ग्रहण इसलिये है कि 'अपमृषितम्' यहां गुण न हो ॥ २० ॥

उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्[3] ॥ २१ ॥

'न सेट् निष्ठा' इत्यनुवर्त्तते । [उदुपधात् । ५ । १ । भावादिकर्मणोः । ७ । २ । अन्यतरस्याम् । ७ । १ ।] उत् उपधायां यस्य, तस्मात् । भावश्च आदिकर्म च

---

१. आ०—सू० ११७६ ॥
चा० श०—"ततवतोरपूर्शास्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः ॥" (६ । २ । १६)
२. आ०—सू० ११८३ ॥
चा० श०—"मृषोऽक्षान्तौ ॥" (६ । २ । १७)
३. आ०—सू० ११८४ ॥
चा० श०—"उदुपान्तस्य शब्वतो भावारम्भयोर्वा ॥ (६ । २ । १८)

तयोः । उदुपधाद्धातोः परो भावादिकर्मणोर्वर्त्तमानः सेट् निष्ठा-प्रत्ययो विकल्पेन किद्वन्न भवति। द्युतितमनेन । द्योतितमनेन। प्रद्युतितः । प्रद्योतितः । मुदितमनेन । मोदितमनेन । प्रमुदितः । प्रमोदितः । अत्र किस्त्वविकल्पाद् गुणविकल्पः ॥

'उदुपधाद्' इति किम् । लिखितमनेन । अत्र किस्त्वविकल्पो न भवति ॥

'भावादिकर्मणोः' इति किम् । रुचितं वस्त्रम् । अत्रापि किस्त्वं न विकल्प्यते ॥

'सेट्' इति किम् । भुक्तम् । अत्र मा भूत् ॥

भा०—इह कस्मान्न भवति । गुधितः । गुधितवान् ।
उदुपधाच्छपः[1]॥ **शब्विकरणेभ्य इष्यते ॥**[2]

स्पष्टम् ॥ २१ ॥

'उदुपधात्' उकार जिस की उपधा में हो, ऐसे धातु से परे 'भावादिकर्मणोः' भाव और आदिकर्म में जो 'सेट्' सेट् 'निष्ठा' निष्ठा-प्रत्यय, सो 'कित्' किद्वत् 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो। द्युतितम् । द्योतितम् । यहां किस्व के विकल्प से गुण विकल्प करके हुआ ॥

उदुपध-ग्रहण इसलिये है कि 'लिखितम्' यहां गुण न हो ॥

भाव और आदिकर्म इसलिये ग्रहण है [कि] 'रुचितं वस्त्रम्' यहां भी गुण का निषेध हो जाय ॥

सेट्-ग्रहण इसलिये है कि 'भुक्तम्' यहां गुण का विकल्प न हो ॥

'गुधितः' यहां विकल्प इससे नहीं होता कि इस सूत्र में शब्विकरण अर्थात् भ्वादिगण के उदुपध धातुओं का ग्रहण है ॥ २१ ॥

पूङः क्त्वा च[3] ॥ २२ ॥

'न सेट्' इति वर्त्तते 'निष्ठा' च । 'अन्यतरस्याम्' इति निवृत्तम् । [पूङः । ५ । १ । क्त्वा । १ । १ । च । अ० ।] पूङ्-धातोः परः सेट् निष्ठा, क्त्वा च प्रत्ययः किद्वन्न भवति। पवितः । पवितवान् । पवित्वा । किस्त्वनिषेधाद् गुणभावः ॥

'सेट्' इति किम् । पूतः । पूतवान् । पूत्वा । [अत्र] गुणो न भवति ॥

भा०—विभाषामध्येऽयं योगः क्रियते । विभाषामध्ये च ये विधयस्ते नित्या भवन्ति ॥
किमर्थं तर्हि क्त्वा-ग्रहणम् । क्त्वा-ग्रहणमुत्तरार्थम् ॥[4]

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥
२. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥
३. आ०—सू० ११७८ ॥ चा० श०—"ततवतोरपूशीस्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः ॥" (६ । २ । १६)
४. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

पूङ्-धातोः क्त्वा[-प्रत्ययस्य] 'न क्त्वा सेट्[१] ॥' इति प्रतिषेधः सिद्ध एव । पुनर्ग्रहणमुत्तरार्थम् ॥ २२ ॥

'पूङः' पूङ् धातु से परे जो 'सेट् निष्ठा' सेट् निष्ठा 'च' और 'क्त्वा' क्त्वा-प्रत्यय, वे 'कित्' किद्वत् 'न' न हों। पवितः। पवितवान्। पवित्वा। यहां कित्व के नहीं होने से गुण हो गया॥

सेट्-ग्रहण इसलिये है कि 'पूतः, पूतवान्, पूत्वा' यहां गुण न हो॥

'न क्त्वा सेट्[१]॥' इस सूत्र से क्त्वा के परे निषेध हो ही जाता, फिर क्त्वा-ग्रहण उत्तर सूत्रों के लिये है॥

क्योंकि दो विकल्पों के बीच में जो सूत्र होता है, वह नित्य विधान करने वाला होता है, सो यह सूत्र दो विकल्पों के बीच में पढ़ा है, इससे नित्य निषेध करता है॥ २२॥

नोपधात् थफान्ताद् वा[२] ॥ २३ ॥

न-उपधात् । ५ । १ । थ-फान्तात् । ५ । १ । वा । न उपधायां यस्य, तस्मात् । थश्च फश्च=थफौ । थफावन्तौ यस्य, तस्मात् । नोपधात् थफान्ताद्धातोः परः सेट् क्त्वा-प्रत्ययो विकल्पेन किद्वन्न भवति । मथित्वा । मन्थित्वा । गुफित्वा । गुम्फित्वा । कित्त्वविकल्पादनुनासिकलोपविकल्पः ॥

'नोपधात्' इति किम् । रेफित्वा । [अत्र] गुणप्रतिषेधो न भवति ॥

'थफान्तात्' इति किम् । स्रंसित्वा । ध्वंसित्वा । अत्रानुनासिकलोपो न भवति ॥ २३ ॥

'नोपधात्' नकार जिस की उपधा में और 'थफान्तात्' थकार फकार जिस के अन्त में हों, ऐसे धातु से परे जो 'सेट् क्त्वा' सेट् क्त्वा-प्रत्यय, वह 'वा' विकल्प करके 'कित्' किद्वत् 'न' न हो। मथित्वा। मन्थित्वा। गुफित्वा। गुम्फित्वा। यहां कित्त्व के विकल्प से अनुनासिक का लोप विकल्प करके होता है॥

नोपध-ग्रहण इसलिये है कि 'रेफित्वा' यहां गुण का निषेध विकल्प करके न हो॥

और थफान्त-ग्रहण इसलिये है कि 'स्रंसित्वा, ध्वंसित्वा' यहां अनुस्वार का लोप विकल्प करके न हो॥ २३॥

वञ्चिलुञ्च्यृतश्च[३] ॥ २४ ॥

[वञ्चि-लुञ्चि-ऋतः । ५ । १ । च । अ० ।] वञ्चि, लुञ्चि, ऋत् इत्येतेभ्यः परः सेट् क्त्वा-प्रत्ययः किद्वद् विकल्पेन न भवति। वचित्वा। वञ्चित्वा।

---

१. १ । २ । १८ ॥

२. आ०—सू० १५२० ॥
चा० श०—"वन्चिलुञ्चिथफो वा ॥" (५ । ३ । ५४)

३. आ०—सू० १५२१ ॥
चा० श०—"वञ्चिलुञ्चिथफो वा ॥ ऋततृषमृषकृशां वा ॥" (५ । ३ । ५४ ॥ ६ । २ । २०)

लुचित्वा । लुञ्चित्वा । ऋतित्वा । अर्तित्वा । कित्त्वविकल्पाद् द्वयोस्त्वनुनासिकलोप-विकल्पः, एकत्र गुणविकल्पः ॥ २४ ॥

'च' और **'वञ्चि-लुञ्चि-ऋतः'** वञ्चि, लुञ्चि और ऋत् इन धातुओं से परे जो **'सेट् क्त्वा'** सेट् क्त्वा-प्रत्यय, सो **'कित् न'** किद्वत् विकल्प करके न हो। उस से दो धातुओं में तो अनुनासिक का लोप विकल्प करके होता, और ऋत् धातु में कित्व के विकल्प से गुण विकल्प से होता है ॥ २४ ॥

तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य[1] ॥ २५ ॥

[तृषि-मृषि-कृशेः । ५ । १ । काश्यपस्य । ६ । १ ।] तृषि, मृषि, कृशि, इत्येतेभ्यः परः सेट् क्त्वा-प्रत्ययो विकल्पेन किन्न भवति **काश्यपस्या**[2]चार्यस्य मतेन । तृषित्वा । तर्षित्वा । मृषित्वा । मर्षित्वा । कृशित्वा । कर्शित्वा । कित्त्वविकल्पाद् गुणविकल्पः ॥

भा०—काश्यप-ग्रहणं पूजार्थम् । 'वा' इत्येव हि वर्त्तते ॥[3]

स्पष्टार्थम् ॥ २५ ॥

'तृषि-मृषि-कृशेः' तृष्, मृष्, कृश्, इन धातुओं से परे जो **'सेट् क्त्वा'** सेट् क्त्वा-प्रत्यय, सो **'वा'** विकल्प करके **'कित् न'** कित् न हो **काश्यप** ऋषि के मत से। इससे **तृषित्वा, तर्षित्वा** इत्यादि उदाहरणों में कित्व के विकल्प से गुण भी विकल्प करके होता है ॥

पीछे के सूत्र से इस सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति तो आती थी, फिर **काश्यप** का ग्रहण सत्कार के लिये है ॥ २५ ॥

रलो व्युपधाद्धलादेः सँश्च[4] ॥ २६ ॥

'वा' इति वर्तते । 'सेट्' इति च । उश्च इश्च = वी । वी उपधे यस्य, स व्युपधः ।

---

१. आ०—सू० १५२२ ॥

चा० श०—"ऋततृषमृषकृशां वा ॥" (६।२।२०)

२. शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये (४।५॥८।५०)—

"(मकारनकारयोः) लोपं काश्यपशाकटायनौ ॥"

"निपातः काश्यपः स्मृतः ॥" ("काश्यपेन दृष्टा निपाताः काश्यपगोत्राः काश्यपसगोत्रा वा ।" इति उव्वटभाष्यम्)

वंशब्राह्मणे द्वितीयखण्डे—

"देवतरसः शवसायनात् पितुर्देवतरसः शावसायनः, शवसः पितुरेव शवाः, अग्निभुवः काश्यपादग्निभूः काश्यपः, इन्द्रभुवः काश्यपादिन्द्रभूः काश्यपः, मित्रभुवः काश्यान्मित्रभूः काश्यपः, विभण्डकात् काश्यपात् पितुर्विभण्डकः काश्यपः, ऋष्य-(पाठान्तरम्—ऋश्य-) शृङ्गात् काश्यपात् पितुर्ऋष्यशृङ्गः काश्यपः (अधीतवानिति शेषः)"

अथापि दृश्यतां जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे (३ । ४० । १, २) तैत्तिरीयारण्यके (२ । १८) च ॥

शब्दकल्पद्रुमे—"कणादमुनिरिति त्रिकाण्डशेषः ।"

३. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

४. आ०—सू० ५१३ ॥

चा० श०—"रलो हलादेरिदुतोः सनि च" ॥ (६ । २ । २१)

[रलः । ५ । १ । व्युपधात् । ५ । १ । हलादेः । ५ । १ । सन् । १ । १ । च । अ० ।]
उकारोपधाद् इकारोपधाच्च रलन्ताद्धलादेर्धातोः परः सेट् सन् सेट् क्त्वा च विकल्पेन कितौ भवतः । दिद्युतिषते । दिद्योतिषते । द्युतित्वा । द्योतित्वा । अत्र कित्त्व-विकल्पाद् गुणविकल्पः ॥

'रलः' इति किम् । देवित्वा । दिदेविषति । अत्र गुणविकल्पो न भवति ॥

'व्युपधात्' इति किम् । वर्तित्वा । विवर्तिषते । [अत्र] ऋदुपधस्य न भवति ॥

'हलादेः' इति किम् । एषित्वा । एषिषिषति । [अत्र] नित्यगुणः ॥

चकारोऽत्र कित्त्वप्रकरणसमाप्त्यर्थः ॥ २६ ॥

[इति कित्त्वाधिकारः]

'व्युपधात्' उ, इ जिस की उपधा हों, 'हलादेः' हल् वर्ण जिस के आदि में हो, **'रलः'** रल्-प्रत्याहार जिस के अन्त में हो, ऐसे धातु से परे जो **'सेट सन्'** सेट् सन् **'च'** और सेट् **'क्त्वा'** क्त्वा-प्रत्यय, वह 'कित् वा' किद्वत् विकल्प करके हो । दिद्युतिषते । **दिद्योतिषते । द्युतित्वा ।** द्योतित्वा । यहां कित्त्व के विकल्प से गुण विकल्प करके होता है ॥

इस सूत्र में रल्-ग्रहण इसलिये है कि 'देवित्वा, दिदेविषते' यहां गुण हो जाय ॥
व्युपध-ग्रहण इसलिये है कि 'वर्त्तित्वा, विवर्त्तिषते' यहां गुण का विकल्प न हो ॥
और हलादि-ग्रहण इसलिये है कि 'एषित्वा' यहां गुण नित्य ही हो जाय ॥
चकार इस सूत्र में कित्त्वाधिकार की समाप्ति जनाने के लिये है ॥ २६ ॥

[यह किदतिदेश समाप्त हुआ]

[अथ ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-सञ्ज्ञासूत्रम्]

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः[१] ॥ २७ ॥

ऊ-कालः । १ । १ । अच् । १ । १ । ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः । १ । १ ॥

भा०—प्रत्येकं च काल-शब्दः परिसमाप्यते । उ-कालः, ऊ-कालः, ऊ३-काल इति ॥[२]

ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च ते । छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीति 'सुपां सुलुक्०[३]॥'

१. ऋ० प्रा० (१ । १६)—
"मात्रा ह्रस्वस्तावदवग्रहान्तरं द्वे दीर्घस्तिस्रः [प्लुत उच्यते स्वरः ।"
वा० प्रा० (१ । ५५, ५७, ५८)—"अमात्रस्वरो ह्रस्वः ॥ द्विस्तावान् दीर्घः ॥ प्लुतस्त्रिः ॥"
चतुरध्यायिकायाम्—"एकमात्रो ह्रस्वः ॥ द्विमात्रो दीर्घः ॥ त्रिमात्रः प्लुतः ॥" (१ । ५९, ६१, ६२)
द्रष्टव्यतां च तै० प्रा०—१ । ३१–३३, ३५, ३६ ॥
२. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥
३. ७ । १ । ३९ ॥

इति सूत्रेण जसः स्थाने सुः । एकमात्रिको द्विमात्रिकस्त्रिमात्रिकश्चाच्[1] यथाक्रमं ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-सञ्ज्ञो भवति । उपगु । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य[2] ॥' इति ओकारस्थान उकारः । 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य[3] ॥' [इति] दाधार । एकमात्रिकस्य स्थान आकारो भवति । 'ओमभ्यादाने[4] ॥' [इति] ओ३म् । त्रिमात्रिको भवति ॥

काल-ग्रहणं परिमाणार्थम् । दीर्घप्लुतयोर्ह्रस्व-सञ्ज्ञा मा भूत् । आलूय । प्रलूय । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्[5] ॥' इति तुग् मा भूत् ॥

भा०— *अच्-ग्रहणं संयोग-अच्समुदायनिवृत्त्यर्थम्[6] ॥* संयोगनिवृत्त्यर्थं तावत्—प्रतक्ष्य । प्ररक्ष्य । '*ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्[5] ॥*' इति तुग् मा भूत् । अच्समुदायनिवृत्त्यर्थम्—तितउच्छत्रम् । तितउच्छाया । '*दीर्घात्[7] ॥ पदान्ताद् वा[8] ॥*' इति विभाषा तुङ् मा भूत् ॥[9] २७ ॥

'ऊ-कालः' एकमात्रिक, द्विमात्रिक, और तीन मात्रा के जो 'अच्' स्वर हैं, उन को क्रम से 'ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः' ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन संज्ञा हों । अर्थात् एकमात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ और त्रिमात्रिक प्लुत होता है । उपगु । यहां ओकार को उकार एक मात्रा का अच् ह्रस्व हुआ । दाधार । यहां अकार के स्थान में दो मात्रा का आकार दीर्घ हुआ । और 'ओ३म्' यहां ओकार के स्थान में तीन मात्रा का प्लुत हुआ है ॥

इस सूत्र में काल-ग्रहण इसलिये है कि 'आलूय, प्रलूय' यहां दीर्घ की ह्रस्व-सञ्ज्ञा होके तुक् न हो ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रतक्ष्य' यहां दो हलों को एकमात्रिक मानके तुक् न हो । तथा 'तितउच्छत्रम्' [यहां] अच्-समुदाय अर्थात् दो ह्रस्व अचों को दीर्घ मानने से विकल्प करके तुक् का आगम पाता है, सो न हो ॥ २७ ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

अचश्च ॥ २८ ॥

स्थानिनियमार्था परिभाषेयम् । 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' इत्यनुवर्त्तते । [अचः । ६ ।

---

१. द्रष्टव्यं शाङ्खायनश्रौतसूत्रे—"चतुर्मात्रा याज्ञिकी प्लुतिः ॥" (१ । २ । १)

२. १ । २ । ४७ ॥

३. ६ । १ । ७ ॥

४. ८ । २ । ८७ ॥

५. ६ । १ । ७१ ॥

६. वार्त्तिकमिदम् ॥

७.,८. क्रमेण ६ । १ । ७५, ७६ ॥

९. कोष्ठेऽत्र—"भा० १ [१ । २ । २८ सूत्रे व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

१ । च । अ० ।] ह्रस्वः, दीर्घः, प्लुत इति यत्र ब्रूयात्, तत्राच एव स्थाने वेदितव्याः । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य[1] ॥' [इति] अतिरि । अतिनु ॥

'अचः' इति किम् । सुवाग् ब्राह्मणकुलम् । अत्र गकारस्य ह्रस्वो न भवति । 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः[2] ॥' [इति] चीयते । श्रूयते ॥

'अचः' इति किम् । भिद्यते । छिद्यते । अत्र हलन्तस्य दीर्घो न भवति । 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः[3] ॥' देवदत्ता३ ॥

'अचः' इति किम् । अग्निची३त् । तकारस्य न भवति । सञ्ज्ञाया विधाने नियमः । इह मा भूत्—द्यौः । पन्थाः । सः ॥ २८ ॥

स्थानी का नियम करने वाली यह परिभाषा है । 'च' और 'ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः' ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत जिन सूत्रों में कहे हों, वहां 'अचः' अच् के ही स्थान में हों । 'ह्रस्वो नपुंसके०[1] ॥' [इस सूत्र से] 'अतिरि' यहां [रै-शब्द के] ऐकार को इकार ह्रस्व हुआ है ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'सुवाग्' यहां गकार को ह्रस्व न हो । 'अकृत्सार्वधातु०[2] ॥' इस सूत्र से 'श्रूयते' यहां उकार को ऊकार दीर्घ हुआ है ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'भिद्यते' यहां भिद् धातु के दकार को दीर्घ न हो । 'वाक्यस्य टेः०[3] ॥' इस सूत्र से 'देवदत्ता३' यहां प्लुत हुआ है ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'अग्निची३त्' यहां तकार को प्लुत न हो; परन्तु संज्ञा से जहां विधान किया है, वहीं अच् के स्थान में हो । अर्थात् कहीं अकार विधान किया हो, तो अकार की ह्रस्व-संज्ञा है, इससे अच् के स्थान में न हो, किन्तु ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, इन शब्दों से ही जहां विधान हों, वहीं नियम रहे । जैसे—द्यौः । यहां औकारादेश विधान है, और औकार की दीर्घ-सञ्ज्ञा है, तो अच् के स्थान में न हो ॥ २८ ॥

अथ स्वरसञ्ज्ञाः ॥

उच्चैरुदात्तः[4] ॥ २९ ॥

प्रथमानिर्दिष्टमच्-ग्रहणमनुवर्त्तते । [उच्चैः । अ० । उदात्तः । १ । १ ।] समाने स्थान उच्चैः प्रकारेणोच्चार्यमाणोऽच् उदात्त-सञ्ज्ञो भवति । औपगवः । अत्र 'आद्युदात्तश्च[5] ॥' इत्यण् उदात्तः ॥

---

१. १ । २ । ४७ ॥

२. ७ । ४ । २५ ॥

३. ८ । २ । ८२ ॥

४. सौ०— सू० २ ॥

ऋ० प्रा० (३ । १)—

"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः । आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः ॥"

वा० प्रा०—"उच्चैरुदात्तः ॥" (१ । १०८)

तै० प्रा०—"उच्चैरुदात्तः ॥" (१ । ३८)

चतुरध्यायिकायाम् — "समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम् ॥" (१ । १४)

५. ३ । १ । ३ ॥

भा०—स्वयं राजन्त इति स्वराः[1], अन्वग् भवति व्यञ्जनम्[2] ॥ आयामः, दारुण्यं, अणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य[3] । आयामो गात्राणां निग्रहः । दारुण्यं स्वरस्य दारुणता = रूक्षता । अणुता खस्य = कण्ठस्य संवृतता । उच्चैःकराणि शब्दस्य ॥ समाने प्रक्रम[4] इति वक्तव्यम् । कः पुनः प्रक्रमः । उरः, कण्ठः, शिर इति[5] ॥[6]

उच्चैःकराणि = उदात्तविधायकानि लक्षणानि । प्रक्रम्यन्तेऽस्मिन् वर्णाः, तत् स्थानं प्रक्रमः । तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागमापन्नोऽच्, स उदात्त-सञ्ज्ञो भवति स्वरितात् पूर्वः ॥ २९ ॥

जिस का 'उच्चैः' ऊंचे गुण से उच्चारण हो, उस 'अच्' स्वर की 'उदात्तः' उदात्त-सञ्ज्ञा हो । औपगवः । यहां अण्-प्रत्यय का अकार उदात्त हुआ है ॥

उदात्त पर [ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में] कोई चिह्न नहीं होता[7] । प्रायः स्वरित से पूर्व, वा दो अनुदात्तों के बीच में, वा अनुदात्त से

---

१. द्रष्टव्यं गोपथब्राह्मणे (पू० ५ । १४)— "तद्यत् स्वरति, तस्मात् स्वरः । तत् स्वरस्य स्वरत्वम् ।" [(२४ । ११ । ६)

अथ ताण्ड्यमहाब्राह्मणे—"प्राणो वै स्वरः ।"

२. द्रष्टव्यं संहितोपनिषद्ब्राह्मणे—"यथा स्वरेण सर्वाणि व्यञ्जनानि व्याप्तानि, एवं सर्वान् कामानवाप्नोति यश्चैवं वेद ।" (द्वितीयखण्डे)

द्रष्टव्यं वा० प्रा०—"व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम् ॥" (१ । १०७)

३. द्रष्टव्यं तै० प्रा०—"आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य ॥" (२२ । ९)

४. द्रष्टव्यं चतुरध्यायिकायाम्—"समानयमे० ॥" (१ । १४)

५. द्रष्टव्यं तै० प्रा०—"मन्द्रमध्यमताराणि स्थानानि भवन्ति ॥ उरसि मन्द्रम् ॥ कण्ठे मध्यमम् ॥ शिरसि तारम् ॥" (क्रमेण २२ । ११ ॥ २३ । १०–१२)

६. कोशेऽत्र—"भा० १ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

७. काश्मीर से प्राप्त ऋग्वेद के एक कोश में उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व रेखा (ꞌ) है, जो अक्षर के ऊपर दी गई है । तथा जात्यादि स्वरित के ऊपर दीर्घ ऊकार के चिह्न के सदृश (ॄ) चिह्न दिया गया है । अनुदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं ॥

मैत्रायणी और काठक संहिताओं में उदात्त का चिह्न ऋग्वेद के स्वरितचिह्न के समान है ॥

सामवेद में उदात्त स्वर पर एक का अंक (१) दिया जाता है, किन्तु यदि उदात्त से उत्तर अक्षर स्वरित न हो, तो उस पर दो का अंक (२) देते हैं । जैसे—"य(३)ज्ञा(२)नां(३उ) हो(२)ता(३) वि(१)श्वे(२)षाम् ।" और यदि निरन्तर दो उदात्त हों, तो दूसरे उदात्त पर कोई चिह्न न लगाकर उत्तर स्वरित पर (२र) ऐसा चिह्न देते हैं । जैसे—"द्वि(३)षो(१) म(२र)र्त्य स्य ।" यदि दोनों उदात्तों के पश्चात् स्वरित न हो, तब प्रथम उदात्त पर (२उ) ऐसा चिह्न देते हैं । जैसे—"द(३)ध(२उ) स्य(३) पी(१)त(२)ये ।"

आगे विना चिह्न उदात्त होता है । स्वरित से परे एकश्रुति पर भी कोई चिह्न नहीं होता ॥

स्वर उस को कहते हैं कि जो विना किसी की सहायता से प्रकाशमान हो । और व्यंजन वह होता है कि जो दूसरे की सहायता से अपना काम दे सकने को समर्थ हो । सो उदात्तादि सात [प्रकार के] स्वर होते हैं, वे इसी प्रकरण में आगे लिखेंगे ॥

'आयाम:' उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहियें कि शरीर के सब अवयवों को सख़्त कर लेना, अर्थात् ढीले न रहें । 'दारुण्यम्' शब्द के निकलने के समय सख़्त रूखा स्वर निकले, अर्थात् कोमल नहीं । 'अणुता' और कण्ठ को रोक लेना, अर्थात् फैलाना नहीं । ऐसे यत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहाता है । यही उदात्त का लक्षण है ॥

उदात्त स्वर [प्रायः] स्वरित के पूर्व होता है, क्योंकि 'उदात्तादनु०'[1]॥' इस सूत्र से उदात्त से परे ही स्वरित का विधान है ॥ २९ ॥

नीचैरनुदात्तः[2] ॥ ३० ॥

प्रथमानिर्दिष्टमच्-ग्रहणमनुवर्त्तते । [नीचैः । अ० । अनुदात्तः । १ । १ ।] समाने स्थाने नीचैर्गुणेनोच्चार्यमाणोऽच् अनुदात्त-सञ्ज्ञो भवति । औपगवः । अत्र 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्[3] ॥' इति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वाच्छेषस्यानुदात्तत्वम् ॥

भा०—अन्ववसर्गः, मार्दवं, उरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य[4] । अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता । मार्दवं स्वरस्य मृदुता=स्निग्धता । उरुता खस्य=महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य ॥[5]

नीचैःकराणि=अनुदात्तविधायकानि लक्षणानि सन्ति ॥ ३० ॥

एक स्थान में 'नीचैः' नीचे प्रयत्न से उच्चारण किया हुआ जो 'अच्' स्वर है, उस

शतपथ ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न ऋग्वेद के अनुदात्त के समान है । कई निरन्तर उदात्तों में प्रायः अन्तिम उदात्त के नीचे ही चिह्न देते हैं । विराम से पूर्व उदात्त के नीचे (...) इस प्रकार से चिह्न देते हैं, यदि विराम के पश्चात् प्रथम अक्षर भी उदात्त अथवा स्वरित हो, तो । उपान्त्य उदात्त अक्षर के नीचे भी विराम के आगे उदात्त और स्वरित अथवा कभी २ अनुदात्त अक्षर होने पर भी ऐसा ही चिह्न देते हैं । जैसे—"०जु̱हो̱ति । अ̱ थ०" "०ना̤ प्सु । अ प̱०"

माध्यन्दिन शतपथ के समान ही उपलब्ध ताण्डिन् तथा लुप्त कालबविन्, भाल्लविन् और शाट्यायनिन् ब्राह्मणों के स्वर थे ॥ (देखो पुष्पसूत्र ८।१८४॥ भाषिकसूत्र २ । ३३ ॥ नारदीयाशिक्षा १ । १३)

१. ८ । ४ । ६६ ॥

२. सौ०—सू० ४ ॥
वा० प्रा० (१ । १०६), तै० प्रा० (१ । ३९) च समानं सूत्रम् ॥
चतुरध्यायिकायाम्—"[समानयमेऽक्षरं] नीचैरनुदात्तम् ॥ (१ । १५)

३. ६ । १ । १६८ ॥

४. दृश्यतां तै० प्रा०—"अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि ॥" (२२।१०) [स्थलम् ॥

५. कोशेऽत्र—"आ० १ [व्या०]" इत्युद्धरण-

को 'अनुदात्तः' अनुदात्त कहते हैं । औपगवः । यहां प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होने से 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्[1]' [इस] सूत्र करके शेष अनुदात्त हुए हैं । अनुदात्त का [(–) ऐसा] चिह्न [ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में] नीचे लगता है[2] ॥

अनुदात्त का उच्चारण ऐसा करना कि 'अन्ववसर्गः०' शरीर के अवयवों को ढीले कर देना, कोमलता से शब्द का उच्चारण करना, और कण्ठ को फैलाके बोलना चाहिये, अर्थात् कण्ठ को रोकना नहीं । इस प्रकार प्रयत्न पूर्वक उच्चारण किये स्वर को अनुदात्त कहते हैं । यही इस का लक्षण है ॥ ३० ॥

समाहारः स्वरितः[3] ॥ ३१ ॥

'अच्' इत्यनुवर्त्तते । समाहारोऽस्मिन्नस्तीति मत्त्वर्थीयोऽकारः । उदात्तानुदात्तगुणयोः समाहारोऽच् स्वरित-सञ्ज्ञो भवति । क्व । 'तित् स्वरितम्[4] ॥' इति सूत्रेण स्वरितो विधीयते । स्वरितस्तूदात्तात् पर एव भवति । क्वचित्[5] केवलोऽपि भवति ॥

भा०—'त्रैस्वर्येणाधीमहे' त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः । तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः । य इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा । एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः । य इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—स्वरित इति ॥[6]

त्रैस्वर्यमिति स्वार्थे ष्यञ् । अन्यत् स्पष्टार्थम् ॥ ३१ ॥

---

१. ६ । १ । १५८ ॥

२. अथर्ववेद के कुछ कोशों में अनुदात्त स्वर के नीचे रेखाओं के स्थान में बिन्दु लगे मिलते हैं, तथा स्वरित स्वर के ऊपर ऊर्ध्व रेखा के स्थान में अक्षर के अन्दर ही बिन्दु लगे हैं ॥
मैत्रायणी और काठक संहिताओं में अनुदात्ततर का चिह्न ऋग्वेदीय अनुदात्तचिह्न के समान है ॥
सामवेद में प्रश्लिष्ट, जात्य, अभिनिहित और क्षैप्र स्वरितों से पूर्व अनुदात्त का चिह्न (३क) स्वर के ऊपर लिखा जाता है । जैसे—तं[३क] न्वं[२र] । साधारण चिह्न (३) है ॥

३. सौ०—सू० ६ ॥
वा० प्रा०—"उभयवान् स्वरितः ॥" (१।११०)
तै० प्रा०—"समाहारस्स्वरितः ॥" (१ । ४०)
चतुरध्यायिकायाम्—"[समानयमेऽक्षरं] आक्षिप्तं) स्वरितम् ॥" (१ । १६)

४. ६ । १ । १८५ ॥

५. क्षैप्र-जात्य-प्रश्लिष्ट-अभिनिहिताः स्वरिता अनुदात्तात् पराः शब्दादौ वा भवन्ति । उदाहरणानि यथाक्रमम्—व्यां प्त, अ प्स्व १ न्त र् । स्वं र्, क न्यां । सू द्गा ता, दि वी'व । ते'ऽब्रु व न् ॥

६. कोशेऽत्र—"आ० १ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

उदात्त और अनुदात्त गुण का जिस में 'समाहारः' मेल हो, वह 'अच्' अच् 'स्वरितः' स्वरित-सञ्ज्ञक हो। 'क्व' इस शब्द में 'तित्स्वरितम्[1] ॥' इस सूत्र से स्वरित हुआ है। स्वरित का [(꣡) ऐसा ऊर्ध्वरेखात्मक] चिह्न [ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में] अक्षर के ऊपर किया जाता है[2]। स्वरित उदात्त से परे होता है, और कहीं केवल भी होता है ॥

भा०—हम लोग तीन प्रकार के स्वरों से पढ़ते पढ़ाते हैं, अर्थात् कहीं उदात्त गुण वाले, कहीं अनुदात्त गुण वाले और कहीं उदात्तानुदात्त अर्थात् स्वरित गुण वाले स्वरों से नियमानुसार उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रंग अलग २ होते है, परन्तु इन दोनों को मिलकर जो रंग उत्पन्न होता है, उस का तीसरा नाम पड़ता है, अर्थात् ख़ाकी वा आस्मानी। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक् २ हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो, उस को स्वरित कहते हैं ॥ ३१ ॥

तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्[3] ॥ ३२ ॥

तस्य । ६ । १ । आदितः । [अ०।] उदात्तम् [।१।१।] अर्धह्रस्वम् । १ । १ ।

तस्य स्वरितस्यादावर्धह्रस्वमर्धमात्रमुदात्तं भवति । आदावित्यादितः । 'तसिप्रकरण आद्यादीनामुपसंख्यानम्[4] ॥' इति वार्त्तिकेन तसिः प्रत्ययः । ह्रस्वस्यार्द्धमित्यर्धह्रस्वम् ।

---

१. ६ । १ । १८५ ॥

२. उदात्त अक्षर से पूर्व ह्रस्व स्वरित का चिह्न (१) इस प्रकार होता है। जैसे—अप्स्व१न्तर् । तथा दीर्घ स्वरित का (३) इस प्रकार। जैसे—रा यो ३ व नि': ॥

मैत्रायणी और काठक संहिता में केवल स्वरित अथवा अनुदात्त के पीछे आने वाले स्वरित के नीचे (८) इस प्रकार का चिह्न दिया जाता है। जैसे—वी र्यं म् । किन्तु काठक संहिता में यदि उदात्त अक्षर परे हो, तो स्वरित अक्षर के नीचे काकपदचिह्न (‸) दिया जाता है ॥

सामवेद में स्वरित का चिह्न (२) अक्षर के ऊपर दिया जाता है। अनुदात्त और दो उदात्तों के पश्चात् आने वाले स्वरित तथा केवल स्वरित का चिह्न (२र) है। जैसे— ३क २र त न्वा ॥

शतपथ ब्राह्मण में अनुदात्त के समान स्वरित का भी कोई चिह्न नहीं होता ॥

३. वा० प्रा०—"तस्यादित उदात्तꣳ स्वरार्द्धमात्रम् ॥" (१ । १२६)

चतुरध्यायिकायाम्—"स्वरितस्यादितो मात्रार्धमुदात्तम् ॥" (१ । १७)

परन्तु दृश्यतां ऋ० प्रा० (तृतीयपटले)—"एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः । तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा ॥ २ ॥ "अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिर्न चेत् । उदात्तं वोच्यते किञ्चित् स्वरितं वाक्षरं परम् ॥३॥"

तथा च तै० प्रा० (प्रथमाध्याये)—"तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य ॥ ४१ ॥ उदात्तसमश्शेषः ॥ ४२॥ मव्यञ्जनोऽपि ॥ ४३ ॥ अनन्तरो वा नीचैस्तराम् ॥ ४४ ॥ अनुदात्तसमो वा ॥ ४५ ॥ आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः ॥ ४६ ॥ सर्वः प्रवणः (=स्वरितः) इत्येके ॥ ४७ ॥

४. पाठान्तरम्—आद्यादिभ्यः ॥

५. महाभाष्ये "प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ॥" (५ । ४ । ४४) इति सूत्रव्याख्यान इदं वार्त्तिकम् ॥

'अर्धं नपुंसकम्[1] ॥' इति तत्पुरुषः समासः । कन्ये । 'आमन्त्रितस्य च[2] ॥' इत्याद्युदात्तम् । 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[3] ॥' इति स्वरितः । तत्र द्विमात्रस्य दीर्घस्यादावर्धमात्रमुदात्तं, अन्यत् सार्धमात्रमनुदात्तं भवति ॥

भा०—किमर्थं पुनरिदमुच्यते । आमिश्रीभूतमिवेदं भवति । तद्यथा—क्षीरोदके सम्पृक्ते आमिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते, कियत् क्षीरं कियदुदकम्, कस्मिन्नवकाशे क्षीरं, कस्मिन् वोदकमिति । एवमिहाप्यामिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते, कियदुदात्तं कियदनुदात्तं, कस्मिन्नवकाशे उदात्तं, कस्मिन्ननुदात्तमिति । तदाचार्य्यः सुहृद् भूत्वान्वाचष्टे, इयदुदात्तमियदनुदात्तं, अस्मिन्नवकाश उदात्तमस्मिन्नवकाशेऽनुदात्तमिति ॥

यद्ययमेवं सुहृत् किमन्यान्यप्येवंजातीयकानि नोपदिशति । कानि पुनस्तानि । स्थानकरणनादानुप्रदानानि[4] ॥

व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या । सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते ॥[5]

छन्दःशास्त्रेषु=शिक्षादिग्रन्थेषु लिखितानि सन्त्येव । पुनरुक्तिं मत्वा नोपदिष्टानि । पठनमप्येषां पूर्वमेव । 'शिक्षाकल्पोऽथ व्याकरणम्[6]' शिक्षाकल्पौ पठित्वा व्याकरणस्य पठनं, तस्मात् ताभ्यामुत्तरा विद्या । यत्तत्र नोक्तं, तदत्रोक्तम् ॥

भा०—स्वरितस्यार्द्धह्रस्वोदात्ताद् आ '*उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः*[7] ॥' इत्येतस्मात् सूत्रादिदं सूत्रकाण्डमूर्ध्वं '*उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः*[3] ॥' इत्यतः कर्त्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । 'स्वरिताद्' इति सिद्धिर्यथा स्यात् । '*स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्*[8] ॥' इति । '*इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि*[9] ॥'[5]

'तस्यादितः० ॥' इत्यारभ्य 'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः[7] ॥' इत्यन्तं सूत्रनवतयमष्टमाध्यायस्य चतुर्थपादान्ते 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[3] ॥' इत्यस्मात् परं

---

१. २ । २ । २ ॥
२. ६ । १ । १९८ ॥
३. ८ । ४ । ६६ ॥
४. पाठान्तरम्—स्थानकरणानुप्रदानानि ॥
५. कोष्ठ—"आ० १ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
६. मुण्डकोपनिषद्यपि (१ । १ । ५) —"शिक्षा कल्पो व्याकरणम् ।" इति स एव क्रमः ॥
७. १ । २ । ४० ॥
८. १ । २ । ३९ ।
९. ऋ०—१० । ७५ । ५ ॥

विज्ञेयम् । 'पूर्वत्रासिद्धम्[1]॥' इति स्वरितस्यासिद्धत्वाद् अत्र स्थानिस्वरकार्याण्येकश्रुत्यादीनि न प्राप्नुवन्ति । तदर्थोऽयं यत्नः ॥

अत्र काशिकाकृज्जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादयो विप्रवदन्ते 'ह्रस्व-ग्रहणमतन्त्रम्[2]। 'अर्धनिष्प्रयोजनम् । एतत्तेषां भ्रम एवास्ति । कथम् । यदि ह्रस्व-ग्रहणं निष्प्रयोजनं स्यात्, तर्हि महाभाष्यकार एव शङ्कां कुर्यात् । महाभाष्यकारेण तूक्तं 'मात्रचोऽत्र लोपो द्रष्टव्यः । अर्धह्रस्वमात्रं = अर्धह्रस्वम्[3]।' इति प्रत्युत प्रतिपादनं दृश्यते ॥ ३२ ॥

पूर्व सूत्र में जो स्वरित विधान है, उस के तीन भेद होते हैं—ह्रस्वस्वरित, दीर्घस्वरित, प्लुतस्वरित । सो 'तस्य' उस स्वरित के 'आदितः' आदि में 'अर्धह्रस्वम्' आधी मात्रा 'उदात्तं' उदात्त और सब अनुदात्त होता है । कन्ये' । इस शब्द में ककार में तो उदात्त और 'न्ये' में स्वरित है । वह स्वरित दीर्घ है । उस के आदि में आधी मात्रा उदात्त है, और सब अनुदात्त॥

'किमर्थं पुनः०' इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई चीज़ होती है, उस में नहीं जाना जाता कि कितना क्या है । जैसे दूध और जल मिल जाते हैं, तो यह नहीं मालूम होता कि कितना दूध और कितना जल है, तथा किधर दूध और किधर जल है । इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इससे मालूम नहीं होता कि कितना उदात्त और कितना अनुदात्त, तथा किधर उदात्त और किधर अनुदात्त है । इसलिये भिन्न होके पाणिनिजी महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, कि जिससे मालूम हुआ कि इतना उदात्त और इतना अनुदात्त, तथा इधर उदात्त और इधर अनुदात्त है ॥

(प्रश्न) जो आचार्य अर्थात् पाणिनिजी महाराज ऐसे परम मित्र थे, तो इस प्रकार की और बातें क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं ।—(प्र०) वे बातें कौन हैं । (उ०) स्थान, करण, नादानुप्रदान ।—(उत्तर) व्याकरण अष्टाध्यायी जब बनाई गई, उस से पूर्व ही शिक्षा आदि ग्रन्थों में ये स्थान आदि का विस्तार लिख चुके थे । क्योंकि शब्द के उच्चारण में जो साधन हैं, वे मनुष्य को प्रथम ही जानने चाहियें और उन ग्रन्थों में लिख चुके, फिर अष्टाध्यायी में लिखते, तो पुनरुक्त दोष पड़ता । इसलिये जो बातें वहां नहीं लिखीं, उन को यहां प्रसिद्ध किया । तथा गणना से भी व्याकरण तीसरा अङ्ग है । किन्तु सब से प्रथम मनुष्यों को शिक्षा के ग्रन्थ पढ़ाये जायेंगे, तब स्थानादि की सब बातें जान लेंगे । पीछे व्याकरण पढ़ेंगे । इस प्रकार पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ अच्छा ही किया ॥

'तस्यादितः० ॥' इस सूत्र से लेके 'उदात्तस्वरितपरस्य०[4]॥' इस सूत्र पर्य्यन्त ये नव सूत्र अष्टमाध्याय के चतुर्थ पाद के अन्त में 'उदात्तादनु०[5]॥' इस सूत्र से पर समझने

१. ८ । २ । १ ॥

२. काशिकासिद्धान्तकौमुद्योरिदं वचनम् । शब्दकौस्तुभे च—"ह्रस्वग्रहणमविवक्षितम् ।" इति॥

३. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

४. १ । २ । ४० ॥

५. ८ । ४ । ६६ ॥

चाहियें, क्योंकि उदात्त से परे स्वरित विधान नहीं किया है। और स्वरित से परे अनुदात्तों को एकश्रुति स्वर विधान यहां किया है, तो यहां के कार्य्यों की दृष्टि में अष्टमाध्याय का स्वरित-विधान असिद्ध माना जायगा, फिर स्वरित के कार्य यहां नहीं होंगे। इसलिये यह यत्न है॥

इस सूत्र के व्याख्यान में काशिका के बनाने वाले जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि लोगों ने लिखा है कि इस सूत्र में ह्रस्व-ग्रहण निष्प्रयोजन है। सो यह केवल इन की भूल है, क्योंकि जो ह्रस्व-ग्रहण का कुछ प्रयोजन न होता, तो महाभाष्यकार अवश्य प्रसिद्ध करते, किन्तु महाभाष्यकार ने तो इस में एक शब्द का लोप माना है। 'अर्द्धह्रस्वमात्रम्' इस में से मात्र-शब्द का लोप हो गया है। अथवा ऐसा कोई समझे [कि] महाभाष्यकार ने नहीं जाना इन लोगों ने जान लिया, तो यह बात असम्भव है। इस से इन्हीं लोगों का दोष समझा जाता है॥ ३२॥

एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ[1]॥ ३३॥

एकश्रुति। १। १। दूरात्। ५। १। सम्बुद्धौ। ७। १। यत्र वेदपर्य्यायः श्रुति-शब्दस्तत्र करणसाधनः। अत्र तु भावसाधनः—श्रवणं = श्रुतिः। उदात्तानुदात्तस्वरितानां पृथक् पृथक् विभक्तानामेका श्रुतिः = श्रवणं यस्य स्वरस्य, स एकश्रुतिः स्वरः। 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इति मत्वा 'सुपां सुलुक्०[2]॥' इति विभक्तेर्लुक्। 'सम्बुद्धिः' इत्यकृत्रिमस्य ग्रहणं—सम्बोधनं सम्यग् ज्ञापनं सम्बुद्धिः, न तु कृत्रिमस्यैकवचनं सम्बुद्धिरिति। दूरात् सम्बुद्धौ सत्यां सम्यगाह्वानेऽभिगम्यमाने सत्युदात्तानुदात्तस्वरितानां पृथक् पृथगुच्चारणविभागयुक्तानामेकश्रुतिः स्वरो भवति। आगच्छ भो माणवक देवदत्ता३। अत्रोदात्तानुदात्तस्वरिताः पृथक् पृथङ् नोच्चरिता भवन्ति॥

'दूरात्' इति किम्। आगच्छ भो भवदेव। अत्रोदात्तानुदात्तस्वरिताः पृथक् पृथगुच्चार्यन्ते॥

भा०—त एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः। उदात्ततरः। अनुदात्तः। अनुदात्ततरः। स्वरितः। स्वरिते य उदात्तः, सोऽन्येन विशिष्टः। एकश्रुतिः सप्तमः॥[3]

'तरनिर्देशः'—सूत्रेषु 'सन्नतरः, उच्चैस्तराम्' इत्यर्थः। तेनैते सप्त स्वराः सूत्रेभ्य एव निस्सरन्ति। तद्यथा—'उच्चैस्तराम्[4]' इति शब्देनोदात्ततरः, 'सन्न-

१. सौ०—सू० ८॥
दृश्यतां कात्यायनश्रौतसूत्रे—"एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ यज्ञकर्मणि सुब्रह्मण्यासामजपन्यूङ्खयाजमानवर्जम्॥" (१। १६४)

२. ७। १। ३६॥

३. कोशेऽत्र—"आ० १ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम्॥

४. "उच्चैस्तरां वा वषट्कारः॥" (१।२।३५)

तरः'' इति शब्देनानुदात्ततरः । 'तस्यादित०[2]॥' इति सूत्रेण स्वरितोदात्तः ।
चत्वारस्तु स्पष्टतरा एव । एवं सप्त स्वराः सिध्यन्ति ॥

अस्मिन् सूत्रे जयादित्यादिभिरेकश्रुति-शब्दो वाक्यविशेषणत्वेन व्याख्यातः ।
तद्यथा—'एका श्रुतिर्यस्य तदिदमेकश्रुति वाक्यमिति[3]।' नैतत् सङ्घटते । कथम् ।
अस्मिन् सूत्रे तु वाक्यविशेषणेन कार्य्यं सेत्स्यति, परन्तूत्तरत्र महान् दोष आयाति ।
तद्यथा—'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्[4]॥' इति स्वरितादनुदात्तस्य, स्वरि-
तादनुदात्तयोः, स्वरितादनुदात्तानां चैकश्रुतिः स्वरो भवति । एकस्य वर्णस्य, द्वयो-
र्वर्णयोः, बहूनां च वर्णानाम् । न तु स्वरितात् पराणि वाक्यान्येकश्रुतीनि भवि-
तुमर्हन्ति । अतस्तत्कथनमवद्यमेवास्तीति मन्तव्यम् ॥ ३३ ॥

'दूरात्' दूर से अच्छी प्रकार बल से 'सम्बुद्धौ' बुलाने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन स्वरों का 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर हो, अर्थात् एक तार श्रवण हो, अर्थात् ये स्वर पृथक् २ सुनने में न आवें। जैसे—आगच्छ भो माणवक देवदत्ता ३ । यहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन का पृथक् २ उच्चारण नहीं होता ॥

'दूरात्' इस शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'आगच्छ भो भवदेव' यहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों का पृथक् २ उच्चारण हो ॥

'त एत०।' इत्यादि महाभाष्यकार के व्याख्यान से सात प्रकार के स्वर सूत्रों से निकलते हैं। [१] उदात्त, [२] अनुदात्त, [३] स्वरित, [४] एकश्रुति, 'उच्चैस्तराम्' इस शब्द से [५] उदात्ततर, 'सन्नतरः' इस शब्द से [६] अनुदात्ततर, 'तस्यादित०[2]॥' इस सूत्र से [७] उदात्तानुदात्त एक स्वर निकलता है। उदात्तानुदात्त [और] स्वरित का [परस्पर] भेद है, कि जिस में यह जाना जाय कि इतना उदात्त इतना अनुदात्त और इधर उदात्त इधर अनुदात्त है, उस को उदात्तानुदात्त कहते हैं। और स्वरित का विषय यह रहा कि उदात्तानुदात्त का मेलमात्र का होना। ये लोक वेद में सर्वत्र सात प्रकार के स्वर होते हैं ॥

इस सूत्र में पंडित जयादित्यादि लोगों ने एकश्रुति-शब्द [को] वाक्य का विशेषण रक्खा है, कि एक प्रकार का जिस में श्रवण हो, ऐसा वाक्य हो। सो वे केवल भूल गये, क्योंकि इस सूत्र में तो वाक्य के विशेषण रखने से काम चल जाता है, परन्तु आगे 'स्वरितात् संहि-ता०[4] ॥' इस सूत्र में बड़ा भारी दोष आवेगा, क्योंकि वहां एक, दो और बहुत वर्णों को एकश्रुति स्वर होता है। वाक्य का विशेषण होने से कभी नहीं बन सकता। और एकश्रुति-शब्द स्वर का विशेषण होने से सर्वत्र कार्य सिद्ध होते हैं। तथा महाभाष्यकार ने भी इसी सूत्र में एकश्रुति-शब्द स्वर का विशेषण रक्खा है। इससे इन लोगों का विवरण उपेक्षणीय है ॥ ३३ ॥

---

१. ''उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः॥'' (१।२।४०)

२. १।२।३२॥

३. काशिकायाम्—''एका श्रुतिर्यस्य तदिदमेकश्रुति । एकश्रुति वाक्यं भवति ।'' एवमेव सिद्धान्त-कौमुदी-शब्दकौस्तुभ-मिताक्षरा[दि]ष्वादिषु ॥

४. १।२।३६॥

यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु[1] ॥ ३४ ॥

यज्ञकर्मणि । ७ । १ । अजप-न्यूङ्ख-सामसु । ७ । ३ । यज्ञकर्मणि वेदमन्त्र-पाठे उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुतिः स्वरो भवति, जप-न्यूङ्ख-सामानि वर्जयित्वा । यज्ञश्चादः कर्म = यज्ञकर्म, तस्मिन् । यज्ञ-शब्दो बह्वर्थेषु[2] प्रवृत्तोऽस्ति । अत्र तु वेद-मन्त्रैरग्नौ हवनं क्रियाकाण्डं गृह्यते । एतदर्थं यज्ञ-शब्दस्य विशेषणाय कर्म-शब्दस्यो-पादानम् ।

'समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन[3] ॥' १ ॥
'उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते०[4] ॥' [२ ॥]

इत्यादिमन्त्रैर्यज्ञकर्म्मणि कर्माणि कुर्वन् उदात्तानुदात्तस्वरितविभागमन्तरेण मन्त्राः पठनीयाः । जपश्च यज्ञकर्म, तत्रैकश्रुतिर्न भवति, किन्तु विभागेनैवोच्चा-रिता भवन्ति । न्यूङ्खाः = स्तोत्रविशेषाः[5], तत्राप्येकश्रुतिर्न भवति । सामवेदे

---

१. सौ०—सू० ११ ॥
वा० भा०—"सामजपन्यूँखवर्जम् ॥"
(१ । १३१)
कात्यायनश्रौतसूत्रे—"एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ यज्ञकर्मणि सुब्रह्मण्यासामजपन्यूङ्खयाजमानव-र्जम् ॥" (१ । १६४)

२. तद्यथा—"दक्षो वै वसुः ।" (वा० १ । २)
"यज्ञो वै महिमा ।" (वा० ११ । ६)
"ब्रह्म हि यज्ञः ।" (श० ब्रा० ५ । ३ । २ । ४)
"सैषा त्रयी विद्या यज्ञः ।" (श० ब्रा० १ । १ । ४ । २)
"अयं वाव यज्ञो योऽयं (वायुः) पवते ।" (जै० ब्रा० ३ । १६ । १) [३३ ॥...)
"यज्ञ एव सविता ।" (गो० ब्रा०—पू० १ ।
"पुरुषो वै यज्ञः ।" (कौ० ब्रा० १७ । ७)

३. ऋ०—८ । ४४ । १ ॥
वा०—३ । १ ॥ १२ । ३० ॥
तै०—४ । २ । ३ । १ ॥
मै०—२ । ७ । १० ॥
का०—७ । १२ ॥

४. वा०—१५ । ५४ ॥
का०—१८ । १८ ॥

५. आश्वलायनश्रौतसूत्रे (७ । ११) न्यू ('न्यु' वा) ङ्खा व्याख्याताः—"चतुर्थेऽहनि यत् प्रातरनुवाकं प्रतिपद्यर्धर्चायोर्न्यूङ्खः ॥ १ ॥ द्वितीयं स्वरमोकारांस्त्रिमात्राननुदात्तं त्रिः ॥ २ ॥ तस्य तस्य चोपरिष्टादपरिमितान् पञ्च वार्धौकराननुदात्तान् ॥ ३ ॥ उत्तमस्य तु त्रीन् ॥ ४ ॥ पूर्वमक्षरं नि-हन्यते न्यूङ्ख्यमाने ॥ ५ ॥ तदपि निदर्शना-योदाहरिष्यामः ॥ ६ ॥ आपो३ उ उ उ उ उ ओ ३ उ उ उ उ उ ओ ३ उ उ उ श्च स्थः स्वपस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते । वयोधो३-मापो३ ॥ ७ ॥" (वाचस्पत्याभिधानादुद्धृतम्)

कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्ये (१।१६४) कर्कः—
"न्यूङ्खास्तु पृष्ठ्ये षडहे होतृवेदे प्रसिद्धा ओ-कारा द्वादश—'पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ३ सुषाव हर्यश्वाद्रिः ॥' इत्यादयः ॥"

तु काप्येकश्रुतिर्न भवति, किन्तूदात्तानुदात्तस्वरितभेदेनैवोच्चारणं सर्वत्र क्रियते । स्वरत्रयविभागेनैव वेदमन्त्राः सर्वत्र पठ्यन्ते । अतः कारणात् सर्वत्र विभागप्रयोगे प्राप्त एकश्रुतिर्विधीयते ॥ ३४ ॥

'यज्ञकर्मणि' यज्ञकर्म अर्थात् होम करने में जो मंत्र पढ़ते हैं, वहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन की **'एकश्रुति'** एकश्रुति हो, अर्थात् पृथक् २ श्रवण न हों । परन्तु **'अजपन्यूङ्ख-सामसु'** जप करने; न्यूङ्ख—किसी [= विशेष] प्रकार के वेद के स्तोत्रों का नाम है, वहां, तथा सामवेद, ये तीन जगह एकश्रुति न हो, किन्तु तीनों स्वर पृथक् २ बोले जायं ॥

'समिधाग्निं०' ॥' इत्यादि मन्त्र यज्ञ में स्वरभेद के विना ही पढ़े जाते हैं । तीनों स्वर के विभाग से वेदमन्त्रों का पाठ होता है । इस कारण यज्ञकर्म में भी पृथक् २ उच्चारण प्राप्त था । इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥ ३४ ॥

उच्चैस्तरां वा वषट्कारः[2] ॥ ३५ ॥

'यज्ञकर्मणि' इत्यनुवर्त्तते । यज्ञकर्मणि वषट्कार[3] उच्चैस्तरां = उदात्ततरो विकल्पेन भवति । पक्ष एकश्रुतिः । 'वषट्कारैः सरस्वती । वषट्कारैः सरस्वती[4] ।' विकल्पेनोदात्ततरः स्वरो भवति ॥

'यज्ञकर्मणि' इति किम् । वषट्कारैः सरस्वती[5] । अत्र मा भूत् ॥ ३५ ॥

'यज्ञकर्मणि' यज्ञकर्म में 'वषट्कारः' वषट्कार जो शब्द है, वह 'उच्चैस्तराम्' उदात्ततर विकल्प करके हो । पक्ष में एकश्रुति स्वर होता है ॥ ३५ ॥

विभाषा छन्दसि[5] ॥ ३६ ॥

'यज्ञकर्मणि' इति निवृत्तम् । 'वा' इत्यनुवर्त्तमाने पुनर्विभाषा-ग्रहणं 'यज्ञकर्मणि' इति निवृत्त्यर्थम् । वेदमन्त्राणां सामान्येनोच्चारणे कर्त्तव्ये उदात्तानुदात्तस्वरितानां विभाषा एकश्रुतिः स्वरो भवति । पक्षे यथोक्ताः स्वरा भवन्ति । 'अग्निमीळे पुरोहितम् । अग्निमीळे पुरोहितम्[6] । इषे त्वोर्जे त्वा । इषे त्वोर्जे त्वा[7] । शन्नो देवीरभिष्टये । शन्नो देवीरभिष्टये[8] । ऋग्यजुरथर्वणां त्रयाणां वेदानामिमानि क्रमे-

---

१. देखो पृष्ठ १२४ टिप्पण ३ ॥

२. सौ०—सू० १२ ॥

३. जयादित्यस्तु—"वषट्-शब्देनात्र वौषट्-शब्दो लक्ष्यते । 'वौषट्' इत्यस्यैवेदं स्वरविधानम् ॥" एवमेवान्येऽपि ॥

४. वा०—२१ । ५३ ॥ मै०—३ । ११ । ५ ॥

५. सौ०—सू० १३ ॥

६. ऋ०—१ । १ । १ ॥ अपि च सामवेदीयारण्यसंहितायां (३ । ४) अन्यासु च तैत्तिरीयकाठकादिसंहितासु ॥

७. वा०—१ । १ ॥ अन्यत्र च ॥

८. अ०—१ । ६ । १ ॥ अन्यत्र च ॥

णोदाहरणानि । सामवेदे तु विशेषबाधकप्रतिषेधस्य विद्यमानत्वाद् '०**अजपन्यूङ्ख-सामसु**' ॥' इत्येकश्रुतिर्न भवति । पूर्वेषूदाहरणेषु येषां वर्णानामुपरि स्वरलिङ्गानि न सन्ति, तान्युदाहरणान्येकश्रुतेः, अन्यानि यथोक्तानि । **जयादित्येनै**तन्नावबुद्धं, सामवेदे प्रतिषेधो बाधकोऽस्तीति । कथम् । तेन चतुर्णां वेदानां विकल्पेन मन्त्रा उदाहृताः । सामवेदे तु नित्यं त्रैस्वर्येणैवोच्चारणं भवतीति ॥ ३६ ॥

'छन्दसि' वेद मन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को **'एकश्रुति'** एकश्रुति स्वर 'विभाषा' विकल्प करके रहता है। जहां एकश्रुति स्वर होता है, वहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का भिन्न २ उच्चारण नहीं होता, और एक पक्ष में सब का भिन्न २ उच्चारण होता है। सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं। सामवेद में सर्वत्र तीनों स्वर भिन्न २ उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि 'यज्ञकर्म०'[1] ॥ इस सूत्र से सामवेद में एकश्रुति होने का निषेध किया है। परन्तु जयादित्य पंडित ने यह बात नहीं जानी कि सामवेद में एकश्रुति स्वर नहीं होता, क्योंकि उन्हों ने इस सूत्र के विकल्प में चारों वेद के उदाहरण दिये हैं ॥ ३६ ॥

न सुब्रह्मण्यायां, स्वरितस्य तूदात्तः[2] ॥ ३७ ॥

'यज्ञकर्मणि०'[1] ॥' **'विभाषा छन्दसि'**[3] ॥' इति सूत्रेण चैकश्रुतौ स्वरे प्राप्तेऽनेन प्रतिषिध्यते । सुब्रह्मण्यायां निगदे[4] = व्याख्यानरूपे पाठे उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुतिः स्वरो न भवति, किन्तु तत्र स्वरितस्योदात्तो भवति । शतपथब्राह्मणे तृतीयकाण्डे तृतीयप्रपाठके प्रथमब्राह्मणस्य सप्तदशीं कण्डिकामारभ्य विंशतिकण्डिकापर्य्यन्तं यो वेदमन्त्रस्य व्याख्यानरूपः पाठोऽस्ति, तस्य सुब्रह्मण्या-सञ्ज्ञाऽस्ति[5] ।

---

१. १ । २ । ३४ ॥

२. सौ०—सू० १४ ॥
का० मी०—१ । १६४ ॥

३. १ । २ । ३६ ॥

४. भट्टोजिदीक्षितादिभिस्तु निगद-शब्दो "परप्रत्यायनार्थमुच्चैः पठ्यमानः पादबन्धरहितो यजुर्मन्त्रविशेषः ।" इत्येवमादिकं व्याख्यायते ॥ (दृश्यन्तामत्र शब्दकौस्तुभ-पदमञ्जरी-न्यासादयः)

५. अयं स ब्राह्मणपाठः—"अथ सुब्रह्मण्यामाह्वयति । यथा येभ्यः पक्ष्यन्त् स्यात् तान् ब्रूयादित्यहे वः पक्तास्मीति, एवमेवैतद् देवेभ्यो यज्ञं निवेदयति—**सुब्रह्मण्यो३ऽ३ सुब्रह्मण्यो३मिति** । ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति । त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः ॥ १७ ॥ **इन्द्रागच्छेति** । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, तस्मादाहेन्द्रागच्छेति, **हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने । गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति** तद्यान्येवास्य चरणानि, तैरेवैनमेतत् प्रमुमोदयिषति ॥ १८ ॥ **कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणे**ति । शश्वद्धैतदारुणिनाभुनोपज्ञातं यद् **गौतम ब्रुवाणे**ति स यदि कामयेत ब्रूयादेतद् यद्यु कामयेतापि नाद्रियेतेत्यहे सुत्यामिति यावदहे सुत्या भवति ॥ १९ ॥ **देवा ब्रह्माण आगच्छते**ति । तद् देवांश्च ब्राह्मणांश्चाह, एतैर्ह्युभयैरर्थो भवति यद् देवैश्च ब्राह्मणैश्च ॥ २० ॥"

६. मन्त्रस्यापि सञ्ज्ञा "सुब्रह्मण्या" इत्येव ॥
(दृश्यन्ताम्—ऐ० ब्रा० ६ । ३ । १ ॥ कौ० ब्रा० २७ । ६ ॥ श० ब्रा० ४ । ६ । ६ । २५ ॥ ...)

तत्र सुब्रह्मण्यायां सूत्रैः प्राप्तस्य मूलमन्त्रशब्देषु स्वरितस्य स्थाने उदात्त आदेशो भवति ॥

भा०—सुब्रह्मण्यायामोकार उदात्तो भवति । 'सुब्रह्मण्योम्[१]।' आकार आख्याते परादिश्चोदात्तो भवति । 'इन्द्र आगच्छ ।' 'हरिव आगच्छ ।' वाक्यादौ च द्वे द्वे उदात्ते भवतः । 'इन्द्र आगच्छ । हरिवं आगच्छ ।'
मघवन्वर्जम्[२]॥ आगच्छ मघवन्[३]। सुत्यापराणामन्त उदात्तो भवति । 'द्व्यहे सुत्याम् । त्र्यहे सुत्याम्[४]।'
'असौ' इत्यन्त उदात्तो भवति । गार्ग्यो यजते । 'अमुष्य' इत्यन्त उदात्तो भवति । दाक्षेः पिता यजते । स्यान्तस्योपोत्तममुदात्तं भवति । [अन्त्यश्च ।] गार्ग्यस्य पिता यजते । वा नामधेयस्य स्यान्तस्योपोत्तममुदात्तं भवति । देवदत्तस्य पिता यजते ॥[५]

'सुब्रह्मण्यायाम्' इत्यारभ्य 'त्र्यहे सुत्याम्' इत्यन्तः पाठः सूत्रस्यैव व्याख्यानं मापूर्वम् । अग्रे तु सूत्रेण न सिध्यति, तदपूर्वमेव विधीयते । सुब्रह्मन्-शब्दात् साध्वर्थे यत् । 'तित् स्वरितम्[६]॥' [इति] सुब्रह्मण्य-शब्दः स्वरितान्तः । वर्ज्यमानस्वरेण पूर्वे त्रयो वर्णा अनुदात्ताः । सुब्रह्मण्य-शब्दाट्टापि कृतेऽनुदात्तेन टाप आकारेण सह सुब्रह्मण्य-शब्दस्यैकादेशः सिद्धत्वात् स्वरित एव । एवं सुब्रह्मण्या-शब्दः स्वरितान्तः । तस्मादोमि परे 'ओमाङोश्च[७]॥' इत्युदात्तस्वरितयोः पररूप एकादेशः स्वरितः । एवमोकारः स्वरितः, तस्याऽनेनोदात्त आदिश्यते । सुब्रह्मण्योम् । इन्द्र आगच्छ । इन्द्र-शब्द 'आमन्त्रितस्य च[८]॥' इत्याद्युदात्तः । तस्य द्वितीयो वर्णो वर्ज्यमानस्वरेणानुदात्तः । तस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[९]॥' इति स्व-

१. अविशिष्टान्यत्र स्वरलिङ्गानि ॥
२. वार्त्तिकमिदम् ॥
३. अत्र नागेशः—"श्वः सुत्यामागच्छ मघवन् इति वाक्यम् ।" (अपि च काशिकाशब्दकौस्तुभादयः)
४. नागेशोऽत्र—""सुत्याशब्दः (परो येभ्यस्तेषां सुत्यापराणाम्') इति सर्वनामकार्याभावाद् बहुव्रीहित्वनिश्चयः। श्वःशब्दस्थाने 'द्व्यहे' इत्याद्यूहः॥"
५. कोशेऽत्र—"आ० १ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
६. ६ । १ । १८५ ॥
७. ६ । १ । ९५ ॥
८. ६ । १ । १९८ ॥
९. ८ । ४ । ६६ ॥

रितः । तस्य स्वरितस्यानेनोदात्तविधानम् । 'आगच्छ' इत्यत्र 'उपसर्गाश्चाद्युदात्ता अभि-वर्जम्[1] ॥' इति प्रातिशाख्यसूत्रेणाकार उदात्तः । तस्मात् परं 'गच्छ' इति तिङन्तं निहन्यते । तत्र 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[2] ॥' इति गकारः स्वरितः । तस्य स्वरितस्य गकारस्यानेन सूत्रेणोदात्तो विधीयते । एवं चत्वारो वर्णा उदात्ताः, छकार एकोऽनुदात्तः । एवं 'हरिव आगच्छ' इत्यत्र पूर्वेणैव क्रमेण पूर्वोक्तपदयोर्द्वौ द्वावुदात्तौ वकारछकारावनुदात्तौ च स्तः । आगच्छ मघवन् । अत्र पूर्ववदाकारगकारावुदात्तौ । 'आमन्त्रितस्य च[3] ॥' इत्याष्टमिकेन मघवन्-शब्दस्य निघातः । 'द्व्यहे सुत्यां, त्र्यहे सुत्याम्' इति द्व्यह-त्र्यह-शब्दौ टजन्तत्वादन्तोदात्तौ । सुत्या-शब्दोऽन्तोदात्तः । 'सञ्ज्ञायां समज०[4] ॥ इति सूत्रेणोदात्तानुवृत्त्या क्यबुदात्तः । 'सु' इत्यनुदात्तः, तस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[2] ॥' इति स्वरितः । तस्यानेन सूत्रेणोदात्तादेशः । एवमन्ते त्रयो वर्णा उदात्ताः, आद्योऽनुदात्तः ॥

'असौ' इति प्रथमैकवचनस्योपलक्षणम् । गार्ग्यो यजते । यञन्तस्याद्युदात्ते प्राप्तेऽन्तोदात्तो विधीयते । 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[2] ॥' इति यकारस्य स्वरितः, तस्यानेनोदात्तः । 'अमुष्य' इति षष्ठ्येकवचनस्योपलक्षणम् । दाक्षेः पिता यजते । दाक्षि-शब्द इञन्तः । ञित्त्वादाद्युदात्ते प्राप्तेऽन्तोदात्तविधानम् । पितृ-शब्दस्तृजन्तत्वादन्तोदात्तः । तत्राद्यक्षरस्य 'पि' इत्यस्योदात्तात् परस्यानुदात्तस्य स्वरितः, ततोऽनेनोदात्तः । पश्चाद् यकारस्य स्वरितो भूत्वोदात्तः । एवमादावेकोऽनुदात्तः, मध्ये चत्वारो वर्णा उदात्ताः, अन्ते द्वावनुदात्तौ । गार्ग्यस्य पिता यजते । उपोत्तमं [अन्त्यात् पूर्वतनं] तृतीयवर्णादिकमुच्यते । तत्र स्यान्तस्यान्तोदात्तत्वात् पूर्ववद् गत्वा मध्ये पञ्च उदात्ताः, आद्यन्तयोरेको द्वौ चानुदात्तौ । नामधेये विकल्पेनोपोत्तममुदात्तं भवति । देवदत्तस्य पिता यजते । देवदत्तस्य पिता यजते । एवमिदं सूत्रं बहुविषयकं भवतीति ॥ ३७ ॥

'सुब्रह्मण्यायाम्' यहां [अर्थात् सुब्रह्मण्या निगद में] मूल मन्त्र के शब्दों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को जो 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर प्राप्त है, सो 'न' न हो, 'तु' किन्तु 'स्वरितस्य' स्वरित के स्थान में 'उदात्तः' उदात्त आदेश हो जाय । पूर्व सूत्रों से जो एकश्रुति स्वर प्राप्त था, उस का इस सूत्र से निषेध किया है । शतपथ ब्राह्मण में तृतीय कांड तृतीय प्रपाठक

---

१. मृग्यमिदं सूत्रम् । ऋग्-शुक्लयजुः-तैत्तिरीय-अथर्वप्रातिशाख्येषु चतुरध्यायिकायां वा न कचिदिदमुपलभ्यते ॥

२. ८ । ४ । ६६ ॥

३. ८ । १ । १९ ॥

४. ३ । ३ । ९९ ॥

के प्रथम ब्राह्मण में सत्रहवीं कण्डिका से लेके बीस कण्डिका पर्यन्त जो पाठ अर्थात् वेद मन्त्रों के शब्दों का व्याख्यान है, वह सुब्रह्मण्या नाम से लिया है। सुब्रह्मन्-शब्द से तद्धित में यत् प्रत्यय होता है। वह 'तित् स्वरितम्[1]॥' इस सूत्र से स्वरित हो जाता है। उस स्वरित और टाप्-प्रत्यय के अनुदात्त आकार का एकादेश होके सुब्रह्मण्या-शब्द स्वरितान्त होता है। उस का उदात्त ओकार के साथ एकादेश होके स्वरित ही बना रहता है, फिर इस सूत्र से उस स्वरित को उदात्त हो जाता है। इसी प्रकार 'इन्द्र आगच्छ। हरि॒ आ॒गच्छ' इत्यादि शब्दों में स्वरित के स्थान में उदात्त होता और एकश्रुति का निषेध होता है। 'गार्ग्यो यजते' इत्यादि प्रयोगों में [जो] सूत्र से सिद्ध नहीं होती, सो बात इन वार्त्तिकों से विधान की है कि गार्ग्य-शब्द में आद्युदात्त स्वर प्राप्त था, सो इस वार्त्तिक से अन्तोदात्त विधान किया है। इस प्रकार सूत्र का विषय बहुत है, थोड़ा सा लिख दिया ॥ ३७ ॥

देवब्रह्मणोरनुदात्तः[2] ॥ ३८ ॥

देवब्रह्मणोः । ६ । २ । अनुदात्तः । १ । १ । 'न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य' इत्यनुवर्त्तते । ['एकश्रुति' इति च ।] पूर्वोक्तायां सुब्रह्मण्यायामुदात्तानुदात्तस्वरितानां देव-ब्रह्मन्-शब्दयोः एकश्रुतिर्न भवति, किन्तु लक्षणप्राप्तस्य स्वरितस्यानुदात्तादेशो भवति । 'न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः[3]॥' इति स्वरितस्योदात्ते प्राप्तेऽनुदात्तो विधीयते ॥

> भा०—देवब्रह्मणोरनुदात्तत्वमेक इच्छन्ति । दे॒वा ब्र॒ह्माणः ।
> देवा ब्रह्माणः ॥[4]

अत्र 'एक इच्छन्ति' इति वचनाद्विभाषाऽनुदात्तत्वं विज्ञेयम् । देव-ब्रह्मन्-शब्दावामन्त्रितौ । तेन 'विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्[5]॥' इति विशेषवचन आमन्त्रिते ब्रह्माणि शब्दे परे पूर्वस्यामन्त्रितस्य विद्यमानत्वं विकल्पेन भवति । अविद्यमानपक्षे आष्टमिकस्यामन्त्रितस्याप्रवृत्तिः, तदा द्वयोः पदयोः षाष्ठिकेन 'आमन्त्रितस्य च[6]॥' इत्यनेनाद्युदात्तत्वम् । शेषाणां 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[7]॥' इति स्वरिते कृते स्वरितस्यानेन सूत्रेणानुदात्तः । विद्यमानवत्पक्षे तु पूर्वस्यामन्त्रितस्य विद्यमानत्वादाष्टमिकेन 'आमन्त्रितस्य च[8]॥' इति सूत्रेणोत्तरपदस्य निघातः, पूर्वपदस्य

---

१. ६ । १ । १८५ ॥
२. सौ०—सू० २० ॥
३. १ । २ । ३७ ॥
४. कोरोऽत्र—"आ० १ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
५. ८ । १ । ७४ ॥
६. ६ । १ । १९८ ॥
७. ८ । ४ । ६६ ॥
८. ८ । १ । १९ ॥

षाष्ठिकेनाद्युदात्तत्वम् । पश्चात् 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[1] ॥' इति स्वरितः । तस्य पूर्वेणोदात्तत्वम् ॥ ३८ ॥

'सुब्रह्मण्यायाम्' सुब्रह्मण्या व्याख्यान के बीच में जो [मूलमन्त्र में] 'देवब्रह्मणोः' देव- और ब्रह्मन्-शब्द हैं, उन में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर 'न' न हो, 'तु' किन्तु उन दोनों शब्दों में 'स्वरितस्य' स्वरित के स्थान में 'अनुदात्तः' अनुदात्त हो जाय। पूर्व सूत्र से एकश्रुति स्वर का निषेध होके स्वरित के स्थान में उदात्त पाता था, उस का बाधक यह सूत्र है ॥

महाभाष्य के व्याख्यान से इस सूत्र में विकल्प करके स्वरित को अनुदात्त होता है। सो जिस पक्ष में स्वरित को अनुदात्त होता है, वहां 'देवा ब्रह्माणः' ऐसा प्रयोग बनता है, और जहां स्वरित को अनुदात्त नहीं होता, वहां पूर्व सूत्र से स्वरित के स्थान में उदात्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्[2] ॥ ३९ ॥

['एकश्रुति' इत्यनुवर्त्तते ।] स्वरितात् । ५ । १ । संहितायाम् । ७ । १ । अनुदात्तानाम् । ६ । ३ ॥

भा०—एकशेषनिर्देशोऽयम् । अनुदात्तस्य चानुदात्तयोश्चानुदात्तानां च = अनुदात्तानामिति ॥[3]

अनेनैतद्विज्ञायते—[संहितापाठे] स्वरितात् परस्य एकस्यानुदात्तस्य, स्वरितात् परयोर्द्वयोरनुदात्तयोः, स्वरितात् परेषां बहूनामनुदात्तानां चैकश्रुतिः स्वरो भवति। क्रमेणोदाहरणानि—'अग्निमीळे पुरोहितम्[4] ।' अत्रान्तोदात्ताद् अग्नि-शब्दात् परस्याः 'ईळे' इति क्रियाया निघाते कृते 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[1] ॥' इति ईकारस्य स्वरितः । तस्मादीकारात् स्वरितात् परस्य 'ळे' इत्येकस्यानुदात्तस्यैकश्रुतिः स्वरो विधीयते। 'होतारं रत्नधातमम्[4] ।' अत्र होतृ-शब्दस्तृजन्तत्वादाद्युदात्तः । उदात्तादाद्यक्षरात् परस्य द्वितीयस्य पूर्ववत् स्वरितः । तस्मात् स्वरितात् परयोर्द्वयो रेफयोरनेन सूत्रेणैकश्रुतिः स्वरः । 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति[5] ।' इदं-शब्दोऽन्तोदात्तः । तस्मात् परस्य 'तेमयावेकवचनस्य[6] ॥' इति अस्मत्-शब्दस्य मे-आदेशोऽनुदात्तः । तस्योदात्तात् परस्य पूर्ववत् स्वरितः । तस्मात् स्वरितात् परेषां बहूनामामन्त्रितसञ्ज्ञकानां गङ्गे-प्रभृतीनामनेन सूत्रेणैकश्रुतिः स्वरो भवति ॥

---

१. ८ । ४ । ६६ ॥
२. सौ०—सू० २१ ॥
३. कीलहार्न—"अ० १ [व्या०]" इत्युद्धरण-[स्थलम् ॥
४. ऋ०—१ । १ । १ ॥
५. ऋ०—१० । ७५ । ५ ॥
६. ८ । १ । २२ ॥

संहिता-ग्रहणं किमर्थम् । इमम् । मे । गङ्गे । यमुने । सरस्वति[1] । अत्र सूत्रस्यास्य प्रवृत्तिर्न भवति पदानां पृथक्त्वात् ॥ ३९ ॥

'स्वरितात्' स्वरित से परे 'संहितायाम्' संहिता अर्थात् पदों को मिलाके पाठ करने में 'अनुदात्तानाम्' एक, दो और बहुत अनुदात्तों को भी पृथक् २ 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर होता है। इस सूत्र में अनुदात्त-शब्द का एकशेष हो गया है। जैसे एक, दो और बहुत अनुदात्तों को भी पृथक् २ कार्य होता है। 'अग्निमीळे[2]' यहां स्वरित 'मी' से परे 'ळे' [इस] एक अनुदात्त वर्ण को एकश्रुति स्वर हुआ है। 'होतारं रत्नधातमम्[2]।' यहां स्वरित 'ता' अक्षर से परे दो रेफ अनुदात्त अक्षरों को इस सूत्र से एकश्रुति स्वर हुआ है। 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति[1]।' यहां 'मे' स्वरित अक्षर है। उस से परे सब अनुदात्त हैं। उन को एकश्रुति स्वर इस सूत्र से हुआ है॥

संहिता-ग्रहण इसलिये है कि 'इमम् । मे । गङ्गे । यमुने । सरस्वति[1]।' यहां एकश्रुति स्वर न हो ॥ ३९ ॥

उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः[3] ॥ ४० ॥

[अनुदात्त-ग्रहणमनुवर्त्तते, 'स्वरितात्' इति च ।] उदात्तस्वरितपरस्य । ६ । १ । सन्नतरः । १ । १ । पूर्वेणैकश्रुतौ सत्यां विशेषविषयेऽनेन बाध्यते । उदात्तश्च स्वरितश्च = उदात्तस्वरितौ । उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात्, तस्यानुदात्तस्य । स्वरितात् परस्य उदात्तस्वरितपरस्यानुदात्तस्य सन्नतरोऽनुदात्ततरादेशो भवति, किन्त्वेकश्रुतिर्न भवतीति । 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः[4] ।' [अत्र] पूर्व-शब्द आद्युदात्तः, तत्र स्वरिताद् वकारात् परस्य भिसोऽनुदात्तस्य ऋषि-शब्द आद्युदात्ते परे एकश्रुतिः स्वरो न भवति । 'वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि[5] ।' अत्र 'द्यौ' इत्युदात्तात् परो यो रेफः स्वरितः, तस्मात् परे त्रयो वर्णा अनुदात्ताः । पृथिवी-शब्दोऽन्तोदात्तः । तस्माद् 'असि' इत्यनुदात्ते शब्दे परे उदात्तस्य स्थाने यण्-आदेशे कृते 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य[6] ॥' इत्युदात्तस्थाने यो यण् तस्मात् परस्यानुदात्तस्य स्वरित आदेशो भवति । तत्र स्वरितश्लिष्टाद् रेफात् परेषामनुदात्तानां पूर्वेण सूत्रेणैकश्रुतौ प्राप्तायां सत्यां 'व्य' इति स्वरिते परतः 'थि' इत्यनुदात्तस्यैकश्रुतिर्न भवति, किन्तु सन्नतर एव जायते ॥४०॥

[इति स्वरसञ्ज्ञाः]

---

१. ऋ०—१० । ७५ । ५ ॥
२. ऋ०—१ । १ । १ ॥
३. सौ०—सू० २२ ॥
४. ऋ०—१ । १ । २ ॥
५. वा०—१ । २ ॥
६. ८ । २ । ४ ॥

'उदात्तस्वरितपरस्य' उदात्त और स्वरित जिस से परे हों, उस ['स्वरितात्' स्वरित से पर] अनुदात्त को 'एकश्रुति' एकश्रुति 'न' न हो, किन्तु **'सन्नतरः'** अत्यन्त अनुदात्त हो जाय। **पूर्व सूत्र से** सामान्य विषय में एकश्रुति स्वर प्राप्त था, सो इस सूत्र से विशेष विषय में एकश्रुति स्वर का निषेध होता है। पू र्वे भि र्ऋ षि भि:' यहां पूर्व-शब्द आद्युदात्त है। उस में वकार स्वरित है। उस से पर भिस्-विभक्ति को उदात्त ऋकार के परे [होते हुए भी] एकश्रुति स्वर पाता था, सो न हुआ, किन्तु उस को अनुदात्ततर हो गया। तथा 'द्यौर॑सि पृथिव्यसि[१]।' यहां पृथिवी-शब्द अन्तोदात्त है, और 'द्यौ' के आगे जो रेफ है, उस स्वरित [रेफ] से परे 'सि पृ थि' इन तीनों को एकश्रुति पाता है, सो 'व्य' [इस] स्वरित के आगे **होने से उस** को अनुदात्ततर आदेश हो जाता है ॥ ४० ॥

[यह स्वरसञ्ज्ञाधिकार पूरा हुआ]

[अथ अपृक्त-सञ्ज्ञासूत्रम्]

अपृक्त एकाल् प्रत्ययः ॥ ४१ ॥

अपृक्तः । १ । १ । एकाल् । १ । १ । प्रत्ययः । १ । १ । एकश्चासावल् वर्णः, स चासौ प्रत्ययः । एकाल्प्रत्ययोऽपृक्त-सञ्ज्ञो भवति । अमथ्नीत् । असेधीत् । अत्र 'अस्तिसिचोऽपृक्ते[३] ॥' इत्यपृक्त-सञ्ज्ञके तिपस्तकारे परत ईड्-आगमो विधीयते ॥

'एकाल्' इति किम् । दर्विः[४] । जागृविः[५] । अत्र विन्-प्रत्ययः [क्विन्-प्रत्ययश्च] अनेकाल् ॥

'प्रत्ययः' इति किम् । 'सुराः' इत्यत्र सुकः सकारस्यापृक्त-सञ्ज्ञा मा भूत् । सुरा-शब्दात् क्यचि सुकि सति नामधातोः क्विप् । आत्मनः सुरामिच्छति [इति] सुरास्यति । सुरास्यतीति सुराः । अतो लोपः । **'यस्य हलः[६] ॥'** इति लोपे **'हल्ङ्याब्भ्यः०[७]॥'** इति सु-लोपो न भवति ॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यदल्-ग्रहणे [क्रियमाणे] एक-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः, अन्यत्र वर्ण-ग्रहणे जाति-

---

१. वा०—१ । २ ॥ [(१ । १५१)

२. द्रष्टव्यं वा० प्रा०—''एकवर्णः पदमपृक्तम् ॥'' द्रष्टव्यं तै० प्रा०—''एकवर्णः पदमपृक्तः ॥'' (१ । ५४)

३. ७ । ३ । ९६ ॥

४. ''दॄभ्यां विन् ॥'' इत्युणादिसूत्रम् । (४।५३)

५. ''जॄशॄस्तृजागृभ्यः क्विन् ॥'' इत्युणादिसूत्रम् । (४ । ५४)

६. ६ । ४ । ४९ ॥

७. ६ । १ । ६८ ॥

ग्रहणं भवतीति[1] । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । 'दम्भेर्हल्-ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्[2] ॥' इत्युक्तं तदुपपन्नं भवति ॥[3]

अत्र एक-ग्रहणज्ञापकेनेयं परिभाषा निस्सरति । '**हलन्ताच्च**[4] ॥' इति सूत्रेऽयं विषयो लिखितः ॥ ४१ ॥

'एकाल्' एक अल् जो 'प्रत्ययः' प्रत्यय है, वह 'अपृक्तः' अपृक्त-संज्ञक हो, अर्थात् केवल एकवर्ण प्रत्यय की अपृक्त-सञ्ज्ञा होती है । अभैत्सीत् । यहां 'त्' इस वर्ण की अपृक्त-सञ्ज्ञा होने से ईट्-आगम हुआ है ॥

एकाल्-ग्रहण इसलिये है कि 'दर्विः' यहां वि-प्रत्यय अनेकाल् है, उस की अपृक्त-सञ्ज्ञा न हुई ॥

प्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि 'सुराः' यहां सुक्-आगम के एकाल् सकार का लोप 'हल्-ङ्याब्भ्यः०[5] ॥' [इस सूत्र] से न हो । नामधातु में सुरा-शब्द से क्यच् [होके] उस का क्विप् के परे लोप हुआ । अनुबन्धों के अनेकान्त पक्ष में यह दोष है । अनुबन्धों के अनेकान्त होने में यह भी एक ज्ञापक है । क्-अनुबन्ध को एकान्त माने, तो सुक् का सकार है ॥

इस सूत्र में अल्-ग्रहण से सिद्ध था, फिर एक-शब्द के ग्रहण से '**वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवति**[1] ॥' यह परिभाषा निकली है कि एक वर्ण के ग्रहण में हल्जाति का ग्रहण होता है ॥ ४१ ॥

[अथ कर्मधारय-सञ्ज्ञासूत्रम्]

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ॥ ४२ ॥

तत्पुरुषः । १ । १ । समानाधिकरणः । १ । १ । कर्मधारयः । १ । १ । तत्पुरुषोऽयं समास-सञ्ज्ञाशब्दः । समानमधिकरणं यस्य, स समानाधिकरणस्तत्पुरुषः कर्मधारय-सञ्ज्ञो भवति । पाचकवृन्दारिका । 'पाचिका चासौ वृन्दारिका' इति समानाधिकरणतत्पुरुषसमासे कृते कर्मधारय-सञ्ज्ञाश्रयणात् '**पुंवत् कर्मधारय-जातीयदेशीयेषु**[6] ॥' इति सूत्रेण पूर्वपदस्य पुंवद्भावः ॥

'तत्पुरुषः' इति किम् । पाचिकाभार्यः—पाचिका भार्या यस्य—इति बहुव्रीहौ पुंवद्भावो न भवति ॥

---

१. पा०—सू० ११२ ॥
२. "हलन्ताच्च ॥" (१ । २ । १०) इति सूत्रव्याख्यान इदं वार्त्तिकम् ॥
३. कोशेऽत्र—"आ० १ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
४. १ । २ । १० ॥
५. ६ । १ । ६८ ॥
६. ६ । ३ । ४२ ॥

'समानाधिकरणः' इति किम् । जीविकाप्राप्तः—प्राप्तो जीविकाम् । 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया[1] ॥' इति सूत्रेण तत्पुरुषः समासः । तत्र पुंवन्न भवति ॥४२॥

'समानाधिकरणः' समानाधिकरण अर्थात् एक पदार्थ जनाने वाले दो शब्दों का जो 'तत्पुरुषः' तत्पुरुष समास है, उस की 'कर्मधारयः' कर्मधारय-सञ्ज्ञा होती है । पाचकवृन्दारिका । यहां कर्मधारय-सञ्ज्ञा के होने से पूर्व पद स्त्रीलिङ्ग पाचिका-शब्द को पुंवद्भाव हुआ है ॥

तत्पुरुष-ग्रहण इसलिये है कि 'पाचिकाभार्य्यः' यहां बहुव्रीहि समास में पुंवद्भाव नहीं हुआ ॥

और समानाधिकरण-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'जीविकाप्राप्तः' यहां तत्पुरुष समास में [पूर्वपदप्रकृतिस्वर आदि] कर्मधारय का कार्य नहीं हुआ ॥ ४२ ॥

[अथ उपसर्जन-सञ्ज्ञासूत्रं]

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्[2] ॥ ४३ ॥

प्रथमानिर्दिष्टम् । १ । १ । समासे । ७ । १ । उपसर्जनम् । १ । १ । प्रथमया विभक्त्या निर्दिष्टं = प्रथमानिर्दिष्टम् । समासे = समासविधायके सूत्रे । समासविधानेषु सूत्रेषु प्रथमानिर्दिष्टं यत् पदं तदुपसर्जन-सञ्ज्ञं भवति । 'कष्टश्रितः, नरकश्रितः' [इत्यत्र] 'द्वितीया श्रितातीत०[3]॥' इति द्वितीयान्तं प्रथमानिर्दिष्टं, तस्योपसर्जन-सञ्ज्ञत्वात् 'उपसर्जनं पूर्वम्[4]॥' इति पूर्वनिपातः ॥

भा०—'उपसर्जम्' इति महतीयं[5] सञ्ज्ञा क्रियते । तत्र महत्याः सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनं, अन्वर्था सञ्ज्ञा[6] यथा विज्ञायेत—अप्रधानमुपसर्जनमिति ॥[7]४३ ॥

'समासे' समास विधान करने वाले सूत्रों में 'प्रथमानिर्दिष्टम्' प्रथमा विभक्ति से पढ़े हुए जो शब्द हैं, उन की 'उपसर्जनम्' उपसर्जन-सञ्ज्ञा होती है । नरकश्रितः । यहां नरक-शब्द की उपसर्जन-सञ्ज्ञा होने से प्रथम लिखते और उच्चारण करते हैं ॥

'उपसर्जनम्' यह बड़ी सञ्ज्ञा की है । इस का प्रयोजन यह है कि सार्थक सञ्ज्ञा समझी जाय ॥ ४३ ॥

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते[8] ॥ ४४ ॥

'समास उपसर्जनम्' इत्यनुवर्त्तते । एकविभक्ति । १ । १ । च । [अ० ।]

---

१. २ । २ । ४ ॥
२. सा०—पृ० ५२ ॥
३. २ । १ । २४ ॥
४. २ । २ । ३० ॥
५. पाठान्तरम्—इति हि महती ॥
६. पाठान्तरम्—अन्वर्थसञ्ज्ञा ॥
७. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥
८. सा०—पृ० ५१ ॥

अपूर्वनिपाते । ७ । १ । एका विभक्तिर्यस्य तत् पदम् । 'अपूर्वनिपाते' इति पर्य्युदासः प्रतिषेधः । तेन पूर्वेण [सूत्रेण] प्राप्तोपसर्जन-सञ्ज्ञा न प्रतिषिध्यते । समासविधानेषु योगेषु एकविभक्ति यत् पदं, तदुपसर्जन-सञ्ज्ञं भवति, 'अपूर्वनिपाते' पूर्वनिपातं = पूर्वनिपातकार्यं विहाय । द्व्यादिपदानां समासो भवति । तत्र यस्मिन् पदे एकैव विभक्तिर्भवति, तदुपसर्जन-सञ्ज्ञं भवति । तत्सम्बन्धिनि सर्वा अपि भवन्तु । तद्यथा—अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया । मालामतिक्रान्तः = अतिमालः । खट्वामतिक्रान्तः = अतिखट्वः । मालामतिक्रान्तेन = अतिमालेन । मालामतिक्रान्ताय = अतिमालाय । मालामतिक्रान्ताद् = अतिमालात् । मालामतिक्रान्तस्य = अतिमालस्य । मालामतिक्रान्ते = अतिमाले । हे मालामतिक्रान्त = अतिमाल । अत्र नियतद्वितीया-विभक्त्यन्तो माला-शब्दः । सर्वविभक्त्यन्तश्च क्रान्त-शब्दः । तत्र माला-शब्दस्योपसर्जन-सञ्ज्ञाकरणात् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य'॥' इत्युपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययान्तस्य माला-शब्दस्य ह्रस्वो भवति ॥

'अपूर्वनिपाते' इति किमर्थम् । माला-शब्दस्य पूर्वनिपातो मा भूत् ॥ ४४ ॥

समास दो आदि [अर्थात् दो वा दो से अधिक] पदों का होता है । 'च' और उस समास के विषय में जिस पद में सात विभक्तियों में से कोई **'एकविभक्ति'** एक विभक्ति नियम से हो, उस पद की **'उपसर्जनम्'** उपसर्जन-सञ्ज्ञा हो, और उस पद के सम्बन्धी दूसरे पद में सब विभक्ति भी हों, परन्तु जिस नियतविभक्ति पद की उपसर्जन-सञ्ज्ञा है, वह **'अपूर्वनिपाते'** पूर्व न हो । जैसे—**अतिमालः** । यहां माला-शब्द की उपसर्जन सञ्ज्ञा के होने से उस को ह्रस्व हो गया है ॥

इस सूत्र में अपूर्वनिपात-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि माला-शब्द समास करने में पूर्व न हो जाय ॥ ४४ ॥

[अथ प्रातिपदिक-सञ्ज्ञासूत्रे]

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्॥ ४५ ॥

अर्थवत् । १ । १ । अधातुः । १ । १ । अप्रत्ययः । १ । १ । प्रातिपदिकम् । १ । १ । अर्थोऽस्यास्तीति अर्थवत् । नित्ययोगे मतुप्-प्रत्ययः । शब्दार्थसम्बन्धा नित्याः । 'अधातुरप्रत्ययः' इति पर्युदासः प्रतिषेधः । अर्थवच्छब्दरूपं प्रातिपदिक-सञ्ज्ञं भवति धातुप्रत्ययौ वर्जयित्वा । डित्थः । सार्व-

---

१. १ । २ । ४८ ॥ २. ना०—सू० ५ ॥

धातुकम् । आर्धधातुकम् । कुण्डम् । काण्डम् । धनम् । वनम् । **अत्र अर्थवतः** प्रातिपदिक-सञ्ज्ञत्वात् स्याद्युत्पत्तिः ॥

'अर्थवत्' इति किमर्थम् । 'धनं, वनम्' इति पृथक् पृथग् वर्णानां प्रातिपदिक-सञ्ज्ञायां सत्यां केवलस्य नकारस्यापि प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा स्यात् । तत्र **'न-लोपः प्रातिपदिकान्तस्य[1] ॥'** इति न-लोपः प्रसज्येत । एतेषां वर्णानां समुदाया अर्थवन्तः, अवयवा अनर्थकाः ॥

'अधातुः' इति किमर्थम् । **'अहन् वृत्रं वृत्रतरम्[2] ।'** अत्र 'अहन्' इति धात्वन्तस्य यदि प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा स्यात्, तर्हि **'न-लोपः प्रातिपदिकान्तस्य[1] ॥'** इति न-लोपः प्राप्नोति ॥

'अप्रत्ययः' इति किमर्थम् । काण्डे । कुड्ये । यद्यत्र प्रत्ययान्तस्य प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा स्यात्, तर्हि **'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य[3] ॥'** इति ह्रस्वत्वं प्रसज्येत ॥ ४५ ॥

'अर्थवत्' अर्थवान् शब्दों की 'प्रातिपदिकम्' प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है **'अधातुः'** धात्वन्त और 'अप्रत्ययः' प्रत्ययान्त शब्दों को छोड़के । अर्थवान् शब्द में नित्ययोग अर्थ में मतुप्-प्रत्यय होता अर्थात् शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है । इससे शब्द अर्थवान् कहाते हैं । 'डित्थः । कपित्थः' इत्यादि अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होने से विभक्तियों का उत्पन्न होना आदि कार्य सिद्ध होते हैं ॥

इस सूत्र में अर्थवान्-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'धनं, वनम्' इन शब्दों में एक एक वर्ण की पृथक् २ जो प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो, तो नकार का लोप पाता है, सो न हो ॥

अधातु-ग्रहण इसलिये है कि 'अहन् वृत्रम्' यहां अहन् क्रिया की जो प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो, तो नकार का लोप हो जाय ॥

और अप्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि 'काण्डे, कुड्ये' यहां जो प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो, तो इन शब्दों को ह्रस्व पाता है, सो न हो ॥ ४५ ॥

कृत्तद्धितसमासाश्च[4] ॥ ४६ ॥

कृत्-तद्धित-समासाः । १ । ३ । च । अ० । कृच्च तद्धितश्च समासश्च ते । कृदन्तानां तद्धितप्रत्ययान्तानां समासस्य च प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा भवति । कृत्—कर्त्तव्यम् । हर्त्तव्यम् । कारकः । हारकः । कर्त्ता । हर्त्ता । तद्धितः—

---

१. ८ । २ । ७ ॥
२. ऋ०—१ । ३२ । ५ ॥
मै०—४ । १३ । ३ ॥
३. १ । २ । ४७ ॥
४. ना०—सू० ६ ॥

औपगवः । कापटवः । दाक्षिः । प्लाक्षिः । गार्ग्यः । वात्स्यः । समासः—कष्ट-श्रितः । नरकश्रितः । शङ्कुलाखण्डः । यूपदारु । वृकभयम् । राजपुरुषः । अ-क्षशौण्डः । अत्र सर्वत्र प्रातिपदिक-सञ्ज्ञाश्रयणात् स्वाद्युत्पत्तिः । पूर्वस्मिन् सूत्रे 'अधातुरप्रत्ययः' इति पर्युदासप्रतिषेधात् कृत्तद्धितानामपि प्रातिपदिक-सञ्ज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्तः । तदनेन विधीयते ॥

भा०—समास-ग्रहणं किमर्थम् । अर्थवत्समुदायानां समास-ग्रहणं नियमार्थं भविष्यति[1] ॥[2]

समास एवार्थवतां समुदायानां प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा भवति नान्य इति । अने-नैतज्ज्ञातव्यं—अर्थवतां पदानां समुदायस्य = अर्थवतो वाक्यस्य प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा मा भूत् । इदमेव समास-ग्रहणस्य प्रयोजनम् ॥ ४६ ॥

पूर्व सूत्र में धात्वन्त और प्रत्ययान्त शब्दों की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा का प्रतिषेध किया है, इसलिये इस सूत्र में कृदन्त और तद्धितान्त का विधान किया है। 'च' और 'कृत्तद्धित-समासाः' कृत्प्रत्ययान्त शब्द, तद्धितप्रत्ययान्त शब्द और समास के शब्द, ये सब 'प्रातिपदि-कम्' प्रातिपदिक-सञ्ज्ञक हों। कर्त्तव्यम् । यहां कृदन्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है । औपगवः । यहां तद्धितान्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है और 'राजपुरुषः' यहां समास की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है । इस सब के [प्रातिपदिक] होने से विभक्ति उत्पन्न होती हैं ॥

इस सूत्र में समास-ग्रहण का यह प्रयोजन है कि अर्थवान् पदों के समुदाय की जो प्राति-पदिक-सञ्ज्ञा हो, तो समास ही की हो, अर्थात् पदों का समुदाय जो अर्थवान् वाक्य हो, उस की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा न हो ॥ ४६ ॥

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य[3] ॥ ४७ ॥

ह्रस्वः । १ । १ । नपुंसके । ७ । १ । प्रातिपदिकस्य । ६ । १ । न-पुंसकलिङ्गे वर्त्तमानस्याजन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति । 'अलोऽन्त्यस्य[4] ॥' इति सूत्रेणान्तादेशो विधीयते । 'अचश्च[5] ॥' इति परिभाषयाऽजुपलभ्यते । अ-तिरि कुलम् । उपगु कुलम् । 'अतिरि' इति ऐकारस्य ह्रस्व इकारः । 'उपगु' इति ओकारस्य ह्रस्व उकारो भवति ॥

'नपुंसके' इति किमर्थम् । ग्रामणीः । सेनानीः । अत्र ह्रस्वो न भवति ॥

१. भाष्ये तु "इति" इति पाठः ॥
२. कोशेऽत्र—"आ० २ [व्या०]" इत्युद्-रणस्थलम् ॥
३. सा०—पृ० ३ ॥
चा० श०—"सुपि ह्रस्वः ॥" (२ । २ । ८४)
४. १ । १ । ५१ ॥
५. १ । २ । २८ ॥

प्रातिपदिक-ग्रहणं किमर्थम् । काण्डे । कुड्ये । अत्रापि प्रातिपदिकाभावे ह्रस्वत्वं न भवति ॥ ४७ ॥

'**नपुंसके**' नपुंसकलिंग में वर्तमान जो 'अचः' अजन्त '**प्रातिपदिकस्य**' प्रातिपदिक, उस को '**ह्रस्वः**' ह्रस्व हो। '**अलोऽन्त्यस्य**[1] ॥' इस परिभाषासूत्र से प्रातिपदिक के अन्त को ह्रस्व होता है। **उपगु**। यहां गो-शब्द के ओकार को उकार ह्रस्व हुआ है॥

नपुंसक-ग्रहण इसलिये है कि '**ग्रामणीः**' यहां ह्रस्व न हो ॥

तथा प्रातिपदिक-ग्रहण इसलिये है कि '**काण्डे**' यहां अप्रातिपदिक को ह्रस्व न हो ॥४७॥

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य[2] ॥ ४८ ॥

'प्रातिपदिकस्य' इत्यनुवर्त्तते, 'ह्रस्वः' इति च। गोस्त्रियोः । ६ । २ । उपसर्जनस्य । ६ । १ । गो-शब्दान्तस्योपसर्जनस्य प्रातिपदिकस्य स्त्रीप्रत्ययान्तस्योपसर्जनस्य प्रातिपदिकस्य च ह्रस्वादेशो भवति । चित्रगुः । शवलगुः । **निष्कौशाम्बिः**[3] । **निर्वाराणसिः** । चित्रा गावो यस्य, शवला गावो यस्य चेति विग्रहे कृतेऽन्यपदार्थविवक्षायां गो-शब्दस्याप्रधानत्वादुपसर्जन-सञ्ज्ञा । तस्य ह्रस्व उकारो भवति । कौशाम्ब्या निर्गतः,वाराणस्या निर्गतश्चेति विग्रहे '**निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः**[4] ।' इति वार्त्तिकेन समासे कृते '**एकविभक्ति चापूर्वनिपाते**[5] ॥' इत्युपसर्जन-सञ्ज्ञा । तत ईकारस्य ह्रस्व इकार आदिश्यते ॥

---

१. १ । १ । ५१ ॥

२. सा०—पृ० ५२ ॥
चा० श०—"गोरप्रधानस्यान्त्यस्य ॥ ङ्यादीनाम् ॥" (२ । २ । ८५, ८६)

३. सम्प्रति सर्वथा खण्डिता एषा नगरी "कोसम-ग्राम" इति प्रसिद्धा यमुनानद्या वामतीरे प्रयागनगर्याः चतुर्विंशतिक्रोशदूरं प्राचीनशिलालेखैः सूचिता तिष्ठति । नातिविराद् प्रागेव कोसमग्रामात् पंचक्रोशदूरभवे मेओहरग्रामे विशीर्णदेवमन्दिरद्वारेऽभिलिखितः सं० १२४५ कालीनो लेख उपलब्धः । तस्मादयं सिद्धेश्वरदेवमन्दिरः श्रीवास्तव्यठक्कुरेण महादेवग्रामे कौशाम्बीदेशे कारित इति ज्ञायते ॥

शतपथब्राह्मणे (१२ । २ । २ । १३) अयत एकः कौशाम्बेयः (कौशाम्बीनगरवास्तव्य इति हरिस्वामी) प्रोतिः ॥ (अपि च दृश्यतां गोपथब्राह्मणे १ । २ । २४)

पुरा इयं (चीनाक्षरेषु "किऔ-शंग-मि") मुरुण्डवंशोद्भवस्योदयनस्य राजधानी आसीत् । यथाह्युक्तं बुद्धस्वामिना—

अस्ति वत्सेषु नगरी कौशाम्बी हृदयं भुवः ।
सन्निविष्टानुकालिन्दी तस्यामुदयनो नृपः ॥
(बृहत्कथाश्लोकसंग्रहे ४ । १४)

कथासरित्सागरे (१ । ३) वार्त्तिककारो वररुचिः कौशाम्ब्यां जात इति प्रतिज्ञातं, परं भाष्यकारस्त्वाह—"प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः ।" (अ० १ । पा० १ । आ० १) "दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते ।" (अ० १ । पा० १ । आ० ५)

४. भाष्ये "कुगतिप्रादयः ॥" (२ । २ । १८) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने सौनागव्याकरणसिद्धमिदं वार्त्तिकम् ॥

५. १ । २ । ४४ ।

अस्मिन् सूत्रे स्त्री-शब्दे स्वरितस्य लिङ्गमस्ति । 'स्त्रियाम्[1] ॥' इत्यधिकारे स्त्री-शब्दः स्वरितोऽस्ति । तेन स्त्र्यधिकारे ये प्रत्ययाः, तेषामेव ह्रस्वो भवति । इह न भवति — अतितन्त्रीः । अतिलक्ष्मीः । अतिश्रीः । अत्रौणादिक[2] ई-प्रत्ययः ॥

'उपसर्जनस्य' इति किमर्थम् । राजकुमारी — राज्ञः कुमारी । 'राजकुमारी' इति कुमारी-शब्दस्य प्रधानत्वादुपसर्जन-सञ्ज्ञैव न भवति ॥

वा० — *ईयसो बहुव्रीहौ पुंवद्वचनम् ॥*

बह्व्यः श्रेयस्योऽस्य = बहुश्रेयसी । विद्यमानश्रेयसी ॥[3]

अत्र सूत्रेण प्राप्तं ह्रस्वत्वं वार्त्तिकेन प्रतिषिध्यते । पुंवद्भाव एव [च] भवति ॥ ४८ ॥

'गोस्त्रियोः' गो-शब्दान्त और स्त्रीप्रत्ययान्त जो 'अचः' अजन्त '**उपसर्जनस्य**' उपसर्जन-सञ्ज्ञक प्रातिपदिक है[4], उस को 'ह्रस्वः' ह्रस्व आदेश हो । **चित्रगुः** । यहां बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ की दृष्टि में गो-शब्द के अप्रधान होने से उस की उपसर्जन-सञ्ज्ञा होके ह्रस्व उकार हुआ है । **निष्कौशाम्बिः** । यहां कौशाम्बी-शब्द की नियतविभक्ति होने से उपसर्जन-सञ्ज्ञा होके ईकार को ह्रस्व इकार हुआ है ॥

इस सूत्र में स्त्री-शब्द पर स्वरित का चिह्न रक्खा गया है, क्योंकि स्त्र्यधिकार में जो प्रत्यय होते हैं, उन्हीं को ह्रस्व हो । **अतिश्रीः** । यहां श्री-शब्द उणादि का है, उस को ह्रस्व न हो ॥

और उपसर्जन-ग्रहण इसलिये है कि 'राजकुमारी' यहां कुमारी-शब्द प्रधान है, इससे उपसर्जन-सञ्ज्ञा भी नहीं ॥ ४८ ॥

लुक् तद्धितलुकि[5] ॥ ४९ ॥

स्त्री-शब्दः, 'उपसर्जनस्य' इति चानुवर्त्तते । लुक् । १ । १ । तद्धितलुकि । ७ । १ । तद्धितस्य लुक् = तद्धितलुक्, तस्मिन् । तद्धितलुकि सति स्त्रीप्रत्ययान्तस्योपसर्जनस्य लुग् भवति । 'अलोऽन्त्यस्य[6] ॥' इत्यन्त्यस्य [लुग्] विज्ञेयन् । पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य = पञ्चेन्द्रः स्थालीपाकः । अत्र 'इन्द्रवरुण०[7] ॥' इत्यादिना ङीष्, इन्द्र-शब्दस्यानुक् [च]। ततः पञ्चेन्द्राणी-शब्दात्

---

१. ४ । १ । ३ ॥

२. द्रष्टव्यम् — "अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः ॥ लक्षेर्मुट् च ॥ क्विब् वचिप्रच्छिश्रि० ॥" (क्रमेण ३ । १५८ ॥ ३ । १६० ॥ २ । ५७)

३. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

४. कोश में इस प्रकार से है — "(गोस्त्रियोः) गोशब्दान्त जो (अचः) अजन्त (उपसर्जनस्य) उपसर्जन प्रातिपदिक और स्त्रीप्रत्ययान्त जो अजन्त उपसर्जनसंज्ञक प्रातिपदिक है ।"

५. चा० श० — "लुगणादिलुक्यगोणयादीनाम् ॥" (२ । २ । ८७)

६. १ । १ । ५१ ॥

७. ४ । १ । ४९ ॥

'साऽस्य देवता[1] ॥' इत्यण् । तस्य 'द्विगोर्लुगनपत्ये[2] ॥' इति लुक् । तत्र लुकि सति ङीपो लुग् अनेन । 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ॥' इत्यनया परिभाषयाऽऽनुकोऽभावः । विशाखायां जातो माणवकः = विशाखः । अनुराधायां जातः = अनुराधः । अत्र जातार्थस्य प्रत्ययस्य लुकि सति स्त्री-प्रत्ययस्य टापो लुक् ॥

तद्धित-ग्रहणं किमर्थम् । इन्द्राण्याः कुलम् = इन्द्राणीकुलम् । अत्र षष्ठ्येकवचनस्य लुक् ॥

'लुकि' इति किम् । गार्ग्यीत्वम् ॥

'उपसर्जनस्य' इति किम् । अवन्ती । कुन्ती । 'अवन्तीनां[3] राज्ञी, कुन्तीनां[4] राज्ञी' इत्यर्थे तद्धितस्य लुक्[5] । तत्रावन्तीनां प्राधान्येनोपसर्जनाभावः, अवन्त्यादिदेशानां राज्यर्थप्रधानत्वात् ॥ ४९ ॥

'तद्धितलुकि' जिस प्रयोग में तद्धितप्रत्यय का लुक् हो, वहां 'स्त्रियाः' स्त्रीप्रत्ययान्त 'प्रातिपदिकस्य' प्रातिपदिक के अन्त्य का 'लुक्' लुक् हो जाय । पञ्चेन्द्रः । यहां अण्-प्रत्यय का लुक् हुआ है । उस के होने से [इस सूत्र से] ङीप्-प्रत्यय का लुक् हो गया ॥

तद्धित-ग्रहण इसलिये है कि 'इन्द्राणीकुलम्' यहां षष्ठी विभक्ति के एकवचन का लुक् हुआ है ॥

लुक्-ग्रहण इसलिये है कि 'गार्ग्यीत्वम्' यहां किसी का लुक् नहीं हुआ ॥

और उपसर्जन-ग्रहण इसलिये है कि 'अवन्ती' यहां उपसर्जन-सञ्ज्ञा ही नहीं ॥ ४९ ॥

इद् गोण्याः[6] ॥ ५० ॥

'तद्धितलुकि' इत्यनुवर्त्तते । इत् । १ । १ । गोण्याः । ६ । १ । पूर्वेण लुकि प्राप्त इकारादेशो विधीयते । तद्धितलुकि सति गोणी-शब्दस्य इकारादेशो भवति । पञ्चभिः गोणीभिः क्रीतः = पञ्चगोणिः । दशगोणिः । अत्र क्रीतार्थे 'अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः०[7] ॥' इति तद्धितस्य लुकि गोण्या इत्त्वम् ॥

---

१. ४ । २ । २४ ॥

२. ४ । १ । ८८ ॥

३. = मालवदेशस्य । अवन्तीनामुज्जयिनी नाम राजधानी आसीत् ॥

४. काठकसंहितायाम्—"ततः कुन्तयः पञ्चालाभ्यौत्य जिवन्ति ।" (२६ । ९)

५. दृश्यतां—"स्त्रियामवन्तिकुन्ति० ॥" (४ । १ । १७६) इति सूत्रम् ॥

६. चा० श०—"लुगणादिलुक्यगोण्यादीनाम् ॥" (२ । २ । ८७)

७. ५ । १ । २८ ॥

'गोण्या न ॥' इति सूत्रे कृते लुङ्निषेधे ह्रस्वत्वं भविष्यति, पुनरिद्-ग्रहणस्य एतत् प्रयोजनम् — गोणी-शब्दादन्यत्रापीत्त्वं यथा स्यात् । पञ्चभिः सूचीभिः क्रीतः = पञ्चसूचिः । दशसूचिः ॥ ५० ॥

पूर्व सूत्र से लुक् प्राप्त था, तब इद्-विधान किया है । 'तद्धितलुकि' जहां तद्धितप्रत्यय का लुक् हो, वहां 'गोण्याः' गोणी-शब्द को 'इत्' इकारादेश हो जाय । पञ्चगोणिः । यहां क्रीतार्थ में तद्धितप्रत्यय का लुक् हुआ है । फिर गोणी-शब्द को इकारादेश हो गया ॥

(प्र०) गोणी-शब्द के स्त्रीप्रत्यय के लुक् का निषेध कर देते और पूर्व [सूत्र] से ह्रस्व[-शब्द] की अनुवृत्ति करके गोणी-शब्द को ह्रस्व हो जाता, फिर इस सूत्र में इकारादेश-ग्रहण किसलिये है । (उ०) इद्-ग्रहण इसलिये है कि 'पञ्चसूचिः' इत्यादि अन्य शब्दों को भी इकारादेश हो जाय ॥ ५० ॥

लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने[1] ॥ ५१ ॥

तद्धित-ग्रहणमनुवर्त्तते । लुपि । ७ । १ । युक्तवत् । अ० । व्यक्तिवचने । १ । २ । तद्धितप्रत्ययस्य लुपि सति व्यक्तिवचने = लिङ्गसङ्ख्ये युक्तवत् = पूर्ववद् भवतः, अर्थात् प्रत्ययोत्पत्तेः पूर्वं ये लिङ्गसङ्ख्ये वर्त्तेते, ते पश्चाल्लुप्यपि भवतः । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः = शिरीषाः । कटुबदर्य्या अदूरभवो ग्रामः = कटुबदरी[2] । पञ्चालानां निवासो जनपदः = पञ्चालाः । शिरीष-पञ्चाल-शब्दौ पूर्वं पुँल्लिङ्गौ बहुवचनौ, पश्चादपि तथैव भवतः । कटुबदरी-शब्दः स्त्रीलिङ्ग एकवचनश्च, लुप्यपि तथैव भवति ॥

'लुपि' इति किमर्थम् । लवणेन संस्कृतः सूपः = लवणः । लवणा यवागूः । लवणं शाकम् । अत्र संस्कृतार्थस्य प्रत्ययस्य लुकि[3] व्यक्तिवचने युक्तवन्न भवतः ॥

'व्यक्तिवचने' इति किमर्थम् । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः, तस्य वनं = शिरीषवनम् । यद्यत्र वनस्पतिवाचिनः शिरीष-शब्दस्य सामान्येन युक्तवत्त्वं स्यात्, तर्हि प्रत्ययस्य लुपि सत्यपि प्रत्ययार्थे वनस्पतिवाचिनः शिरीष-शब्दस्य सम्प्रत्ययः स्यात् । तत्र 'विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः[4] ॥' इति णत्वं प्रसज्येत । तन्न भवति ॥ ५१ ॥

---

१. "युक्तः (प्रकृतिभूतः शब्दः), व्यक्तिः, वचनम्" इति पूर्वाचार्यसञ्ज्ञाः ॥

२. अपि च वामनीयलिङ्गानुशासने—"गोदौ नाम ह्रदौ, तयोरदूरभवो ग्रामः=गोदौ ग्रामः । वरणानामदूरभवं नगरं=वरणाः नगरम् । ..." (श्लो० २७)

३. दृश्यतां "लवणाल्लुक् ॥" (४ । ४ । २४) इति सूत्रम् ॥

४. ८ । ४ । ६ ॥

'तद्धितलुपि' तद्धितप्रत्यय के लुप् होने में प्रत्यय की उत्पत्ति के पूर्व जो **'व्यक्तिवचने'** लिङ्ग, वचन हों, वे प्रत्यय के लुप् हो जाने में भी 'युक्तवत्' यथावत् रहें। **पञ्चाला जनपदः।** यहां प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व पञ्चाल-शब्द पुंल्लिङ्ग और बहुवचन था, सो पीछे निवासार्थ प्रत्यय के लुप् होने पर भी बना रहा। इस सूत्र का प्रयोजन यह है कि अन्यत्र अभिधेय का लिङ्ग, वचन होता है। जैसे—लवणः सूपः। यहां संस्कृत अर्थ में प्रत्यय का लुक् होने से अभिधेय के जो लिङ्ग, वचन हैं, सो पीछे भी होते हैं॥

इस सूत्र में व्यक्तिवचन-ग्रहण इसलिये है कि प्रत्ययोत्पत्ति के पूर्व जो शब्दार्थ हो, पीछे वही नहीं बना रहे, किन्तु प्रत्यय का जो अर्थ हो, वह प्रसिद्ध हो ॥ ५१ ॥

विशेषणानां चाऽऽजातेः ॥ ५२ ॥

['लुपि' इत्यनुवर्त्तते।] विशेषणानाम्। ६। ३। च। अ०। आजातेः। ५। १। तद्धितप्रत्ययस्य लुपि लुबर्थविशेषणानां व्यक्तिवचने युक्तवद् भवतः, आजातेः = जातेः पूर्वम्[1]। यदा तु विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा जातिर्विवक्ष्यते, तदा न भवति। पञ्चालाः रमणीयाः, बह्वन्नजलाः, सम्पन्नपानीयाः, बहुमाल्यफलाः। पञ्चाल-शब्दस्य विशेष्यस्य लिङ्गवचनानि भवन्ति ॥

'आजातेः' इति किम्। पञ्चाला जनपदो बह्वन्नः, बहुमाल्यफलः, सम्पन्नपानीयः। अत्र जातिविवक्षायां न भवति ॥

वा०—हरीतक्यादिषु व्यक्तिर्भवति युक्तवद्भावेन ॥ १ ॥
हरीतक्याः फलानि = हरीतक्यः[2] फलानि ॥
खलतिकादिषु वचनं भवति युक्तवद्भावेन ॥ २ ॥
खलतिकस्य[3] पर्वतस्यादूरभवानि वनानि = खलतिकं वनानि ॥
मनुष्यलुपि प्रतिषेधः ॥ ३ ॥ चञ्चा[4] अभिरूपः। वध्रिका[6] दर्शनीयः ॥[7]

---

१. महाभाष्ये "विशेषणानां युक्तवद्भावो भवत्या जातिप्रयोगात्।" इति। परं जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादयस्त्वाहुः—"लुबर्थस्य यानि विशेषणानि तेषामपि व्यक्तिवचने भवतो जातिं वर्जयित्वा।" (काशिकायां १। २। ५२ ॥ एवमेव शब्दकौस्तुभादिषु) तैः च "अजातेः" इति विग्रहः क्रियते ॥

२. दृश्यताम्—"हरीतक्यादिभ्यश्च ॥" (४। ३। १६७) इति सूत्रम् ॥

३. गयाप्रान्ते "बराबर" इति नाम्ना प्रसिद्धः। तस्मिन् प्रियदर्शिराजाशोककालीनाः, तस्य प्रपौत्रदशरथकालीनाश्च "सातघरा" (=सप्तगृहाः), "नागार्जुनी" इति चाख्याता गुहाः, पातालगङ्गानामोत्सश्च महान् तीर्थोऽस्ति ॥

४. द्रष्टव्यताम्—"अदूरभवश्च ॥ वरणादिभ्यश्च ॥" (४। २। ७०, ८२) इति सूत्रे ॥

५. चञ्चा = तृणमयः पुरुषः ॥

६. वध्रिका = हतपुँस्त्वः ॥

७. अ० १। पा० २। आ० २ ॥

इमानि त्रीणि वार्त्तिकानि सूत्राच्छिष्टप्रयोजनसाधकानि सन्ति । तद्यथा— प्रथमेन वार्त्तिकेन हरीतकी-शब्द एकवचनः स्त्रीलिङ्गश्च । पश्चात् फलार्थे तद्धितलुपि सति बहुवचनं तु भवति, लिङ्गं युक्तवद् = पूर्ववदेव भवति । द्वितीयवार्त्तिकेन लिङ्गमभिधेयवद् भवति, वचनं पूर्ववदेव । तृतीयेन वार्त्तिकेन लिङ्गसङ्ख्ये युक्तवन्न भवतः, किन्त्वभिधेयवद् भवतः । चञ्चा अभिरूपः । चञ्चा इव = चञ्चासदृशो मनुष्यश्चञ्चा । 'लुम्मनुष्ये'[1] ॥' इति प्रत्ययस्य लुप् । तत्र सूत्रेण युक्तवद्भावः प्राप्तः, अनेन निषिध्यते ॥

का०— आविष्टलिङ्गा जातिर्यल्लिङ्गमुपादाय प्रवर्त्तते ।
उत्पत्तिप्रभृत्या विनाशान्न[2] तल्लिङ्गं जहाति[3] ॥[4]

आविष्टं = समन्ताद् व्याप्तं लिङ्गं यया, अर्थात् नियतलिङ्गा जातिर्भवति । कल्पादौ घटादयो जातिशब्दा येन लिङ्गेन शब्दव्यवहारे प्रवर्त्तन्ते, कल्पान्तं तल्लिङ्गं नैव त्यजन्ति । जातिस्तु नित्या, पुनरुत्पत्तिविनाशौ कथं स्याताम् । तत्रैवं विज्ञेयं — [कल्पादौ] व्यवहारे प्रवृत्ता भवन्ति, कल्पान्ते व्यवहाराभावे विनष्टा इव भवन्ति ॥५२॥

'तद्धितलुपि' तद्धितप्रत्यय के लुप् होने में 'विशेषणानाम्' निवासादि प्रत्ययार्थ के विशेषण जो शब्द हों, उन के 'च' भी 'व्यक्तिवचने' लिङ्ग, वचन 'युक्तवत्' पूर्व के तुल्य हों, परन्तु 'आजातेः' जातिवाची कोई विशेष्य वा विशेषण हों, तो उन के लिङ्ग, वचन अभिधेय अर्थात् निवासादि प्रत्ययार्थ के से हों । पञ्चाला रमणीयाः । यहां रमणीय-शब्द जो पञ्चाल-शब्द का विशेषण है, उस के लिङ्ग, वचन पञ्चाल-शब्द के तुल्य हो गये ॥

आजाति-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'पञ्चाला जनपदो रमणीयः' यहां जातिवाची के होने से पूर्व के तुल्य लिङ्ग, वचन नहीं हुए ॥

इस सूत्र पर तीन वार्त्तिक हैं । वे सूत्र से कुछ विशेष बात के जनाने वाले हैं । प्रथम वार्त्तिक से 'हरीतक्यः फलानि' यहां लिङ्ग तो पूर्ववत् हो गया और वचन नहीं हुआ । दूसरे [वार्त्तिक] से 'खलतिकं वनानि' यहां वचन तो पूर्व के तुल्य हो गया, और लिङ्ग नहीं हुआ । और तीसरे वार्त्तिक से 'चञ्चा अभिरूपः' यहां लिङ्ग, वचन दोनों ही पूर्ववत् नहीं होते । सूत्र से पाते थे । मनुष्यवाची शब्द में वार्त्तिक से निषेध हो गया ॥

'आविष्टलिङ्गा०' इस कारिका से जाति का लक्षण किया है । जाति उस को कहते हैं कि जो आविष्टलिङ्ग अर्थात् नियतलिङ्ग हो । जैसे—घटः । घड़ा-शब्द का लिङ्ग कभी नहीं बदलता । कल्प के आदि में संसार के व्यवहारों में शब्दों की प्रवृत्ति होती [है] और कल्प के अन्त में मनुष्यों के नहीं रहने से निवृत्ति हो जाती है । इसी को उत्पत्ति और विनाश माना

---

१. ५ । ३ । ९८ ॥
२. पाठान्तरम्—विनाशाच्चलिङ्गं न जहाति ॥
३. कोशेऽत्र "॥ १ ॥" इति ॥
४. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

है । सो कल्प के आदि में जिस लिङ्ग से प्रवृत्त हों, उस लिङ्ग को प्रलयपर्य्यन्त नहीं त्यागें, वे जातिशब्द कहाते हैं ॥ ५२ ॥

तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात् ॥ ५३ ॥

तत् । १ । १ । अशिष्यम् । १ । १ । सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात् । ५ । १ । शासितुं योग्यं = शिष्यम् । न शिष्यं = अशिष्यम् । सञ्ज्ञायाः प्रमाणं = सञ्ज्ञाप्रमाणम्, तस्य भावः, तस्मात् । सञ्ज्ञा-शब्दोऽत्र यौगिकः । सञ्ज्ञानं = सञ्ज्ञा । नैव कृत्रिमस्य वृद्ध्यादेर्ग्रहणम् । तत् = पूर्वोक्तं युक्तवद्भावलक्षणं, अशिष्यं = शासितुमयोग्यं = नैव कर्त्तव्यम् । कुतः । सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्—सञ्ज्ञानां = लोकव्यवहाराणां तत्र प्रमाणत्वात् । यथा 'दाराः[1], आपः[2], सुमनसः' इत्यादिषु शब्देषु लिङ्गवचनानि लोकतो निश्चितान्येव सन्ति, नैवात्र सूत्राणां प्रवृत्तिर्भवति । तथैव पञ्चालादिशब्दा अपि नियतलिङ्गवचनाः सन्तीति ॥ ५३ ॥

'तद् युक्तवत्' पूर्व सूत्रों में जो लिङ्ग, वचन पूर्व के तुल्य कहे हैं, सो वे सूत्र ही 'अशिष्यम्' नहीं करने चाहियें । क्योंकि यहां 'सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्' लिङ्ग, वचन लोक से ही सिद्ध हैं । जैसे—आपः । यह जल का वाची शब्द स्त्रीलिङ्ग और बहुवचन सदैव रहता है । तथा—दाराः । यह स्त्री का वाची शब्द पुँल्लिङ्ग और बहुवचन नित्य बना रहता है । तो क्या लिङ्ग, वचन यहां सूत्रों से सिद्ध होते हैं । वैसे ही पञ्चालादि शब्द भी नियतलिङ्गवचन लोक से ही सिद्ध हैं । फिर सूत्र बनाना व्यर्थ है ॥ ५३ ॥

लुब् योगाप्रख्यानात् ॥ ५४ ॥

'अशिष्यम्' इत्यनुवर्त्तते । लुप् । १ । १ । योगाप्रख्यानात् । ५ । १ । लुब्विधायकं 'जनपदे लुप्[3] ॥' इत्यादि सूत्रमशिष्यं = नैव कर्त्तव्यम् । कुतः । योगाप्रख्यानात्—योगेऽवयवार्थे यस्मिन्निवासाद्यर्थे प्रत्यया लुप्यन्ते, तस्याप्रख्यानं, लोके सोऽर्थो नोपलभ्यते । पञ्चालादिशब्दा देशविशेषस्य सञ्ज्ञा एव । निवा-

---

१. द्रश्यतां बृहदारण्यकोपनिषदि—"एवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेत् ।" (६।४।१२) अथापि आपस्तम्बधर्मसूत्रे (१ । १४ । २४) गौतमधर्मशास्त्रे (२२ । २६) च नपुंसकैकवचनम् । भागवतपुराणे (७।१४।२) स्त्रीलिङ्गैकवचनमपि ॥

२. द्रश्यतां तन्त्रवार्त्तिके—"न हि ते सुप्तिङुपग्रहादिव्यत्ययेन नापि कतिपयाधिकारदृष्टेन 'बहुलं छन्दसि ॥' इत्यनेन सिद्धयन्ति । तद्यथा—'मध्यमापस्य तिष्ठति ।' 'नीचीनबारं वरुणः कवन्धम् ।' (ऋ० ५ । ८५ । ३) इति । न हि 'अपां' इत्यस्य नित्यस्त्रीलिङ्गबहुवचनविषयव्यञ्जनान्तप्रातिपदिकपरषष्ठ्याम्वाख्यानाद् 'आपस्य' इत्येतद् रूपं लक्षणानुगतं दृश्यते । नापि द्वारशब्दस्य स्थाने लाटभाषातोऽन्यत्र वारशब्दः [निरुक्ते (१० । ४)—"(नीचीनबारं =) नीचीनद्वारं] सम्भवति ॥" (१ । ३ । १८)

३. ४ । २ । ८१ ॥

सायर्थस्य लोकेऽप्रख्यानाद् = अप्रतीतत्वात् लुबर्थाः प्रत्यया उत्पद्यन्त एव न । पुनर्व्यर्थं सूत्रम् ॥

युक्तवद्भावविधायके द्वे सूत्रे, लुब्विधायकानि च सूत्राण्यन्यैर्ऋषिभिः प्रोक्तानि, तानि पाणिनिना प्रत्याख्यायन्ते ॥ ५४ ॥

'लुप्' लुप्‌विधायक जो 'जनपदे लुप्[1]॥' इत्यादि सूत्र हैं, वे 'अशिष्यम्' नहीं करने चाहियें, 'योगाप्रख्यानात्' क्योंकि जिन निवासादि अर्थों में प्रत्यय होते हैं, वे अर्थ पञ्चालादि शब्दों में नहीं हो सकते । पञ्चालादि शब्द तो देशविशेष की सञ्ज्ञा हैं । जब जिन अर्थों में प्रत्यय और लुप् होता है, वे अर्थ संसार में देखने में ही नहीं आते, तब सूत्र किसलिये हों, अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं ॥ ५४ ॥

योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् ॥ ५५ ॥

योगप्रमाणे । ७ । १ । च । [अ० ।] तदभावे । ७ । १ । अदर्शनम् । १ । १ । स्यात् । [विधिलि० । प्र० । १ ।] पूर्वसूत्रार्थमेव दृढीकरोति । यदि योगस्य प्रमाणं—निवासा[द्य]र्थस्य वाचकः पञ्चालादिशब्दः—स्यात्, तर्हि तदभावे = निवासाद्यर्थसम्बन्धाभावे क्षत्रियवाचिनः पञ्चालादिशब्दस्यादर्शनं = अप्रयोगः स्यात् । तस्माल्लुब्विधायकं सूत्रं नैव कर्त्तव्यम् ॥ ५५ ॥

पूर्व सूत्र के प्रयोजन का दृढ़ करने वाला यह भी सूत्र है । 'योगप्रमाणे' जो योग अर्थात् निवासादि अर्थ के वाचक पञ्चालादि शब्द हों, 'च' तो 'तदभावे' उस निवासादि अर्थ की लोक में प्रवृत्ति ही नहीं, फिर 'अदर्शनम्' पञ्चालादि शब्दों का अदर्शन अर्थात् प्रयोग ही नहीं 'स्यात्' हो सकता[2] । इससे निवासादि अर्थ में लुप् विधान करने वाले सूत्र 'अशिष्यम्' व्यर्थ ही समझने चाहियें ॥ ५५ ॥

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् ॥ ५६ ॥

['अशिष्यम्' इत्यनुवर्त्तते ।] प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् । १ । १ । अर्थस्य । ६ । १ । अन्यप्रमाणत्वात् । ५ । १ । प्रधानं च प्रत्ययश्च = प्रधानप्रत्ययौ । अर्थस्य वचनं = अर्थवचनम् । प्रधानप्रत्यययोरर्थवचनं = प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् । अन्यो हि शास्त्रापेक्षया लोकः, तस्य प्रमाणस्य भावः, तस्मात् । अष्टाध्यायीरचनसमये केषाञ्चिदाचार्याणामिदं मतमभूत् — प्रधानोपसर्जने

---

१. ४ । २ । ८१ ॥

२. अर्थात् यदि पञ्चाल उस देश का नाम हो, जिस में पंचाल नाम के क्षत्रिय रहते हैं, तो जब पञ्चाल नाम के क्षत्रिय उस देश में न रहें, तब उस देश का नाम भी पंचाल न रहना चाहिये । किन्तु ऐसा नहीं है । विना ही पंचाल क्षत्रियों के किसी सम्बन्ध के देश का नाम पंञ्चाल है ॥

प्रधानार्थं सह ब्रूतः। प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः। तदेतत् पाणिन्याचार्यः प्रत्याचष्टे। प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनं चाशिष्यं = न कर्त्तव्यं, अर्थस्य = प्रयोजनस्यान्यप्रमाणत्वात् = लोकप्रमाणत्वात्। प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनं च लोकत एव सिद्धम्। तद्यथा—राजपुरुषः। अत्र राजन्-शब्द उपसर्जनं, पुरुषः प्रधानम्। तदेतच्छब्दद्वयं प्रधानार्थमेव ब्रूत इत्यन्येषां मतम्। तदेतल्लोकतः सिद्धम्। लोकेऽवैयाकरणा अपि 'राजपुरुषः' इत्युक्ते राज्ञः सम्बन्धिनं कञ्चित् पुरुषविशिष्टमानयन्ति, न राजानं, नापि पुरुषमात्रम्। तथा—औपगवः। अत्र उपगु-शब्दः प्रकृतिः, अण् प्रत्ययः, अपत्यं प्रत्ययार्थः। तत्रान्येषां मतं—प्रकृतिप्रत्ययौ मिलित्वा प्रत्ययार्थमपत्यं ब्रूतः। एतदपि लोकतः सिद्धम्। लोके 'औपगवमानय' इत्युक्त उपगुविशिष्टमपत्यमानयन्ति, नोपगुं, नाप्यपत्यमात्रं, न चोभौ। तदेतत् प्रधानप्रत्ययार्थवचनं नैव कर्त्तव्यं लोकतः सिद्धत्वात् ॥ ५६ ॥

'प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्' प्रधान और प्रत्ययार्थ विषय में लक्षण कहना 'अशिष्यम्' अयुक्त है, 'अर्थस्य' उस प्रयोजन के 'अन्यप्रमाणत्वात्' लोकसिद्ध होने से। अर्थात् जिस समय अष्टाध्यायी रची गई थी, उस समय किन्हीं २ ऋषियों का ऐसा मत था कि समास में प्रायः दो पद होते हैं, वहां एक प्रधान होता और दूसरा उपसर्जन होता है। और बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ तो प्रधान तथा समास के लिये जो दो वा तीन पद होते हैं, वे उपसर्जन कहाते हैं। सो प्रधान और उपसर्जन दोनों मिलके प्रधान अर्थ को कहते हैं। तथा प्रकृति और प्रत्यय दोनों मिलके प्रत्यय के अर्थ को कहते हैं। [सो] इस बात का पाणिनिजी महाराज ने खण्डन किया है कि ये बातें लोक से सिद्ध हैं। जैसे—राजपुरुषः। यह समासान्त पद है। यहां राजन्-शब्द तो उपसर्जन और पुरुष-शब्द प्रधान है। सो लोक में व्याकरण नहीं पढ़े हुए पुरुष से कहा जाय कि 'राजपुरुष' को ले आ, तो वही राजसम्बन्धी किसी नौकर को लावेगा, किन्तु राजा को वा किसी [भी] पुरुष को नहीं लावेगा। तथा—औपगवः। यहां उपगु-शब्द प्रकृति, अण् प्रत्यय और अपत्य प्रत्ययार्थ है। सो उन लोगों का तो मत है कि प्रकृति और प्रत्यय प्रत्ययार्थ अर्थात् अपत्यार्थ को कहते हैं। और पाणिनिजी महाराज खण्डन करते हैं कि यह बात लोक से सिद्ध है। अर्थात् [यदि] कोई [किसी] व्याकरण को नहीं पढ़े हुए से कहे कि 'औपगव' को ले आ, तो उपगु के अपत्य को ही ले आवेगा, न उपगु को, न अपत्यमात्र को, और न दोनों को लावेगा। इस प्रकार लोक से सिद्ध होने से प्रधानार्थ और प्रत्ययार्थ विषय में जो किसी की कल्पना है, सो व्यर्थ समझनी चाहिये ॥ ५६ ॥

कालोपसर्जने च तुल्यम् ॥ ५७ ॥

'अशिष्यम्' इत्यनुवर्त्तते, 'अर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' इति च। कालोपसर्जने। १। २। च [अ०।] तुल्यम्। १। १। कालश्च उपसर्जनं च = कालोपसर्जने।

तुल्यश्च तुल्यं च = तुल्यम् । कालोपसर्जनविशेषणमेतत् । 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्याऽन्यतरस्याम्[1] ॥' इत्येकवद्भावः। कालः परोक्षादिः। तुल्यः = अशिष्यः। उपसर्जन-लक्षणं तुल्यं = अशिष्यम्, अर्थात्नैव कर्त्तव्यम् । कस्मात् । अर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् = प्रयोजनस्य लोकतः सिद्धत्वात् । तद्यथा केचित्तावदाहुः—वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः— वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः—कुड्यकटान्तरितं परोक्षमिति । अपर आहुः— द्व्यहत्र्यहवृत्तं परोक्षमिति । इत्यादयः कालविषयकाः कैश्चित् परिभाषाः कृताः । ता नैव कर्त्तव्याः । परोक्षादिकालो लोकतः सिद्धः । लोके कश्चिद् वदति— तत् कार्यं परोक्षमस्तीति। अर्थात् जानाति ममेन्द्रियगोचरं नास्तीति । तथा उपसर्जनविषये 'अप्रधानमुपसर्जनम्' इति परिभाषां कुर्वन्ति। सा नैव कर्त्तव्या लोकतः सिद्धत्वात् । यत्नमन्तरेणाऽपि लोकेऽवैयाकरणाः पुरुषा 'उपसर्जनम्' इत्युक्तेऽप्रधानं जानन्ति । तदेतल्लोकतः सिद्धत्वात् कालोपसर्जनविषयकं लक्षणमशिष्यम् ॥

अस्मिन् सूत्रे चकारोऽशिष्यप्रकरणनिवृत्त्यर्थः ॥ ५७ ॥

'च' और 'कालोपसर्जने' काल और उपसर्जन विषयक लक्षण भी 'तुल्यम्' अशिष्य [अर्थात्] न कहने चाहियें, 'अर्थस्य' प्रयोजन के 'अन्यप्रमाणत्वात्' लोकसिद्ध होने से ॥

परोक्षादि काल और उपसर्जन के विषय में किन्हीं २ ऋषियों ने लक्षण बांधे हैं। पाणिनिजी महाराज उन का खण्डन करते हैं कि यह बात भी लोक से सिद्ध है । अर्थात् किसी ने कहा कि यह बात मुझ से परोक्ष हुई, अर्थात् मेरे सामने नहीं हुई। और उपसर्जन के कहने से लोक में अप्रधान का बोध होता ही है। फिर इन बातों के लिये लक्षण बनाने का कुछ प्रयोजन नहीं ॥

इस सूत्र में चकार इसलिये पढ़ा है कि अशिष्य का प्रकरण पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ॥ ५८ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । जातावेकवचनमेव भवति भावस्य प्रतिपादनात् । जात्याख्यायाम् । ७ । १ । एकस्मिन् । ७ । १ । बहुवचनम् । १ । १ । अन्यतरस्याम् । अ० । जातेराख्या = जात्याख्या, तस्याम् । 'वचनम्' इति नेदं पारिभाषिकस्य ग्रहणम्—'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने[2] ॥' इति। किं तर्हि । यौगिकस्य—उच्यते यत् तद् वचनम् । बहूनामर्थानां वचनम् = बहुवचनम् । जात्याख्यायामेकत्वविवक्षिते सत्येकोऽर्थो बहुवद् विकल्पेन विधीयते । सम्पन्नो यवः, सम्पन्ना यवाः । सम्पन्नो व्रीहिः, सम्पन्ना व्रीहयः ॥

---

१. १ । २ । ६९ ॥ २. १ । ४ । २२ ॥

जाति-ग्रहणं किमर्थम् । देवदत्तः । यज्ञदत्तः । अत्र न भवति ॥

आख्या-ग्रहणं किमर्थम् । वानर इव प्रतिकृतिर्मनुष्यो वानरः[१] । अस्त्यत्र वानरो जातिशब्दः । न तु तेन जातिराख्यायते ॥

वा०— *सङ्ख्याप्रयोगे प्रतिषेधः* ॥ एको व्रीहिः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति । एको यवः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति[२] ॥

अस्मदो नामयुवप्रत्ययोश्च ॥ नामप्रयोगे — अहं देवदत्तो ब्रवीमि । अहं यज्ञदत्तो ब्रवीमि । युवप्रत्ययप्रयोगे — अहं गार्ग्यायणो ब्रवीमि । अहं वात्स्यायनो ब्रवीमि ॥

अपर आह—'अस्मदः सविशेषणस्य प्रयोगे न ।' इत्येव । इदमपि सिद्धं भवति— अहं पटुर्ब्रवीमि । अहं पण्डितो ब्रवीमि ॥[३]

अत्र सर्वत्र जात्यभिधाने विकल्पेन बहुवचनं प्राप्तं, तन्निषेधादेकवचनमेव भवति । जात्यभिधाने तु सर्वत्रैकवचनमेव भवति । यदा तु द्रव्यं विवक्षितं भवति, तदा बहुवचनं भवति ॥ ५८ ॥

'जात्याख्यायाम्' जातिशब्दों के प्रयोग में 'एकस्मिन्' एकवचन में 'बहुवचनम्' बहुवचन 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो । यहां प्राप्तविभाषा है, क्योंकि जाति में सर्वत्र एक ही वचन पाता है । कारण यह है कि जाति-शब्द सामान्य भाव का वाचक है । सम्पन्नो यवः । सम्पन्ना यवाः । यव एक अन्नविशेष जाति है । उस में एकवचन और बहुवचन दोनों ही होते हैं ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि 'देवदत्तः' यहां बहुवचन न हो ॥

और आख्या-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'वानरः' बन्दर की सी आकृति वाला मनुष्य है । यहां वानर जातिशब्द तो है, परन्तु [वानर] जाति का अर्थ [बोधक] नहीं है ॥

'सङ्ख्याप्रयोगे० ॥' इत्यादि तीन वार्त्तिकों से विशेष [विष]य में बहुवचनविधानविकल्प का निषेध किया है ॥ ५८ ॥

अस्मदो द्वयोश्च ॥ ५९ ॥

अस्मदः । ६ । १ । द्वयोः । ७ । २ । च । [अ०] 'एकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्त्तते । अस्मत्-शब्दप्रयोगस्यैकवचने द्विवचने च बहुवचनं विकल्पेन भवति । अहं ब्रवीमि, वयं ब्रूमः । आवां ब्रूवः, वयं ब्रूमः । एक-

---

१. द्रष्टव्यम्—५ । ३ । ९८ ॥

२. केषुचित् भाष्यकोशेषु—"एको यवः... करोति ।" इति नास्ति ॥

३. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

स्मिन् द्विवचनं नैव भवतीति नियमः । अस्मत्-शब्दविषयकाणि वार्त्तिकानि पूर्वस्मिन् सूत्र उक्तानि ॥ ५६ ॥

'अस्मदः' अस्मत्-शब्द के प्रयोगों के 'द्वयोः' द्विवचन 'च' और 'एकस्मिन्' एकवचन में 'बहुवचनम्' बहुवचन 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो। जैसे—मैं बोलता हूं और हम बोलते हैं। एक मनुष्य वा दो मनुष्य भी ऐसा कह सकते हैं। परन्तु एकवचन में दोवचन नहीं हो सकता, यह नियम है ॥

अस्मत्-शब्द के जो वार्त्तिक हैं, वे पूर्व सूत्र में आ गये ॥ ५९ ॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे ॥ ६० ॥

'द्वयोः' इत्यनुवर्त्तते । 'एकस्मिन्' इति निवृत्तम् । फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम् । ६ । ३ । च । [अ० ।] नक्षत्रे । ७ । १ । फल्गुन्यौ च प्रोष्ठपदे च, तासाम् । फल्गुनीप्रोष्ठपदानां द्विवचने विकल्पेन बहुवचनं भवति नक्षत्रेऽभिधेये । उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ, उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः[1] । उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे, उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः ॥

'नक्षत्रे' इति किमर्थम् । फल्गुन्यौ कुमार्य्यौ । अत्र 'फल्गुनी' [इति] नक्षत्रवाचिशब्दात् जातार्थस्य प्रत्ययस्य लुक् । फल्गुनीनक्षत्रे जाता कुमारी = फल्गुनी[2] ॥

अत्र चकारो 'द्वयोः' इत्यनुकर्षणार्थः ॥ ६० ॥

'च' और 'फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम्' फल्गुनी और प्रोष्ठपद 'नक्षत्रे' नक्षत्रों के 'द्वयोः' द्विवचन में ['बहुवचनम्'] बहुवचन 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो, अर्थात् द्विवचन और बहुवचन दोनों ही हों ॥

और नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है कि 'फल्गुन्यौ कुमार्य्यौ' यहां फल्गुनी-शब्द नक्षत्र का वाची नहीं है, किन्तु कुमारी का वाची समझा जाता है ॥ ६० ॥

---

१. तैत्तिरीयसंहितायां (४ । ४ । १० । १, २), "फल्गुनी" इति द्विवचनान्तं, काठकमैत्रायणीसंहितयोश्च (क्रमेण ३६ । १३ ॥ २ । १३ । २०) "फल्गुनीः" इति बहुवचनान्तं पदम् ॥

अपि च तैत्तिरीयब्राह्मणे—"अर्यम्णो वा एतन्नक्षत्रं यत् पूर्वे फल्गुनी । भगस्य वा एतन्नक्षत्रं यदुत्तरे फल्गुनी ॥" (१ । १ । २ । ४ ॥ १ । ५ । १ । २ ॥ ३ । १ । १ । ८)

कौशीतकिब्राह्मणे तु—"मुखमुत्तरे फल्गू, पुच्छं पूर्वे ।" इति फल्गु-शब्दोऽपि फल्गुन्यर्थे प्रयुक्तः ॥ (५ । १)

२. नक्षत्रनामविधानं च सुश्रुतसंहितायाम्—"ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा ।" (शारीरस्थाने अ० १० । ३७)

मानवगृह्ये—"यशस्यं नामधेयं देवताश्रयं नक्षत्राश्रयम् ।" (१ । १८ । २)

वाराहगृह्ये—"नक्षत्रदेवतेष्टनामानो वा ।" (३ । २)

जैमिनीयगृह्ये—"अनुनक्षत्रमनुदैवतम् ।" (१ । ६)

छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् ॥ ६१ ॥

छन्दसि । ७ । १ । पुनर्वस्वोः । ६ । २ । एकवचनम् । १ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] द्वयोर्द्विवचने प्राप्त इदमारभ्यते । छन्दसि = वेदविषये पुनर्वस्वोर्द्विवचने विकल्पेनैकवचनं भवति नक्षत्रेऽभिधेये । पुनर्वसुर्नक्षत्रं,[1] पुनर्वसू नक्षत्रम्[2] । पक्षे द्विवचनमेव ॥

'नक्षत्रे' इति किमर्थम् । पुनर्वसू माणवकौ ॥

'छन्दसि' इति किमर्थम् । पुनर्वसू इति ॥ ६१ ॥

'छन्दसि' वेदविषय में 'पुनर्वस्वोः' पुनर्वसु नक्षत्र के द्विवचन में 'एकवचनम्' एकवचन 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो । एक पक्ष में द्विवचन ही बना रहता [है] ॥

इस सूत्र में नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है कि अन्य किसी का वाची हो, तो एकवचन न हो ॥

और छन्दसि-ग्रहण इसलिये है कि लोक में न हो ॥ ६१ ॥

विशाखयोश्च ॥ ६२ ॥

'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते । ['नक्षत्रे' इति च । विशाखयोः । ६ । २ । च । अ० ।] वेदविषये विशाखयोर्नक्षत्रयोर्द्विवचने विकल्पेनैकवचनं भवति । विशाखा नक्षत्रं[4], विशाखे नक्षत्रम्[5] । पक्षे द्विवचनमेव ॥

'नक्षत्रे' इति किमर्थम् । 'विशाखे कन्ये' इत्यत्रैकवचनं न भवति ॥ ६२ ॥

'छन्दसि' वेदविषयक 'विशाखयोः' विशाखा नक्षत्र के ['द्वयोः'] द्विवचन में 'एकवचनम्' एकवचन 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो । पक्ष में द्विवचन ही बना रहे ॥

नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है [कि] अन्यवाची में एकवचन न हो ॥ ६२ ॥

तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् ॥ ६३ ॥

तिष्य-पुनर्वस्वोः । ६ । २ । नक्षत्रद्वन्द्वे । ७ । १ । बहुवचनस्य । ६ । १ । द्विवचनम् । १ । १ । नित्यम् । १ । १ । नक्षत्राणां द्वन्द्वः = नक्षत्रद्वन्द्वः, तस्मिन् । तिष्यपुनर्वस्वोः शब्दयोर्नक्षत्रद्वन्द्वे कर्त्तव्ये बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यं विधीयते । तिष्यश्च पुनर्वसू च = तिष्यपुनर्वसू । तिष्य[6] एकः, पुनर्वसू द्वौ ।

---

१. मै०—२ । १३ । २० ॥
का०—३६ । १३ ॥
२. तै०—४ । ४ । १० । १ ॥
३. तैत्तिरीयसंहितापदपाठे—४ । ४ । १० । १ ॥
४. का०—३६ । १३ ॥
५. तै०—४ । ४ । १० । २ ॥
मैत्रायणीसंहितायां—"विशाखं नक्षत्रम्" इति नपुंसकैकवचनम् ॥ (२ । १३ । २०)
६. "पुष्यः" इत्यपरं नाम, "सिध्यः" इति च । संहिताब्राह्मणादिषु "तिष्यः" इत्येव सर्वत्र दृश्यते ।

तत्र बहुवचनं प्राप्तम् । अनेन द्विवचनं विधीयते ॥

'तिष्यपुनर्वस्वोः' इति किमर्थम् । कृत्तिकारोहिण्यः ॥[1]

'नक्षत्र-' इति किम् । तिष्यश्च बालः, पुनर्वसू च बालौ = तिष्यपुनर्वसवो बालाः ॥

'द्वन्द्वे' इति किमर्थम् । यः तिष्यः तौ पुनर्वसू, येषां त इमे तिष्यपुनर्वसव उन्मुग्धाः ॥

'बहुवचनस्य' इति किमर्थम् । उदितं तिष्यपुनर्वसु ॥[1]

अत्रैकवचने द्विवचनं न भवति । अन्यत्र बहुवचने द्विवचनं न भवति ॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यद् बहुवचन-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—*सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्*[2] *भवति*[3] । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । 'बाभ्रवशालङ्कायनं, बाभ्रवशालङ्कायनाः' इत्येतत् सिद्धं भवति ॥[1]

बहूनामपि द्वन्द्व एकवद् भवति । तत्रैकवद्भावे कृते द्विवचनं न भवेदिति प्रयोजनेयं परिभाषा ॥ ६३ ॥

'तिष्यपुनर्वस्वोः' तिष्य- और पुनर्वसु-शब्द के 'नक्षत्रद्वन्द्वे' नक्षत्रद्वन्द्व में 'बहुवचनस्य' बहुवचन के स्थान में 'द्विवचनम्' दोवचन 'नित्यम्' नित्य ही हो जाय । तिष्य एक नक्षत्र और पुनर्वसु दो [नक्षत्र] हैं । इस प्रकार तीन के होने से बहुवचन प्राप्त था, इसलिये द्विवचन नित्य विधान किया है ॥

इस सूत्र में तिष्यपुनर्वसु-ग्रहण इसलिये है कि अन्य नक्षत्रों के द्वन्द्व में न हो ॥

नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है कि 'तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः' यहां तिष्य-पुनर्वसु-शब्द बालक के वाची हैं, इससे नहीं हुआ ॥

द्वन्द्व-ग्रहण इसलिये है कि अन्य समास में न हो ॥

और बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'सर्वो द्वन्द्वो०' इस परिभाषा से जहां एकवद्भाव होता है, वहां द्विवचन न हो । और इसी बहुवचन-ग्रहण से यह परिभाषा निकली है ॥ ६३ ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ[4] ॥ ६४ ॥

सरूपाणाम् । ६ । ३ । एकशेषः । १ । १ । एकविभक्तौ । ७ । १ । समानं

"पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ।" (१६ । ७ । २) इत्यस्मिन् मन्त्रे त्वथर्ववेदेऽपि "पुष्यः" इति ॥

१. अ० १ । पा० २ । आ० २ ।

२. पाठान्तरम् —विभाषयैकवद् ॥

३. पा०, प०—सू० ३४ ॥

४. सा०—पृ० ४६ ॥

रूपमेषां ते सरूपाः । 'ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप०[1] ॥' इति सूत्रेण समानस्य सकारादेशः । एकस्य शेषः = एकशेषः । एका चासौ विभक्तिः = एकविभक्तिः, तस्याम् । समानरूपाणां शब्दानामेकविभक्तौ परत एकशेषो भवति, अर्थादेकः शिष्यते, इतरे निवर्त्तन्ते । वृक्षश्च वृक्षश्च = वृक्षौ । वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च = वृक्षाः । द्विवचने द्वौ वृक्षौ, तत्रैकः शिष्यत एको निवर्त्तते । बहुवचने यत्र त्रयो वृक्ष-शब्दाः, तत्र द्वौ निवर्त्तेते । यत्र चतुःप्रभृतयः, तत्राऽप्येक एव शिष्यतेऽन्ये निवर्त्तन्ते । अर्थमर्थं प्रति शब्दानामभिनिवेशः प्राप्नोति । अर्थाद् यावन्तोऽर्थाः, तावतां शब्दानां प्रयोगाः प्राप्नुवन्ति । एवमर्थोऽयं यत्नः क्रियन्ते ॥

रूप-ग्रहणं किमर्थम् । भिन्नेऽर्थेऽपि सरूपाणामेकशेषो यथा स्यात् । अक्षाः । पादाः । इत्यादि बह्वर्थेषु समानरूपेषु शब्देष्वप्येकशेषो यथा स्यात् ॥

एक-ग्रहणं किमर्थम् । द्विबह्वोः शेषो मा भूत् । वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च । अत्र द्वौ वृक्ष-शब्दौ मा शिष्येताम् ॥

शेष-ग्रहणं किमर्थम् । एक आदेशो मा भूत् ॥

'एकविभक्तौ' इति किमर्थम् । ब्राह्मणाभ्यां च कृतम् । ब्राह्मणाभ्यां च देहि ।[2]

अत्रैकस्मिन् तृतीयाया द्विवचनं, द्वितीये चतुर्थ्या द्विवचनम् । तत्र समानरूपत्वादेकशेषो मा भूत् ॥

भा०—प्रातिपदिकानामेकशेषे मातृमात्रोः प्रतिषेधो वक्तव्यः । माता च जनयित्री, मातारौ च धान्यस्य = मातृमातरः ॥

एकार्थानामपि विरूपाणामेकशेषो वक्तव्यः । वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च = वक्रदण्डौ, = कुटिलदण्डौ इति [वा] ॥

(प०) *गुणवचनानां हि[3] शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति[4]* ॥

शुक्लं वस्त्रम् । शुक्ला शाटी । शुक्लः कम्बलः । शुक्लौ कम्बलौ । शुक्लाः कम्बलाः ॥[1]

गुणवचनाः शब्दा विशेष्यलिंगा [विशेष्य-]वचनाश्च भवन्ति ॥ ६४ ॥

['सरूपाणाम्'] समान रूप वाले जो शब्द हैं, उन को ['एकशेषः'] एकशेष हो

१. ६ । ३ । ८५ ॥
२. अ० १ । पा० २ । आ० ३ ॥
३. पाठान्तरम्—अन्यत्र नास्ति ॥
४. पा०—सू० १०७ ॥

अर्थात् एक तो रह जाय [तथा] औरों की निवृत्ति हो जाय, ['एकविभक्तौ' एक विभक्ति के परे होने पर ।] वृक्षौ । यहां दो वृक्ष-शब्दों में से एक रह गया । तथा—वृक्षाः । यहां तीन अथवा बहुत वृक्ष-शब्दों में से एक ही रह जाता है, अन्यों की निवृत्ति हो जाती है । जितने पदार्थ होते हैं, उन एक २ पदार्थ के प्रति एक २ शब्द का प्रयोग पाता है, इसलिये यह सूत्र बनाया कि बहुत से पदार्थों का बोध एक शब्द से हो सके ॥

इस सूत्र में रूप-ग्रहण इसलिये है कि 'पादाः' इत्यादि एक २ शब्द भिन्न २ अर्थों के भी वाची होते हैं और रूप समान होता है, तो वहां भी एकशेष हो जाय ॥

एक-ग्रहण इसलिये है कि द्वि और बहुतों का शेष अर्थात् बाक़ी न रहे, किन्तु एक ही शब्द बाक़ी रह जाय ॥

शेष-ग्रहण इसलिये है कि सब शब्दों के स्थान में एक आदेश न हो जाय ॥

और एकविभक्ति-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'पयः पयो जरयति' यहां एक पयः-शब्द प्रथमा विभक्त्यन्त और दूसरा द्वितीयान्त है । इन दोनों का एकशेष न हो ॥

'प्राति०' इस वार्त्तिक से 'मातृमातरः' इस प्रयोग में समान रूप वाले शब्दों का भी एकशेष नहीं हुआ । 'एकार्थाना०' इस वार्त्तिक से 'वक्रदण्डौ' इस प्रयोग में एक अर्थ और भिन्न २ रूप वाले [वक्र- और कुटिल-]शब्दों का भी एकशेष हो गया । यह सूत्र से नहीं पाता था ॥

'गुणवचनानां०' इस परिभाषा से गुणवाची शब्दों के लिंग और वचन विशेष्य के तुल्य होते हैं ॥ ६४ ॥

वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः[1] ॥ ६५ ॥

वृद्धः । १ । १ । यूना । ३ । १ । तल्लक्षणः । १ । १ । चेत् । [अ० ।] एव । [अ० ।] विशेषः । [१ । १ ।] 'शेषः' इत्यनुवर्त्तते । वृद्ध-शब्देनात्र गोत्रमुच्यते । तयोर्लक्षणो योगः = तल्लक्षणः । वृद्धः = गोत्रप्रत्ययान्तः शब्दः, यूना = युवप्रत्ययान्तेन सह शिष्यते, युवा निवर्त्तते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् । समानायामाकृतौ शब्दभेद एव चेत्, तदा । यदा त्वाकृतिभेदः, तदा न भवति । अर्थादेक एव शब्दो वृद्धयुवरूपश्चेत् । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ । वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च = वात्स्यौ । अत्र गार्ग्य-वात्स्यौ शिष्येते, गार्ग्यायण—वात्स्यायनौ निवर्त्तेते ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इति किमर्थम् । गार्ग्यवात्स्यायनौ । अत्र वृद्धस्य शेषो न भवति ॥ ६५ ॥

['वृद्धः'] वृद्ध अर्थात् गोत्रप्रत्ययान्त जो शब्द है, वह ['यूना'] युवाप्रत्ययान्त शब्द के

[1] सा०—पृ० ४६ ॥

साथ ['शेष:'] शेष रहे और युवाप्रत्ययान्त शब्द की निवृत्ति हो जाय, परन्तु ['तल्लक्षणश्चे-देव विशेष:'] जो गोत्रप्रत्ययान्त और युवाप्रत्ययान्त एक ही शब्द हो, उस में प्रत्ययभेद ही हो, शब्द की आकृति भिन्न २ न हो, तो। गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ। यहां गार्ग्य वृद्ध है और गार्ग्यायण युवा है, सो गार्ग्य रह गया और गार्ग्यायण की निवृत्ति हो गई ॥

तल्लक्षण-ग्रहण इसलिये है कि 'गार्ग्यवात्स्यायनौ' यहां शब्दाकृति भिन्न २ है, इससे एकशेष नहीं हुआ ॥ ६५ ॥

स्त्री पुंवच्च[1] ॥ ६६ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते, ['शेषः' इति च।] स्त्री। १। १। पुंवत्। [अ०।] च। [अ०।] सर्वेषु स्त्री-ग्रहणेषु सूत्रेष्वयं पक्षो ज्यायान् स्त्र्यर्थग्रहणम्। वृद्धा = गोत्रप्रत्ययान्ता स्त्री यूना सह शिष्यते, युवा निवर्त्तते। सा च स्त्री पुंवत् = पुमर्थे यानि कार्याणि तानि भवन्तीति। तल्लक्षण एव विशेषश्चेदिति पूर्ववत्। गार्गी च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ। वात्सी च वात्स्यायनश्च = वात्स्यौ। अत्र गार्गी-वात्सी-शब्दौ शिष्टौ। तत्र पुंवद्वचनात् पुँल्लिङ्गोक्तानि कार्याणि भवन्ति ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इति किमर्थम्। इह मा भूत्—अजा च बर्करश्च = अजाबर्करौ। गार्गी च वात्स्यायनश्च = गार्गीवात्स्यायनौ ॥ ६६ ॥

['वृद्धा'] गोत्रप्रत्ययान्त जो ['स्त्री'] स्त्रीलिङ्ग शब्द हो, वह ['यूना'] युवाप्रत्ययान्त शब्द के साथ शेष रहे और युवा की निवृत्ति हो जाय, ['तल्लक्षणश्चेदेव विशेष:'] परन्तु प्रत्ययभेद ही हो, शब्द की आकृति में भेद न हो। गार्गीवात्स्यायनौ। यहां शब्द की आकृति भिन्न २ है ['च' और उस शेष रहे हुए स्त्रीलिंग शब्द में सब कार्य 'पुंवत्' पुँल्लिंग के समान हों] ॥६६॥

पुमान् स्त्रिया[2] ॥ ६७ ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इत्यनुवर्त्तते, ['शेषः' इति च।] पुमान्। १। १। स्त्रिया। ३। १। पुमान् स्त्रिया सह शिष्यते, स्त्री निवर्त्तते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् = लिङ्गभेद एव चेत्, तदा। यदा त्वाकृतिभेदस्तदा मा भूत्। इन्द्रश्च इन्द्राणी च = इन्द्रौ। ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च = ब्राह्मणौ। अत्र इन्द्र-ब्राह्मण-शब्दौ शिष्येते, इन्द्राणी-ब्राह्मणी-शब्दौ निवर्त्तेते ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इति किमर्थम्। कुक्कुटमयूर्यौ। अत्रैकशेषो न भवति शब्दाकृतिभेदात् ॥ ६७ ॥

['पुमान्'] पुँल्लिङ्ग जो शब्द हो, वह ['स्त्रिया'] स्त्रीलिङ्ग शब्द के साथ शेष रहे, स्त्रीलिंग

---

१. सा०—पृ० ४६ ॥ २. सा०—पृ० ५० ॥

शब्द की निवृत्ति हो जाय, परन्तु ['तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः'] इन दोनों शब्दों में लिङ्ग भेद ही हो, आकृति भेद न हो। ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च = ब्राह्मणौ। यहां ब्राह्मण-शब्द शेष रह जाता और ब्राह्मणी-शब्द की निवृत्ति हो जाती है॥

तल्लक्षण-ग्रहण इसलिये है कि 'कुक्कुटमयूर्यौ' यहां दोनों शब्दों की आकृति भी भिन्न २ है॥ ६७॥

भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्[1] ॥ ६८ ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इति निवृत्तम्। भ्रातृपुत्रौ। १। २। स्वसृ-दुहितृभ्याम्। ३। २। भ्रातृ-पुत्रौ शब्दौ स्वसृ-दुहितृभ्यां शब्दाभ्यां सह यथाक्रमेण शिष्येते, स्वसृ-दुहितृ-शब्दौ निवर्त्तेते। भ्राता च स्वसा च = भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च = पुत्रौ॥

'पुमान् स्त्रिया[2] ॥' इत्यत्र 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इत्यनुवर्त्तनान्न प्राप्तम्। तदर्थोऽयं योग उच्यते। भ्रातृ-पुत्र-शब्दौ भिन्नाकृती स्तः॥ ६८॥

भ्रातृ, पुत्र जो शब्द हैं, वे स्वसृ-दुहितृ-शब्दों के साथ शेष रहें। स्वसृ-दुहितृ-श[ब्द नि]वृत्त हो जायं। भ्रातरौ। पुत्रौ। यहां स्वसृ- और दुहितृ-शब्दों का लोप हो गया है॥

पूर्व सूत्र में तल्लक्षण की अनुवृत्ति थी, इससे यह बात नहीं सिद्ध होती, क्योंकि इन शब्दों की आकृति भिन्न २ हैं॥ ६८॥

नपुंसकमनपुंसकेन, एकवच्चाऽस्याऽन्यतरस्याम्[1] ॥ ६९ ॥

नपुंसकम्। १। १। अनपुंसकेन। ३। १। एकवत्। [अ०।] च। [अ०।] अस्य। ६। १। अन्यतरस्याम्। [अ०।] 'एकवद्' इति रूपातिदेशः। नपुंसकगुणविशिष्टः शब्दोऽनपुंसकेन = स्त्रीपुँल्लिंगगुणविशिष्टेन शब्देन सह शिष्यते, स्त्रीपुँल्लिंगौ निवर्त्तेते। अस्य नपुंसकस्यैकवद् = एकवचनं विकल्पेन भवति।

आलस्यो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं विवर्द्धते।

अत्र 'सेव्यमानम्' इति त्रिलिङ्गस्यैकशेषो नपुंसकं च। तत्रास्य नपुंसकस्यैकवद्भावः। 'अन्यतरस्याम्' इति वचनाद् द्वयमेतद् भवति—सेव्यमानं, सेव्यमानानि। तथा—'कालोपसर्जने च तुल्यम्[3] ॥' अत्र तुल्य-शब्द उभाभ्यां सम्बध्यते। तुल्यः कालः, तुल्यमुपसर्जनम्। अत्रापि नपुंसकं शिष्यते, पुमान् निवर्त्तते। एकवद्भावो विकल्पेन भवति—कालोपसर्जने च तुल्यम्, कालोपसर्जने च तुल्ये॥ ६९॥

---

१. सा०—पृ० ५०॥
२. १। २। ६७॥
३. १। २। ५७॥

['नपुंसकम्'] नपुंसकगुणविशिष्ट जो शब्द है, वह ['अनपुंसकेन'] अनपुंसक अर्थात् स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग गुण वाले शब्दों के साथ शेष रहे, और स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग शब्दों की निवृत्ति हो जाय। ['च'] तथा उस नपुंसक गुण वाले शब्द में ['एकवत्'] एकवचन ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके हो।

आलस्यो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं विवर्द्धते।

यहां [निद्रा-शब्द] स्त्रीलिङ्ग, [आलस्य-शब्द] पुँल्लिङ्ग और मैथुन-शब्द नपुंसक है। इन सब के साथ सेव्यमान-शब्द का सम्बन्ध है। सो सेव्यमान-शब्द में नपुंसकलिङ्ग ही होता है। उस नपुंसक में एकवचन विकल्प से होता है। पक्ष में बहुवचन अथवा दोवचन होता है ॥ ६९ ॥

पिता मात्रा[1] ॥ ७० ॥

'अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्त्तते। पिता। १। १। मात्रा। ३। १। पितृ-शब्दस्य मातृ-शब्देन सह द्वन्द्वे कृते पितृ-शब्दः शिष्यते, मातृ-शब्दो निवर्त्तते विकल्पेन। पक्षे द्वावपि तिष्ठतः। माता च पिता च = पितरौ, = मातापितरौ ॥

'पुमान् स्त्रिया[2]॥' इत्यत्र तल्लक्षणस्यानुवर्त्तनात् तेनैकशेषो न प्राप्तः, तस्मादिदमारभ्यते ॥ ७० ॥

['पिता'] पितृ-शब्द का ['मात्रा'] मातृ-शब्द के साथ द्वन्द्व समास करने में पितृ-शब्द तो शेष रहे, और मातृ-शब्द की निवृत्ति हो विकल्प करके। पक्ष में दोनों शब्द बने रहें। पितरौ। मातापितरौ। यहां एकशेष के विकल्प से दो प्रयोग बनते हैं ॥ ७० ॥

श्वशुरः श्वश्र्वा[1] ॥ ७१ ॥

श्वशुरः। १। १। श्वश्र्वा। ३। १। 'अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्त्तते। श्वशुर-शब्दस्य श्वश्रू-शब्देन सह द्वन्द्वे कृते श्वशुर-शब्दः शिष्यते, श्वश्रू-शब्दो निवर्त्तते विकल्पेन। पक्षे द्वौ स्थीयेते। श्वशुरश्च श्वश्रू च = श्वशुरौ, = श्वश्रूश्वशुरौ ॥७१॥

['श्वशुरः'] श्वशुर-शब्द का ['श्वश्र्वा'] श्वश्रू-शब्द के साथ द्वन्द्व समास करने में श्वशुर-शब्द शेष रहे, और श्वश्रू-शब्द की निवृत्ति हो विकल्प करके। पक्ष में दोनों शब्द बने रहते हैं। श्वशुरौ। श्वश्रूश्वशुरौ। यहां एकशेष के विकल्प से दो प्रयोग बनते हैं ॥ ७१ ॥

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्[1] ॥ ७२ ॥

'अन्यतरस्याम्' इति निवृत्तम्। त्यदादीनि। १। ३। सर्वैः। ३। ३। नित्यम्। १। १। त्यदादीनां सर्वाद्यन्तर्गतानां[3] प्रातिपदिकानामन्यैः सर्वैः सह

१. सा०—पृ० ५० ॥
२. १। २। ६७ ॥
३. १। १। २६ ॥ इति सूत्रे द्रष्टव्याः शब्दाः २४-३० ॥

द्वन्द्वसमासे कृते त्यदादीनि प्रातिपदिकानि[नित्यं] शिष्यन्तेऽन्यानि निवर्त्तन्ते। त्यदादिषु परस्परस्य द्वन्द्वे परस्यैकशेषो भवति। प्रथममध्यमोत्तमपुरुषेषु उत्तमस्यैकशेषो भवति। स च देवदत्तश्च = तौ। यश्च यज्ञदत्तश्च = यौ। स च यश्च अयं च = इमे। अयं च स च यश्च = ये। यश्च अयं च स च = ते। स च त्वं च अहं च = वयम्। अहं च त्वं च स च = वयम्। त्वं चाहं च स च = वयम्॥

भा०—त्यदादितः शेषे पुन्नपुंसकतो लिङ्गवचनानि भवन्ति। सा च देवदत्तश्च = तौ। सा च कुण्डे च = तानि॥ अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानामिति[1] वक्तव्यम्। इह मा भूत्—स च कुक्कुटः सा च मयूरी = कुक्कुटमयूर्यौ ते॥[2]

स्त्रीलिङ्गस्य शेषो न भवतीति यावत्॥ ७२॥

['त्यदादीनि'] सर्वादिगण के अन्तर्गत जो त्यदादि-शब्द हैं, उन का ['सर्वैः'] अन्य शब्दों के साथ द्वन्द्व समास करने में त्यदादि ['नित्यं' नित्य] शेष रहें। और अन्य शब्दों की निवृत्ति हो जाय। स च देवदत्तश्च = तौ। यहां तत्-शब्द शेष रहा और देवदत्त-शब्द की निवृत्ति हो गई॥

त्यदादि-शब्दों में परस्पर द्वन्द्व समास करने में जो पर हो, वह शेष रहे औरों की निवृत्ति हो जाय। स च यश्च = यौ। यहां यत्-शब्द शेष रहा और तत्-शब्द की निवृत्ति हो गई॥

तथा प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुषवाची शब्दों के द्वन्द्व में उत्तमवाची-शब्द शेष रहता, [तथा] औरों की निवृत्ति हो जाती है। अहं च त्वं च स च = वयम्। यहां अस्मत्-शब्द शेष रहा, औरों की निवृत्ति हो गई॥ ७२॥

ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री[3]॥ ७३॥

'पुमान् स्त्रिया[4]॥' इत्यस्यापवादोऽयं योगः। ग्राम्यपशुसङ्घेषु। ७। ३। अतरुणेषु। ७। ३। स्त्री। १। १। ग्रामे जाताः = ग्राम्याः। ग्राम्याश्च ते पशवः = ग्राम्यपशवः। ग्राम्यपशूनां सङ्घाः = ग्राम्यपशुसङ्घाः समूहाः, तेषु। 'सङ्घोद्घौ गणप्रशंसयोः[5]॥' इति गणार्थे निपातनात्। न विद्यन्ते तरुणाः = बाल्यावस्थास्थाः पशवो येषु सङ्घेषु, तेषु। अतरुणेषु ग्राम्यपशुसङ्घेषु कृतद्वन्द्वेषु स्त्री शिष्यते, पुमान् निवर्त्तते। गावश्च वृषभाश्च = गाव इमाश्चरन्ति। महिषाश्च महिष्यश्च = महिष्य इमाश्चरन्ति। [अत्र] वृषभ-महिषौ निवर्त्तेते॥

१. कोशे तु—"विशेषणानामिति" इति॥
२. अ० १। पा० २। आ० ३॥
३. सा०—पृ० ५०॥
४. १। २। ६७॥
५. ३। ३। ८६॥

ग्राम्य-ग्रहणं किमर्थम् । न्यङ्कव इमे । सूकरा इमे । 'पुमान् स्त्रिया[1] ॥' इति पुमान् शिष्यते, स्त्रियो निवर्त्तन्ते ॥

पशु-ग्रहणं किमर्थम् । इह मा भूत्—ब्राह्मणा इमे । वृषला इमे । अत्रापि पूर्ववत् पुमान् शिष्यते ॥

'सङ्घेषु' इति किमर्थम् । एतौ गावौ चरतः ॥

'अतरुणेषु' इति किमर्थम् । तरुणका[2] इमे । वर्करा इमे । वत्सा इमे । 'पुमान् स्त्रिया[1] ॥' इति पुमान् शिष्यते ॥

'पुमान् स्त्रिया[1] ॥' इति सूत्रेण पुंसः शेषे प्राप्तेऽनेन स्त्री शिष्यते ॥

वा०—अनेकशफेष्विति वक्तव्यम् । इह मा भूत्—अश्वाश्चरन्ति, गर्दभाश्चरन्तीति ॥[3] ७३ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

यह सूत्र 'पुमान् स्त्रिया[1] ॥' इस सूत्र का अपवाद है । क्योंकि इस से पुँल्लिङ्ग शब्द का शेष पाता था, और यहां स्त्रीलिङ्ग का शेष विधान किया है । अतरुण अर्थात् बच्चे न हों, ऐसे जो ग्राम के पशुओं के समूह हैं, उन के प्रयोग में स्त्रीलिङ्ग शब्द शेष रहे और पुँल्लिङ्ग शब्दों की निवृत्ति हो जाय । गावश्च वृषभाश्च = गावः । यहां वृषभ-शब्द की निवृत्ति होती और गौ-शब्द शेष रहता है ॥

ग्राम्य-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'रुरव इमे' यहां वन के पशु हैं, इससे[4] [पुंल्लिंग शब्द शेष रहा और स्त्रीलिंग शब्द की निवृत्ति हो गई ॥

[पशु शब्द का ग्रहण इसलिये है कि अन्य शब्दों के द्वन्द्व में स्त्रीलिंग शब्द शेष न रहे ॥

[इसी प्रकार संघ-शब्द और अतरुण-शब्द को ग्रहण करने से अन्य शब्दों में पुँल्लिग शब्द ही शेष रहता है । जैसे—एतौ गावौ चरतः । वत्सा इमे ॥

['अनेकशफेषु०' इस वार्त्तिक से एक शफ वाले अतरुण ग्राम्य पशुओं के संघ वाची द्वन्द्व में पुंल्लिंग शब्द शेष रहता है । जैसे—अश्वाश्चरन्ति । गर्दभाश्चरन्ति ॥ ७३ ॥

यह प्रथमाध्याय का दूसरा पाद समाप्त हुआ ॥]

---

१. १ । २ । ६७ ॥

२. भाष्यकोशेषु—"उरणकाः" "उरणकाः" इत्यपि पाठौ उपलभ्येते ॥

३. अ० १ । पा० २ । आ० ३ ॥

४. कोश में इस स्थल से लेकर दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र तक १२३ पत्रे लुप्त हैं ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः[1] ॥

भूवादयो धातवः ॥ १ ॥

उपदेशेऽजनुनासिक इत् ॥ २ ॥

हलन्त्यम् ॥ ३ ॥

न विभक्तौ तुस्माः ॥ ४ ॥

आदिर्ञिटुडवः ॥ ५ ॥

षः प्रत्ययस्य ॥ ६ ॥

चुटू ॥ ७ ॥

लशक्वतद्धिते ॥ ८ ॥

तस्य लोपः ॥ ९ ॥

यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ॥ १० ॥

स्वरितेनाधिकारः ॥ ११ ॥

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ॥ १२ ॥

भावकर्मणोः ॥ १३ ॥

कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे ॥ १४ ॥

न गतिहिंसार्थेभ्यः ॥ १५ ॥

इतरेतरान्योऽन्योपपदाच्च ॥ १६ ॥

---

१. तृतीयचतुर्थपादस्थानां सूत्राणां व्याख्यानं पुस्तकान्ते प्रथमे परिशिष्टे द्रष्टव्यम् । अत्र भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनस्तु भाष्यपत्राणि लुप्तानि सन्ति ॥

नेर्विशः ॥ १७ ॥
परिव्यवेभ्यः क्रियः ॥ १८ ॥
विपराभ्यां जेः ॥ १९ ॥
आङो दोऽनास्यविहरणे ॥ २० ॥
क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च ॥ २१ ॥
समवप्रविभ्यः स्थः ॥ २२ ॥
प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च ॥ २३ ॥
उदोऽनूर्ध्वकर्मणि ॥ २४ ॥
उपान्मन्त्रकरणे ॥ २५ ॥
अकर्मकाच्च ॥ २६ ॥
उद्विभ्यां तपः ॥ २७ ॥
आङो यमहनः ॥ २८ ॥
समो गम्यृच्छिभ्याम्[1] ॥ २९ ॥
निसमुपविभ्यो ह्वः ॥ ३० ॥
स्पर्द्धायामाङः ॥ ३१ ॥
गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः ॥ ३२ ॥
अधेः प्रसहने ॥ ३३ ॥
वेः शब्दकर्मणः ॥ ३४ ॥
अकर्मकाच्च ॥ ३५ ॥

---

१. काशिकायाम्—"समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः ॥" इति सूत्रम् । चान्द्रशब्दलक्षणानुकृत्या वार्त्तिकाश्रितोऽयं पाठः कृतः । इमे ते वार्त्तिके—"समो गमादिषु विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम ॥ अर्तिश्रुदृशिभ्यश्च ॥" (अ० १ । पा० ३ । आ० २) चान्द्रं च सूत्रम्—"समो गमृच्छिप्रच्छिस्वृश्रुवेत्त्यर्तिदृशः ॥" (१ । ४ । ७१)

सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगण-
नव्ययेषु नियः ॥ ३६ ॥
कर्तृस्थे चाऽशरीरे कर्मणि ॥ ३७ ॥
वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः ॥ ३८ ॥
उपपराभ्याम् ॥ ३९ ॥
आङ उद्गमने ॥ ४० ॥
वेः पादविहरणे ॥ ४१ ॥
प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् ॥ ४२ ॥
अनुपसर्गाद् वा ॥ ४३ ॥
अपह्नवे ज्ञः ॥ ४४ ॥
अकर्मकाच्च ॥ ४५ ॥
सम्प्रतिभ्यामनाध्याने ॥ ४६ ॥
भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नाविमत्युपमन्त्रणेषु
वदः ॥ ४७ ॥
व्यक्तवाचां समुच्चारणे ॥ ४८ ॥
अनोरकर्मकात् ॥ ४९ ॥
विभाषा विप्रलापे ॥ ५० ॥
अवाद् ग्रः ॥ ५१ ॥
समः प्रतिज्ञाने ॥ ५२ ॥
उदश्चरः सकर्मकात् ॥ ५३ ॥
समस्तृतीयायुक्तात् ॥ ५४ ॥
दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ॥ ५५ ॥
उपाद् यमः स्वकरणे ॥ ५६ ॥

ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः ॥ ५७ ॥

नानोर्ज्ञः ॥ ५८ ॥

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः ॥ ५९ ॥

शदेः शितः ॥ ६० ॥

म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च ॥ ६१ ॥

पूर्ववत् सनः ॥ ६२ ॥

आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य ॥ ६३ ॥

प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु ॥ ६४ ॥

समः क्ष्णुवः ॥ ६५ ॥

भुजोऽनवने ॥ ६६ ॥

णेरणौ यत् कर्म णौ चेत् स कर्त्ताऽनाध्याने ॥ ६७ ॥

भीस्म्योर्हेतुभये ॥ ६८ ॥

गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने ॥ ६९ ॥

लियः सम्माननशालीनीकरणयोश्च ॥ ७० ॥

मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे ॥ ७१ ॥

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ॥ ७२ ॥

अपाद् वदः ॥ ७३ ॥

णिचश्च ॥ ७४ ॥

समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे ॥ ७५ ॥

अनुपसर्गाज् ज्ञः ॥ ७६ ॥

विभाषोपपदेन प्रतीयमाने ॥ ७७ ॥

शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् ॥ ७८ ॥

अनुपराभ्यां कृञः ॥ ७९ ॥

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः ॥ ८० ॥
प्राद् वहः ॥ ८१ ॥
परेर्मृषः ॥ ८२ ॥
व्याङ्परिभ्यो रमः ॥ ८३ ॥
उपाच्च ॥ ८४ ॥
विभाषाऽकर्मकात् ॥ ८५ ॥
बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः ॥ ८६ ॥
निगरणचलनार्थेभ्यश्च ॥ ८७ ॥
अणावकर्मकाच्चित्तवत् कर्त्तृकात् ॥ ८८ ॥
न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवद-
वसः ॥ ८९ ॥
वा क्यषः ॥ ९० ॥
द्युद्भ्यो लुङि ॥ ९१ ॥
वृद्भ्यः स्यसनोः ॥ ९२ ॥
लुटि च क्लृपः ॥ ९३ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

आ कडारादेका सञ्ज्ञा ॥ १ ॥
विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥ २ ॥
यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥ ३ ॥
नेयङुवङ्स्थानावस्त्री ॥ ४ ॥
वाऽऽमि ॥ ५ ॥
ङिति ह्रस्वश्च ॥ ६ ॥
शेषो घ्यसखि ॥ ७ ॥
पतिः समास एव ॥ ८ ॥
षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा ॥ ९ ॥
ह्रस्वं लघु ॥ १० ॥
संयोगे गुरु ॥ ११ ॥
दीर्घं च ॥ १२ ॥
यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ॥ १३ ॥
सुप्तिङन्तं पदम् ॥ १४ ॥
नः क्ये ॥ १५ ॥
सिति च ॥ १६ ॥
स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥ १७ ॥
यचि भम् ॥ १८ ॥

तसौ मत्वर्थे ॥ १९ ॥
अयस्मयादीनि छन्दसि ॥ २० ॥
बहुषु बहुवचनम् ॥ २१ ॥
द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ॥ २२ ॥
कारके ॥ २३ ॥
ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥ २४ ॥
भीत्रार्थानां भयहेतुः ॥ २५ ॥
पराजेरसोढः ॥ २६ ॥
वारणार्थानामीप्सितः ॥ २७ ॥
अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति ॥ २८ ॥
आख्यातोपयोगे ॥ २९ ॥
जनिकर्तुः प्रकृतिः ॥ ३० ॥
भुवः प्रभवः ॥ ३१ ॥
कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ॥ ३२ ॥
रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ॥ ३३ ॥
श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ॥ ३४ ॥
धारेरुत्तमर्णः ॥ ३५ ॥
स्पृहेरीप्सितः ॥ ३६ ॥
क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ॥ ३७ ॥
क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ॥ ३८ ॥
राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ॥ ३९ ॥
प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता ॥ ४० ॥
अनुप्रतिगृणश्च ॥ ४१ ॥

साधकतमं करणम् ॥ ४२ ॥

दिवः कर्म च ॥ ४३ ॥

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ॥ ४४ ॥

आधारोऽधिकरणम् ॥ ४५ ॥

अधिशीङ्स्थासां कर्म ॥ ४६ ॥

अभिनिविशश्च ॥ ४७ ॥

उपान्वध्याङ्वसः ॥ ४८ ॥

कर्तुरीप्सिततमं कर्म ॥ ४९ ॥

तथा युक्तं चानीप्सितम् ॥ ५० ॥

अकथितं च ॥ ५१ ॥

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि-
कर्त्ता स णौ ॥ ५२ ॥

हृक्रोरन्यतरस्याम् ॥ ५३ ॥

स्वतन्त्रः कर्त्ता ॥ ५४ ॥

तत्प्रयोजको हेतुश्च ॥ ५५ ॥

प्राग् रीश्वरान्निपाताः ॥ ५६ ॥

चादयोऽसत्त्वे ॥ ५७ ॥

प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे[1] ॥ ५८ ॥

गतिश्च ॥ ५९ ॥

ऊर्यादिच्विडाचश्च ॥ ६० ॥

अनुकरणं चानितिपरम् ॥ ६१ ॥

---

१. वृत्तिकारेण जयादित्येन अन्यैश्च भट्टोजिदीक्षितादिभिः "प्रादयः ॥ उपसर्गाः क्रियायोगे ॥" इति द्वे सूत्रे कृते । तदिदमयुक्तम् ॥

आदरानादरयोः सदसती ॥ ६२ ॥

भूषणेऽलम् ॥ ६३ ॥

अन्तरपरिग्रहे ॥ ६४ ॥

कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते ॥ ६५ ॥

पुरोऽव्ययम् ॥ ६६ ॥

अस्तं च ॥ ६७ ॥

अच्छ गत्यर्थवदेषु ॥ ६८ ॥

अदोऽनुपदेशे ॥ ६९ ॥

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥ ७० ॥

विभाषा कृञि ॥ ७१ ॥

उपाजेऽन्वाजे ॥ ७२ ॥

साक्षात्प्रभृतीनि च ॥ ७३ ॥

अनत्याधान उरसिमनसी ॥ ७४ ॥

मध्ये पदे निवचने च ॥ ७५ ॥

नित्यं हस्ते पाणावुपयमने ॥ ७६ ॥

प्राध्वं बन्धने ॥ ७७ ॥

जीविकोपनिषदावौपम्ये ॥ ७८ ॥

ते प्राग् धातोः ॥ ७९ ॥

छन्दसि परेऽपि[1] ॥ ८० ॥

व्यवहिताश्च ॥ ८१ ॥

कर्मप्रवचनीयाः ॥ ८२ ॥

---

१. अत्र श्रीबोटलिङ्कमहोदयः— "Dieses und das folgende Sûtra sind ursprünglich Vârttika. [छन्दसि परेऽपि, व्यवहिताश्च इति वक्तव्यम् ॥ अ० १ । पा० ४ । आ० ४]"

अनुर्लक्षणे ॥ ८३ ॥

तृतीयार्थे ॥ ८४ ॥

हीने ॥ ८५ ॥

उपोऽधिके च ॥ ८६ ॥

अपपरी वर्जने ॥ ८७ ॥

आङ् मर्यादावचने ॥ ८८ ॥

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रति-
पर्यनवः ॥ ८९ ॥

अभिरभागे ॥ ९० ॥

प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥ ९१ ॥

अधिपरी अनर्थकौ ॥ ९२ ॥

सुः पूजायाम् ॥ ९३ ॥

अतिरतिक्रमणे च ॥ ९४ ॥

अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हास-
मुच्चयेषु ॥ ९५ ॥

अधिरीश्वरे ॥ ९६ ॥

विभाषा कृञि ॥ ९७ ॥

लः परस्मैपदम् ॥ ९८ ॥

तङानावात्मनेपदम् ॥ ९९ ॥

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः ॥ १०० ॥

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः ॥ १०१ ॥

सुपः ॥ १०२ ॥

विभक्तिश्च ॥ १०३ ॥

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि म-
ध्यमः ॥ १०४ ॥ [१०५ ॥
प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ॥
अस्मद्युत्तमः ॥ १०६ ॥
शेषे प्रथमः ॥ १०७ ॥
परः सन्निकर्षः संहिता ॥ १०८ ॥
विरामोऽवसानम् ॥ १०९ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

प्रथमाध्यायश्च समाप्तः ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

[समर्थः पदविधिः[1] ॥ १ ॥

समर्थः । १ । १ । पदविधिः । १ । १ ॥

भा०—'विधिः' इति कोऽयं शब्दः । वि-पूर्वाद् धाञः कर्म-साधन इकारः । विधीयते विधिरिति । किं पुनर्विधीयते । समासो विभक्तिविधानं पराङ्गवद्भावश्च[2] ॥

किं पुनरयमधिकारः, आहोस्वित् परिभाषा । कः पुन][3]रधिकार-परिभाषयोर्विशेषः । अधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगे योग उपतिष्ठते[4]। परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं[5] शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत् । तद्यथा—प्रदीपः सुप्रज्वलित एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति ॥[6]

अयमधिकारपरिभाषयोः सन्देहो निवर्त्तितः । इदं परिभाषासूत्रमेव न त्वधिकारः ॥

भा०—किं समर्थं नाम । *पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्*[7]॥ सङ्गतार्थं समर्थं, संसृष्टार्थं समर्थं, सम्प्रेक्षितार्थं समर्थं, सम्बद्धार्थं समर्थम् ॥

येन सह यस्य योगो भवति, तेन सह स समर्थो भवति । यथा—कष्टं श्रितो

---

१. सा०—पृ० १ ॥

२. दृश्यन्ताम्—क्रमेण २ । १ । ३ ॥ २ । ३ । १ ॥ २ । १ । २ ॥

३. अतः पूर्वं पत्राणि लुप्तानि सन्ति ॥

४. पाठान्तरम्—प्रतिष्ठते ॥

५. पाठान्तरम्—सर्वम् ॥

६. अ० २ । पा० १ । आ० १ ॥

७. वार्त्तिकमिदम् ॥

देवदत्तः । अत्र कष्ट-शब्दस्य श्रित-शब्देन सह योगोऽस्ति । अत एव 'कष्टश्रितो देवदत्तः' इति समासो भवति । यदा च—भुज्यते त्वया कष्टं, श्रितः शिष्यो गुरुम् । अत्र कष्ट-शब्दस्य श्रितेन सह सम्बन्धो नास्ति, अतः समासोऽपि न भविष्यति । एवं सर्वत्र समर्थस्य कार्यं भवतीति योजनीयम् ॥ १ ॥

यह परिभाषा सूत्र है। समर्थ उस को कहते हैं कि जो पृथक् २ पदार्थ हैं, उन का संयोग = सम्बन्ध होना। पदविधि अर्थात् सुबन्त तिङन्त को जो कुछ विधान किया जाय, तो प्रथम उन का सामर्थ्य कार्य के करने को हो। जिस शब्द के साथ जिस का सम्बन्ध होता है, वह [उस के साथ] समर्थ कहाता है। जैसे—कष्टं श्रितो देवदत्तः। यहां कष्ट- और श्रित-शब्द का देवदत्त-शब्द के साथ संयोग = सम्बन्ध है। इससे समास भी हो जाता है। और 'भुज्यते त्वया कष्टं, श्रितः स गुरुम्' यहां कष्ट-शब्द और श्रित-शब्द का समानाधिकरण नहीं। इसीसे समास भी नहीं होता ॥ १ ॥

[अथातिदेशसूत्रम्]

सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे[1] ॥ २ ॥

सुप् । १ । १ । आमन्त्रिते । ७ । १ । पराङ्गवत् । अ० । स्वरे । ७ । १ । सम्बोधने प्रथमाया विभक्त्या आमन्त्रित-सञ्ज्ञाऽग्रे[2] विधास्यते, तस्मिन् । परस्य अङ्गं = अवयवः, तद्वत् । स्वरे = स्वरविधौ कर्त्तव्ये । आमन्त्रिते परे सति सुबन्तं पराङ्गवद् भवति स्वरे = स्वरविधौ कर्त्तव्ये । मद्राणां[3] राजन् । अत्र 'म-

१. सा०—पृ० २ ॥

२. २ । ३ । ४८ ॥

३. ऐतरेयब्राह्मण उत्तरमद्राः—"तस्मादेतस्यामुदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते।" (८ । १४ । ३)

बृहदारण्यकोपनिषदि—"अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच। मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम। ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम।" (३।३।१ ॥ अपि च द्रष्टव्यं ३।७।१)

महाभारते कर्णपर्वणि—

"तत्र वृद्धः पुरावृत्ताः कथाः कश्चिद् द्विजोत्तमः ।
बाह्लीकदेशान् मद्रांश्च कुत्सयन् वाक्यमब्रवीत् ॥ २०२८ ॥
बहिष्कृता हिमवता गङ्गया च बहिष्कृताः ।
सरस्वत्या यमुनया कुरुक्षेत्रेण चापि ये ॥२०२९॥
शाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा ॥२०३३॥
धाना गौडयासवं पीत्वा गोमांसं लशुनैः सह ।
अपूपमांसवाट्यानामाशिनः शीलवर्जिताः ॥२०३४॥
गायन्त्यथ च नृत्यन्ति स्त्रियो मत्ता विवाससः ।
नगरागारवप्रेषु बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥२०३५॥
मत्तावगीतैर्विविधैः खरोष्ट्रनिनदोपमैः ।
अनावृता मैथुने ताः कामचाराश्च सर्वशः॥२०३६॥"

मद्राणां शाकलनाम्नी (चीनाचार्येषु—"शे-की-लो") राजधान्यासीदिति सभापर्वणि—

"ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम्॥११६६॥
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली। ११६७॥"

बृहत्संहितायाम् —

"दिशि पश्चिमोत्तरस्यां माण्डव्यतुषारतालहलमद्राः॥" (१४ । २२)

द्राणाम्' इति सुबन्तं, [तस्य] 'राजन्' इत्यामन्त्रिते परतः पराङ्गवद्विधानाद्, **'आमन्त्रितस्य च[1]॥'** इति सूत्रेण पदात् परस्यामन्त्रितस्यानुदात्तं प्राप्तं, तन्न भवति। अर्थात् पूर्वं सुबन्तमविद्यमानमेव भवति। [पराङ्गवद्भावाद् **'आमन्त्रितस्य च[2]॥'** इति षाष्ठिकेन सुबन्तस्याद्युदात्तत्वं भविष्यति।] एवं 'परशुना वृश्चन्' इत्यादिषु च योजनीयम्॥

सुप्-ग्रहणं किमर्थम्। पीड्ये पीड्यमान। अत्र 'अहं पीड्ये' इति तिङन्तमामन्त्रिते परतः पराङ्गवन्न भवति॥

'आमन्त्रिते' इति किम्। गेहे शूरः। आमन्त्रिताभावात् पराङ्गवन्न भवति॥

वा०—*सुबन्तस्य पराङ्गवद्भावे समानाधिकरणस्योपसङ्ख्यानम्*[3] ॥१॥

तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन्॥[4]

अत्र 'तीक्ष्णया' इति विशेषणस्यापि पराङ्गवद्भावो भवतीति॥ १॥

परमपि छन्दसि ॥ २ ॥[4]

वेदे परमपि सुबन्तं पूर्वस्याङ्गवद् भवतीति। **आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु**[5]। अग्निं त्वा दुहितर्दिवः[6]। अत्र 'पितर्' इत्यामन्त्रितमाष्टमिकेनानुदात्तं, तस्मात् परं 'मरुताम्' इत्येतदपि पूर्वस्याङ्गवद्भावेनानुदात्तमेव भवति। एवं 'दुहितर्' इत्यामन्त्रितमनुदात्तं, तस्मात् परं 'दिवः' इत्येतदप्यनुदात्तमेव भवति॥ २॥

अव्ययप्रतिषेधश्च ॥ ३ ॥[4]

आमन्त्रिते परतोऽव्ययं पराङ्गवन्न भवतीत्यर्थः। उच्चैरधीयान। नीचैरधीयान। अत्र पराङ्गवद्भावप्रतिषेधाद् 'अधीयान' इत्यामन्त्रितमनुदात्तं भवति॥ ३॥

अनव्ययीभावस्य ॥ ४ ॥[4]

अव्ययीभावस्य अव्यय-सञ्ज्ञत्वात् पूर्ववार्त्तिकेन प्रतिषेधः प्राप्तः, तस्य प्रतिप्रसवेन विधानं क्रियते। अव्ययीभावस्तु पराङ्गवद् भवत्येव। उपाग्न्यधीयान। प्रत्यग्न्यधीयान। अत्रापि 'उपाग्नि, प्रत्यग्नि' इत्यव्ययं तदधीयान इत्यामन्त्रिते परतः पराङ्गवद्भवति। तेनाष्टमिको[1] निघातो न प्रवृत्तो भवति॥ २॥

---

१. ८। १। १९॥

२. ६। १। १९८॥

३. भाष्ये—"०उपसङ्ख्यानमनन्तरत्वात् स्वरे अधारणाच्च॥" इति, "० उपसङ्ख्यानमनन्तरत्वात्॥" इति वा पाठः॥

४. अ० २। पा० १। आ० २॥

५. ऋ०—२। ३३। १॥

६. ऋ०—७। ८१। ३॥

यह अतिदेश सूत्र है। सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का जो एकवचन है, उस की आगे[1] आमंत्रित-सञ्ज्ञा करेंगे। उस आमंत्रित के परे [होते हुए] सुबन्त जो [उस के पूर्व] है, वह पराङ्गवत् अर्थात् पर के तुल्य हो जाय, स्वरविधि करना हो तो। मद्राणां राजन्। यहां 'मद्राणाम्' यह सुबन्त है, और 'राजन्' आमन्त्रित परे है। सो आमंत्रित के परे [होने पर] सुबन्त को पराङ्गवद्भाव होने से, राजन्-शब्द को [सुबन्त के पराङ्गवद्भाव न होने से जो] अनुदात्त प्राप्त था, सो न हुआ। [किन्तु सुबन्त और आमन्त्रित को एक पद मानके सुबन्त को 'आमन्त्रितस्य च[2] ॥' इस से आद्युदात्त हो गया ॥]

सुप्-ग्रहण इसलिये है कि 'पीड्ये पीड्यमान' यहां 'पीड्ये' यह सुबन्त ही नहीं। इससे पराङ्गवत् नहीं हुआ ॥

और आमान्त्रित-ग्रहण इसलिये है कि 'गेहे शूरः' यहां आमंत्रित पर नहीं, इससे पराङ्गवद्भाव नहीं हुआ ॥

'सुबन्तस्य० ॥' सुबन्त को जो पराङ्गवद्भाव कहा है, वहां सुबन्त का जिस के साथ समानाधिकरण हो, उस को भी पराङ्गवद्भाव हो जाय। तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन्। यहां सूची- और तीक्ष्ण-शब्द का समानाधिकरण है। उस में सूची विशेष्य और तीक्ष्ण विशेषण है। सो इस वार्त्तिक से तीक्ष्ण-शब्द को भी पराङ्गवद्भाव हो गया ॥ १ ॥

'परमपि छन्दसि ॥' वेदों में आमन्त्रित से पर भी सुबन्त हो, उस को पूर्व के अङ्ग के तुल्य हो जाय। आ ते पितर्मरुताम्[3]। यहां 'पितर' आमन्त्रित है। उस से पर 'मरुताम्' जो सुबन्त है, उस को पूर्वाङ्गवद्भाव होने से अनुदात्त स्वर हो गया। यह इस दूसरे वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ २ ॥

'अव्ययप्रतिषेधश्च ॥' अव्यय से पर जो आमान्त्रित हो, तो उस अव्यय को पराङ्गवद्भाव न हो। उच्चैरधीयान। यहां 'उच्चैस्' अव्यय से पर 'अधीयान' आमन्त्रित है। सो अव्यय को पराङ्गवद्भाव के न होने से आमान्त्रित को निघात हो गया। यह बात तीसरे वार्त्तिक से सिद्ध हुई ॥ ३ ॥

'अनव्ययीभावस्य ॥' अव्ययीभाव समास की अव्यय-सञ्ज्ञा होने से पूर्व वार्त्तिक से पराङ्गवद्भाव का निषेध प्राप्त था। सो इस वार्त्तिक से विधान किया है। अव्ययीभाव समास को पराङ्गवद्भाव हो आमन्त्रित के परे [होने पर।] उपाग्न्यधीयान। यहां 'उपाग्नि' यह अव्ययीभाव है। उस के पराङ्गवत् होने से आमन्त्रित का अनुदात्त स्वर नहीं हुआ। यह इस चौथे वार्त्तिक का प्रयोजन हुआ ॥ ४ ॥ २ ॥

[अथ समास-सञ्ज्ञाधिकारः]

प्राक् कडारात् समासः[4] ॥ ३ ॥

अधिकारोऽयम्। प्राक्। अ०। कडारात्। ५। १। समासः। १। १।

---

१. २ । ३ । ४८ ॥
२. ६ । १ । १९८ ॥
३. ऋ०—२ । ३३ । १ ॥
४. सा०—पृ० २ ॥

प्राक् = पूर्वम् । कडारात्—'कडाराः कर्मधारये[1]॥' इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय-पादसमाप्तिपर्यन्तं समासाधिकारो वेदितव्यः ॥

प्राग्-वचनस्यैतत् प्रयोजनम्—एकसञ्ज्ञाधिकारोऽयं, तत्र समास-सञ्ज्ञाया बाधिका अव्ययीभावादयः सञ्ज्ञाः स्युः । प्राग्-वचनेन सञ्ज्ञासमावेशो भविष्यति । सामान्येन सर्वस्य समास-सञ्ज्ञा । तस्य अव्ययीभावादयः सञ्ज्ञा अवयवीभूता भविष्यन्ति ॥ ३ ॥

यह अधिकार सूत्र है। इस अध्याय के द्वितीय पाद की समाप्ति पर्यन्त समास-सञ्ज्ञा का अधिकार समझना चाहिये ॥

प्राक्-ग्रहण का प्रयोजन यह है कि यह एक सञ्ज्ञा का अधिकार है, सो अव्ययीभावादि संज्ञा समास-सञ्ज्ञा की बाधक न हों, किन्तु सामान्य करके सब की समास-संज्ञा हो, और अवयवीभूत होके अव्ययीभाव आदि संज्ञा भी रहें ॥ ३ ॥

सह सुपा[2] ॥ ४ ॥

'सुबामन्त्रिते॰[3]॥' इत्यस्मात् सूत्रात् सुप्-ग्रहणमनुवर्त्तते । सह । अ॰ । सुपा । ३ । १ । 'सुपा सह सुप् समस्यते' इत्यधिकारोऽग्रे कडारपर्यन्तं भविष्यतीति ॥

भा॰—अधिकारश्च लक्षणं च । यस्य समासस्यान्यलक्षणं[4] नास्ति, इदं तस्य लक्षणं भविष्यति ॥[5]

अस्मिन् सूत्रे महाभाष्यकारेण 'सह' इत्यस्य योगविभागः कृतः, तेनैतत् प्रयोजनं निस्सारितं—द्वावर्थौ यथा स्याताम् । 'समर्थेन सह सुप् समस्यते[6]' इति प्रथमः, 'सुपा च सह सुप् समस्यते[6]' इति द्वितीयः । प्रथमार्थेन लक्षणं भविष्यति, अर्थात् यस्य समासस्य किमपि लक्षणं सूत्रं नास्ति, तत्रानेन समासो भविष्यतीत्यर्थः । द्वितीयार्थेनाधिकारो भविष्यति ॥

एतं महाभाष्यकाराभिप्रायमज्ञात्वा भट्टोजिदीक्षितादिभिः द्वितीयाश्रितादि-सूत्रेषु[7] योगविभागं कृत्वा लक्षणरहितस्य समासस्य सिद्धिः कृता । एतत् तेषां महान् भ्रमोऽस्ति ॥

---

१. २ । २ । ३८ ॥

२. सा॰—पृ॰ २ ॥
चा॰ श॰—"सुप्सुपैकार्थम् ॥" (२ । २ । १)

३. २ । १ । २ ॥

४. पाठान्तरम्—अन्यल्लक्षणम् ॥

५. कोशेऽत्र—"आ॰ २ [व्या॰]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

६. अ॰ २ । पा॰ १ । आ॰ २ ॥

७. २ । १ । २३, २६ ... ॥

वा०—इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च[1] ॥[2]

इव-शब्देन सह यस्य शब्दस्य समासो भवति, तत्र विभक्तिर्न लुप्यते, पूर्वपदस्य च प्रकृतिस्वरो भवति । वाससीइव । कन्येइव । इवेन सह समासविधानमनेनैव सूत्रेण, तत्र वार्त्तिकेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च विधीयते ॥ ४ ॥

यह भी अधिकार सूत्र है । ['सुपा सह'] सुबन्त के साथ ['सुप्'] सुबन्त का समास हो । यह अधिकार समास-संज्ञा पर्यन्त चला जायगा ॥

इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योगविभाग से यह प्रयोजन सिद्ध किया है कि इस सूत्र के दो अर्थ करके प्रथम अर्थ से जहां किसी सूत्र से समास सिद्ध न हो, वहां समास समझा जाय, और दूसरे अर्थ से अधिकार समझा जाय ॥

इस महाभाष्यकार के अभिप्राय को नहीं जानके भट्टोजिदीक्षितादि लोगों ने आगे समास के सूत्रों में जो किसी सूत्र से समास नहीं बनता, उस की सिद्धि के लिये योगविभाग किया है । सो केवल उन लोगों की भूल है ॥

'इवेन वि०' इस वार्त्तिक में सूत्र से जो समास इव-शब्द के साथ होता है, सो विभक्ति का लोप न होना, और पूर्व पद को प्रकृतिस्व[र] हो जाना, यह बात वार्त्तिक से सिद्ध होती है । वाससीइव । यहां समास तो हो गया, परन्तु प्रथमा विभक्ति के द्विवचन का लोप न हुआ [और पूर्वपद में प्रकृतिस्वर बना रहा] ॥ ४ ॥

[अथाव्ययीभावसमास-सञ्ज्ञाधिकारः]

अव्ययीभावः[3] ॥ ५ ॥

अयमप्यधिकार एवास्ति । अतोऽग्रे यः समासो भविष्यति, तस्याव्ययीभावसञ्ज्ञा भविष्यति । अन्वर्था सञ्ज्ञा चास्मिन्नपि सूत्रेऽस्ति । अनव्ययम् अव्ययं भवतीति अव्ययीभावः[2] । कुतः । महत्याः सञ्ज्ञायाः प्रतिपादनात् ॥ ५ ॥

यह भी अधिकार सूत्र है । यहां से आगे जो समास कहेंगे, उस की अव्ययीभाव-संज्ञा होगी ॥

इस सूत्र में भी बड़ी संज्ञा के होने से अन्वर्थ संज्ञा समझनी चाहिये ॥ ५ ॥

अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु[4] ॥ ६ ॥

---

१. कोशेऽत्र—"॥ १ ॥" इति ॥

२. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

३. सा०—पृ० ३ ॥

४. सा०—पृ० ३ ॥ चा० श०—"असङ्ख्यं विभक्तिसमीपाभावख्यातिपश्चाद्यथायुगपत्सम्पत्साकल्यार्थे ॥" (२ । २ । २)

'सुप्', 'सुपा' इति चानुवर्त्तते । अव्ययम् १ । १ । अन्यत् सर्वं सप्तम्यां बहुवचनम् । [१] विभक्ति [२] समीप [३] समृद्धि [४] व्यृद्धि [५] अर्थाभाव [६] अत्यय [७] असम्प्रति [८] शब्दप्रादुर्भाव [९] पश्चात् [१०] यथा [११] आनुपूर्व्य [१२] यौगपद्य [१३] सादृश्य [१४] सम्पत्ति [१५] साकल्य [१६] अन्तवचन[१]—एषु विभक्त्यादिषोडशार्थेषु वर्त्तमानमव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति ॥

विभक्त्यर्थे—अष्टाध्याय्यामधि । अध्यष्टाध्यायि शब्दबोधः । अष्टाध्याय्यां शब्दबोधो भवतीत्यर्थः । अत्राव्ययीभावसमासाद् 'अध्यष्टाध्यायि' इति नपुंसकत्वम् । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य[२] '॥ इति ह्रस्वत्वम् ॥

समीपार्थे— नद्याः समीपं = उपनदम् । पौर्णमास्याः समीपं = उपपौर्णमासम् । अत्राव्ययीभावसमासविधानात् 'नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः[३] ॥' इति टच् । ततो नपुंसकत्वम् । 'नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः[४] ॥' इति पञ्चमीं विहाय सर्वासां विभक्तीनां स्थानेऽम् । पञ्चम्यां तु— उपनदात् । उपपौर्णमासात् ॥

समृद्धौ— ब्राह्मणानां समृद्धिः = सुब्राह्मणम् । सुक्षत्रियम् । अव्ययीभावप्रयोजनं विभक्तीनां स्थानेऽम्-आदेशः ॥

व्यृद्धिः—विगता ऋद्धिः = व्यृद्धिः । अन्नस्य व्यृद्धिः, ऋद्धेरभावः = दुरन्नम् । दुर्यवम् । पूर्ववत् प्रयोजनम् ॥

अर्थाभावः = वस्त्वभावः । दंशानामभावः = निर्दंशम् । निर्मशकम् ॥

अत्ययः = निवृत्तिः । वर्षाया निवृत्तिः = अतिवर्षम् अत्राव्ययीभावान्नपुंसकत्वं, ततो वर्षा-शब्दस्य ह्रस्वः ॥

सम्प्रति वर्त्तमानं, तत्प्रतिषेधः । धनस्यासम्प्रति, धनमिदानीं न वर्त्तत इति अतिधनम् ॥

शब्दप्रादुर्भावः = शब्दस्य प्रसिद्धिः । इतिपाणिनि । तत्पाणिनि । इतिपतञ्जलि । पाणिनि-पतञ्जलि-शब्दौ लोके प्रसिद्धौ स्त इत्यर्थः । अत्राव्ययीभावसमा-

---

१. वचन-शब्दो विभक्त्यादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते ॥
२. १ । २ । ४७ ॥
३. ५ । ४ । ११० ॥
४. २ । ४ । ८३ ॥

साद्व्ययत्वं, ततो विभक्तिलुक् ॥

[पश्चादर्थे—] अनुजलं पर्वतः । जलस्य पश्चात् पर्वतो वर्त्तते ॥

यथार्थे— यथाशक्ति । यथाबलम् ॥

आनुपूर्व्ये = अनुक्रमः । अनुशिष्यं पाठयति गुरुः । शिष्यान् क्रमेण पाठयतीत्यर्थः ॥

यौगपद्ये = एककालत्वम् । सवादं प्रवर्त्तन्ते । एकस्मिन् काले वादं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

सादृश्ये— सख्या सदृशः = ससखि । अत्राव्ययीभावादव्ययत्वं, ततो विभक्तिलुक् ॥

सम्पत्तौ— विद्यायाः सम्पत्तिः = सुविद्यं नगरम् ॥

साकल्यं = सम्पूर्णता । सतृणमन्नं भुनक्ति । तृणसहितं सकलं भुनक्तीत्यर्थः ॥

अन्तवचने— समहाभाष्यं व्याकरणमधीतम् । महाभाष्यान्तमधीतमित्यर्थः । अत्र सर्वत्र विभक्तिस्थानेऽम्-आदेशः प्रयोजनम् ॥

भा०—इह कश्चित् समासः पूर्वपदार्थप्रधानः, कश्चिदुत्तरपदार्थप्रधानः, कश्चिदन्यपदार्थप्रधानः, कश्चिदुभयपदार्थप्रधानः । पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः, अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः, उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः ॥[1]

मुख्यत्वेन चत्वार एव समासाः । द्विगु-कर्मधारयौ तु तत्पुरुषभेदौ । तत्राप्युत्तरपदार्थप्रधानत्वमेव । समासे कृते पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो भवति । अर्थात् समा[सा]र्थः पूर्वपदे स्थितो भवतीति । एवं सर्वत्र ॥ ६ ॥

['विभक्ति०'] [१] विभक्ति [२] समीप [३] समृद्धि [४] व्यृद्धि [५] अर्थाभाव [६] अत्यय [७] असम्प्रति [८] शब्दप्रादुर्भाव [९] पश्चात् [१०] यथा [११] आनुपूर्व्य [१२] यौगपद्य [१३] सादृश्य [१४] सम्पत्ति [१५] साकल्य [१६] अन्तवचन—इन सोलह अर्थों में वर्त्तमान जो ['अव्ययम्'] अव्यय है, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो ॥

विभक्त्यर्थ में— अधिवनं सिंहाः सन्ति । वनों में सिंह होते हैं । यहां सप्तमी विभक्ति के अर्थ में अधि अव्यय है । उस का समास होने से विभक्ति के स्थान में अम्-आदेश हो गया ॥

समीप अर्थ में— उपनदं क्षेत्राणि । नदी के समीप खेत हैं । यहां अव्ययीभाव समास के होने से नदी-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय[2] हुआ है ॥

समृद्धि अर्थ में—गोधूमानां समृद्धिः = सुगोधूमम् । गेहुओं की अधिक वृद्धि है । यहां सु अव्यय का गोधूम-शब्द के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है ॥

---

१. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥ २. ५ । ४ । ११० ॥

व्यृद्धि अर्थात् वृद्धि का न होना । यवानां व्यृद्धिः = दुर्यवम् । यहां दुर् अव्यय का समास यव सुबन्त के साथ हुआ है ॥

अर्थाभाव अर्थात् वस्तु का न होना । मशकानामभावः = निर्मशकम् । इस समय मच्छरों का अभाव है । यहां निर् अव्यय का समास मशक सुबन्त के साथ है ॥

अत्यय कहते हैं निवृत्ति हो जाने को । वर्षाया अत्ययः = अतिवर्षम् । वर्षा की निवृत्ति हो गयी । यहां अति अव्यय का वर्षा सुबन्त के साथ अव्ययीभाव स[मास] होने से वर्षा-शब्द को ह्रस्व हुआ है ॥

असम्प्रति अर्थात् वर्त्तमान काल में जो काम न आवे । धनस्यासम्प्रति = अतिधनम् । इस समय धन नहीं । यहां भी अति अव्यय का समास धन सुबन्त के साथ है ॥

शब्दप्रादुर्भाव = शब्द की प्रसिद्धि होना । अष्टाध्यायी-शब्दस्य प्रादुर्भावः = इत्यष्टाध्यायि । अष्टाध्यायी-शब्द की इस समय प्रसिद्धि है । यहां इति अव्यय का समास अष्टाध्यायी-शब्द के साथ होने से अष्टाध्यायी-शब्द को ह्रस्व हो गया है ॥

पश्चात् अर्थ में— अनुभोजनं ग्रामं गच्छति । भोजन के पश्चात् ग्राम को जाता है । यहां अनु अव्यय का समास भोजन सुबन्त के साथ हुआ है ॥

यथा अर्थ में— यथाबलं कार्याणि करोति । जैसा बल है, वैसे काम करता है । यहां यथा अव्यय का समास बल सुबन्त के साथ हुआ है ॥

आनुपूर्व्य = क्रम से काम करना । अनुग्रन्थं व्याकरणं पठति । क्रम से व्याकरण पढ़ता है । अनु अव्यय का समास ग्रन्थ सुबन्त के साथ हो गया है ॥

यौगपद्य = एक काल में कई [का मिलके] काम करना । सवादं प्रवर्त्तन्ते छात्राः । एक समय में सब विद्यार्थी बोलते हैं । यहां सह अव्यय का समास वाद सुबन्त के साथ है ॥

सादृश्य = तुल्यता । मित्रेण सदृशः = समित्रम् । यह मनुष्य अपने मित्र के समान है ॥

सम्पत्ति अर्थ में—सुविद्यम् । यहां सु अव्यय का समास विद्या सुबन्त के साथ हुआ है ॥

साकल्य अर्थ में—सतृणमन्नम् । तृणों के साथ सब अन्न खाता है ॥

अन्तवचन अर्थ में—समहाभाष्यं व्याकरणमधीतम् । महाभाष्य के अन्त पर्यन्त व्याकरण पढ़ा है । ये सोलह अर्थों में सूत्र की व्याख्या पूरी हुई ॥

इस समास प्रकरण [में] मुख्य करके चार समास होते हैं—[१] अव्ययीभाव [२] तत्पुरुष [३] बहुव्रीहि [४] द्वन्द्व । समास का जो अर्थ है, वह अव्ययीभाव समास में पूर्व पद में रहता है । उत्तर पद में तत्पुरुष समास में, बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ में, और द्वन्द्व समास में दोनों पद में समास का अर्थ रहता है । द्विगु और कर्मधारय जो हैं, ये तत्पुरुष के भेद हैं ॥ ६ ॥

यथाऽसादृश्ये[1] ॥ ७ ॥

---

१. सा०—पृ० ४ ॥ चा० श०—"यथा न तुल्ये ।" (२ । २ । ३)

यथा । अ० । असादृश्ये । ७ । १ । असादृश्ये वर्त्तमानं 'यथा' इत्यव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । यथाचौरं बध्नाति । यथापण्डितं सत्करोति । ये ये चौराः सन्ति, तान् तान् बध्नाति । ये ये पण्डिताः सन्ति, तान् तान् सत्करोति । अत्राव्ययीभावकार्यं विभक्तीनां स्थानेऽम्-आदेशः[1] ॥

'असादृश्ये' इति किम् । यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः । यद्यत्राव्ययीभावः स्यात्, नपुंसकत्वेन अम्-भावः स्यात् ॥ ७ ॥

['असादृश्ये'] असादृश्य अर्थ में वर्त्तमान जो ['यथा'] यथा अव्यय है, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । यथाचौरं बध्नाति । जो २ चोर हैं, उन को बांधता है । यहां यथा अव्यय का चोर सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है । उस के होने से विभक्तियों के स्थान में अम्-आदेश होता है ॥ ७ ॥

यावदवधारणे[2] ॥ ८ ॥

यावत् । अ० । अवधारणे । ७ । १ । अवधारणेऽर्थे वर्त्तमानं 'यावद्' इत्यव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते । अव्ययीभावः स समासो भवति । यावत्कार्षापणं क्रीणाति । यावत्पात्रं भोजयति । यावन्ति कार्षापणानि, तावन्ति फलानि क्रीणाति । अत्रापि विभक्तिस्थानेऽम्-आदेशः प्रयोजनम् ॥

अवधारण-ग्रहणं किम् । यावद् दत्तं, तावद् गृहीतम् ॥ ८ ॥

['अवधारणे'] अवधारण अर्थ में वर्तमान जो ['यावत्'] यावत् अव्यय है, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो । यावत्कार्षापणं फलानि क्रीणाति । जितने पैसे हैं, उतने फल खरीदता है । यहां यावत् अव्यय का कार्षापण सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है । इस का भी प्रयोजन पूर्व के तुल्य समझना चाहिये ॥

अवधारण-ग्रहण इसलिये है कि— **यावद् दत्तं, तावद् गृहीतम्** । जितना दिया, उतना ले लिया । यहां यावत् अव्यय का समास नहीं हुआ ॥ ८ ॥

सुप् प्रतिना मात्रार्थे[3] ॥ ९ ॥

सुप्-ग्रहणम् अव्ययनिवृत्त्यर्थम् । सुप् । १ । १ । प्रतिना । ३ । १ । मात्रा-

---

१. दृश्यताम्—"नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः ॥" (२ । ४ । ८३)

२. सा०—पृ० ४ ॥ चा० श०—"यावदियत्त्वे ॥" (२ । १ । ४)

३. सा०—पृ० ४ ॥ चा० श०—"प्रतिना मात्रार्थे ॥" (२ । १ । ५)

र्थे । [७ । १ ।] मात्रा = स्वल्पं, अर्थ-श[ब्देन] वस्तुनः पदार्थस्य ग्रहणम् । मात्रार्थे वर्त्तमानं सुबन्तं समर्थेन प्रतिना सह समस्यते । अव्ययीभावः स समासो भवति । माषप्रति । सूपप्रति । स्वल्पा माषाः, स्वल्पः सूप इत्यर्थः । अत्राऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञाश्रया अव्यय-सञ्ज्ञा । ततो विभक्तिलुक् ॥

मात्रार्थ-ग्रहणं किमर्थम् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । अत्र समासो न भवति ॥ ९ ॥

सुप् की अनुवृत्ति चली आती है, फिर इस सूत्र में सुप्-ग्रहण इसलिये है कि अव्यय की अनुवृत्ति न आवे । मात्रार्थ = थोड़ा सा पदार्थ ['सुप्'] सुबन्त जो है, वह ['मात्रार्थे'] मात्रार्थ में वर्त्तमान ['प्रतिना'] प्रति के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो । माषप्रति । सूपप्रति । थोड़े से उड़द । थोड़ी सी दाल । यहां माष और सूप सुबन्त का प्रति के साथ अव्ययीभाव समास होने से विभक्ति का लुक् हो गया ॥

मात्रार्थ-ग्रहण इसलिये है कि 'मातरं प्रति' यहां समास नहीं हुआ ॥ ९ ॥

अक्षशलाकासङ्ख्याः परिणा[1] ॥ १० ॥

अक्ष-शलाका-सङ्ख्याः । १ । ३ । परिणा । ३ । १ । अक्षश्च शलाका च सङ्ख्या च, ताः । अक्ष-शब्दः, शलाका-शब्दः, सङ्ख्या एकत्वादिश्च सुबन्तानि परिणा सह समस्यन्ते । स चाव्ययीभावः समासो भवति, 'अनिष्टे द्योत्ये'[2] इति [अर्थ उपरिष्टादुक्ताद्] वार्त्तिकाद् [आह्रियते] । द्यूतक्रीडायामस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः । पञ्चिका नाम कश्चिद् द्यूतविशेषः, तत्र यदा सर्वे एकरूपाः पतन्ति, तदा विजयो भवति । तत्रास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिरेव न भवति । अन्यथा पाते पराजयो भवति । तत्रैवानेन समासो भवति । अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वमिति । अर्थात् पूर्वमहं जितवान्, इदानीं तु पराजय एव जात इति प्रयोक्तव्ये 'अक्षपरि, शलाकापरि, एकपरि, द्विपरि' इत्येवं प्रयोगा भवन्ति ॥

अव्ययीभावसमासप्रयोजनं विभक्तिलुक् ॥

वा०—*अक्षादयस्तृतीयान्ताः परिणा पूर्वोक्तस्य यथा न तदयथाद्योतने*[3]॥[4] *१* ॥

---

१. सा०—पृ० ५ ॥
चा० श० —"सङ्ख्याक्षशलाकाः परिणा द्यूतेऽन्यथावृत्तौ ॥" (२ । २ । ६)

२. "अयथाद्योतने" इति वार्त्तिकवचनम् ॥

३. पाठान्तरम्—"अक्षादयस्तृतीयान्ताः पूर्वोक्तस्य यथा न तत् ॥"

४. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

अक्षादयः शब्दास्तृतीयान्ताः परिणा सह समस्यन्ते पूर्वोक्तस्य=पूर्ववृत्तस्य तुल्यमिदं नास्तीति अयथा=अनिष्टे द्योतने—इति सूत्रस्यैव व्याख्या ॥ १ ॥

अक्षशलाकयोश्चैकवचनान्तयोः[1] ॥ २ ॥

इह मा भूत्—अक्षाभ्यां वृत्तम् । अक्षैर्वृत्तमिति[2]॥[3]

अत्र वार्त्तिकनियमात् समासो न भवति ॥ २ ॥

कितवव्यवहारे च ॥ ३ ॥

इह मा भूत्—अक्षेणेदं न तथा वृत्तं शकटेन यथा पूर्वमिति ॥

कितवव्यवहारे=मिथ्यानिन्द्ये व्यवहारेऽयं समासो भवति, यद्यन्यस्य वाच्यत्त्-शब्दो भवति, तदा न । इति तृतीयवार्त्तिकाशयः । महाभाष्याशयेनैवास्यार्थः पूर्वं लिखितः ॥ [३॥] १० ॥

['अक्ष-शलाका-सङ्ख्याः'] अक्ष-शब्द, शलाका-शब्द और संख्या एक, द्वि इत्यादि जो सुबन्त हैं, वे ['परिणा'] परि-शब्द के साथ समास को प्राप्त हों । सो समास अव्ययी-भाव-संज्ञक हो अनिष्ट अर्थ में । जुआ खेलने के विषय में यह सूत्र लगता है । पंचिका नाम है एक जुए का । उस में जब पांसे एकतार पड़ते हैं, तब फेंकने वाला जीत जाता है । वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । और जब एक पांसा सूधा पड़ा, एक उलटा पड़ा, तब फेंकने वाले की हार होती है । तब इस सूत्र से समास होता है । अक्षपरि । शलाकापरि । एकपरि । द्विपरि । अर्थात् प्रथम तो मैं जीत गया था, अब मेरा पराजय हो गया ॥

अव्ययीभाव समास का प्रयोजन यह है कि 'अक्षपरि' आदि शब्दों की विभक्ति का लुक् हो जावे ॥

'अक्षादयः०' इस वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि जहां इस सूत्र से समास होता है, वहां अनिष्ट अर्थ में समझना चाहिये ॥ १ ॥

'अक्षशला०' अक्ष और शलाका इन दोनों शब्दों का एकवचनान्त से समास होता है ॥ २ ॥

'कितवव्यव०' इस तीसरे वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि इस सूत्र की प्रवृत्ति निन्दित जुआ के व्यवहार में समझनी चाहिये [॥ ३] ॥ १० ॥

विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या[4] ॥ ११ ॥

---

१. पाठान्तरम्—"एकत्वेऽक्षशलाकयोः ॥"

२. भाष्यकोशेषु "इति" इति न दृश्यते ॥

३. कोशेऽत्र—"भा० २ [व्या०]" इत्युद्धरण-स्थलम् ॥

४. सा०—पृ० ५ ॥ अत्र "विभाषा ॥ अपपरि-बहिरञ्चवः पञ्चम्या ॥" इति द्वे सूत्रे व्याख्याते । अतो ज्ञायते नायं सामासिको नाम ग्रन्थो भगवद्-यानन्दसरस्वतीस्वामिना संशोधित इति ॥

चा० श०—"पर्यपाङ्बहिरञ्चः पञ्चम्या वा ॥" (२ । २ । ७)

विभाषा । अ० । अप-परि-बहिर्-अञ्चवः । १ । ३ । पञ्चम्या । ३ । १ ॥

भा०—योगविभागः कर्त्तव्यः । 'विभाषा' इत्ययमधिकारः । ततः 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इति ॥

अतोऽग्रे यः समासो भविष्यति, स विकल्पेन भविष्यति । यावत् नित्य-ग्रहणं नो आगमिष्यति, ताव[त्] विकल्पेन समासो विज्ञेयः । पक्षे वाक्यं भविष्यति ॥

पूर्वोक्तेन महाभाष्यकृतयोगविभागेनैतद् विज्ञायते—पाणिनिकृतमेकमेवेदं सूत्रम् । इदानीन्तनैस्तु जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादिभिर्द्वे सूत्रे व्याख्याते—'विभाषा' इति पृथक्, 'अपपरिवहिरञ्चवः पञ्चम्या' इति पृथक् । इदानीन्तनेषु मुद्रित-[अष्टाध्यायी-] पुस्तकेष्वपि पृथगेव लिखितमस्ति । तदिदं महाभाष्यतो विरुद्धमस्ति । कुतः । यत्रैकं सूत्रं, तत्रैव महाभाष्यकारेण योगविभागः कृतोऽस्ति । पृथग् योगौ स्यातां चेत्, योगविभागकरणमनर्थकं स्यात् । 'अप, परि, बहिस्, अञ्चु' इत्येते शब्दाः पञ्चम्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । पर्वतान् वर्जयित्वा = अपपर्वतं वृष्टो मेघः, अप पर्वतेभ्यो वृष्टो मेघः । परिपर्वतं, परि पर्वतेभ्यः । बहिर्ग्रामं, बहिर्ग्रामात् । प्राग्ग्रामं, प्राग् ग्रामात् । प्रत्यग्ग्रामं, प्रत्यग् ग्रामात् । अत्र यस्मिन् पक्षेऽनेनाव्ययीभावः समासो भवति, तत्र 'नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः[3]॥' इति विभक्तीनां स्थानेऽम्-आदेशो भवति । यस्मिन् पक्षे समासो न भवति, तत्र 'अपपरी वर्जने[4]॥' इति कर्मप्रवचनीयत्वात् पञ्चमी । बहिर्योगेऽस्मिन् सूत्रे पञ्चमीविधानात् पञ्चमी[5] । अञ्चुयोगे 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते[6] ॥' इति सूत्रेण पक्षे पञ्चमी भवति ॥ ११ ॥

इस सूत्र में 'विभाषा' यह अधिकार है । अर्थात् जब तक नित्य न आवे, तब तक विकल्प करके समास हुआ करेगा । महाभाष्यकार ने इस सूत्र में योगविभाग किया है । अर्थात् 'विभाषा' यह अधिकार के लिये पृथक् किया है । इस से यह जाना जाता है कि पाणिनिजी महाराज का

१. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥
२. जर्मनीदेशे प्रकाशितायां श्रीबोटलिङ्कमहोदयसम्पादितायामष्टाध्याय्यां श्रीकीलहॉर्नसम्पादिते महाभाष्ये च "विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ॥ ११ ॥ १२ ॥" इति लिखितेऽप्येकस्मिन् सूत्रे द्वे सङ्ख्याङ्के दत्ते । तत्र किञ्चिदपि बीजं न पश्यामः ॥
३. २ । ४ । ८३ ॥
४. १ । ४ । ८७ ॥
५. २ । ३ । १० ॥
६. २ । ३ । २९ ॥

बनाया एक ही सूत्र है । और जयादित्य भट्टोजिदीक्षितादि नवीन लोगों ने इस सूत्र [के पदों] को अलग २ अर्थात् दो सूत्र करके व्याख्या की है । तथा इस समय के छपे हुए [अष्टाध्यायी के] पुस्तकों में भी दो सूत्र लिखे हैं । सो महाभाष्य से विरुद्ध है । क्योंकि जो दो ही सूत्र होते, तो महाभाष्यकार योगविभाग क्यों करते । ['अप-परि-बहिर्-अञ्चवः'] अप, परि, बहिस्, अञ्चु, ये जो शब्द हैं, सो ['पञ्चम्या'] पंचम्यन्त सुबन्त के साथ समास पावें । वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो । अपपर्वतम् । अप पर्वतेभ्यः इत्यादि उदाहरणों में जहां इस सूत्र से समास होता है, वहां विभक्तियों के स्थान में अम्-आदेश होता है । और जिस पक्ष में समास नहीं होता, वहां पंचमी विभक्ति बनी रहती है ॥ ११ ॥

आङ् मर्यादाभिविध्योः[1] ॥ १२ ॥

'पञ्चम्या' इत्यनुवर्त्तते । आङ् । अ० । मर्यादा-अभिविध्योः । ७ । २ । मर्यादायामभिविधौ च वर्त्तमानं 'आङ्' इति शब्दः पञ्चम्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । मर्यादायाम्—आपाटलिपुत्रम्, आ पाटलिपुत्रात् । अभिविधौ—आकुमारम्, आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः । अव्ययीभावसमासकार्यं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

['मर्यादाभिविध्योः'] मर्यादा और अभिविधि अर्थ में वर्त्तमान जो ['आङ्'] आङ्-शब्द है, वह पंचम्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । सो समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो । मर्यादा अर्थ में—आपाटलिपुत्रम्, आ पाटलिपुत्रात् । अभिविधि में—आकुमारम्, आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः । समास-सञ्ज्ञा का प्रयोजन पूर्व के तुल्य समझना चाहिये ॥ १२ ॥

लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये[2] ॥ १३ ॥

लक्षणेन । ३ । १ । अभि-प्रती । १ । २ । आभिमुख्ये । ७ । १ । लक्षणेन = लक्षणवाचिना । आभिमुख्येऽर्थे वर्त्तमानौ अभि-प्रती शब्दौ लक्षणवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । प्रतिदीपकं पतङ्गाः पतन्ति । अग्निसम्मुखं, दीपकसम्मुखं पतन्तीत्यर्थः । अभ्यग्नि । प्रत्यग्नि । अग्निमभि । अग्निं प्रति । अव्ययीभावसमासाश्रयाऽव्यय-सञ्ज्ञा । ततो विभक्तिलुक् ॥

'लक्षणेन' इति किमर्थम् । वाराणसीं प्रति गतः । अत्रानेन समासो न भवति ॥

---

१. सा०—पृ० ५ ॥ चा० श० (२ । २ । ७)—"पर्यपाङ्बहिरञ्चः पञ्चम्या वा ॥"

२. सा०—पृ० ५ ॥

'आभिमुख्ये' इति किम् । अभिरूपा बालाः । प्रतिकूलाः शिष्याः । अत्रा-भिमुख्याभावादव्ययीभावः समासो न भवति ॥ १३ ॥

['आभिमुख्ये'] आभिमुख्य अर्थात् सम्मुख अर्थ में वर्त्तमान ['अभि-प्रती'] अभि, प्रति जो शब्द हैं, वे ['लक्षणेन'] लक्षणवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । अभ्यग्नि, प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । अग्निमभि । अग्निं प्रति । यहां जिस पक्ष में अव्ययीभाव समास होता है, वहां अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्तियों का लुक् हो जाता है । और जहां समास नहीं होता, वहां विभक्ति बनी रहती है ॥

लक्षणवाची का ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामं प्रति गतः' यहां समास न हो ॥

और आभिमुख्य-ग्रहण इसलिये है कि 'अभिरूपाः, प्रतिकूलाः' यहां अव्ययीभाव समास न हो ॥ १३ ॥

अनुर्यत्समया[1] ॥ १४ ॥

'लक्षणेन' इत्यनुवर्त्तते । अनुः । १ । १ । यत्समया । अ० । 'समया' इति शब्दः समीपवाच्यव्ययम् । यस्य समया = यत्समया । यस्य समीपवाची अनुः, तेन लक्षणवाचिना सुबन्तेन सह अनुः विकल्पेन समस्यते । स समासो ऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । अनुयमुनं मथुरा वसति । अनुवनं पशवश्चरन्ति । अनुपर्वतं नदी वहति । यमुनाया अनु, समीपमित्यर्थः । अत्राव्ययीभावसमासाद् यमुना-शब्दस्य नपुंसकत्वं, ततो ह्रस्वत्वं च ॥

'यत्समया' इति किम् । ग्राममनु विद्योतते विद्युत् । अव्ययीभावोऽत्र न भवति ॥

समीपार्थे 'अव्ययं विभक्तिसमीप०[2] ॥' इति सिद्धं, पुनर्विभाषार्थम् ॥ १४ ॥

इस सूत्र में समया अव्यय समीपवाची है । जिस का समीप वाची अनु-शब्द हो, उस लक्षणवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके अनु समास को प्राप्त हो । सो समास अव्ययीभाव कहावे । अनुपर्वतं नदी वहति । पर्वत के समीप नदी बहती है । यहां पर्वत लक्षणवाची है । उस के साथ अनु का समास हुआ है । उस के होने से सब विभक्तियों के स्थान में अम्-आदेश हो गया ॥

'जिस का समीप'-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्राममनु विद्योतते विद्युत्' यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ ॥ १४ ॥

---

१. सा०—पृ० ६ ॥
चा० श० (२ । २ । ६)—"अनुः सामी-प्यायामयोः ॥"

२. २ । १ । ६ ॥

यस्य चायामः[1] ॥ १५ ॥

'लक्षणेन' इत्यनुवर्त्तते, 'अनुः' इति च । यस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] आयामः । १ । १ । आयामः = दीर्घत्वम् । यस्य आयामः=विस्तारवाच्यनु-शब्दोऽस्ति, तेन लक्षणवाचिना सुबन्तेन सहानुर्विकल्पेन समस्यते । स समासो ऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । अनुगङ्गं हास्तिनपुरम्[2] । अनुशोणं पाटलिपुत्रम् । यथा गङ्गाया विस्तारः, तथा विस्तारेण तटे हास्तिनपुरमपि वसतीत्यर्थः । समास-प्रयोजनं गङ्गा-शब्दस्य नपुंसकत्वाद् ह्रस्वत्वम् ॥

'आयामः' इति किम् । पर्वतमनु मेघो वर्षति । अत्र समासो न भवति ॥१५॥

आयाम कहते हैं विस्तार को । ['च' और 'यस्य'] जिस का ['आयामः'] विस्तारवाची ['अनुः'] अनु-शब्द हो, उस लक्षणवाची सुबन्त के साथ अनु विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव कहावे । अनुगङ्गं हास्तिनपुरम् । अर्थात् जैसा गंगा का विस्तार है, वैसा ही विस्तार से किनारे २ हथिनापुर बसता है । यहां अव्ययीभाव समास के होने से गंगा-शब्द को नपुंसक होके ह्रस्व हो गया है ॥

आयाम-ग्रहण इसलिये है कि 'पर्वतमनु मेघो वर्षति' पर्वत पर मेघ वर्षता है, यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ ॥ १५ ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च[3] ॥ १६ ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि । १ । ३ । च । [अ० ।] प्रभृति-शब्द आदिवाची । तिष्ठद्ग्वादीनि प्रातिपदिकान्यव्ययीभाव-सञ्ज्ञानि निपातितानि द्रष्टव्यानि । तिष्ठ-द्गु । वहद्गु । अव्ययीभावादव्ययत्वम् । ततो विभक्तिलुक् ॥

---

१. सा०—पृ० ६ ॥
चा० श०— "अनुः सामीप्यायामयोः ॥" (२ । २ । ६)

२. महाभारत आदिपर्वणि (३७८७)—
"सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम । तस्यामस्य जज्ञे हस्ती, य इदं हास्तिन-पुरं स्थापयामास । एतदस्य हास्तिनपुरत्वम् ॥"
"गजपुर, गजसाह्वय, गजाह्वय, नागपुर, नागसाह्वय, नागाह्वय, वारणसाह्वय, वारणाह्वय, हस्तिनपुर" इति पर्यायाः । "हस्तिनापुर" इत्यपि कश्चिद् दृश्यते ॥
एषा कुरूणां राजधानी इन्द्रप्रस्थादुत्तरपूर्वस्यां दिशि गङ्गाया दक्षिणे तीरे सुसमृद्धा स्फीतधनधान्या स्थिता गङ्गाप्रवाहेणापहृतेति विष्णुपुराणे—
"अधिसीमकृष्णात् निचक्नुः [भविष्यति ।] यो गङ्गयापहृते हास्तिनपुरे कौशाम्ब्यां निवत्स्यति ॥" (चतुर्थांश एकविंशोऽध्यायः)

३. सा०—पृ० ६ ॥
चा० श०—"तिष्ठद्ग्वादीनि ॥" (२ । २ । १०)

चकारोऽत्र निश्चयार्थः । तिष्ठद्गुप्रभृतीन्येव । तेन 'परमं तिष्ठद्गु' [इति] अत्र समासो न भवति ॥

वा०—*तिष्ठद्गु कालविशेषे ॥*[1] *१* ॥

'तिष्ठद्गु, वहद्गु, आयतीगवम्' इति त्रयः शब्दाः कालविशेषे निपातिता इति विज्ञेयम् । तिष्ठन्ति गावोऽस्मिन् काले [दोहाय], स तिष्ठद्गु कालः[2] । वहद्गु कालः[3] । आयन्ति गावोऽस्मिन् काले, आयतीगवं कालः ॥ १ ॥

खलेयवादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे ॥[1] *२* ॥

खले यवाः सन्त्यस्य, स खलेयवं पुरुषः । एवं—लूनयवं, लूयमानयवम् ॥२॥

अथ गणपाठः—[१] तिष्ठद्गु [२] वहद्गु [३] आयतीगवम् [४] खलेयवम्[4] [५] खलेबुसम्[5] [६] लूनयवम् [७] लूयमानयवम् [८] पूतयवम् [९] पूयमानयवम्[6] [१०] संहृतयवम् [११] संह्रियमाणयवम् [१२] संहृतबुसम् [१३] संह्रियमाणबुसम्[7] [१४] समभूमि [१५] समपदाति[8] [१६] सुषमम्[9] [१७] विषमम्[10] [१८] निष्षमम्[11] [१९] दुष्षमम् [२०] अपरसमम्[12] [२१] आयतीसमम्[13] [२२] पुण्य-

१. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

२. "प्रथमरात्रेरर्धघटी । प्रावृट्काल इत्यन्ये" इति श्रीवर्धमानः ॥ (गण० म० २ । ६३)

३. "वहन्ति गावो यस्मिन् काले, स कालो वहद्गु । शरत्काल इत्यन्ये ।" इति श्रीवर्धमानः ॥

४. क्वचित् "खलेबुसम् । खलेयवम् ।" इति क्रमभेदः ॥

५. चान्द्रवृत्तावयं शब्दो न पठितः ॥ (२।२।१०)
"खले बुसानि यत्र काले, स कालः खलेबुसम् ।" इति श्रीवर्धमानः ॥

६. श्रीवर्धमानः—"पूताः पूयमानाश्च यवा यत्र काले, स पूतयवम् । 'पूनयवम्' इति भोजः । पूयमानयवं कालः । खलं रणाजिरं धान्यावपनस्थानं च । खलन्ति=सञ्चीयन्ते यशांसि शूरैः धान्यानि वा यत्र, तत् खलम् । खले यवा बुशानि च यस्मिन् काले, स खलेयवं, खलेबुशम् । लूना यवा यस्मिन् काले, स लूनयवम् ।"

७. अतोऽग्रे काशिकायाम्—"एते कालशब्दाः ।"

८. चान्द्रवृत्तौ—"समम्भूमि । समम्पदाति ।"
पदमञ्जर्यां श्रीहरदत्तमिश्रः—"अन्ये तु सम्भूमि सम्पदातीति पठन्ति ।"
श्रीवर्धमानः—"समत्वं भूमेः समम्भूमि । निपातनात् मुमागमः । शाकटायनस्तु 'समभूमि' इत्यप्याह । समम्पदाति—निपातनात् मुमागमः । 'समपदाति' इत्यपि शाकटायनः ।"

९. श्रीवर्धमानः—"शोभनाः समा यत्र, स कालः सुषमम् । शोभनत्वं समस्येति वा ।"

१०. श्रीवर्धमानः—"समाद् विप्रकृष्टो हीनो वा देश इति केचित् ।"

११. क्वचिद् "दुष्षमम् । निष्षमम् ।" इति क्रमभेदः ॥
गण० म०—"निर्गतं समं, निर्गतत्वं समस्येति वा ।" एवमेव "दुष्टत्वं समाया दुष्टा समा वा यत्र ।"

१२. "अपसमम्" इति श्रीबोटलिङ्कभट्टोजिदीक्षितौ ॥
गण० म०—"अपरसममिति भोजः ।"

१३. अतोऽग्रे चान्द्रवृत्तौ, काशिकायां, प्रक्रियाकौमु-

सममू[1] [२३] पापसमम्[2] [२४] प्रौढम् [२५] प्राह्णम्[3] [२६] प्ररथम्[4] [२७] प्रमृगम्[5] [२८] प्रदक्षिणम्[6] [२९] अपरदक्षिणम् [३०] सम्प्रति [३१] असम्प्रति[7] [३२] इच्-प्रत्ययः समासान्तः[8]॥ 'इच् कर्मव्यतिहारे[9]॥' 'द्विदण्ड्यादिभ्यश्च[10]॥' इति य इच् प्रत्ययो भवति, तदन्तानि च प्रातिपदिकानि अव्ययीभाव-सञ्ज्ञानि भवन्ति । तेनाव्ययत्वाद् विभक्तिलुक् । दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । नखानखि । केशाकेशि , द्विदण्डि । द्विमुसलि । इत्यादीनि ॥१६॥

प्रभृति-शब्द आदि वाची है । ['तिष्ठद्गुप्रभृतीनि'] तिष्ठद्गु आदि जो प्रातिपदिक हैं, वे अव्ययीभावसमास-सञ्ज्ञक निपात समझने चाहियें । तिष्ठद्गु । वहद्गु इत्यादि शब्दों की अव्ययीभाव-सञ्ज्ञा होने से अव्यय-सञ्ज्ञा होके विभक्ति का लुक् हो जाता है ॥

इस सूत्र में चकार निश्चयार्थक है । तिष्ठद्गु आदि निपातों की ही अव्ययीभाव-सञ्ज्ञा हो । परमं तिष्ठद्गु । यहां परम-शब्द का समास नहीं हुआ ॥

'तिष्ठद्गु काल०' तिष्ठद्गु आदि तीन शब्द कालविशेष अर्थ में निपातन समझने चाहियें । जैसे—प्रातःकाल, सायंकाल । [इसी प्रकार तिष्ठद्गुकाल, अर्थात् जिस समय गौएं खड़ी होती हैं, वह काल ॥] १ ॥

'खलेयवादीनि०' खलेयवादि जो प्रातिपदिक हैं, उन प्रथमान्तों का अन्य पदार्थ में

दीटीकायां (अव्ययीभावप्रकरणे) च "पुण्यसमम् । पापसमम् । प्रौढम् ।" इति न सन्ति ॥

श्रीबोटलिङ्कपाठस्तु—"प्रोढम् । पापसमम् । पुण्यसमम् ।"

१. श्रीवर्धमानः—"पुण्यत्वं समायाः, पुण्या समेति वा । 'पुण्येन समं' [इति] तृतीयासमासापवाद इति केचित् । पापाः समा यस्मिन् युगे काले वा, पापसमम् ।"

न्यासकारः—"समा-शब्दः संवत्सरवाची । आयती समा = आयतीसमम् । एवं—पापा समा= पापसमम् । पुण्या समा = पुण्यसमम् । अन्ये तु तृतीयासमासं वर्णयन्ति । आयत्या समा = आयतीसमम् । एवमन्यत्रापि ॥"

२. अत्र प्रक्रियाकौमुदीटीकायां न दृश्यते ॥

३. गण० म०—"प्रगतत्वमह्नां, प्रगतमह इति वा ।"

४. श्रीवर्धमानः—"प्रगतत्वं रथस्य । प्रगताः प्रभूता वा रथा अस्मिन् देशे ।"

५. गण० म०—"प्रगता मृगा यत्र काले यतो वाऽऽरण्यादेः, तत् प्रमृगम् ।"

६. गण० म०—"प्रकृष्टत्वं दक्षिणाया वा ।"

७. अतोऽग्रे चान्द्रवृत्तौ, काशिकायां प्रक्रियाकौमुदीटीकायां च "पापसमम् । पुण्यसमम् ।" इति ॥

प्रक्रियाकौमुदीटीकायां तु "पुण्यसमम्" इत्यतोऽग्रे "आयतीसमम् । प्राह्णम्" इत्यपि ॥

श्रीहरदत्तः—"सङ्गतं प्रतिगतस्य = सम्प्रति । विपरीतमसम्प्रति ।"

८. गणरत्नमहोदधौ "अधोनाभं, प्रान्तं, पकान्तं, समानतीर्थम्, समपक्षं, समानतीरं, अपदक्षिणम्" इत्येते शब्दा अधिका दृश्यन्ते । अपि च—"आकृतिगणोऽयम् । तेन 'यत्प्रभृति तत्प्रभृति' इत्यादीनामपि क्रियाविशेषणवृत्तीनां व्युत्पत्तिरनेनैव द्रष्टव्या ॥"

९. ५ । ४ । १२७ ॥

१०. ५ । ४ । १२८ ॥

समास समझना चाहिये । खलेयवं उस को कहते हैं [कि] खरियान में जिस के जौ हों । इसी प्रकार अन्य शब्दों में भी समझना उचित है ॥

तिष्ठद्गु आदि प्रातिपदिक पूर्व संस्कृत भाष्य में सब क्रम से लिख दिये हैं ॥ १६ ॥

पारेमध्ये[1] षष्ठ्या वा[2] ॥ १७ ॥

पारे-मध्ये । १ । २ । षष्ठ्या । ३ । १ । वा । अ० । अव्ययीभावसमास-पक्षे पारे-मध्ये-शब्दौ एकारान्तौ निपातितौ । या विभाषाऽनुवर्त्तते, सा 'महा-विभाषा' इति कथ्यते । तया पक्षे वाक्यं भवति । तस्या अनुवृत्तौ सत्यां पुनर् वा-वचनेन षष्ठीसमासोऽपि यथा स्यात् । पार-मध्य-शब्दौ षष्ठ्या = षष्ठ्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । गङ्गायाः पारं = पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । अव्ययीभावसमासाश्रयं नपुंसकत्वम् । ततो ह्रस्वः । महाविभाषया 'गङ्गायाः पारम्' इति वाक्यं भवति । द्वितीयविकल्पेन 'गङ्गापारम्' इति षष्ठीसमासः । एवं विकल्पद्वयेन रूपत्रयं सिद्धं भवति ॥ १७ ॥

जिस पक्ष में अव्ययीभाव समास होता है, वहां पारे और मध्ये ये दोनों शब्द एकारान्त निपातन किये हैं । ['पारेमध्ये'] पार और मध्य जो शब्द हैं, वे ['षष्ठ्या'] षष्ठ्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । यहां अव्ययीभाव समास के होने से गंगा-शब्द को ह्रस्व हुआ है ॥

पूर्व से विकल्प की अनुवृत्ति चली आती है, फिर विकल्प-ग्रहण इसलिये है कि द्वितीय विकल्प के होने से षष्ठीसमास भी हो जाय । पूर्व विकल्प से अव्ययीभाव समास पक्ष में वाक्य रहता है । गङ्गायाः पारम् । और दूसरे विकल्प से—गङ्गापारम् । यहां षष्ठीसमास भी हो गया । इस प्रकार दो विकल्पों के होने से तीन रूप सिद्ध होते हैं ॥ १७ ॥

सङ्ख्या वंश्येन[3] ॥ १८ ॥

सङ्ख्या । १ । १ । वंश्येन । ३ । १ । वंशे[4] भवः = वंश्यः, तेन । दिगा-दित्वाद्[5] यत् । सङ्ख्यावाची यः सुबन्तः, स वंश्यवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । द्वौ मुनी व्याकरणस्य कर्त्तारौ—द्विमुनि व्याकरणम् । अव्ययीभावादव्ययत्वम् । ततो विभक्तिलुक् । एवं—एक-विंशति भारद्वाजम् । अत्राप्यनेनैव समासः ॥ १८ ॥

---

१. केचित् "पारे मध्ये" इति द्वौ शब्दौ पृथक् पठन्ति ॥

२. सा०—पृ० ६ ॥
चा० श०—"पारेमध्ये षष्ठ्या वा ॥" इति स एव पाठः ॥ (२ । २ । ११)

३. सा०—पृ० ७ ॥
चा० श०—"सङ्ख्या वंश्येन ॥" (२ । २ । १२) इति तदेव सूत्रम् ॥

४. वंशो द्विधा । विद्यया जन्मना च ॥

५. "दिगादिभ्यो यत् ॥" (४ । ३ । ५४)

['सङ्ख्या'] सङ्ख्यावाची जो सुबन्त है, वह ['वंश्येन'] वंश्यवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास हो। वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो। द्विमुनि व्याकरणम्। यहां द्विमुनि-शब्द में अव्ययीभाव समास होने से विभक्ति का लुक् हुआ है ॥ १८ ॥

नदीभिश्च[1] ॥ १६ ॥

'सङ्ख्या' इत्यनुवर्त्तते । नदीभिः । ३ । ३ । च । अ० । सङ्ख्यावाची सुबन्तो नदीवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । सप्तनदम् । द्वियमुनम् । सप्तगोदावरम् । सप्तानां नदीनां समाहारः । 'द्वयोः यमुनयोः समाहारः, सप्तानां गोदावरीणां समाहारः' इति पक्षे वाक्यं भवति । 'सप्तनदम्' [इति] अत्राव्ययीभावसञ्ज्ञाश्रयः समासान्तः टच्-प्रत्ययः । ततो नपुंसकत्वम् ॥

वा०—नदीभिः सङ्ख्यायाः समाहारेऽव्ययीभावो वक्तव्यः[2]॥[3]

सूत्रेण यः समासो विधीयते, समाहारे स भवतीति विशेषः । समाहार-ग्रहणाभावे 'सर्वमेकनदीतरे'[4] [इति] अस्मिन् प्रयोगे 'एका चासौ नदी' इति 'पूर्वकालैक०[5] ॥' इति सूत्रेण समानाधिकरणे समासः । तत्र 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते०[6] ॥' इति परिभाषया एकनदी-शब्दे समानाधिकरणं बाधित्वाऽनेन सूत्रेणाव्ययीभावः प्राप्नोति । यद्यव्ययीभावः स्यात्, तर्हि टच् प्रसज्येत । समाहार-ग्रहणान्न भवतीति वार्त्तिकाशयः ॥ १६ ॥

['सङ्ख्या'] संख्यावाची जो सुबन्त है, वह ['नदीभिः'] नदीवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो। द्वियमुनम्। यहां अव्ययीभाव समास के होने से यमुना-शब्द नपुंसक होके ह्रस्व हो गया ॥

'नदीभिः०' इस वार्त्तिक से यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास होता है, वह समाहार अर्थ में समझना चाहिये। जो समाहार-ग्रहण न करते, तो 'एकनदी' इस शब्द में समानाधिकरण समास होता है, और इस सूत्र से अव्ययीभाव पाता है। जो अव्ययीभाव हो, तो 'एकनदम्' ऐसा प्रयोग प्राप्त होता है। समाहार के न होने से अव्ययीभाव नहीं हुआ। यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ १६ ॥

---

१. सा०—पृ० ७ ॥
चा० श०—"नदीभिः ॥" (२।२।१३)
२. कोशेऽत्र—"॥१॥" इति ॥
३. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥
४. द्रष्टव्यम्—"नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ॥ अव्ययीभावश्च ॥" (५ । ४ । ११० ॥ २ । ४ । १८) इति सूत्रे ॥
५. २ । १ । ४६ ॥
६. पा०—सू० ५१ ॥
प०—सू० ५६ ॥

अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम्[1] ॥ २० ॥

'नदीभिः' इत्यनुवर्त्तते । अन्यपदार्थे । ७ । १ । च । [अ० ।] सञ्ज्ञायाम् । ७ । १ । अन्यपदार्थे गम्यमाने सञ्ज्ञायामभिधेयायां सत्यां सुबन्तो नदीवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् देशे = उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् । इति देशविशेषस्य सञ्ज्ञा । अव्ययीभाव-सञ्ज्ञाप्रयोजनं पूर्ववत् ॥

'अन्यपदार्थे' इति किम् । कृष्णा चासौ नदी = कृष्णनदी ॥

'सञ्ज्ञायाम्' इति किमर्थम् । क्षिप्रगङ्गो देशः । अत्राव्ययीभावसञ्ज्ञाश्रयाणि कार्याणि न भवन्ति ॥ २० ॥

[इत्यव्ययीभावसमास-सञ्ज्ञाधिकारः]

['अन्यपदार्थे'] अन्यपदार्थ में ['सञ्ज्ञायाम्'] सञ्ज्ञा अर्थ हो, तो सुबन्त जो है, वह नदीवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास होता है । वह समास अव्ययीभाव कहावे । उन्मत्तगङ्गम् । यह किसी देश की सञ्ज्ञा है—उन्मत्त अर्थात् बहुत चलने वाली गंगा हो जिस देश में । यहां समास सञ्ज्ञा का प्रयोजन पूर्व के तुल्य समझना चाहिये ॥

अन्यपदार्थ-ग्रहण इसलिये है [कि] 'कृष्णनदी' यहां न हो ॥

और सञ्ज्ञा-ग्रहण इसलिये है कि 'क्षिप्रगङ्गो देशः' यहां संज्ञा के न होने से अव्ययीभाव न हुआ ॥ २० ॥

[यह अव्ययीभाव समास पूरा हुआ]

[अथ तत्पुरुषसमास-सञ्ज्ञाधिकारः]

तत्पुरुषः[2] ॥ २१ ॥

अधिकारसूत्रमिदम् । अतोऽग्रे यावद्[3] बहुव्रीहिसमासो नागमिष्यति, तावद् यः समासो भविष्यति, तस्य 'तत्पुरुषः' इति सञ्ज्ञा वेदितव्या ॥ २१ ॥

यह अधिकार सूत्र है । यहां से आगे जब तक बहुव्रीहि समास न आवे, तब तक जो समास हो, वह तत्पुरुष-संज्ञक होगा ॥ २१ ॥

द्विगुश्च[2] ॥ २२ ॥

द्विगुः । १ । १ । च । [अ० ।] द्विगुः समासश्च तत्पुरुष-सञ्ज्ञो भव-

---

१. सा०—पृ० ८ ॥
चा० शा०—"अन्यार्थे नाम्नि ॥" (२ । २ । १४)

२. सा०—पृ० ८ ॥

३. "शेषो बहुव्रीहिः ॥" (२ । २ । २३) इति सूत्रपर्यन्तम् ॥

ति । समासान्ताः प्रयोजनम् । सङ्ख्या यस्य पूर्वं, तस्य तत्पुरुषस्यैव द्विगु-सञ्ज्ञा भवति । एकसञ्ज्ञाधिकारत्वाद् द्विगोः पुनस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञाविधानम् । पञ्चराजी । दशराजी । अत्र द्विगोस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञाविधानात् टच्-प्रत्ययो भवति । ततो ङीप् । एवं 'पञ्चगवं, दशगवं' इत्यपि ॥ २२ ॥

संख्या जिस के पूर्व हो, उस तत्पुरुष की आगे [1] द्विगु-संज्ञा करेंगे । यहां एक संज्ञा का अधिकार चला आता है, इसलिये फिर द्विगु की तत्पुरुष-सञ्ज्ञा की है । ['द्विगुः'] द्विगु जो समास है, वह ['च'] भी तत्पुरुष-संज्ञक हो । पंचराजी । दशराजी । यहां द्विगु की तत्पुरुष-संज्ञा होने से राजन्-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है ॥ २२ ॥

द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः[2] ॥ २३ ॥

द्वितीया । १ । १ । श्रित-अतीत-पतित-गत-अत्यस्त-प्राप्त-आपन्नैः । ३ । ३ । श्रितश्च अतीतश्च पतितश्च गतश्च अत्यस्तश्च प्राप्तश्च आपन्नश्च, तैः । द्वितीयान्तं सुबन्तं श्रितादिभिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [श्रित—] कष्टं श्रितः = कष्टश्रितः । अतीत—अरण्यमतीतः = अरण्यातीतः । पतित—कूपं पतितः = कूपपतितः । गत—नगरं गतः = नगरगतः । [अत्यस्त —] गङ्गामत्यस्तः = गङ्गात्यस्तः । [प्राप्त—] आनन्दं प्राप्तः = आनन्दप्राप्तः । [आपन्न—] सुखमापन्नः = सुखापन्नः । तत्पुरुष-सञ्ज्ञाया बहूनि प्रयोजनानि सन्ति । सर्वेषु सूत्रेषु तानि नैव लिख्यन्ते । यत्र यत्र तान्यागमिष्यन्ति, तत्र तत्र तानि प्रसिद्धानि भविष्यन्ति ॥

वा०—*श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्* ॥

ग्रामं गमी = ग्रामगमी । ग्रामं गामी = ग्रामगामी ॥[3]

अस्यापि समासस्य तत्पुरुष-सञ्ज्ञा विज्ञेया ॥ २३ ॥

['द्वितीया'] द्वितीयान्त जो सुबन्त है, वह ['श्रिता०'] श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त, आपन्न, इन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । कष्टं श्रितः = कष्टश्रितः इत्यादि उदाहरणों में तत्पुरुष-संज्ञा के प्रयोजन बहुत हैं । वे सब सूत्रों में नहीं लिखे जायंगे । जहां २ वे प्रयोजन आवेंगे, वहां २ प्रसिद्ध कर दिये जायंगे । और जो कोई विशेष प्रयोजन होगा, तो समास के सूत्रों में भी दिखला दिये जायंगे ॥

'श्रितादिषु०' इस वार्त्तिक से गमी और गामी आदि शब्दों के साथ द्वितीयान्त का

---

१. २ । १ । ५१ ॥
२. सा०—पृ० १४ ॥
३. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

तत्पुरुष समास होता है । उस से 'ग्रामगमी, ग्रामगामी' इत्यादि उदाहरण बनते हैं ॥२३॥

स्वयं क्तेन[1] ॥ २४ ॥

'स्वयं' [इति] एतदव्ययम् । द्वितीया-ग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्त्तते । **स्वयम्** । अ० । क्तेन । ३ । १ । क्तेन = क्त-प्रत्ययान्तेन । 'स्वयं' [इति] एतदव्ययं क्तान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । **स्वयं-भुक्तम्** । स्वयंधौतं वस्त्रम् । समासप्रयोजनमैकपद्यमैकस्वर्यमैकविभक्तित्वं च ॥२४॥

पूर्व सूत्र से द्वितीयान्त की अनुवृत्ति आती है, सो आगे के लिये समझनी चाहिये । यहां तो 'स्वयम्' यह मकारान्त अव्यय है । इस से कुछ प्रयोजन नहीं । ['स्वयं'] स्वयं जो अव्यय है, वह ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । सो समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । **स्वयंभुक्तम्** । यहां समास का प्रयोजन यह है कि एक पद [और] एक स्वर [होना] और [अन्यत्र] एक विभक्ति होना [भी] ॥ २४ ॥

खट्वा क्षेपे[1] ॥ २५ ॥

'द्वितीया' इत्यनुवर्त्तते, 'क्तेन' इत्यपि । द्वितीयान्तः खट्वा-शब्दः क्तान्तेन सुबन्तेन सह समस्यते, क्षेपेऽर्थे गम्यमाने । स समासस्तत्पुरुषो भवति । खट्वामा-रूढः = खट्वारूढोऽयं मनुष्यः, सर्वतोऽविनीत इत्यर्थः ॥

'क्षेपे' इति किम् । खट्वामारूढः । अत्र समासो न भवति ॥

> भा०—कः क्षेपो नाम । अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन[न] खट्वाऽऽरोढव्या । य इदानीमतोऽन्यथा करोति, स उच्यते खट्वारूढोऽयं जाल्मः । नातिव्रतवान् [इति] ॥[2]

अध्ययनसमाप्तिमकृत्वा गुरोराज्ञां त्यक्त्वा च यो गृहस्थाश्रममाविशति, तस्य 'खट्वारूढः' इति नाम । क्षेपस्तस्य निन्दा, स एव समासार्थः ॥ २५ ॥

क्षेप कहते हैं निन्दा को । द्वितीयान्त जो ['खट्वा'] खट्वा-शब्द है, वह क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो ['क्षेपे'] क्षेप अर्थात् निन्दा अर्थ में । खट्वामारूढः = खट्वारूढः । [अर्थात्] सब प्रकार से निन्दा करने योग्य ॥

क्षेप-ग्रहण इसलिये है कि 'खट्वामारूढोऽयं मनुष्यः' यहां समास नहीं हुआ । धर्मशास्त्र का यह नियम है कि विद्या को यथावत् पढ़के गुरु की आज्ञा के अनुसार लिखित नियम से स्नान करके गृहस्थाश्रम में जाना चाहिये । जो कोई इस से उलटा अर्थात् विद्या पूरी न हो और गुरु की आज्ञा भी न हो और गृहस्थाश्रम में जाता है, उस को खट्वारूढ कहते हैं । इस शब्द से उस की निन्दा समझनी चाहिये ॥ २५ ॥

---

१. सा०—पृ० १४ ॥ २. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

सामि[1] ॥ २६ ॥

'क्तेन' इत्यनुवर्त्तते । 'सामि' इत्यव्ययम् अर्ध-शब्दस्यार्थे वर्त्तते । 'सामि' इति शब्दः क्तान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । सामिभुक्तम् । सामिपीतम् । अर्धं भुक्तं, अर्धं पीतमित्यर्थः । ऐकपद्यादि समासप्रयोजनम् ॥ २६ ॥

सामि जो अव्यय है, वह अर्ध-शब्द के अर्थ में है । ['सामि'] सामि जो शब्द **है**, [वह] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । **सामिभुक्तम्** । आधा खाया । यहां समास का प्रयोजन यह है कि एक पद आदि होना ॥ २६ ॥

कालाः[1] ॥ २७ ॥

'द्वितीया' इत्यनुवर्त्तते, 'क्तेन' इति च । द्वितीयान्ताः कालवाचिनः शब्दाः क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः । अहरतिसृता मुहूर्त्ताः । मासप्रमितश्चन्द्रमाः ॥

> भा०—षण्मुहूर्त्ताश्चराचराः । ते कदाचिदहर्गच्छन्ति कदाचिद् रात्रिम् ॥[2]

षण्मुहूर्त्तानामहोरात्रस्य चात्यन्तसंयोगो नास्तीति कृत्वा सूत्रारम्भः । षण्मुहूर्त्ता उत्तरायणेऽहर्गच्छन्ति, दक्षिणायने च रात्रिं गच्छन्ति । प्रतिपच्चन्द्रमा मासस्य प्रमाणकर्त्ताऽस्तीत्यत्यन्तसंयोगो नास्ति ॥ २७ ॥

['कालाः'] कालवाची जो द्वितीयान्त सुबन्त हैं, वे क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । **अहरतिसृता मुहूर्त्ताः** । **रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः** । ज्योतिषविद्या में छः मुहूर्त्त विचरने वाले हैं । वे, उत्तरायण जब सूर्य होता है, तब दिन में आते हैं । और दक्षिणायन सूर्य में रात्रि में आते हैं । सो छः मुहूर्त्तों और दिन रात्रि का अत्यन्त संयोग नहीं, इससे आगे के सूत्र से सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥ २७ ॥

अत्यन्तसंयोगे च[3] ॥ २८ ॥

'द्वितीया' इत्यनुवर्त्तते, 'कालाः' इति च । 'क्तेन' इति निवृत्तम् । अत्यन्तसंयोगे । ७ । १ । च । अ० । अत्यन्तसंयोगः = सर्वथा संयोगः । अत्यन्त-

---

१. सा०—पृ० १४ ॥

२. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥ "अत्यन्तसंयोगे च ॥" (२ । १ । २८) इति सूत्रव्याख्याने ॥

३. सा०—पृ० १५ ॥

संयोगेऽर्थे गम्यमाने कालवाचिनो द्वितीयान्ताः शब्दाः सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । मुहूर्त्तं सुखं = मुहूर्त्तसुखम् । मुहूर्त्तं सुप्तं = मुहूर्त्तसुप्तम् । मुहूर्त्तस्य सुखस्य स्वप्नस्य चात्यन्तसंयोगोऽस्ति । अर्थाद् यावन्मुहूर्त्तं व्यतीतं, तावत् सुखं भुक्तं सुप्तं च ॥ २८ ॥

कालवाची जो द्वितीयान्त सुबन्त हैं, वे ['अत्यन्तसंयोगे'] अत्यन्तसंयोग अर्थ में सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। मुहूर्त्तं सुखं = मुहूर्त्तसुखम् । जब तक एक मुहूर्त्त व्यतीत हुआ, तब तक सुख भोगा। यहां मुहूर्त्त [और] सुख का अत्यन्त संयोग अर्थात् सब प्रकार का संयोग है ॥ २८ ॥

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन[1] ॥ २९ ॥

तृतीया । १ । १ । तत्कृतार्थेन । ३ । १ । गुणवचनेन । ३ । १ । 'अर्थेन' इति महाभाष्यकारेण योगविभागः कृतः । 'गुणवचनेन' इत्यस्य विशेष्यस्य 'तत्कृतेन' इति विशेषणम् । तत्कृतेन = तृतीयान्तकृतेन । गुणमुक्तवता = गुणवचनेन । अन्यथा गुणवाचिना शब्देन समास इष्टः स्यात् । तर्हि 'गुणेन' इ[ति] ब्रूयात् । पुनर्वचन-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं—गुणमुक्तवता द्रव्येण समासो यथा स्यात् । तृतीयान्तं सुबन्तं तत्कृतेन गुणवचनेन अर्थ-शब्देन च सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषश्च समासो भवति । शङ्कुलया खण्डः = शङ्कुलाखण्डः । खण्डगुणः खण्ड इति गुणमुक्तवता । अर्थेन— धान्येनार्थः = धान्यार्थः । वसनेनार्थः = वसनार्थः ॥

'तत्कृतेन' इति किम् । कर्णेन बधिरः । अत्र कर्णकृतं बधिरत्वं नास्तीति समासो न भवति ॥

['गुणवचनेन' इति किम् ।] गोभिर्धनवान् । अत्र न भवति ॥

> भा०—नायमर्थ-शब्दः[2]। किं तर्हि । योगाङ्गमिदं निर्दिश्यते[3]। सति च योगाङ्गे योगविभागः करिष्यते । तृतीया तत्कृतेन गुणवचनेन समस्यते । ततोऽर्थेन । अर्थ-शब्देन च तृतीया समस्यते ॥[5]

---

१. सा०—पृ० १५ ॥
२. पाठान्तरे— ०मर्थनिर्देशः ॥ ०मर्थनिर्देशो विज्ञायते ॥
३. पाठान्तरम्—योगाङ्गमिति विज्ञायते ॥
४. पाठान्तरम्—तत्कृतगुण० ॥
५. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

अस्याशयेनैव पूर्वं व्याख्या कृता, स्पष्टं च सर्वम् ॥ २६ ॥

इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योगविभाग किया है। अर्थात् 'अर्थेन' इतना पृथक् किया है, और 'तत्कृतेन' इस को 'गुणवचनेन' का विशेषण ठहराया है। जो द्रव्य गुण को कह चुका हो, उस को गुणवचन कहते हैं। तृतीयान्त से जो किया हो, वह तत्कृत कहावे। ['तृतीया'] तृतीयान्त जो सुबन्त है, वह ['तत्कृतार्थेन गुणवचनेन'] तत्कृत गुणवचन और अर्थ-शब्द के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। शङ्कुलया खण्डः = शङ्कुलाखण्डः। यहां खण्ड-शब्द गुणवचन है। वह शङ्कुला से किया जाता है। इससे खण्ड के साथ शङ्कुला का समास हुआ है। अर्थ-शब्द के साथ 'धान्येनार्थः = धान्यार्थः' यहां समास हुआ है ॥ २९ ॥

पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः[1] ॥ ३० ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते। पूर्वादि सर्वं तृतीयाबहुवचनम्। तृतीयान्तं सुबन्तं पूर्वादिभिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। [पूर्व—] मासेन पूर्वः = मासपूर्वः। संवत्सरपूर्वः। सदृश— मात्रा सदृशः = मातृसदृशः। पितृसदृशः। सम— भ्रात्रा समः = भ्रातृसमः। ऊनार्थ— कार्षापणेनोनं रौप्यं = कार्षापणोनम्। कार्षापणन्यूनम्। कलह— वाचा क[ल]हः = वाक्कलहः। मनःकलहः। निपुण— विद्यया निपुणः = विद्यानिपुणः। मिश्र— शर्करया मिश्रः = शर्करामिश्रः। तिलैर्मिश्रः = तिलमिश्रः। [श्लक्ष्ण—] आचारेण श्लक्ष्णः = आचारश्लक्ष्णः। तृतीयातत्पुरुषे विशेषप्रयोजनम्। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०[2]॥' इति सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

वा०—[*पूर्वादिष्ववरस्योपसङ्ख्यानम् ॥*]

(मासेनाऽवरः =) मासावरोऽयम्। संवत्सरावरोऽयम् ॥[3]

स्पष्टं वार्त्तिकप्रयोजनम् ॥ ३० ॥

['तृतीया'] तृतीयान्त जो सुबन्त है, वह ['पूर्व०'] पूर्व आदि आठ सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास पावे। वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो। [१] पूर्व—मासेन पूर्वः = मासपूर्वः। यहां तृतीयान्त मास सुबन्त का पूर्व के साथ समास हुआ। [२] सदृश—मात्रा सदृशः = मातृसदृशः। यहां तृतीयान्त मातृ-शब्द का सदृश के साथ। [३] सम—भ्रात्रा समः = भ्रातृसमः। यहां तृतीयान्त भ्रातृ-शब्द का सम के साथ। [४] ऊनार्थ—ऊन-शब्द के अर्थ में जो शब्द हैं, वे भी समझने चाहियें। एकेनोनं = एकोनम्। एकन्यूनम्। यहां तृतीयान्त

---

१. सा०—पृ० १५ ॥
२. ६ । २ । २ ॥
३. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

एक-शब्द का ऊन- और न्यून-शब्द के साथ । [५] कलह — वाचा कलहः = वाक्कलहः । यहां तृतीयान्त वाक्-शब्द का कलह के साथ । [६] निपुण—विद्यया निपुणः = विद्यानिपुणः । यहां तृतीयान्त विद्या-शब्द का निपुण के साथ । [७] मिश्र—तिलैर्मिश्रः = तिलमिश्रः । यहां तृतीयान्त तिल-शब्द का मिश्र-शब्द के साथ । [८] श्लक्ष्ण—आचारेण श्लक्ष्णः = आचारश्लक्ष्णः । और यहां तृतीयान्त आचार-शब्द का श्लक्ष्ण सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास हुआ है ॥

इस तृतीयातत्पुरुष समास का विशेष प्रयोजन यह है कि 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०[1]॥' इस षष्ठाध्याय के सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर होना ॥

'पूर्वादि०' पूर्वादिकों में अवर-शब्द भी समझना, अर्थात् तृतीयान्त-शब्द का समास अवर-शब्द के साथ भी हो । मासेनावरः = मासावरोऽयम् । यहां तृतीयान्त मास-शब्द का समास अवर के साथ हुआ है । यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ३० ॥

कर्तृकरणे कृता बहुलम्[2]॥ ३१ ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते । कर्तृकरणे । १ । २ । कृता । ३ । १ । बहुलम् । १ । १ । कर्त्ता च करणं च कर्तृकरणे ।[3] महाविभाषाऽनुवर्त्तते, पुनर्बहुलग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—महाविभाषया वाक्यमेव भवति, बहुलेन तु क्वचित् समासोऽपि न भवति । कर्तृवाचि करणवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं कृदन्तेन सुबन्तेन सह बहुलेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अहिना हतः = अहिहतः । वृकहतः । दात्रेण लूनं = दात्रलूनम् । परशुना छिन्नं = परशुच्छिन्नम् ॥

'कर्तृकरणे' इति किमर्थम् । पुत्रशोकेन मृतः । अत्र हेतौ तृतीया, अतः समासो न भवति ॥

बहुल-ग्रहणं किम् । दात्रेण लूनवान् । परशुना छिन्नवान् । अत्र समास एव न भवति ॥ ३१ ॥

पूर्व से विकल्प की अनुवृत्ति चली आती थी, फिर बहुल-ग्रहण का यह प्रयोजन है कि पूर्व के विकल्प से वाक्य रहता है और बहुल-ग्रहण से कहीं २ समास भी नहीं होता । ['कर्तृकरणे'] कर्त्तावाची और करणवाची जो तृतीयान्त सुबन्त हैं, वे ['कृता'] कृदन्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । कर्त्तावाची—अहिना हतः = अहिहतः । यहां कर्त्तावाची तृतीयान्त अहि-शब्द का समास हत के साथ, और 'दात्रेण लूनं = दात्रलूनम्' यहां करणवाची दात्र-शब्द का समास लून के साथ हुआ है ॥

---

१. ६ । २ । २ ॥
२. सा०—पृ० १५ ॥
३. कोशेऽत्र—"१ । २ ।" इति ॥

बहुल-ग्रहण के होने से 'दात्रेण लूनवान्' यहां समास नहीं हुआ ॥

कर्तृकरण-ग्रहण इसलिये है कि 'विद्यया यशः' यहां हेतु अर्थ में तृतीया है । इससे समास नहीं हुआ ॥ ३१ ॥

कृत्यैरधिकार्थवचने[1] ॥ ३२ ॥

'कर्तृकरणे' इत्यनुवर्त्तते । कृत्यैः । ३ । ३ । अधिकार्थवचने । ७ । १ । कृत्य-सञ्ज्ञकाः प्रत्ययाः 'कृता' इति वचनेनागतास्तदन्तर्गतत्वात् । पुनः सूत्रमिदं बहुलनिवृत्त्यर्थम् । अर्थस्य = पदार्थस्य, वचनं = कथनं, अर्थवचनम् । अधिकं च तदर्थवचनं = अधिकार्थवचनम् । अर्थात् वस्तुनो ऽधिकतया गुणावगुण-वर्णनम् । तस्मिन्नधिकार्थवचने गम्यमाने तृतीयान्तौ कर्तृकरणवाचिशब्दौ कृत्य-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्तैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । काकैः पेया नदी = काकपेया नदी । कुत्सिता[2] इत्यर्थः । अत्र कर्तृवाचिना काक-शब्देन समासः । बाष्पेण छेद्यानि [= बाष्पच्छेद्यानि] तृणानि । अतिमृदूनि तृणानि सन्तीति यावत् । अत्र करणवाचिना बाष्प-शब्देन सह छेद्य-कृत्यान्तस्य समासः ॥

वा०—साधनं कृता[3] समस्यत इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां ह्रियते = पादहारकः । गले चोप्यते = गलेचोपकः ॥[4]

'पादाभ्यां ह्रियते' इत्यत्र हरणस्य साधनं पादौ । तस्य साधनस्य हारकेण कृदन्तेन सह समासो भवतीति । सूत्राद् भिन्नप्रयोजनसाधकं वार्त्तिकम् ॥ ३२ ॥

कृत्य-सञ्ज्ञक प्रत्यय कृदन्त के अन्तर्गत होने से पूर्व सूत्र से ही सिद्ध हो जाता, फिर इस सूत्र का प्रयोजन यह है कि यहां बहुल-ग्रहण नहीं है । पदार्थ के गुणों और अवगुणों का अधिक करके वर्णन करना, इस को अधिकार्थवचन कहते हैं । ['अधिकार्थवचने'] अधिकार्थवचन अर्थ में कर्त्ता और करणवाची जो तृतीयान्त हैं, वे ['कृत्यैः'] कृत्य-प्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । काकैः पेया = काकपेया नदी । यहां काक तृतीयान्त सुबन्त के साथ पेय कृत्यप्रत्ययान्त का समास हुआ है । इस नदी का जल कौओं के पीने योग्य है, अर्थात् अत्यन्त बुरा है । बाष्पच्छेद्यानि तृणानि । भाफ से टूटने योग्य तृण हैं, अर्थात् अत्यन्त कोमल हैं । यहां करणवाची तृतीयान्त भाफ-शब्द के साथ छेद्य कृत्यप्रत्ययान्त का समास हुआ है ॥

---

१. सा०—पृ० १६ ॥

२. अथ न्यासकारः—"अत्र सम्पूर्णतोयत्वोद्भावनं वधाः स्तुतिः । एवं नाम सम्पूर्णतोया नदी यत् तटस्थैरपि काकैः शक्या पातुम् ।"

३. पाठान्तरम्—कृता सह ॥

४. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

'साधनं०' साधनवाची [जो] सुबन्त है, वह कृदन्त के साथ समास पावे। प्रयोजन यह है कि पादहारक आदि शब्द सिद्ध हों। जैसे—पादाभ्यां ह्रियते = पादहारकः। यहां साधनवाची पाद हैं। उन के साथ कृदन्त हारक-शब्द का समास हुआ। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना। परन्तु तृतीयान्त का नियम नहीं, किसी विभक्ति के साथ समास हो। जैसे 'पादाभ्यां' यहां पंचमी के साथ हुआ। यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ३२ ॥

अन्नेन व्यञ्जनम्[1] ॥ ३३ ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते। अन्नेन। ३। १। व्यञ्जनम्। १। १। तृतीयान्तं व्यञ्जनवाचि सुबन्तमन्नवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। दुग्धदध्यादि व्यञ्जनमुच्यते। दध्नोपसिक्त ओदनः = दध्योदनः। क्षीरौदनः। अत्र व्यञ्जनवाचिदधिक्षीरयोः सुबन्तयोरन्नवाचिन ओदन-शब्दस्य समासः ॥ ३३ ॥

दही दूध आदि को व्यञ्जन कहते हैं। तृतीयान्त जो ['व्यञ्जनम्'] व्यञ्जनवाची सुबन्त है, वह ['अन्नेन'] अन्नवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। दध्ना उपसिक्त ओदनः = दध्योदनः। यहां व्यञ्जनवाची दधि-शब्द का अन्नवाची ओदन-शब्द के साथ समास हुआ है ॥ ३३ ॥

भक्ष्येण मिश्रीकरणम्[1] ॥ ३४ ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते। भक्ष्येण। ३। १। मिश्रीकरणम्। १। १। भक्ष्ये वस्तुनि यद् मेलयन्ति, तद् मिश्रीकरणम्। मिश्रीकरणवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं भक्ष्यवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। गुडेन मिश्रा धानाः = गुडधानाः। अत्र मिश्रीकरणवाचि[गुड-]शब्दस्य धाना-शब्देन समासः। कुतः। गुडमेव तत्र मेलयन्ति ॥ ३४ ॥

भोजन के योग्य पदार्थ में जो मिलाया जाय, वह मिश्रीकरण कहाता है। ['मिश्रीकरणम्'] मिश्रीकरण जो तृतीयान्त सुबन्त है, वह ['भक्ष्येण'] भक्ष्यवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो। गुडेन मिश्राः [=गुडामिश्राः] धानाः। यहां मिश्रीकरण गुड-शब्द का धाना-शब्द के साथ समास हुआ है ॥ ३४ ॥

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः[2] ॥ ३५ ॥

'सुप् सुपा' इत्यनुवर्त्तते। चतुर्थी। १। १। तदर्थ-अर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः। ३। ३। तस्मै इदं = तदर्थम्। 'तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, रक्षित'

१. सा०—पृ० १६ ॥ २. सा०—पृ० १७ ॥

इत्येतैः षट्सुबन्तैः सह चतुर्थ्यन्तं सुबन्तं विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [तदर्थ—] यूपाय दारु = यूपदारु । कुण्डलाय हिरण्यं = कुण्डलहिरण्यम् । अत्र चतुर्थ्यन्तयूप-शब्दस्य कुण्डल-शब्दस्य च दारु-हिरण्याभ्यां समासः ॥

अस्मिन् सूत्रे बलि-रक्षितयोर्ग्रहणेनैतद् विज्ञायते— तदर्थमात्रस्य चतुर्थ्यन्तस्य समासो न भवति । अन्यथा बलि-[रक्षित-]ग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥

चतुर्थ्यन्ता विकृतिः प्रकृत्या सह समस्यत इति तदर्थप्रयोजनम् । अर्थ— ब्राह्मणेभ्य इति ब्राह्मणार्थं पयः । बलि— इन्द्राय बलिः = इन्द्रबलिः । हित— बालाय हितं[1] = बालहितम् । सुख— विदुषे सुखं[1] = विद्वत्सुखम् । रक्षित— पुत्राय रक्षितं = पुत्ररक्षितम् ॥

वा०— *अर्थेन नित्यसमासवचनं सर्वलिङ्गता च*[2] ॥[3]

महाविभाषाऽनुवर्त्तते । तया वाक्यमपि प्राप्नोति । तदर्थमिदमुच्यते— 'अर्थेन नित्यसमासवचनम्' इति । तेन समास एव भवति, वाक्यमपि न भवति । 'सर्वलिङ्गता'— विशेष्यस्य लिङ्गं भवतीति । अर्थ-शब्दो नित्यपुँल्लिङ्गः, तत्र तत्पुरुषस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वात् सर्वत्र पुँल्लिङ्गत्वं प्राप्तम् ॥ ३५ ॥

जो ['चतुर्थी'] चतुर्थ्यन्त शब्द का वाची है, उस के लिये जो हो, उस को तदर्थ कहते हैं । चतुर्थ्यन्त जो सुबन्त है, वह तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख [और] रक्षित, इन छः सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे ॥

इस सूत्र में बलि- और रक्षित-शब्द के ग्रहण से यह समझा जाता है कि तदर्थ-शब्द से सामान्य-ग्रहण नहीं, किन्तु विकृतिवाची चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक का प्रकृतिवाची प्रातिपदिक के साथ समास होता है । तदर्थ— कुण्डलाय हिरण्यं = कुण्डलहिरण्यम् । कुण्डल बनाने के लिये यह सुवर्ण है । यहां विकृतिवाची कुण्डल-शब्द का प्रकृतिवाची हिरण्य के साथ समास हुआ । अर्थ— ब्राह्मणार्थम् । यहां चतुर्थ्यन्त ब्राह्मण-शब्द का अर्थ के साथ समास हुआ । बलि— इन्द्राय बलिः = इन्द्रबलिः । यहां इन्द्र-शब्द का बलि के साथ । हित— माणवकाय हितं = माणवकहितम् । यहां माणवक-शब्द का समास हित-शब्द के साथ । सुख— धनिने सुखं = धनिसुखम् । यहां धनि-शब्द का समास सुख के साथ हुआ है । और 'पुत्राय रक्षितं = पुत्ररक्षितं' यहां पुत्र-शब्द का समास रक्षित के साथ हुआ है ॥

'अर्थेन०' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि इस सूत्र में जो अर्थ-शब्द के साथ समास किया है, पूर्व विकल्प से वाक्य न रहे, किन्तु नित्य समास हो जाय । और अर्थ-शब्द नित्य पुँल्लिङ्ग है । सो तत्पुरुष समास के उत्तरपदप्रधान होने से सर्वत्र पुँल्लिङ्ग प्राप्त होता है, सो

---

१. चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः॥ (२ । ३ । ७३) इत्यनेने सूत्रेण चतुर्थी भवति ॥ २. कोशेऽत्र—" ॥ १ ॥" इति ॥ ३. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

न हो। किन्तु जो विशेष्य का लिंग हो, वही विशेषण का भी हो जाय। ब्राह्मणार्थं पयः। ब्राह्मणार्थः सूपः। ब्राह्मणार्था यवागूः। अर्थ-शब्द के साथ समास होने [से] सब लिङ्ग होते हैं ॥ ३५ ॥

पञ्चमी भयेन[1] ॥ ३६ ॥

पञ्चमी । १ । १ । भयेन । ३ । १ । पञ्चम्यन्तं सुबन्तं भयवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । वृकेभ्यो भयं = वृकभयम् । दस्युभ्यो भयं = दस्युभयम् । चौरभयम् । अत्र पञ्चम्यन्तानां वृक-दस्यु-चौराणां भय-शब्देन सह समासः ॥

वा०—भय-भीत-भीति-भीभिरिति वक्तव्यम् ॥[2]

भय-शब्देन सह समास उच्यते । 'भीतं, भीः, भीतिः' इति शब्दत्रयेणापि पञ्चम्यन्तस्य समासो यथा स्यात् । स्वरूपविधित्वाद् भय-शब्देन ग्रहणं न प्राप्नोतीति वार्त्तिकप्रयोजनम् ॥ ३६ ॥

पंचम्यन्त जो सुबन्त हैं, वह भयवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष कहावे। दस्युभ्यो भयं = दस्युभयम्। यहां पंचम्यन्त दस्यु-शब्द का समास भय-शब्द के साथ हुआ है ॥

'भय-भीति०' भय-शब्द के साथ जो पंचम्यन्त का समास कहा है, वहां भीत, भीति, भी, इन तीन शब्दों के साथ भी समास हो। यह वार्त्तिक का प्रयोजन है। क्योंकि व्याकरण में शब्द का जो रूप है, उसी का ग्रहण होता है। इससे इन तीन शब्दों का ग्रहण नहीं होता। वृकाद् भीतः = वृकभीतः। वृकाद् भीतिः = वृकभीतिः। वृकाद् भीः = वृकभीः। यहां पंचम्यन्त वृक-शब्द का समास उक्त तीन शब्दों के साथ हुआ है ॥ ३६ ॥

अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः[1] ॥ ३७ ॥

'पञ्चमी' इत्यनुवर्त्तते । अल्पशः = अल्पं पञ्चम्यन्तं सुबन्तं 'अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त' इत्येतैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । दुःखादपेतः = दुःखापेतः । किञ्चिद् दुःखात् पृथग् भूत इत्यर्थः । धनादपोढः = धनापोढः । दुःखात् मुक्तः = दुःखमुक्तः । जातेः पतितः = जातिपतितः । तडागादपत्रस्तः = तडागापत्रस्तः । अत्र दुःखादीनां पञ्चम्यन्तानां शब्दानामपेतादिभिः समासः ॥

'अल्पशः' इति किम् । वृक्षात् पतितः । अत्र समासो न भवति ॥ ३७ ॥

अल्प अर्थ में वर्त्तमान जो पंचम्यन्त सुबन्त है, वह अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त

१. सा०—पृ० १७ ॥ २. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

इन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह तत्पुरुष समास कहावे । दुःखाद् अपेतः = दुःखापेतः । यहां दुःख-शब्द का अपेत के साथ । अपोढ—धनादपोढः = धनापोढः । यहां धन-शब्द का समास अपोढ के साथ । मुक्त—दुःखाद् मुक्तः = दुःखमुक्तः । यहां दुःख-शब्द का समास मुक्त के साथ । पतित—जातेः पतितः = जातिपतितः । यहां जाति-शब्द का पतित के साथ । अपत्रस्त—और 'तडागादपत्रस्तः = तडागापत्रस्तः' यहां तडाग पंचम्यन्त सुबन्त के साथ अपत्रस्त-शब्द का समास हुआ है ॥

'अल्पशः' इस शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'वृक्षात् पतितः' यहां समास नहीं हुआ ॥ ३७ ॥

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन[1] ॥ ३८ ॥

'पञ्चमी' इत्यनुवर्त्तते । स्तोक-अन्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि । १ । ३ । क्तेन । ३ । १ । स्तोक-अन्तिक-दूरा अर्था येषां, ते स्तोकान्तिकदूरार्थाः । पञ्चम्यन्ताः स्तोकान्तिकदूरार्थाः कृच्छ्र-शब्दश्च क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । स समासस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञो भवति । स्तोकार्थ—स्तोकात्त्यक्तः[2] । अल्पात्त्यक्तः । अन्तिकार्थ—अन्तिकादागतः । सनीडादागतः । समीपादागतः । दूरार्थ—दूरादागतः । विप्रकृष्टादागतः । कृच्छ्र—कृच्छ्राल्लब्धः । कृच्छ्रान्मुक्तः । अत्र पञ्चम्यन्तानां स्तोकादीनां क्त-प्रत्ययान्तेन सह समासः ॥ ३८ ॥

['स्तोक-अन्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि'] स्तोक, अन्तिक और दूर वाची जो शब्द और कृच्छ्र जो शब्द, वे ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । स्तोकार्थ—स्तोकात्त्यक्तः । अल्पात्त्यक्तः । यहां थोड़े के वाची स्तोक- और अल्प-शब्द का समास क्त के साथ । अन्तिकार्थ—अन्तिकादागतः । समीपादागतः । सविधादागतः । यहां समीपवाची शब्दों का समास क्त के साथ । दूरार्थ—दूरादागतः । विप्रकृष्टादागतः । यहां दूरवाची शब्दों का समास क्त-प्रत्ययान्त के साथ । और 'कृच्छ्रान्मुक्तः' यहां पंचम्यन्त कृच्छ्र-शब्द का समास मुक्त-शब्द के साथ हुआ है ॥३८॥

सप्तमी शौण्डैः[1] ॥ ३९ ॥

'सुप् सुपा' इत्यनुवर्त्तते । सप्तमी । १ । १ । शौण्डैः । ३ । ३ । 'शौण्डैः' इति बहुवचननिर्देशात् 'शौण्डादिभिः' इति विज्ञायते । सप्तम्यन्तं सुबन्तं शौण्डादिभिः शब्दैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अक्षेषु शौण्डः = अक्षशौण्डः । स्त्रीषु धूर्त्तः = स्त्रीधूर्त्तः । अत्र सप्तम्यन्तयोः अक्ष-स्त्री-शब्दयोः शौण्डादिभिः सह समासः ॥

१. सा०—पृ० १८ ॥ इति पञ्चम्या अलुक् ॥

२. "पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ॥" (६ । ३ । २)

अथ शौण्डादिगणः—[१] शौण्ड [२] धूर्त्त [३] कितव [४] व्याड [५] प्रवीण[1] [६] संवीत [७] अन्तर्[2] [८] अधिपटु[3] [९] पण्डित [१०] कुशल [११] चपल [१२] निपुण[4] [१३] संव्याड[5] [१४] मन्थ [१५] समीर—इति[6] शौण्डादिगणः ॥ ३९ ॥

इस सूत्र में बहुवचन के पढ़ने से शौण्डादिगण समझा जाता है। ['सप्तमी'] सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह ['शौण्डैः'] शौण्डादि सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। अक्षेषु शौण्डः = अक्षशौण्डः। स्त्रीधूर्त्तः। यहां अक्ष- और स्त्री-शब्द का समास शौण्डादि के साथ समझना चाहिये ॥

शौण्डादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में क्रम पूर्वक शुद्ध करके लिख दिया है, वहां देख लेना ॥ ३९ ॥

सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च[7] ॥ ४० ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते । सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैः । ३ । ३ । च । अ० । सप्तम्यन्तं सुबन्तं सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैश्चतुर्भिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [सिद्ध—] ग्रामे सिद्धः = ग्रामसिद्धः । नगरसिद्धः । शुष्क—छायायां शुष्कं = छायाशुष्कम् । पक्व— स्थाल्यां पक्वं = स्थालीपक्वम् ।

१. केषुचित् प्रक्रियाकौमुदीकोशेषु नैष शब्द उपलभ्यते ॥

२. अन्यत्र "अन्तर" इत्यपि ॥

अतोऽग्रे काशिकायां—"अन्तरशब्दस्त्वत्राधिकरणप्रधान एव पठ्यते ।"

गण० म०—"ते नालिकेरान्तरपः पिबन्तः । न चैतत् षष्ठीसमासेन सिद्धयतीति शक्यं प्रतिपत्तुमर्थभेदात् । न हि 'अर्णवेऽन्तर्, अर्णवस्यान्तर्' इति चैकोऽर्थः । किं चाव्ययत्वात् षष्ठीसमासप्रतिषेधः । श्रीभोजस्तु अन्तर-शब्दं पपाठ ॥" (२।१०१)

३. प्रक्रियाकौमुदीशब्दकौस्तुभादिषु—" अधि । पटु ।" इति द्वौ शब्दौ ॥

४. शब्दकौस्तुभे " निपुण " इत्यतोऽग्रे " वृत " इति ॥

५. केषुचित् काशिकाकोशेषु प्रक्रियाकौमुदी-गणरत्नमहोदधि-शब्दकौस्तुभेषु च "संव्याड । मन्थ । समीर ।" इत्येते शब्दा नोपलभ्यन्ते ॥

६. गणरत्नमहोदधौ—"अधीन, प्रधान, सव्य, ध्यान, प्रवण (पाठान्तरं—प्रणव), विदित, सार, गुरु, आयस, सिद्ध, बन्ध, कटक, विरस, शेखर, शुष्क, पक्व" इति १६ शब्दा अधिकाः । एषामुदाहरणानि—"जिनवचनाधीनः । अधीन-शब्दोऽस्मादेव गणपाठात् 'तस्याधीनः' इति ज्ञापकाद् वा ख-प्रत्ययान्तो बोद्धव्यः । अथ वा 'अधिगत इनं, अधिगत इनोऽनेन' इति वा=अधीनः । यथा—लोकाधीनः । विबुधप्रधानम् । कार्यसव्यः । कार्यविषयेऽनिपुण इत्यर्थः । कर्मध्यानः । कर्मसु युक्त इत्यर्थः । पृथिवीप्रवणः ('-प्रणवः' वा) । पृथिवीविदितः । त्वचिसारः । मध्येगुरुः । कायायसः । कायविषय औदरिक इत्यर्थः । काम्पिल्यसिद्धः । चक्रबन्धः । हस्तकटकः । अवसानविरसः । शिरःशेखरः । छायाशुष्कः । कुम्भीपक्वः । आकृतिगणोऽयम् ॥" (२ । २०१)

७. सा०—पृ० १८ ॥

बन्ध— यूपे बन्धः = यूपबन्धः । अत्र सप्तम्यन्तानां ग्रामादिशब्दानां सिद्धादिभिः सह समासः ॥

सप्तमीतत्पुरुषस्य विशेषप्रयोजनं '**तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः**[1]॥' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥ ४० ॥

सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, [वह '**सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैः**'] सिद्ध, शुष्क, पक्व और बन्ध, इन चार सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। सिद्ध—ग्रामे सिद्धः = ग्रामसिद्धः। यहां सप्तम्यन्त ग्राम-शब्द का समास सिद्ध के साथ। शुष्क—छायायां शुष्कं = छायाशुष्कम्। यहां छाया-शब्द का शुष्क के साथ। पक्व—स्थाल्यां पक्वं = स्थालीपक्वम्। यहां स्थाली-शब्द का पक्व के साथ। बन्ध—यूपे बन्धः = यूपबन्धः। और यहां सप्तम्यन्त यूप-शब्द का समास बन्ध-शब्द के साथ हुआ है। यहां सप्तमीतत्पुरुष समास में पूर्व पद को प्रकृतिस्वर होना, यह विशेष प्रयोजन है ॥ ४० ॥

ध्वाङ्क्षेण क्षेपे[2] ॥ ४१ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते। ध्वाङ्क्षेण । ३ । १ । क्षेपे । ७ । १ । ध्वाक्षि-धातुः घोरवासिते[3]ऽर्थे वर्त्तते। यत्र मनुष्यः कार्यसिद्ध्यर्थं गच्छेत्, पुनस्तत्कार्यसमाप्तिपर्यन्तं निवस्तुं न शक्नुयाद्, घोरवासं मत्वा ततो गच्छेत्। एतदर्थवाच्यत्र ध्वाङ्क्षशब्दः। क्षेपे = निन्दायां गम्यमानायां सत्यां सप्तम्यन्तं सुबन्तं ध्वाङ्क्षार्थवाचिना सुबन्तेन सह समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। तीर्थे ध्वाङ्क्षः = तीर्थध्वाङ्क्षः। तीर्थे काकः = तीर्थकाकः॥

भा०— *'ध्वाङ्क्षेण' इत्यर्थग्रहणम्*[4] ॥

इहापि यथा स्यात्—तीर्थकाक इति ॥

'क्षेपे' इत्युच्यते। क इह क्षेपो नाम। यथा तीर्थकाका[5] न चिरं स्थातारो भवन्ति, एवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति, स उच्यते तीर्थकाक इति ॥[6]

यो मनुष्यो विद्यापठनाय गुरुसमीपं गच्छति, पुनस्तत्र घोरवासं मत्वा विद्यामसमाप्य मध्ये ततो धावति, तं पुरुषं तीर्थध्वाङ्क्ष-तीर्थकाक-शब्दाभ्यां निन्दन्ति ॥ ४१ ॥

---

१. ६ । २ । २ ॥

२. सा०—पृ० १८ ॥

३. धा०—भ्वा० ७०३ ॥ धातुपाठकोशेषु—"घोरवाशिते" इति पाठान्तरम्। "वाशृ शब्दे" (दि० ५४) इत्यधिकृत्याऽयं पाठः। अस्मादेव "घोरवाशिन् (= शृगालः)" इति शब्दः ॥

४. वार्त्तिकमिदम् ॥

५. पाठान्तरम्—तीर्थे काकाः ॥

६. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

ध्वाङ्क्ष धातु का अर्थ घोरवास अर्थात् कठिन निवास करना है । जैसे कोई मनुष्य अपने कार्य की सिद्धि के लिये कहीं गया हो और कार्य की समाप्ति पर्यन्त वह मनुष्य वहां नहीं ठहर सका, किन्तु निवास करना अत्यन्त कठिन समझके बीच में वहां से भाग देना, उस [मनुष्य] को ध्वाङ्क्ष कहते हैं । ['क्षेपे'] क्षेप=निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह ['ध्वाङ्क्षेण'] ध्वाङ्क्षवाची सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे । **तीर्थे ध्वाङ्क्षः=तीर्थध्वाङ्क्षः । तीर्थे काकः = तीर्थकाकः** । तीर्थध्वाङ्क्ष और तीर्थकाक उस को कहते हैं कि जो मनुष्य गुरु के समीप विद्या पढ़ने को जाता है, फिर वहां विद्या की समाप्ति पर्यन्त निवास करना कठिन समझके बीच में वहां से भाग आता है । उस पुरुष की तीर्थध्वाङ्क्ष- और तीर्थकाक-शब्द से निन्दा की जाती है ॥ ४१ ॥

कृत्यैर्ऋणे[1] ॥ ४२ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते । कृत्यैः । ३ । ३ । ऋणे । ७ । १ । वृद्ध्या सह पुनर्दास्यामीति मत्वा द्वितीयस्य धनग्रहणम् । यच्च नियमेन कर्त्तव्यं, यत्त्यागेन दोषभागिनो भवन्ति, तदपि ऋणमेव भवति । ऋणेऽर्थे गम्यमाने सप्तम्यन्तं सुबन्तं कृत्यैः=कृत्यप्रत्ययान्तैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । मासे देयमृणं=मासदेयम् । संवत्सरे देयमृणं=संवत्सरदेयम् ॥

'ऋणे' इति किम् । प्रातःकाले पेयौषधिः[2] ॥

वा०—*कृत्यैर्नियोगे यद्ग्रहणम्* ॥

इहैव[3] स्यात्—पूर्वाह्णेगेयं साम । प्रातरध्येयोऽनुवाकः । इह मा भूत्—पूर्वाह्णे दातव्या भिक्षा ॥[4]

कृत्यसञ्ज्ञकानां प्रत्ययानां यत्-प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् ॥ ४२ ॥

ब्याज के सहित मैं तेरा धन दूंगा ऐसा समझके किसी के धन का जो ग्रहण करना, [और जिस कार्य के न करने से मनुष्य दोष का भागी होता है] वह ऋण कहाता है । ['ऋणे'] ऋण अर्थ के होने से सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह ['कृत्यैः'] कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । **मासे देयमृणं=मासदेयम्** । यहां सप्तम्यन्त मास-शब्द के साथ कृत्यप्रत्ययान्त देय-शब्द का समास हुआ है ॥

ऋण-ग्रहण इसलिये है कि **'प्रातःकाले पेयौषधिः'** यहां समास नहीं हुआ ॥

'कृत्यैर्नियोगे०' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि कृत्य प्रत्ययों में से यहां यत्-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ समास समझना चाहिये, क्योंकि **'पूर्वाह्णे दातव्या भिक्षा'** यहां समास न हो ॥ ४२ ॥

---

१. सा०—पृ० १६ ॥ प्रयोगः ॥
२. "दोषं धयन्तीति वा" (अ० ६ । पा० ३) इति भगवद्यास्कमुनेर्निरुक्तिमाश्रित्य औषधार्थे
३. पाठान्तरम्—इहापि यथा ॥
४. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

सञ्ज्ञायाम्[1] ॥ ४३ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते । सञ्ज्ञायां विषये सप्तम्यन्तं सुबन्तं सुबन्तेन सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अरण्येतिलकाः । कूपेपिशाचिकाः । 'सञ्ज्ञायां कन्[2] ॥' इति सूत्रेण तिल-पिशाचाभ्यां कन् प्रत्ययः । 'हलदन्तात् सप्तम्याः सञ्ज्ञायाम्[3]॥' इति सप्तम्या अलुक् । सप्तम्यन्तयोः कूप-अरण्य-शब्द-योः तिलक-पिशाचिकाभ्यां समासः ॥ ४३ ॥

['सञ्ज्ञायाम्'] संज्ञा विषय में सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह सुबन्त के साथ समास पावे । वह समास तत्पुरुष हो । अरण्येतिलकाः । कूपेपिशाचिकाः । यहां सञ्ज्ञा में ही तिल- और पिशाच-शब्द से कन् हुआ । तथा कूप- और अरण्य-शब्द पर सप्तमी विभक्ति का अलुक् भी संज्ञा में ही हुआ है । सप्तम्यन्त कूप- और अरण्य-शब्द का समास पिशाचिका- और तिलक-शब्द के साथ हुआ है ॥ ४३ ॥

क्तेनाहोरात्रावयवाः[1] ॥ ४४ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते । क्तेन । ३ । १ । अहोरात्रावयवाः । १ । ३ । अहोरात्रयोरवयवाः = अहोरात्रावयवाः । सप्तम्यन्ता अहरवयववाचिनः शब्दा रात्र्यवयववाचिनश्च क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह समस्यन्ते । तत्पुरुषश्च समासो भवति । पूर्वाह्णे कृतं = पूर्वाह्णकृतम् । मध्याह्नकृतम् । पूर्वरात्रे कृतं = पूर्वरात्रकृतम् । मध्यरात्रे कृतं = मध्यरात्रकृतम् ॥

अवयव-ग्रहणं किमर्थम् । अहनि कृतम् । रात्रौ सुप्तम् । अत्र समासो न भवति ॥ ४४ ॥

['अहोरात्रावयवाः'] दिन और रात्रि के अवयववाची जो सप्तम्यन्त शब्द हैं, वे ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष कहावे । पूर्वाह्णे कृतं = पूर्वाह्णकृतम् । मध्याह्नकृतम् । यहां पूर्वाह्ण और मध्याह्न दिन के अवयव-वाचियों का समास क्त-प्रत्ययान्त के साथ । पूर्वरात्रे कृतं = पूर्वरात्रकृतम् । मध्यरात्रकृतम् । और यहां रात्रि के अवयववाची पूर्वरात्र- और मध्यरात्र-शब्दों का समास क्त-प्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ हुआ है ॥

अवयव-ग्रहण इसलिये है कि 'अहनि कृतं, रात्रौ सुप्तम्' यहां अवयव के न होने से समास नहीं हुआ ॥ ४४ ॥

तत्र[1] ॥ ४५ ॥

---

१. सा०—पृ० ११ ॥

२. ५ । ३ । ८७ ॥

३. ६ । ३ । ६ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते, 'क्तेन' इति च । 'तत्र' इति सप्तम्यन्तः शब्दः क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्रश्रुतम् । तत्रभृतम् । तत्रभुक्तम् । [अत्र] सप्तम्यन्तस्य तत्र-शब्दस्य क्त-प्रत्ययान्तेन सह समासः । समासप्रयोजन-मैकपद्यादि ॥ ४५ ॥

सप्तम्यन्त जो ['तत्र'] तत्र-शब्द है, वह क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । तत्रश्रुतम् । तत्रकृतम् । यहां सप्तम्यन्त तत्र-शब्द का समास क्त-प्रत्ययान्त के साथ हुआ है । समास का प्रयोजन एकपद आदि होना है ॥४५॥

क्षेपे[1] ॥ ४६ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते, 'क्तेन' इति च । क्षेपे=निन्दार्थे गम्यमाने सप्तम्यन्तं सुबन्तं क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । भस्मनिहुतं त एतत् । अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत् ॥

> भा०—'क्षेपे' इत्युच्यते । क इह क्षेपो नाम । यथाऽवतप्ते नकुला न चिरं स्थातारो भवन्ति, एवं कार्याण्यारभ्य यो न चिरं तिष्ठति, स उच्यते—अवतप्तेनकुलस्थितं त एतदिति ॥[2]

कार्यमारभ्य धैर्येण बुद्धिमत्तया न करोति, तस्य निन्दां कुर्वन्ति । 'अवतप्ते-नकुलस्थितं त एतत्' इति शब्देन । स्थितमिति भावे प्रत्ययः । नकुलस्येव ते=तव एतत् स्थितं=स्थानमित्यर्थः । एवं भस्मनि हुतं किमपि फलदायकं न भवति, तथैव तव कार्यमपि निष्फलम् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्[3] ॥' इति बहुलेन सप्तम्या अलुक् क्वचिद् भवति, क्वचिन्न भवति, कृति=कृदन्तोत्तरपदे परे तत्पुरुष-समासे ॥ ४६ ॥

['क्षेपे'] क्षेप नाम निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत् । बहुत से पुरुष कार्यारम्भ करके फिर स्थिर होके उस को नहीं करते हैं । उन के लिये ऐसा शब्द बोला जाता है । जब अधिक घाम तपता है, उस तपन में जैसे न्यूला स्थिर नहीं होते, वैसे ही कार्य का आरम्भ करके जो स्थिर होके नहीं करता, वह मनुष्य भी समझा जाता है । षष्ठाध्याय के सूत्र[3] से तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तर पद के परे [होने पर] बहुल करके सप्तमी का अलुक् होता है, सो यहां भी उसी सूत्र से बहुल करके अलुक् होता है ॥ ४६ ॥

पात्रेसमितादयश्च[1] ॥ ४७ ॥

---

१. सा०—पृ० १६ ॥
२. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥
३. ६ । ३ । १४ ॥

'क्षेपे' इत्यनुवर्त्तते । समुदायत्वेन निपात्यन्ते । क्षेपेऽर्थे गम्यमाने पात्रेसमितादयः शब्दास्तत्पुरुष-सञ्ज्ञा भवन्ति ॥

अथ गणपाठः—[१] पात्रेसमिताः[1] [२] पात्रेबहुलाः[2] [३] उदुम्बरमशकाः[3] [४] उदरक्रमिः[4] [५] कूपकच्छपः [६] कूपचूर्णकः[5] [७] अवटकच्छपः [८] कूपमण्डूकः[6] [९] कुम्भमण्डूकः [१०] उदपानमण्डूकः [११] नगरकाकः[7] [१२] नगरवायसः[7] [१३] मातरिपुरुषः[8] [१४] पिण्डीशूरः[9] [१५] पितरिशूरः[10] [१६] गेहेशूरः [१७] गेहेनर्दी [१८] गेहेक्ष्वेडी [१९] गेहेविजिती [२०] गेहेव्याडः [२१] गेहेमेही[10] [२२] गेहेदाही[11] [२३] गेहेतृप्तः[12] [२४] गेहेधृष्टः [२५] गर्भेतृप्तः[13] [२६]

१. काशिकायाम्—पात्रेसम्मिताः ॥

गण० म०—"अपचितक्षीरा धेनुर्या सा पात्रसङ्गतिमात्रपर्यवसितव्यापारा सत्येवमुच्यते । तद्वदन्योऽपि यः फलविकलव्यापाराडम्बरः, स तदुपमानात् तथा वाच्यः । यथा चञ्चा खरकुटी चैत्र इति । अथ वा—पात्र एव समिताः = मिलिताः, नान्यत्र कार्ये । पात्र-शब्देन साहचर्याद् भोजनं लक्ष्यते ॥" (२ । १०२)

२. गण० म०—"पात्रे बाहुल्येन सङ्घटनात् क्षीरादिफलविकला पात्रेबहुला । शेषार्थः पूर्ववत् । अथ वा—पात्र एव बहुलाः = प्रचुराः, नान्यत्र ।"

३. पाठान्तरम्—०मशकः । काशिकायां नास्ति ॥

न्यासकारः—"यस्तत्रैवावरुद्धो न क्वचिद् गच्छति, तमेव विशिष्टं मन्यते नास्मात् परमस्तीति, सोऽदृष्टविस्तार उच्यते 'उदुम्बरमशकः' इति ।"

गण० म०—"उदुम्बरे मशक इव । अल्पदृश्वा । अथ वा—उदुम्बरमशकोऽल्पप्राणः सुकुमारश्च । तादृशो यः, स उदुम्बरमशकः ।" (२ । १०५)

४. पाठान्तरम्—उदुम्बरक्रमिः । काशिकायां तु "उदरक्रिमिः" ॥

गण० म०—"उदुम्बरे क्रमिरिव तस्माद् रसाद् विशिष्टं रसमन्यं न वेत्ति, स एवमुच्यत इति कश्चिदाह ।" (२ । १०२)

५. श्रीबोटलिङ्कस्तु "कर्णेचुरुचुरा" इत्यतःपरं पठति॥

६. गण० म०—"कूपे मण्डूक इव । ततोऽन्यज्जलस्थानं सरः समुद्रं वाऽधिकं न पश्यति । तद्वदन्यः पुरुषो ग्रामे नगरे वा शास्त्रे वा प्रतिबद्धः ततोऽन्यत्र पश्यति, विशिष्टं स एवमुच्यते ।" (२ । १०२)

७. गण० म०—"नगरे काक इव । नगरे वायस इव । स्वार्थनिष्ठः परवञ्चनानिपुण उच्यते । अथ वा—नगरकाको न क्वचित् तिष्ठति, सर्वमेव नगरं परिभ्रमति । तद्वत् तत्रान्यत्र वाऽनवस्थितः पुरुष उच्यते ।" (२ । १०४)

८. गण० म०—"यः सदाचारं भिनत्ति, स एवमुच्यते । यद्वा मातरि पौरुषमवलम्बमानः ।" (२ । १०५)

९. श्रीबोटलिङ्कपाठः—पिजीशूरः ॥

गण० म०—"पिण्डयां = खादितव्ये वस्तुनि शूरः । कलहवर्धनादिकं कृत्वा खादितव्यं खादति, अन्यत्र कार्यान्तरे निर्विक्रमः ॥" (२ । १०२)

१०. काशिकायामत्र नास्ति ॥

११. काशिकायां नास्ति ॥

१२. पाठान्तरम्—गेहेदृप्तः ॥

१३. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां ६, ९, १५, २२, २४, २५ इति सङ्ख्याकाः शब्दा न सन्ति ॥

आखनिकबकः[1] [२७] गोष्ठेशूरः [२८] गोष्ठेविजिती [२९] गोष्ठेक्ष्वेडी[2] [३०] गोष्ठेपटुः [३१] गोष्ठेपण्डितः [३२] गोष्ठेप्रगल्भः [३३] कर्णेटिरिटिरा[3] [३४] कर्णेचुरुचुरा[4]॥

अस्मिन् सूत्रे चकारो निश्चयार्थः । पात्रेसमितादय एव निपात्यन्ते । क्व मा भूत् । परमं पात्रेसमिताः । अत्र समासो न भवति । अस्मिन् गणे ये केचित् शब्दाः क्त-प्रत्ययान्ताः, तेषां पाठः पात्रेसमितादिषु गणनाकरणार्थः । तेन पात्रेसमितादीनां युक्तारोह्याद्यन्तर्गतत्वात् पूर्वपदस्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात् ॥ ४७ ॥

['पात्रेसमितादयः'] पात्रेसमितादि शब्दों का समुदाय निपातन किया है । पूर्व सूत्र से क्षेप अर्थात् निन्दा की अनुवृत्ति आती है । क्षेप अर्थ में पात्रेसमितादि शब्द तत्पुरुष-संज्ञक हों । पात्रेसमितादि सब शब्द पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिये हैं ॥

चकार-ग्रहण निश्चय के लिये है कि पात्रेसमितादि ही निपात समझे जायं । **परमं पात्रेसमिताः** । यहां परम-शब्द का समास न हुआ ॥

इस गण में बहुतसे शब्द क्त-प्रत्ययान्त पढ़े हैं । वहां पूर्व सूत्र से ही समास सिद्ध हो जाता, फिर उन का पढ़ना इसलिये है कि पात्रेसमितादिगण में गणना हो जाय । उस के होने से वहां पूर्व पद को आद्युदात्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन[6] ॥४८॥

(तत्पुरुषसमासप्रकरणे)

गण० म०—"गर्भे एव तृप्तः स्वमात्राहृतेनाहारेण, ततो निस्सृत्य न कदाचिदुदरपूरं कृतवानिति । गर्भेतृप्तः = दरिद्रः ॥" (२ । १०२)

१. गण० म०—"आखनिकः = जलस्रोतः, खातं, तस्मिन् बक इव । तद्वदन्योऽपि य आत्मीये गृहे यत्किञ्चिदस्ति, तद् भक्षयति, नान्यत्र गच्छति, स एवमुच्यते ।" (२ । १०३)

२. जयादित्यविट्ठलाचार्यौवतः परम्—गेहेमेही ॥

३. काशिकायाम्—कर्णेटिट्टिभः ॥

गण० म०—"टिरिटिरा चापलेन अनुचितचेष्टा उच्यते ॥" (२ । १०३)

४. काशिकायाम्—कर्णेचुरचुरा ॥

अतः परं श्रीबोटलिङ्कः—कूपचूर्णकः ॥

गण० म०—"कर्णेचुरचुरा चापलेन अनुचितचेष्टा उच्यते । 'टिरिटिरि' इति गत्यनुकरणं, 'चुरुचुरु' इति वाक्यानुकरणम । तत्करोतीति ण्यन्तादप्रत्ययो निपातनसामर्थ्याद् वाऽनो न भवति । शाकटायनस्तु 'कर्णेटिरिटिरिः, कर्णेचुरुचुरुः' इत्याह ॥" (२ । १०४)

प्रक्रियाकौमुदीटीकायाम्—"वृत्करणाभावादाकृतिगणोऽयम् ।"

गणरत्नमहोदधौ—"गेहेप्रगल्भः, गोष्ठेनर्दी, गेहेपटुः, गेहेपण्डितः, गोष्ठेव्याडः, गर्भेशूरः, गर्भेसुहितः, गर्भेदृप्तः, गर्भेधीरः, व्रणकृमिः, गेहेनन्दी, गेहेनर्त्ती, गृहकल-विङ्कः, गेहेवादी, नगरश्वा, गेहेमेली, गृहसर्पः, गेहेविचिती" इत्यादयः शब्दा अधिका उपलभ्यन्ते ॥

भट्टिकाव्ये "कूपमाण्डूकी" इत्यपि ॥ (५ । ८५)

५. ६ । २ । ८१ ॥

६. सा०—पृ० १९ ॥

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' ॥[1]' इत्यस्यापवादः । तत्र विशेषणस्य पूर्व-निपातो भवति । बहुल-ग्रहणात् क्वचिद् विशेष्यस्यापि पूर्वनिपातः, क्वचित् समासे प्रवृत्तिरेव [न]। अत्र तु सर्वं नियमेन यथा स्यात्। 'सुप् सुपा' इत्यनुवर्त्तते। पूर्वकाल-एक-सर्व-जरत्-पुराण-नव-केवलाः । १ । ३ । समानाधिकरणेन । ३ । १ । पूर्वकालश्च एकश्च सर्वश्च जरच्च पुराणं च नवश्च केवलश्च, ते । 'पूर्वकाल, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल' इत्येते सप्त शब्दाः समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति ॥

समानाधिकरण-ग्रहणं पादपर्यन्तं गमिष्यति । द्वयोः समर्थपदयोरेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः=सामानाधिकरण्यम् । पूर्वकाल—स्नातानुभुक्तः। पूर्वं स्नातं, पश्चाद् भुक्तम् । स्नानस्य भोजनस्य च कर्त्ता एक एवेति सामानाधिकरण्यम्। पूर्वकालवाची स्नात-शब्दोऽपरकालवाचिनाऽनुभुक्तसमानाधिकरणेन समस्यते । एक—एकश्चासौ वैद्यः=एकवैद्यः । सर्व—सर्वे च ते मनुष्याः=सर्वमनुष्याः । जरत्—जरंश्चासौ हस्ती=जरद्धस्ती । जरदश्वः । पुराण— पुराणश्चासौ गुडः=पुराणगुडः । पुराणवस्त्रम् । पुराणान्नम् । नव—नवं चादोऽन्नं=नवान्नम् । नवश्चासौ गुडः=नवगुडः । केवल—केवलं चादोऽन्नं=केवलान्नम् । केवलवस्त्रम् ॥

'समानाधिकरणेन' इति किम्। गुणेनैकेन वैद्यः। अत्र समासो न भवति ॥४८॥

समानाधिकरण उस को कहते हैं कि समास के लिये जो दो पद हैं, उन की एक पदार्थ के बीच में प्रवृत्ति होना । ['पूर्वकालैक०'] पूर्वकालवाची शब्द, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल, इन सात शब्दों का ['समानाधिकरणेन'] समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । [पूर्वकाल—] स्नातानुभुक्तः । पूर्व स्नान किया, पश्चात् भोजन किया । यहां पूर्वकालवाची स्नात-शब्द है, अपरकालवाची अनुभुक्त है । स्नान और भोजन का करने वाला एक ही है । यही सामानाधिकरण्य है । एक—एकवैद्यः । यहां एक-शब्द का समास वैद्य समानाधिकरण के साथ । सर्व—सर्वमनुष्याः । यहां सर्व-शब्द का समास मनुष्य समानाधिकरण के साथ । जरत्—जरत्पण्डितः । यहां जरत्-शब्द का समास पण्डित समानाधिकरण के साथ । पुराण—पुराणकम्बलः । यहां पुराण-शब्द का समास कम्बल के साथ । नव—नवान्नम् । यहां नव-शब्द का समास अन्न समानाधिकरण के साथ । केवल—केवलब्राह्मणाः । और यहां केवल-शब्द का समास ब्राह्मण समानाधिकरण सुबन्त के साथ हुआ है ॥

समानाधिकरण-शब्द का अधिकार इस पाद में अन्त तक चला जायगा । समानाधिकरण

१. २ । १ । ५६ ॥

जो तत्पुरुष होता है, उस की कर्मधारय विशेष संज्ञा होती है। सो पूर्व[1] कह चुके हैं ॥ ४८ ॥

दिक्सङ्ख्ये सञ्ज्ञायाम्[2] ॥ ४९ ॥

'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्त्तते । दिक्-सङ्ख्ये । १ । २ । सञ्ज्ञायाम् । ७ । १ । सञ्ज्ञायां विषये दिग्वाचि-सङ्ख्यावाचि-सुबन्ते समानाधिकरणसुबन्तेन सह समस्येते । तत्पुरुषः [स] समासो भवति । पूर्वस्यां दिशि इषुकामशमी[3] = पूर्वेषुकामशमी[4] । अपरेषुकामशमी । कस्यचित् सञ्ज्ञेयम् । अत्र समानाधिकरणाधिकारे पठितत्वादस्य कर्मधारय-सञ्ज्ञा । ततः 'पुंवत् कर्मधारय०[5] ॥' इति सूत्रेण दिग्वाचिनः पूर्व-शब्दस्य पुंवद्भावः । सङ्ख्या— पञ्चाम्राः । सप्तर्षयः[6] ॥

'सञ्ज्ञायाम्' इति किम् । पूर्वा वृक्षाः । पञ्च वालाः । अत्र समासो न भवति ॥४९॥

['सञ्ज्ञायाम्'] सञ्ज्ञा विषय में ['दिक्सङ्ख्ये'] दिशावाची और सङ्ख्यावाची जो सुबन्त हैं, वे समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास पावें । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । **पूर्वेषुकामशमी** । यहां दिशावाची पूर्व-शब्द का समास इषुकामशमी के साथ, और **'पञ्चाम्राः'** यहां सङ्ख्यावाची पञ्च-शब्द का समास समानाधिकरण आम्र-शब्द के साथ हुआ है । यहां समानाधिकरण अधिकार में इस सूत्र के पढ़ने का प्रयोजन यह है कि कर्मधारय-सञ्ज्ञा हो जाय । कर्मधारय-संज्ञा के प्रयोजन अनेक हैं ॥ ४९ ॥

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च[2] ॥ ५० ॥

'दिक्-सङ्ख्ये' इत्यनुवर्त्तते । [तद्धितार्थ-उत्तरपद-समाहारे । ७ । १ । च । अ० ।] तद्धितार्थश्च उत्तरपदं च समाहारश्च, तस्मिन् । तद्धितार्थे = तद्धितोत्पत्तिविषये, उत्तरपदे समाहारे च दिग्वाचि-सङ्ख्यावाचि-सुबन्ते समानाधिकरणेन

---

१. "तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ॥" (१ । २ । ४२)

२. सा०—पृ० २२ ॥

३. अथ वा—पूर्वा चासाविषुकामशमी च ॥

४. न्यासकारः— " पूर्वेषुकामशमीत्यादिर्ग्रामाणां सञ्ज्ञा ।"
 दृश्यतां दशकुमारचरिते (उ० । उच्छ्वास४)— "महाभाग सोऽहमस्मि पूर्वेषुकामचरः पूर्णभद्रो नाम।" (शिवरामः—इषुकाम इति देशस्य सञ्ज्ञा)

५. ६ । ३ । ४२ ॥

६. "विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् । तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः ॥" (ऋ० १०।८२।२)
 अत्र निरुक्तकारः—"सप्तऋषीणानि ज्योतींषि ।" (अ० १० । पा० ३)
 शतपथब्राह्मणे—"सप्तऽर्षीनु ह स्म वै पुरऽर्क्षा इत्याचक्षते । अमी ह्युत्तराहि सप्तऽर्षय उद्यन्ति ।" (२ । १ । २ । ४)
 बृहत्संहितायां (१३ । ५, ६)— "पूर्वे भागे भगवान् **मरीचि**रपरे स्थितो **वसिष्ठो**ऽस्मात्। तस्याङ्गिरास्ततोऽत्रिस्तस्यासन्नः **पुलस्त्य**श्च ॥ **पुलहः क्रतु**रिति भगवानासन्ना अनुक्रमेण पूर्वाद्यात्। तत्र वसिष्ठं मुनिवरमुपाश्रितारुन्धती साध्वी ॥"

सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । तद्धितार्थे—पूर्वस्यां शालायां भवः = पौर्वशालः । औत्तरशालः । पाञ्चनापितिः । पाञ्चब्राह्मणिः । 'पौर्वशालः' इति 'दिक्पूर्वपदादसञ्ज्ञायां ञः[1] ॥' इति शेषार्थे ञः प्रत्ययः । पञ्चानां नापितानामपत्यमिति विग्रहे इञ्-प्रत्ययः[2] । उत्तरपदे—पूर्वा शाला प्रिया यस्य = पूर्वशालाप्रियः । पञ्च गावो धनं यस्य = पञ्चगवधनः । अत्र प्रिय-शब्दे धन-शब्दे चोत्तरपदपरे दिक्-सङ्ख्ययोः समानाधिकरणेन सह समासः । पूर्व-शब्दस्य कर्मधारयत्वात् पुंवत् । 'पञ्चगवधनः' इत्यत्र 'गोरतद्धितलुकि[3] ॥' इति टच् । समाहारे—समाहारे दिक्-शब्देन सह समासो न भवति । अष्टानामध्यायानां समाहार इत्यष्टाध्यायी । 'अदन्तो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते ॥' इति वार्त्तिकेन स्त्रीत्वे 'द्विगोः[4] ॥' इति सूत्रेण ङीप् । एवं—पञ्चकुमारि । दशकुमारि । समाहारस्य नपुंसकत्वाद् ह्रस्वत्वम् ॥ ५० ॥

['तद्धितार्थ-उत्तरपद-समाहारे'] तद्धितार्थ में, उत्तरपद के परे [होने पर] और समाहार में दिशावाची [और] सङ्ख्यावाची जो सुबन्त हैं, वे समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । तद्धितार्थ—पौर्वशालः । यहां तद्धितार्थ में दिग्वाची पूर्व-शब्द का शाला-शब्द के साथ समास होने में ञ-प्रत्यय भी हुआ । पाञ्चनापितिः । यहां सङ्ख्यावाची पञ्च-शब्द का समास [होने से इञ्-प्रत्यय] हुआ है । उत्तर पद के परे [होने पर]—पूर्वशालाप्रियः । पञ्चगवधनः । यहां प्रिय- और धन-शब्द उत्तरपद परे होने से दिशावाची पूर्व-, सङ्ख्यावाची पञ्च-शब्द का समानाधिकरण शाला- और गो-शब्द के साथ समास हुआ है । समास के होने से पूर्व-शब्द को पुंवत् और [गो-] शब्द से टच्-प्रत्यय हुआ है । समाहार में—समाहार में दिग्वाची का समास नहीं होता । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । पञ्चकुमारि । दशकुमारि । यहां समाहार में सङ्ख्यावाची शब्दों का समास पात्र और कुमारी समानाधिकरण के साथ हुआ । पात्र-शब्द में एकवचन और कुमारी-शब्द को ह्रस्व भी हो गया है ॥ ५० ॥

सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः[5] ॥ ५१ ॥

पूर्वसूत्रस्यायं शेषः । सङ्ख्यापूर्वः । १ । १ । द्विगुः । [१ । १ ।] सङ्ख्या पूर्वं यस्य, सः । पूर्वस्मिन् सूत्रे सङ्ख्यापूर्वो यः समासः, स द्विगु-सञ्ज्ञो भवति । तद्धितार्थे—पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य = पञ्चेन्द्रः स्थालीपाकः ।

---

१. ४ । २ । १०७ ॥
२. "अत इञ् ॥" (४ । १ । ९५)
३. ५ । ४ । ९२ ॥
४. ४ । १ । २१ ॥
५. सा०—पृ० २२ ॥

अत्र पञ्चेन्द्राणी-शब्दाद् देवतार्थेऽण्[1]। द्विगुत्वाद् 'द्विगोर्लुगनपत्ये[2] ॥' इत्यणो लुक् । उत्तरपदे—पञ्चनावप्रियः । अत्र द्विगु-सञ्ज्ञाविधानात् 'नावो द्विगोः[3] ॥' इति नौ-शब्दात् टच्-प्रत्ययः । समाहारे—द्विगु-सञ्ज्ञत्वाद् 'अष्टाध्यायी' इत्यत्र ङीप्[4] ॥ ५१ ॥

पूर्व सूत्र का शेष यह सूत्र है । ['सङ्ख्यापूर्वः'] सङ्ख्या जिस के पूर्व हो, ऐसा जो पूर्व सूत्र में समास कहा है, उस की ['द्विगुः'] द्विगु-सञ्ज्ञा हो । तद्धितार्थ में —पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य = पञ्चेन्द्रः स्थालीपाकः । यहां पञ्चेन्द्राणी-शब्द से देवता अर्थ में [प्राप्त] अण्-प्रत्यय का, द्विगु-सञ्ज्ञा के होने से, लुक् हो गया । उत्तर पद में—पञ्चनावप्रियः । यहां द्विगु-सञ्ज्ञा के होने से नौ-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है । समाहार में—पञ्चपूली । यहां द्विगु-सञ्ज्ञा के होने से ङीप्-प्रत्यय हुआ है । इत्यादि प्रयोजनों के लिये सङ्ख्या पूर्व समानाधिकरण तत्पुरुष समास की द्विगु-संज्ञा विधान की है ॥ ५१ ॥

कुत्सितानि कुत्सनैः[5] ॥ ५२ ॥

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्[6] ॥' इत्यस्यापवादः । तत्र विशेषणस्य पूर्वनिपातो भवति । अत्र विशेष्यस्य पूर्वनिपातो यथा स्यात् । कुत्सितानि । १ । ३ । कुत्सनैः । ३ । ३ । 'कुत्सितानि' इति कर्मणि क्तः । 'कुत्सनैः' इति करणे ल्युट् । कुत्सयन्ति यैः, तानि कुत्सनानि, तैः । कुत्सितानि = कुत्सितवाचीनि सुबन्तानि कुत्सनवाचिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । ब्राह्मणश्चासौ लोभी = ब्राह्मणलोभी । ब्राह्मणान्यायी । लोभि-शब्देन अन्यायि-शब्देन च निन्द्योऽस्ति ब्राह्मणः । अत्र विशेष्यस्य ब्राह्मण-शब्द-स्यैव पूर्वनिपातो भवति । अत्र नैव ब्राह्मणत्वं निन्द्यते, किन्तु तस्यैकस्य दुष्ट-मनुष्यस्यावगुणाः कथ्यन्ते ॥ ५२ ॥

'विशेषणं॰' इस आगे के सूत्र का अपवाद यह सूत्र है । वहां तो समास में विशेषण पूर्व होता है, और यहां विशेष्य का पूर्वनिपात होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया । ['कुत्सितानि'] कुत्सितवाची जो सुबन्त हैं, वे ['कुत्सनैः'] कुत्सनवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । वैद्यनिर्विद्यः । विद्याशून्योऽयं वैद्यः, किमपि न जानातीत्यर्थः । यहां विशेष्य वैद्य और निर्विद्य-शब्द विशेषण है । यहां कुछ वैद्यकविद्या की निन्दा नहीं, किन्तु उसी एक मनुष्य की है ॥ ५२ ॥

पापाणके कुत्सितैः[5] ॥ ५३ ॥

१. "साऽस्य देवता ॥" (४ । २ । २४)
२. ४ । १ । ८८ ॥
३. ५ । ४ । ९९ ॥
४. "द्विगोः ॥" (४ । १ । २१)
५. सा०—पृ० २३ ॥
६. २ । १ । ५६ ॥

पूर्वसूत्रस्याऽयमपवादः । पाप-अणक-शब्दौ कुत्सनवाचिनौ, तयोः पूर्वसूत्रेण परनिपाते प्राप्ते पूर्वनिपातार्थमिदमारभ्यते । पाप-अणके । १ । २ । कुत्सितैः । ३ । ३ । पाप-शब्दोऽणक-शब्दश्च कुत्सितवाचिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । पापश्चासौ शूद्रः = पापशूद्रः । अणकशूद्रः । सर्वथा निन्द्य इत्यर्थः । एवं—पापनापितः, पापकुलाल इत्यादीन्यपि ॥ ५३ ॥

पूर्व सूत्र का अपवाद यह सूत्र है । क्योंकि पाप-अणक-शब्द कुत्सनवाची हैं, उन का परनिपात प्राप्त था । पूर्वनिपात होने के लिये इस का आरम्भ है । ['पाप-अणके'] पाप- और अणक-शब्द जो हैं, वे ['कुत्सितैः'] कुत्सितवाची सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । पापकुलालः । अणककुलालः । यहां कुम्भार पापी अर्थात् सब प्रकार बुरा है । इत्यादि और भी इसी प्रकार के उदाहरण[1] बनते हैं ॥ ५३ ॥

उपमानानि सामान्यवचनैः[2] ॥ ५४ ॥

अपूर्वोऽयमारम्भः । उपमानानि । १ । ३ । सामान्यवचनैः । ३ । ३ । अनिर्ज्ञा[तज्ञा]नाय तत्समीपमत्यन्तं यन्मिमीते, तदुपमानम् । उपमानोपमेययोरुभयत्र यः समानो धर्मः, तद्वाचकाः शब्दाः सामान्यवचना भवन्ति । उपमानवाचीनि सुबन्तानि सामान्यवचनैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषश्च समासो भवति । शस्त्रीव श्यामा = शस्त्रीश्यामा । घन इव श्यामः = घनश्यामो देवदत्तः । एवमन्यत्रापि ॥ ५४ ॥

अज्ञात वस्तु जानने के लिये जो अत्यन्त समीप अर्थात् शीघ्र जनाने का हेतु हो, उस को उपमान कहते हैं । उपमान और उपमेय दोनों के बीच में जो समान धर्म होता है, उस का वाची जो शब्द है, उस को सामान्यवचन कहते हैं । ['उपमानानि'] उपमानवाची जो सुबन्त हैं, वे ['सामान्यवचनैः'] सामान्यवचन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । शस्त्रीव श्यामा = शस्त्रीश्यामा देवदत्ता । कोई छोटा शस्त्र जैसा श्याम हो, ऐसी श्याम यह स्त्री है । यहां शस्त्री उपमानवाची है, और श्याम सामान्य-वचन [है], अर्थात् [श्याम गुण] स्त्री और शस्त्र दोनों में रहता है ॥ ५४ ॥

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे[2] ॥ ५५ ॥

पूर्वसूत्रस्यायमपवादः । पूर्वेणोपमानस्य पूर्वनिपातो भवति । अत्रोपमितस्य = उपमेयस्य पूर्वनिपातो भविष्यति । उपमितम् । १ । १ । व्याघ्रादिभिः । ३ ।

---

१. यथा—पापग्रह, पापपुरुष, पापराक्षसी, पाप-लोक (अथर्ववेद १२ । ११ । ३) । अणक-शब्द के उदाहरण प्रायः देखने में नहीं आते ॥

२. सा०—पृ० २३ ॥

३ । सामान्याप्रयोगे । ७ । १ । उपमितं = उपमेयम् । सामान्यस्य=उपमानोपमेय-गतसाधारणधर्मस्य अप्रयोगः=अनुच्चारणं, तस्मिन् । सामान्याप्रयोगे सति उपमितं= उपमेयवाचि सुबन्तं व्याघ्रादिभिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । पुरुषो ऽयं व्याघ्र इव, पुरुषोऽयं सिंह इव = पुरुषव्याघ्रः, पुरुष-सिंहः । अत्र पुरुष उपमेयं व्याघ्र-सिंहौ चोपमानम् । साधारणधर्मः शूर-त्वं = बलवत्ता, तस्याप्रयोग एव ॥

'सामान्याप्रयोगे' इति किम् । पुरुषोऽयं व्याघ्र इव बलवान् । पुरुषोऽयं सिंह इव शूरः । अत्र समास एव न भवति ॥

अथ व्याघ्रादिगणः—[१] व्याघ्र [२] सिंह [३] ऋक्ष [४] ऋषभ [५] चन्दन[1] [६] वृक्ष[2] [७] वृक[3] [८] वृष [९] वराह [१०] हस्तिन् [११] तरु[4] [१२] कुञ्जर [१३] रुरु [१४] पृषत्[5] [१५] पुण्डरीक [१६] कितव[6] [१७] पलाश [१८] बलाहक[7] ॥५५॥

पूर्व सूत्र का अपवाद यह भी सूत्र है । पूर्व सूत्र से उपमानवाची शब्दों का पूर्वनिपात होता है । इस से उपमेयवाची शब्दों का पूर्वनिपात होने के लिये यह सूत्र है । ['सामान्या-प्रयोगे'] सामान्य जो उपमान और उपमेय का साधारण धर्म है, उस का प्रयोग न हो, तो ['उपमितं'] उपमेयवाची जो सुबन्त है, वह ['व्याघ्रादिभिः'] व्याघ्रादिक सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । पुरुषो व्याघ्र इव= पुरुषव्याघ्रः । पुरुष व्याघ्र के तुल्य है । यहां पुरुष तो उपमेय और व्याघ्र उपमान है । पुरुष का व्याघ्र के साथ समास हुआ है । साधारण धर्म बल है । पुरुष व्याघ्र जैसा बलवान् है । उस साधारण धर्म का [समास में] प्रयोग नहीं ॥

---

१. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां चन्दन-वृक्ष शब्दौ न स्तः ॥

२. श्रीबोटलिङ्क एतं शब्दं न पठति ॥

३. काशिकायां नास्ति ॥

प्रक्रियाकौमुदीटीकायां तु "वृक" इत्यतः पूर्वं "वृषल" इति ॥

४. काशिका-प्रक्रियाकौमुदीटीकयोर्नास्ति ॥

गण० म०—"वैरं तरुरिव समूलत्वात् । वैरतरुः । " (२ । १०८)

५. काशिकायां "पृषत" इत्यकारान्तः पाठः ॥

६. श्रीविट्ठल-बोटलिङ्कौ "पलाश । कितव" इति क्रमभेदेन पठतः । काशिकायां तु कितव-पलाश-शब्दावेव न स्तः ॥

७. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां नास्ति ॥

अतः परं जयादित्य-विट्ठलाचार्यौ—"आकृतिगणश्चायम् । तेनेदमपि भवति (श्रीविट्ठलः—स्यात्)—मुखपद्मम् । मुखकमलम् । करकिसलयम् । पार्थिवचन्द्र इत्येवमादि (श्रीविट्ठलः—इत्यादि) ॥"

गणरत्नमहोदधौ—"कुञ्चा, महिष, इन्दु, वज्र [अस्योदाहरणं—वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति], वृषभ, कलश, चन्द्र, कुम्भ, किसलय, पल्लव, पद्म, श्वा, ऋषि, बिम्ब" इति १४ शब्दा अधिकाः ॥ (२ । १०८)

सामान्याप्रयोग का ग्रहण इसलिये है कि 'पुरुषो व्याघ्र इव बलवान्' यहां समास नहीं हुआ ॥

व्याघ्रादिगण पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिया है ॥ ५५ ॥

विशेषणं विशेष्येण बहुलम्[1] ॥ ५६ ॥

विशेषणम् । १ । १ । विशेष्येण । ३ । १ । [बहुलम् । अ० ।] निवर्त्तकं विशेषणं भवति । मूलोऽर्थो विशेष्यम् । विशेष्यविशेषणे विवक्षया भवतः । कदाचिद् विवक्षा भवति—विशेष्यवाची शब्दो विशेषणवाचित्वमापद्यते, विशेषणवाची विशेष्यवाचित्वं च । विशेषणवाचि सुबन्तं विशेष्यवाचिना सुबन्तेन सह बहुलं समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । रक्ता चासौ लता=रक्तलता । नीलं चाद उत्पलं=नीलोत्पलम् । अष्टाध्यायी च तद् व्याकरणं=अष्टाध्यायीव्याकरणम् । अत्र सर्वत्र विशेषणं पूर्वं भवति, विशेष्यं च परम् ॥

बहुल-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं—क्वचिन्नित्यसमासः, क्वचित् समास एव न भवति ॥ ५६ ॥

विशेषण उस को कहते हैं जिस से किसी की निवृत्ति होके किसी का निश्चय हो । मूल पदार्थ का वाची जो है, उस को विशेष्य कहते हैं । विशेष्य और विशेषण ये विवक्षा से जाने जाते हैं । कहीं विशेषणवाची शब्द विशेष्यवाची भी हो जाता और विशेष्यवाची किसी विवक्षा से विशेषणवाची हो जाता है । ['विशेषणं'] विशेषणवाची जो सुबन्त है, वह ['विशेष्येण'] विशेष्यवाची सुबन्तों के साथ ['बहुलं'] विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । रक्तलता । नीलोत्पलम् । शुक्लशाटी । इत्यादि शब्दों में पूर्व जिन का प्रयोग है, वे विशेषणवाची शब्द, और पर प्रयोग वाले विशेष्य हैं ॥

बहुल-ग्रहण का प्रयोजन है कि कहीं नित्य समास हो जाय, अर्थात् वाक्य भी न रहे, और कहीं समास हो भी नहीं ॥ ५६ ॥

पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च[2] ॥ ५७ ॥

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्[3] ॥' इत्यस्य व्याख्यानरूपं सूत्रमिदम् । नियमार्थं वा, पूर्वादिषु बहुलेन समासो न भवेत् । 'विशेष्येण' इत्यनुवर्त्तते । पूर्वापर०वीराः । १ । ३ । च । अ० । 'पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर' इत्येते शब्दाः समानाधिकरणेन विशेष्यवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । पूर्व—पूर्व-

---

१. सा०—पृ० २३ ॥
चा० श०—"विशेषणमेकार्थेन ॥" (२।२।१८)

२. सा०—पृ० २३ ॥

३. २ । १ । ५६ ॥

पुरुषः । अपर— अपरश्चासौ पर्वतः = अपरपर्वतः । प्रथम[1]— प्रथमपण्डितः । चरम[2]— चरमवैद्यः । [जघन्य—] जघन्यपुरुषः । [समान—] समानब्राह्मणाः । [मध्य—] मध्यपुत्रः । [मध्यम—] मध्यमपुत्रः । [वीर—] वीरपुरुषः । पूर्वादीनां विशेषणानां पुरुषादिविशेष्यवचनैः सह समासः ॥ ५७ ॥

पूर्व सूत्र का व्याख्यानरूप यह भी सूत्र है । अथवा नियमार्थ समझना चाहिये कि पूर्वादि शब्दों में बहुल न हो । ['पूर्वा०'] पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर, ये जो नव सुबन्त हैं, सो समानाधिकरण विशेष्यवाची सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । पूर्वपुरुषः । अपरपुरुषः । इत्यादि उदाहरणों में पूर्वादि विशेषणवाची शब्दों का पुरुष आदि विशेष्यवाची समानाधिकरण शब्दों के साथ समास होता है ॥ ५७ ॥

श्रेण्यादयः कृतादिभिः[3] ॥ ५८ ॥

'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्त्तते । श्रेण्यादयः । १ । ३ । कृतादिभिः । ३ । ३ । श्रेण्यादयो गणशब्दाः, कृतादयश्च । श्रेण्यादयः शब्दाः कृतादिभिः समानाधिकरणैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति ॥

वा०— *श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनम्* ॥

अश्रेणयः श्रेणयः कृताः = श्रेणिकृताः ॥[4]

एककृताः । पूगकृताः । सूत्रशिष्टवार्त्तिकमिदम् । न हि किञ्चिदपूर्वविधानम् ॥

भा०—श्रेण्यादयः पठ्यन्ते । कृतादिराकृतिगणः ॥[4]

अनेनैतद् विज्ञायते—कृतादयः शब्दा गणे न पठिताः, आकृतिगणत्वेन विज्ञातव्याः ॥

अथ श्रेण्यादिगणः—[१] श्रेणि[5] [२] एक[6] [३] पूग[7] [४]

---

१. दृश्यतामृग्वेदे (४ । ३६ । ५)—
"ऋभुतो रयिः प्रथमश्रवस्तमो
वाजश्रुतासो यमजीजनन्नरः ।"

२. दृश्यन्ताम्—"चरमगिरि (भोजप्रबन्धे श्लो० ३१६), चरमवयः (मालतीमाधवे ६ । २) चरमावस्था" इत्यादयः शब्दाः । अथर्ववेदे च चरमाजा-शब्दः (५ । १८ । ११)—
"ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ।"

३. सा०—पृ० २३ ॥

४. अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

५. एकशिल्पजीविनां समूहः श्रेणिरुच्यते ॥

६. श्रीबोटलिङ्कः—ऊक् ॥
गण० म०—"ऊकः = राशिस्थानम् । 'किलिञ्ज' इत्यपरे । [उदाहरणं—] ऊकावकल्पिताः ।" (२ । १०६)

७. शिशुपालवधे—"वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः ।" (३ । ३८)
(मल्लिनाथः—अपूगाः पूगाः सम्पद्यमानानि

मुकुन्द[1] [५] कुण्ड[2] [६] राशि[3] [७] निचय[4] [८] विशिख[5] [९] विशेष[6] [१०] निधान[7] [११] विधान[8] [१२] इन्द्र[9] [१३] देव[10] [१४] मुण्ड[11] [१५] भूत [१६] श्रवण [१७] वदान्य[12] [१८] अध्यापक [१९] अभिरूपक[13] [२०] ब्राह्मण [२१] क्षत्रिय[14] [२२] पटु[15] [२३] पण्डित [२४] कुशल [२५] चपल [२६] निपुण [२७] कृपण[16] — इति श्रेण्यादिः ॥

[अथ कृतादिः[17] —] [१] कृत [२] मित[18] [३] मत [४] भूत

कृतानि पूगकृतानि = पुञ्जीकृतानि)

अपि च भट्टिकाव्ये (३ । ४) —

"प्रास्थापयन् पूगकृतान् स्वपोषं

पुष्टान् प्रयत्नाद् दृढगात्रबन्धान् ।"

१. काशिकायां नास्ति ॥ [काशिका])"

श्रीबोटलिङ्कः—"मुकुन्द (कुन्द K. [= इति

२. श्रीभट्टोजि-बोटलिङ्कौ कुण्ड-शब्दं न पठतः ॥

३. गण० म० (२ । १०६)—"राशिकल्पिताः" इत्युदाहरणम् ॥

शब्दकौस्तुभेऽतः परं विषय-शब्दोऽपि दृश्यते ॥

४. काशिकायां "विशिख । निचय ।" इति क्रमभेदः ॥

५. श्रीभट्टोजि-बोटलिङ्कौ विशिख-शब्दं न पठतः ॥

६. काशिका-शब्दकौस्तुभयोर्नास्ति ॥

७. शब्दकौस्तुभे—निधन ॥

श्रीबोटलिङ्को निधान-शब्दमपठित्वा —"विधान (निधन; निधान K.)" [दाहरणम् ॥

गण० म० —"निधनकृताः शत्रवः" इत्यु-

८. काशिका-शब्दकौस्तुभयोर्न दृश्यते ॥

अतः परं श्रीबोटलिङ्कः—पर ॥

९. गण० म०—"इन्द्रावधारिताः" इत्युदाहरणम् ॥

१०. गण० म० —" 'वेद' इति रत्नमतिः ।" "देवाम्नाताः" इत्युदाहरणम् ॥ [हरणम् ॥

११. गण० म०—"मुण्डसम्भाविताः" इत्युदा-

१२. गण० म०—"वदान्योदीरिताः, अध्यापकोदिताः" इत्युदाहरणे ॥

१३. काशिकायां नास्ति ॥ [K.)"

१४. अतः परं श्रीबोटलिङ्कः—"विशिष्ट (विशिख

गण० म० —"ब्राह्मणमताः, क्षत्रियमताः" इत्युदाहरणे ॥

१५. गण० म० —"पटूक्ताः, पण्डितज्ञाताः, कुशलाख्याताः, चपलाप्रकृताः, निपुणोदाहृताः, कृपणाख्याताः" इत्युदाहरणानि ॥

१६. प्र० कौ० टीकायां ४, ७, ९, ११, १२, २० इति ६ शब्दा न सन्ति ॥

गणरत्नमहोदधौ "निधन, मन्त्र, विशिप, निर्धन, ऊक, श्रमण, कुन्दुम" इति ७ शब्दा अधिकाः । एषामुदाहरणादिकं च—"मन्त्रमिताः । विशिपं = गृहम् । अविशिपं विशिपं कृतं = विशिपकृतम् । भोजस्तु 'विशिष्ट' इत्याह । वामनो 'गण' इत्यपि । निर्धनोपकृताः । ऊकः [दृश्यतां पृ० २१६ टि० ६] श्रमणविश्रुताः । कुं = भुमिं दुनोति [इति] कुन्दुः = उन्दुरः, तं मिनाति = हिनस्ति [इति] कुन्दुमः = मार्जारः । कुन्दुमावकल्पिताः । अपरे तु 'कन्दुम' इति पठन्ति । कन्दुः = पाकस्थानं, तस्मिन् मिनोतीति कन्दुमः । अकन्दुमाः कन्दुमाः कृताः = कन्दुमकृताः शालयः । 'कुङ्कुम' इति रत्नमतिः । आकृतिगणोऽयम् ॥"

१७. शब्दकौस्तुभे कृतादयो न पठिताः ॥

१८. प्र० कौ० टीकायां—"मत । मित" इति क्रमभेदः ॥

[५] उक्त [६] युक्त[1] [७] समाज्ञात [८] समाम्नात [९] समाख्यात [१०] सम्भावित [११] संसेवित[1] [१२] अवधारित[2] [१३] निराकृत[3] [१४] अवकल्पित [१५] उपकृत [१६] उपाकृत [१७] दृष्ट[4] [१८] कलित [१९] दलित [२०] उदाहृत [२१] विश्रुत [२२] उदित[5]—इति कृतादिः । आकृतिगणोऽयम् ॥ ५८ ॥

श्रेण्यादि और कृतादि दोनों गण हैं। ['श्रेण्यादयः'] श्रेण्यादि जो सुबन्त हैं, वे ['कृतादिभिः'] कृतादि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो ॥

'श्रेण्यादिषु०' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास होता है, वहां च्व्यर्थ में हो। च्व्यर्थ उस को कहते हैं कि जो पहिले प्रसिद्ध न हो और पीछे हो जाय। अश्रेणयः श्रेणयः कृताः = श्रेणिकृताः। यहां श्रेणि-शब्द का कृत समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास हुआ है ॥

श्रेण्यादिगण सम्पूर्ण पूर्व संस्कृत में लिख दिया और कृतादि जो शब्द पढ़े हैं, वे लिख दिये। और कृतादि आकृतिगण भी है। आकृतिगण उस को कहते हैं कि जैसे थोड़े कृतादि दिखा दिये, इसी प्रकार के और भी शब्द सत्य ग्रन्थों में मिलें, उन को भी कृतादिकों में समझो ॥ ५८ ॥

क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्[6] ॥ ५९ ॥

क्तेन । ३ । १ । नञ्विशिष्टेन । ३ । १ । अनञ् । १ । १ । नञैव विशेषो यस्मिन् । अन्यत् सर्वं द्वितीयपदेन तुल्यम् । अनञ् = नञ् न विद्यते यस्मिन्, तत् । अनञ् क्तान्तं सुबन्तं नञ्विशिष्टेन क्तान्तेन समानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । कृतं च तदकृतं च = कृताकृतम्[7] । भुक्ताभुक्तम् । पीतापीतम् । धृताधृतम् । सुप्तासुप्तम् । उदितानुदि-

१. काशिकायां न पठितः ॥
२. विठ्ठलः—अवधीरित ॥
३. श्रीबोटलिङ्कः—"अवकल्पित । निराकृत" इति क्रमभेदेन पठति ॥ [न पठिताः ॥
४. जयादित्य-विठ्ठलाभ्यां १७–२२ सङ्ख्याकाः शब्दा
५. विठ्ठलः ६, ७, ११ इति ३ शब्दान्न पठति ॥
गण० म०—"आस्थित, विकल्पित, आसीन, निरूपित, विहित, आम्नात, अवज्ञात, उदीरित, आख्यात" इत्येते ९ शब्दा अधिकाः ॥ (२।११०)
६. सा०—पृ० २४ ॥
७. न्यासे—"कृतभागसम्बन्धात् कृतम् । अकृतभागसम्बन्धात् तदेवाकृतमित्युच्यते । अथ वा यदर्थं कृतं तत्रासामर्थ्यादकृतम् । यथा पुत्रकार्यासामर्थ्यात् पुत्रोऽप्यपुत्र इति ।"
महाभारते शान्तिपर्वणि—
"इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे ॥"
(६५४२ ॥ अपि च दृश्यतां श्लो० ९९४६)

तम्[1] । अत्रानञ्विशिष्टं क्तान्तमुपसर्जनत्वात् पूर्वं भवति । अत्रोभयत्रैकस्या एव प्रकृत्याः समासः, नञैव भेदः । आगमस्य चागमिनो ग्रहणेन ग्रहणं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति[2] । इष्टानिष्टम् । अशितानशितम् । क्लिष्टाक्लिशितम् ॥

वा०— *कृतापकृतादीनां चोपसङ्ख्यानम्* ॥ [१ ॥]

कृतापकृतम्[3] । भुक्तविभुक्तम् । पीतविपीतम् ॥[4]

कृतापकृतादय आकृतिगणः ॥

वा०— *गतप्रत्यागतादीनां चोपसङ्ख्यानम्* ॥ २ ॥

गतप्रत्यागतम् । पातानुपातम्[5] । पुटापुटिका । क्रयाक्रयिका[6] । फलाफलिका । मानोन्मानिका ॥[7]

अयमप्याकृतिगण एव । अत्र स्वरूपभिन्नत्वात् सूत्रेण समासो न प्राप्तः । तदर्थं वार्त्तिकद्वयम् ॥ ५९ ॥

['अनञ्'] अनञ् अर्थात् जिस में नञ् समास न हो, ऐसा क्त-प्रत्ययान्त जो सुबन्त है, वह ['नञ्विशिष्टेन'] नञ्विशिष्ट अर्थात् नञ् समास वाले [**'क्तेन'**] क्त-प्रत्ययान्त समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । जिस २ का समास हो, उन दोनों शब्दों का स्वरूप एक ही हो । केवल इतना भेद हो कि एक में नञ् समास हो और एक शब्द केवल ही हो । **कृतं च तदकृतं च=कृताकृतम् । भुक्ताभुक्तम्** । यहां कृत-शब्द तो नञ् रहित और अकृत-शब्द में नञ् समास है । इन दोनों का समास हुआ, तो कृत-शब्द उपसर्जन के होने से पूर्व रहा । आगमों का आगमी के साथ ग्रहण होता है, अर्थात् आगम अलग नहीं गिने जाते । इससे यहां नुट् और इट् इन आगमों के सहित शब्दों का भी समास हो जाता है । **अशितानशितम्** । यहां अनशित-शब्द में नुट् का आगम है । **क्लिष्टाक्लिशितम्** । यहां भी पर शब्द में इट् का आगम है । [सो] समास हो गया ॥

'कृतापकृता०', 'गतप्रत्यागता०' इन दो वार्त्तिकों का यह प्रयोजन है कि जिन क्त-

---

न्यासे—"भुक्तं त्वभ्यवहृतत्वाद्, विभुक्तञ्चाशोभनत्वात् । वि-शब्दोऽत्राशोभनत्वं प्रतिपादयति विरूपवत् । अथ वा भुक्तञ्च तदेकदेशस्याभ्यवहृतत्वाद्, विभुक्तञ्च विशेषेणाभ्यवहृतत्वाद् ।"

१. आपस्तम्बश्रौतसूत्रे (१५ । १८ । १३)—"यदा पुरस्तादरुणा स्याद्, अथ प्रवृञ्ज्यः । उपकाश उपव्युषं समयाविषित उदितानुदित उदिते वा ।" (रुद्रदत्तः—"सूर्ये उदितानुदिते=अर्द्धोदिते")

२. द्रष्टव्यं वार्त्तिकम्—"नुडिडधिकेन च ॥"

३. न्यासे—"तदेकदेशस्येष्टस्य करणात् कृतम् । अपकृतञ्च तदेकदेशस्यानभिमतस्य करणात् ॥"

४. अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

५. पाठान्तरम्—यातानुयातम् ॥

६. पाठान्तरम्—क्रियाक्रियिका ॥

प्रत्ययान्त शब्दों की आकृति भिन्न २ हो, उन का भी परस्पर समास हो जाय। सूत्र से तो एक-स्वरूप वालों का समास होता है, सो कृतापकृतादि और गतप्रत्यागतादि ये दो गण वार्त्तिकों से हैं। इन के कुछ शब्द तो लिखे हैं। कृतापकृतम्। भुक्तविभुक्तम्। गतप्रत्यागतम्। पातानुपातम् इत्यादि। और ये दोनों आकृतिगण भी समझने चाहियें ॥ ५६ ॥

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः[१] ॥ ६० ॥

सत्-महत्-परम-उत्तम-उत्कृष्टाः । १ । ३ । पूज्यमानैः । ३ । ३ । 'सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट' इत्येते पूजासाधनाः शब्दाः पूज्यमानैः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते। तत्पुरुषः स समासो भवति। सत्पुरुषः। महापुरुषः। परमपुरुषः। उत्तमपुरुषः। उत्कृष्टपुरुषः। पूजाहेतूनां सदादीनां पूज्यसमानाधिकरणेन समासः ॥ ६० ॥

['सन्महत्०'] सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट—पूजा के हेतु जो ये पांच सुबन्त हैं, वे ['पूज्यमानैः'] पूज्यमान सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। सत्पुरुषः। महापुरुषः। परमपुरुषः। उत्तमपुरुषः। उत्कृष्टपुरुषः। यहां पूजा के हेतु सदादि शब्दों का समास पूज्यमान पुरुष-शब्द के साथ हुआ है ॥ ६० ॥

वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम्[१] ॥ ६१ ॥

पूर्वसूत्रस्यायमपवादः। पूर्वेण पूज्यमानस्य परनिपातो भवति। अनेन तु पूज्यमानस्य पूर्वनिपातो भवति। वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः । ३ । ३ । पूज्यमानम् । १ । १ । पूज्यमानवचनादेव वृन्दारक-नाग-कुञ्जराः पूजाहेतवः। पूज्यमानवाचि सुबन्तं वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः समानाधिकरणसुबन्तैः सह समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। अश्ववृन्दारकः। वृषभनागः। गोकुञ्जरः। अश्व-वृषभ-गावः श्रेष्ठा इत्यर्थः। पूज्यमानानामश्व-वृषभ-गवां पूजावाचकैर्वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः सह समासः ॥ ६१ ॥

यह सूत्र पूर्व सूत्र का अपवाद है। पूर्व सूत्र से पूज्यमान का परनिपात होता है। यहां पूज्यमान का पूर्वनिपात होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया है। ['पूज्यमानम्'] पूज्यमानवाची जो सुबन्त है, वह पूजा के हेतु ['वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः'] वृन्दारक, नाग और कुञ्जर, इन तीन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। अश्ववृन्दारकः। वृषभनागः। गोकुञ्जरः। यहां पूज्यमान अश्व-, वृषभ- और गो-शब्द का वृन्दारक, नाग और कुञ्जर सुबन्तों के साथ समास हुआ है ॥ ६१ ॥

कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने[१] ॥ ६२ ॥

१. सा०—पृ० २४ ॥

कतर-कतमौ । १ । २ । जातिपरिप्रश्ने । ७ । १ । जातेः परि = सर्वतः प्रश्नः = जातिपरिप्रश्नः । जातिपरिप्रश्ने वर्त्तमानौ कतर-कतमौ शब्दौ समानाधिकरण-सुबन्तेन सह समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अनयोः कतरब्राह्मणः । एषां कतमब्राह्मणः । कतरक्षत्रियः । कतमक्षत्रियः । अत्र ब्राह्मण-क्षत्रिय-शब्दौ जातिवाचिनौ, ताभ्यां सह कतर-कतमयोः समासः ॥

'जातिपरिप्रश्ने' इति किम् । अनयोः कतरो देवदत्तः । एषां कतमो देवदत्तः । अत्र [स]मास एव न भवति ॥ ६२ ॥

['जातिपरिप्रश्ने'] जाति के सब प्रकार पूछने अर्थ में वर्तमान जो ['कतर-कतमौ'] कतर- और कतम-शब्द, वे समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास पावें । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अनयोः कतरब्राह्मणः । एषां कतमब्राह्मणः । यहां ब्राह्मण-शब्द जातिवाची है । उस के साथ कतर- और कतम-शब्द का समास हुआ है ॥

जातिपरिप्रश्न-ग्रहण इसलिये है कि 'अनयोः कतरो देवदत्तः, एषां कतमो देवदत्तः' यहां जाति का पूछना नहीं, इससे समास नहीं हुआ ॥ ६२ ॥

किं क्षेपे[1] ॥ ६३ ॥

किम् । १ । १ । क्षेपे । ७ । १ । क्षेपे = निन्दार्थे गम्यमाने 'किं' इत्येतच्छब्दः समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्यते[2] । तत्पुरुषः स समासो भवति । किंराजा यो न सम्यग् रक्षति । किम्ब्राह्मणः यो न पठति । दुष्टोऽस्तीत्यर्थः । किं-शब्दस्य राजन्-शब्देन ब्राह्मण-शब्देन च सह समासः । समासप्रयोजनमैकपद्यमैकस्वर्यमित्यादि ॥

'क्षेपे' इति किम् । को राजा वाराणस्याम् । अत्र समासो न भवति ॥ ६३ ॥

['क्षेपे'] क्षेप अर्थात् निन्दार्थ में वर्तमान जो ['किम्'] किं-शब्द है, वह समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । किंराजा यो रक्षां सम्यङ् न करोति । किम्ब्राह्मणो यो विद्यां न पठति । क्या राजा है, जो प्रजा की ठीक २ रक्षा नहीं करता । क्या ब्राह्मण है जो वेदों को नहीं पढ़ता । अर्थात् कुछ भी नहीं । यहां किं-

---

१. सा०—पृ० २४ ॥

२. किरातार्जुनीये (१ । ५)—

"स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपम् ।
हितं न यः संशृणुते स किम्प्रभुः ॥"

दृश्येतां च किन्नर-किम्पुरुष-शब्दौ । वाजसनेयिसंहितायां यथा (३० । १६)—

"स्वनेभ्यः पर्णकं गुहाभ्यः किरातꣳ सानुभ्यो जम्भकं पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम् ॥" (भगवद्दयानन्दः—"गिरिभ्यः किम्पूरुषं = जाङ्गलं कुत्सितं मनुष्यं परासुव")

"किम्पुरुषो वै मयुः ।" (शतपथे ७ । ५ । २ । ३२) तथा चैतरेयब्राह्मणे—"अथैनमुत्क्रान्तमेधं [पुरुषं देवाः] अत्यार्जन्त । स किम्पुरुषोऽभवत् ॥" (२ । ८)

शब्द का राजा- और ब्राह्मण-शब्द के साथ समास हुआ है। समास का प्रयोजन दो पदों का एक पद, दो स्वरों का एक स्वर होना [आदि है] ॥

क्षेप-ग्रहण इसलिये है कि 'को राजा वाराणस्याम्' यहां निन्दा अर्थ के न होने से समास भी नहीं होता ॥ ६३ ॥

पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्त्तैर्जातिः[1] ॥ ६४ ॥

पोटा०धूर्त्तैः । ३ । ३ । जातिः । १ । १ । अत्र जातिर्विशेष्यं, पोटादीनि विशेषणानि । विशेष्यस्य पूर्वनिपातो भवति । विशेषणविशेष्यसमासे च विशेषणं पूर्वं भवति । अतस्तस्यैवापवादः । पोटा = अल्पावस्था, गृष्टिः = एकवारप्रसूता, धेनुः = नवप्रसूता, वशा = वन्ध्या, वेहद्[2] = गर्भपातिनी, बष्कयणी[3] = तरुणवत्सा । अन्यत् स्पष्टम् । जातिवाचि सुबन्तं पोटादिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । स समासस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञो भवति । हस्तिनी चासौ पोटा = हस्तिपोटा । ब्राह्मणी चासौ युवतिः = ब्राह्मणयुवतिः । अन्नस्तोकम् । दुग्धकतिपयम् । गौश्चासौ गृष्टिः = गोगृष्टिः । गोधेनुः । गोवशा । गोवेहत् । इभबष्कयणी । पोटादिस्त्रीलिङ्गशब्देषु समानाधिकरणतत्पुरुषस्य कर्मधारयत्वात् 'पुंवत् कर्मधारय०[4] ॥' इति सूत्रेण पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । ब्राह्मणश्चासौ प्रवक्ता = ब्राह्मणप्रवक्ता । ब्राह्मणश्रोत्रियः । ब्राह्मणाध्यापकः । शूद्रश्चासौ धूर्त्तः = शूद्रधूर्त्तः । अत्र हस्त्यादिविशेष्यवाचिजातिशब्दानां पोटादिविशेषणवाचिसमानाधिकरणैः सह समासः ॥

'जातिः' इति किम् । देवदत्तः प्रवक्ता । अत्र न भवति ॥ ६४ ॥

यह सूत्र 'विशेषणं विशेष्येण०[5] ॥' इस सूत्र का अपवाद है, क्योंकि वहां विशेषणवाची समास में पूर्व होते और इस सूत्र में विशेष्यवाची पूर्व होंगे। पोटा उस को कहते, जिस को उत्पन्न हुए थोड़े दिन हुए हों। गृष्टि—जो एक वार ब्यानी हो। धेनु—जिस को ब्याये थोड़े दिन हुए हों। वशा = वन्ध्या। वेहत्—जिस का गर्भ गिर पड़ता हो। बष्कयणी—जिस के

---

१. सा०—पृ० २५ ॥

२. वाजसनेयिसंहितायां (२१ । २१)—
"ककुप्छन्द इहेन्द्रियं वशा वेहद्वयो दधुः ।"
(अपि च द्रष्टव्यन्तां १८ । २७ ॥ २४ । १ ॥ २८ । ३३)

३. बष्कयोऽस्या अस्तीति बष्कय("वि" वा)णी । ऋक्संहितायाम्—
"वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ ॥"
(१ । १६४ । ५)

४. ६ । ३ । ४२ ॥

५. २ । १ । ५६ ॥

सन्तान युवावस्था में हों। पूर्व जिन शब्दों के अर्थ दिखाये, वे सब स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं, और पशु जाति में उन की प्रवृत्ति होती है । ['पोटा-युवति०'] पोटा, युवति, स्तोक, कतिपय, गृष्टि, धेनु, वशा, वेहत्, बष्कयणी, प्रवक्तृ, श्रोत्रिय, अध्यापक, धूर्त्त—विशेषणवाची इन तेरह समानाधिकरण सुबन्तों के साथ जो ['जातिः' जातिवाची] विशेष्य सुबन्त हैं, वे विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। हस्तिनी चासौ पोटा = हस्तिपोटा। यहां हस्तिनी जातिवाची शब्द का समास पोटा के साथ हुआ है । पूर्व जिन पोटा आदि शब्दों के अर्थ दिखाये हैं, उन स्त्रीलिङ्ग शब्दों में समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय-सञ्ज्ञा होने से पूर्व शब्द को पुंवद्भाव हो जाता है[1] । इसी प्रकार पोटा आदि तेरह शब्दों के साथ जातिवाची शब्दों का समास होता है ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि 'देवदत्तः प्रवक्ता' यहां समास न हो ॥ ६४ ॥

प्रशंसावचनैश्च[2] ॥ ६५ ॥

'जातिः' इत्यनुवर्त्तते । प्रशंसावचनैः । ३ । ३ । च । अ० । जातिवाचि सुबन्तं प्रशंसावचनैः समानाधिकरणसुबन्तैः सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । ब्राह्मणप्रवीणः । ब्राह्मणतेजस्वी । क्षत्रियशूरः । गोसाध्वी । अत्र जातिवाचिनां ब्राह्मण-क्षत्रिय-गो-शब्दानां प्रवीणादिप्रशंसावचनैः सह समासः ॥

जाति-ग्रहणं किम् । कुमारी प्रियदर्शना । अत्र जातिर्नास्तीति समासो ऽपि न भवति ॥ ६५ ॥

जातिवाची जो सुबन्त है, वह ['प्रशंसावचनैः'] प्रशंसा के हेतु समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। ब्राह्मणप्रवीणः। क्षत्रियशूरः। गोसाध्वी। यहां जातिवाची ब्राह्मण-, क्षत्रिय- और गो-शब्द का प्रवीण आदि प्रशंसा के हेतु समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास हुआ है ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि 'कन्या प्रियंवदा' यहां जाति के न होने से समास भी नहीं हुआ ॥ ६५ ॥

युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः[2] ॥ ६६ ॥

युवा । १ । १ । खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः । ३ । ३ । अत्र जरती-शब्दः स्त्रीलिङ्गः पठ्यते, अन्ये च पुँल्लिङ्गाः । तस्यैतत् प्रयोजनं—प्रातिपदिक-ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं यथा स्यात् । युव-शब्दः खलत्यादिसमानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । युवा खलतिः = युवखलतिः । युवतिः खलती = युवखलती । युवा पलितः = युवपलितः ।

---

१. ६ । ३ । ४२ ॥ २. सा०—पृ० २५ ॥

युवतिः पलिता = युवपलिता । युवा वलिनः = युववलिनः । युवतिः वलिना = युववलिना । युवा चासौ जरन् = युवजरन् । युवतिश्चासौ जरती = युवजरती । अत्र युव-शब्दस्य खलत्यादिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह समासः । स्त्रीलिङ्ग-पक्षे समानाधिकरणतत्पुरुषस्य कर्मधारयत्वात् पूर्वपदस्य युवति-शब्दस्य **'पुंवत् कर्मधारय०[1] ॥'** इति सूत्रेण पुंवद्भावः ॥ ६६ ॥

इस सूत्र में जरती-शब्द स्त्रीलिङ्ग और सब शब्द पुँल्लिङ्ग पढ़े हैं । इस का यह प्रयोजन है कि खलति आदि यह प्रातिपदिक ग्रहण है, सो स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनों का ग्रहण समझना चाहिये । ['युवा'] युवा जो सुबन्त है, वह ['खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः'] खलति, पलित, वलिन, जरती, इन चार समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । युवा खलतिः = युवखलतिः । युवतिः खलती = युवखलती । यहां [युवखलतिः] इत्यादि उदाहरणों में युवा- और युवति-शब्द का खलति आदि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास है । स्त्रीलिङ्ग पक्ष में समाना-धिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय-सञ्ज्ञा होने से पूर्व पद का पुंवत् हो जाता है[2] ॥ ६६ ॥

कृत्यतुल्याख्या अजात्या ॥ ६७ ॥

कृत्य-तुल्याख्याः । १ । ३ । अजात्या । ३ । १ । [कृत्याः =] कृत्यप्र-त्ययान्ताः । तुल्याख्याः = तुल्यपर्यायाः । अजात्या = जातिभिन्नशब्देन । कृ-त्य-तुल्याख्याः शब्दा अजातिवाचिना समानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन सम-स्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [कृत्याः—] अवद्यवाक्यम् । आदेय-विद्या । ग्राह्यविद्या । भोज्यान्नम् । तुल्याख्याः—तुल्यगुणः । सदृशवर्णः[3] । सदृश-श्वेतः । अत्र कृत्य-तुल्याख्यानामजातिसमानाधिकरणेन सह समासः ॥

'अजात्या' इति किम् । स्तुत्यो मनुष्यः । सदृशो मनुष्यः । अत्र न भवति समासः ॥ ६७ ॥

['कृत्य-तुल्याख्याः'] कृत्यप्रत्ययान्त और तुल्यवाची जो सुबन्त हैं, वे ['अजात्या'] जातिवाची को छोड़के अन्य समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अवद्यवाक्यम् । तुल्यश्वेतः । सदृशश्वेतः । यहां कृत्यप्रत्ययान्त और तुल्यवाची शब्दों [का] अजातिवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास हुआ है ॥

---

१. ६ । ३ । ४२ ॥

२. सा०—पृ० २५ ॥

३. दृश्यतां च मनुस्मृतौ—

"सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।
न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति, जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥"
(९ । १२५)

अजाति-ग्रहण इसलिये है कि 'स्तुत्यो मनुष्यः । सदृशो मनुष्यः' यहां जातिवाची मनुष्य-शब्द के होने से समास नहीं हुआ ॥ ६७ ॥

वर्णो वर्णेन[1] ॥ ६८ ॥

वर्णः । १ । १ । वर्णेन । ३ । १ । वर्णविशेषवाचि सुबन्तं वर्णविशेषवाचिसमानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति। कृष्णसारङ्गः । लोहितकल्माषः । वर्णशब्दा गुणवाचिनः । गुणश्च द्रव्याश्रितो भवति । तत्र यस्मिन् द्रव्ये कृष्णसारङ्गौ लोहितकल्माषौ च गुणौ भवतः, तन्मत्वाऽत्र सामानाधिकरण्यम् ॥

वा०—*समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसङ्ख्यानमुत्तरपदलोपश्च* ॥

शाकभोजी पार्थिवः = शाकपार्थिवः । कुतपवासाः सौश्रुतः = कुतपसौश्रुतः । यष्टिप्रधानो मौद्गल्यः = यष्टिमौद्गल्यः । अजापण्यस्तौल्वलिः = अजातौल्वलिः[2] ॥[3]

शाकं भोक्तुं शीलमस्य, स शाकभोजी । अत्रोपपदसमासस्योत्तरपदं भोजिशब्दः । शाकभोजी चासौ पार्थिवः = शाकपार्थिवः । समानाधिकरणसमास उपपदसमासोत्तरपदस्य लोपः ॥ ६८ ॥

['वर्णः'] विशेष वर्णवाची जो सुबन्त है, वह ['वर्णेन'] विशेष वर्णवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । कृष्णसारङ्गः । लोहितकल्माषः । वर्णविशेषवाची जो शब्द हैं, वे गुणवाची होते हैं । और गुण जो हैं, वे द्रव्याश्रय होते हैं । जिस द्रव्य में कृष्ण और सारङ्ग तथा लोहित और कल्माष गुण हों, उस को मानके यहां समानाधिकरण माना जाता है ॥

'समानाधिकरण०' समानाधिकरण समास के अधिकार में शाकपार्थिवादि शब्दों को भी समझना अर्थात् इस अधिकार में समास के जो २ काम हैं, वे शाकपार्थिवादिकों में भी हों, और पूर्व किसी समास का जो उत्तर [पद] हो, उस का लोप हो । जैसे—**शाकभोजी पार्थिवः** । यहां शाकभोजी-शब्द का पार्थिव-शब्द के साथ समास हुआ, और शाकभोजी-पद में भोजी-शब्द उत्तर पद है, उस का लोप हो गया । प्रयोजन यह है कि दो शब्दों का पूर्व को समास हुआ हो, फिर उन दोनों [का] अन्य शब्द के साथ जो समानाधिकरण समास हो, तो पूर्व के

---

१. सा०—पृ० २५ ॥

२. "अजापण्यस्तौल्वलिः = अजातौल्वलिः । यष्टिप्रधानो मौद्गल्यः=यष्टिमौद्गल्यः ।" इति क्रमभेदेनापि क्वचित् पठ्यते ॥

३. अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

दो शब्दों में से उत्तर पद का लोप हो जाय। इस वार्त्तिक से शाकपार्थिवादि आकृतिगण समझा जाता है ॥ ६८ ॥

कुमारः श्रमणादिभिः[1] ॥ ६९ ॥

कुमारः । १ । १ । श्रमणादिभिः । ३ । ३ । अस्मिन् सूत्रे कुमार-शब्दः पुँल्लिङ्गेन निर्दिष्टः । श्रमणादिभिः सह तस्य समासः । श्रमणादिषु च केचिच्छब्दाः स्त्रीलिङ्गा अपि पठ्यन्ते । तत्र कथं सामानाधिकरण्यम् । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवतीति स्त्रीलिङ्गैस्सह कुमार-शब्दस्य स्त्रीलिङ्गस्य समासो भविष्यति । कुमार-शब्दः श्रमणादिसमानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । कुमारी चासौ श्रमणा = कुमारश्रमणा । कुमारी गर्भिणी = कुमारगर्भिणी । कुमारदासी । कुमारश्चासावध्यापकः = कुमाराध्यापकः । कुमारपण्डितः । कुमारकुशलः । अत्र विशेष्यवाचिनः कुमार-शब्दस्य विशेषणवाचिभिः समानाधिकरणैः सह समासः ॥

अथ श्रमणादिगणः—

[१] श्रमणा [२] प्रव्रजिता [३] कुलटा [४] गर्भिणी [५] तापसी [६] दासी [७] बन्धकी [८] अध्यापक [९] अभिरूपक [१०] पण्डित[2] [११] पटु[3] [१२] मृदु [१३] कुशल [१४] चपल [१५] निपुण— इति[4] श्रमणादिः ॥ ६९ ॥

इस सूत्र में कुमार-शब्द पुँल्लिङ्ग पढ़ा है, और श्रमणादिगण के साथ उस का समास किया है। सो श्रमणादिगण में बहुतेरे शब्द स्त्रीलिङ्ग भी पढ़े हैं। फिर स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग शब्द का सामानाधिकरण्य कैसे हो। (उत्तर) प्रातिपदिकों के निर्देश में भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों का भी ग्रहण होता है, इससे स्त्रीलिङ्ग शब्दों के साथ कुमार-शब्द भी स्त्रीलिङ्ग हो जाता है। ['कुमारः'] कुमार जो सुबन्त है, वह ['श्रमणादिभिः'] श्रमणादि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास पावे। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। कुमारी श्रमणा = कुमारश्रमणा। कुमारः कुशलः = कुमारकुशलः । यहां विशेष्यवाची कुमार-शब्द का श्रमणादि समानाधिकरण के साथ समास हुआ है ॥

श्रमणादिगण पूर्व संस्कृत में लिख दिया है ॥ ६९ ॥

---

१. सा०— पृ० २६ ॥

२. श्रीबोटलिङ्कः पण्डित-शब्दं मृदु-शब्दात् परं पठति ॥

३. श्रीवर्धमानस्तु— "कुमारपट्वी, कुमारमृद्वी कुमारनिपुणा ।" (२ । १०६)

४. काशिका-प्रक्रियाकौमुदीटीका-शब्दकौस्तुभेषु न कश्चिद् भेदो दृश्यते ॥

चतुष्पादो गर्भिण्या[1] ॥ ७० ॥

चतुष्पादः । १ । ३ । गर्भिण्या । ३ । १ । चत्वारः पादा येषां, ते चतुष्पादः = पश्वादयः[2] । चतुष्पादवाचिनः शब्दा गर्भिणी-समानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । गोगर्भिणी । माहिषी-गर्भिणी । अजागर्भिणी । अत्र विशेष्याणां चतुष्पादवाचिनां समासः ॥

वा०—चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यम् । इह मा भूत्—कालाक्षी गर्भिणी । स्वस्तिमती गर्भिणी ॥[3]

अत्र समासो न भवति । [अतः पूर्वत्र] जातिरेवोदाहृता ॥ ७० ॥

['चतुष्पादः'] चार पाद वाले पशु आदि के वाची जो सुबन्त हैं, वे ['गर्भिण्या'] गर्भिणी समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष कहावे । माहिषीगर्भिणी । शुनीगर्भिणी ! यहां जातिवाची महिषी- और शुनी-शब्द का गर्भिणी-शब्द के साथ समास हुआ है ॥

'चतुष्पाज्जाति०' इस वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि चतुष्पाद्वाचियों का जो समास किया है, वे जातिवाची शब्द होने चाहियें । सो पूर्व जातिवाचियों के ही उदाहरण दिये हैं । क्योंकि 'कालाक्षी गर्भिणी' यहां काले नेत्र वाली गौ वा अन्य कोई जीव जातिवाची नहीं, इससे समास नहीं हुआ ॥ ७० ॥

मयूरव्यंसकादयश्च[1] ॥ ७१ ॥

मयूरव्यंसकादयः । १ । ३ । च । अ० । मयूरव्यंसकादयो गणशब्दाः समानाधिकरणतत्पुरुष-सञ्ज्ञकाः कृतसमासा निपात्यन्ते, नित्यसमासश्चैतेषु भवति । समासप्रयोजनान्यैकपद्यादीन्यप्येतेषु भवन्त्येव । अस्मिन् सूत्रे चकारो निश्चयार्थः । मयूरव्यंसकादय एव समस्ता निपात्यन्ते । क्व मा भूत् । परमो मयूर-व्यंसक इति ॥

अथ मयूरव्यंसकादिगणः—

---

१. सा०—पृ० २६ ॥

२. = गवादयः ॥

दृश्यतां तैत्तिरीयब्राह्मणे—"अपशवो वा एते, यद्जावयश्चारण्याश्च । एते वै सर्वे पशवः, यद् मन्या इति ॥" (३ । ९ । ६ । २)

शतपथे (१ । ८ । २ । १४)—"गुहा हि पशवः ।"

ताण्ड्यमहाब्राह्मणे [१५ । १ । ८]—"अष्टाशफाः पशवः ।"

३. अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

[१] मयूरव्यंसकः[1] [२] छात्रव्यंसकः[2] [३] कम्बोजमुण्डः[3] [४] यवनमुण्डः [५] छन्दसि—हस्तेगृह्य[4] [६] पादेगृह्य [७] लाङ्गलेगृह्य [८] पुनर्दाय ॥ एहीडादयोऽन्यपदार्थे[5]—[९] एहीडं[6] वर्त्तते [१०] एहियवं वर्त्तते[7] [११] एहिवाणिजा क्रिया[8] [१२] अपेहिवाणिजा[9] [१३] प्रेहिवा-

---

१. शब्दकौस्तुभे—"व्यंसक-शब्दस्य गुणवचनत्वात् पूर्वनिपाते प्राप्ते वचनम् । एवं ... मुण्डपर्यन्तानाम् ॥"

गण० म०—"विगता अंसा यस्य=व्यंसकः । रमणीयाकारदेहनेपथ्योपेतत्वाद् मयूरवद् मयूरः पुमान् । स चासौ व्यंसकश्च बाहुसाध्यव्यापार-पुरुषकारविकलः कश्चिदेवं प्रतिक्षिप्यते । यद्वा—व्यंसयति=छलयति इति व्यंसकः । स चासौ स च यो लुब्धकानां मयूरो गृहीतशिक्षोऽन्यान् मयूरांश्छलयति=वञ्चयति, स विप्रलम्भक उच्यते ।" (२ । ११५)

२. गण० म०—"छात्रो हि यथा लब्धभिक्षामात्रतृप्तिकृतसन्तोषो निर्व्यापारतया कार्यतो व्यंसकः, तद्वदन्योऽप्येवमुच्यते । छात्ररूपेण वञ्चको वा लोकस्य ।" (२ । ११५)

३. काशिकायाम्—काम्बोज० ॥

गण० म०—"कम्बोज इव मुण्डः । दीक्षितैः मुण्डितव्यम् । कम्बोजा यवनाश्च मुण्डा भवन्ति । एवमिमौ वृथा मुण्डावित्येकोऽर्थः ।" (२ । ११५)

४. भाषायां तु "हस्ते गृहीत्वा" इत्यादि ॥

एषां पाठान्तराणि—हस्तगृह्य, पादगृह्य, लाङ्गुलेगृह्य, लाङ्गूलगृह्य, लाङ्गूलेगृह्य ॥

एषामुदाहरणानि—

"कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद्
यत्प्राक्षिणाः पितरं **पादगृह्य** ।"

(ऋ० ४ । १८ । १२ ॥ अपि च दृश्यतां १० । २७ ॥ ४)

"पूषा त्वेतो नयतु **हस्तगृह्या**-
श्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।"

(ऋ० १० । ८५ । २६ ॥ अपि च दृश्यतां १० । १०९ । २)

"**पुनर्दाय** ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम् ।" (ऋ० १० । १०९ । ७)

चतुर्षु वेदेषु "लाङ्गलेगृह्य, लाङ्गुलेगृह्य, लाङ्गूलगृह्य, लाङ्गूलेगृह्य" इत्येषां कश्चिदपि शब्दो न दृश्यते ॥

५. "एहीडादयोऽन्यपदार्थे" इत्येतद् गणशब्दत्वेन सङ्ख्यातवतः श्रीबोटलिङ्कस्य प्रमाद एव ॥

६. काशिकायाम्—"एहीडं, एहियवं वर्त्तते ।"

गण० म०—"इडा=स्त्री । यथा—महती इळा=महेळा । 'एहि=आगच्छ, इडे=स्त्रि' इति यस्मिन् कर्मणि, तद् एहीडं=विवाहादि कर्म । शास्त्राध्यायादिको वा ग्रन्थप्रविभागः । अन्यपदार्थत्वेऽपि शब्दशक्तेर्नपुंसकत्वमेव ।" (२ । ११८)

७. श्रीविट्ठलः—"एहियवम् ।"

८. श्रीविट्ठलः क्रिया-पदं न पठति ॥

गण० म०—"एहि वाणिजेति यस्यां तिथौ क्रियायां वा, सा । केचिद् 'आयान्ति गच्छन्ति वाणिजा यस्यां' इति विगृह्य निपातनादेहिभावः ।" (२ । ११६)

९. कोशे तु—"अपेहिवाणिजा क्रिया । अपेहिवाणिजा ।" इति लेखकप्रमादाद् द्विर्लिखितं प्रतिभाति ॥

गण० म०—"अपसर वाणिजा इति यस्यां सा । एवं एहिस्वागता [इत्यादि]" (२।११६)

णिजा[1] [१४] एहिस्वागता [१५] अपेहिस्वागता[2] [१६] प्रेहिस्वागता[3] [१७] एहिद्वितीया [१८] अपेहिद्वितीया [१९] प्रेहिद्वितीया[4] [२०] एहिकटा [२१] अपेहिकटा[5] [२२] प्रेहिकटा [२३] प्रोहकटा[6] [२४] अपोहकटा [२५] प्रेहिकर्दमा[7] [२६] प्रोहकर्दमा[8] [२७] अपोहकर्दमा[9] [२८] विधमचूडा[10] [२९] उद्धरचूडा [३०] आहरचेला[11] [३१] आहरवसना [३२] आहरसेना[12] [३३] आहरवितना[13] [३४] आहरवनिता[14] [३५] कृन्तविचक्षणा[15] [३६] उद्धरोत्सृजा [३७] उद्धरावसृजा[12] [३८] उद्धमविधमा [३९] उत्पचनिपचा[12] [४०] उत्पचविपचा[14] [४१] उत्पतनिपता [४२] उच्चावचम्[16] [४३] उच्चनीचम्[17] [४४] आचोप-

---

१. गण० म० —"प्रेहि=प्रियस्व वाणिजा इति यस्यां, सा। अन्ये त्वाहुः—प्रेहि=आदरेणागच्छ इत्यर्थः। स्त्रीलिङ्गत्वादाङ्निपातनाद् एवाकार इति केचित्।" (२ । ११५)

२. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां नास्ति॥

३. श्रीबोटलिङ्कोऽत्रैतं शब्दं न पठति॥

४. काशिकायां १६–२२ इति चत्वारः शब्दा न सन्ति॥

५. श्रीविठ्ठलः—"प्रेहिकटा। अपेहिकटा" इति क्रमभेदेन पठति॥

६. श्रीबोटलिङ्कस्तु "प्रोहकटा, अपोहकटा" इत्येतौ "प्रेहिकटा, अपेहिकटा" इत्येतयोः पाठान्तरत्वेन मन्यते। तदनाकरम्॥ [न पठति॥

श्रीविठ्ठलोऽपि "प्रोहकटा, अपोहकटा" इति

गण० म०—"प्रोह कटमिति यस्यां सा। प्रोहणं वीरणादेः कटादिभावाय विरचना।" (२ । ११६)

७. काशिकायां नास्ति॥

श्रीविठ्ठलः "प्रेहिकर्दमा" इत्यतः पूर्वं "एहिकर्दमा" इति, बोटलिङ्कश्च "आहरकरटा" इति पठति॥ [पठति॥

८. श्रीविठ्ठलः २६–२९ इति चतुरः शब्दान्न

गण० म०—"प्रोह = अपनय कर्दममिति यस्यां सा।" (२ । १२२)

९. श्रीबोटलिङ्को न पठति॥

१०. काशिकायां नास्ति॥

११. श्रीविठ्ठलः "आहरचेला" इत्यतः पूर्वं "उद्धमचूडा" इति॥

१२. जयादित्य-विठ्ठलौ न पठतः॥

१३. काशिकायां नास्ति। विठ्ठल-वर्धमानौ (२ । ११७) च "०वितता" इति पठतः॥

१४. श्रीविठ्ठल-बोटलिङ्कौ न पठतः॥

१५. श्रीविठ्ठलः—कृन्धिविचक्षणा॥

गण० म०—"कृती वेष्टने। कृन्धि विशिष्टं चक्षणमिति यस्यां, सा। शाकटायनस्तु—कृन्धि विचक्षिणांहि इति यस्यां, सा कृन्धिविचक्षिणा। कर्पासविषया क्रिया। निपातनाद्धि लोपो विकरणस्य ह्रस्वत्वं च इत्याह॥" (२ । ११९)

१६. न्यासकारः—"उच्चावचमिति निपात्यते उदक् चावाक् चेति विगृह्य।"

गण० म०—"उच्चितं चावचितं च। उच्चावचमित्यन्ये।" (२ । ११९)

१७. श्रीविठ्ठलः "उच्चनीचम्" इत्यतः पूर्वं "आचोपचम्" इति॥

चम् [४५] आचपराचम्[1] [४६] अचितोपचितम्[2] [४७] अवचित-पराचितम् [४८] नखप्रचम्[3] [४९] निश्चप्रचम्[4] [५०] अकिञ्चनम्[5] [५१] स्नात्वाकालकः[6] [५२] पीत्वास्थिरकः [५३] भुक्त्वासुहितः[7] [५४] प्रोष्यपापीयान्[8] [५५] उत्पत्यव्याकुला[9] [५६] निपत्यरोहिणी [५७] निषण्णश्यामा [५८] अपेहिप्रघसा[10] [५९] एहिविघसा[11] [६०] इहपञ्चमी[12] [६१] इहद्वितीया ॥ जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्त्तारं चाभिदधाति[13]— [६२] जहिजोडः[14] [६३] उज्जहिजोडः[15] [६४] जहिस्तम्बः[16] [६५] उज्जहिस्तम्बः[17] ॥ आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये—[६६] अश्नीतपिबता[18] [६७] पचतभृज्जता [६८] खादतमोदता [६९] खादताचमता[19] [७०]

---

१. काशिकायां ४४, ४५ इत्युभौ न स्तः ॥
गण० म०—"आचितं च पराचितं च ।" (२ । ११९)

२. बोटलिङ्कः ४६, ४७ इत्येतौ, विट्ठलश्च ४६, ४७, ४८ इति शब्दान् न पठति ॥

३. काशिकायां नास्ति ॥

४. गण० म०—"निश्चितं च प्रचितं च = निश्चप्रचम् । निश्चितं च प्रचितं च यस्यां क्रियायां, सा निश्चप्रचा । निष्कुषितं च निस्त्वचं च = निश्चत्वचम् इति केचित् ॥" (२।११९)

५. श्रीबोटलिङ्कः—"अकिञ्चन ।" एवमग्रेऽपि ॥
श्रीविट्ठलः—"अकिञ्चनम्" इत्यतः पश्चात् "सकिञ्चनम्" इति ॥

६. न्यासे—"स्नात्वाकालकः, पीत्वास्थिरकः, भुक्त्वा सुहित इत्येतेषामन्तोदात्तार्थः पाठः ।"
गण० म०—"स्नात्वा कालीभूतः = कृष्णीभूतः । पीत्वा स्थिरीभूतः ।" (२ । ११७)

७. श्रीविट्ठलः—"०सुहितकः ।"

८. गण० म०—"प्रोष्य वियुक्तो भूत्वा पापीयान् = विरूपकः ।" (२ । १२०)

९. श्रीविट्ठल-बोटलिङ्कौ—उत्पत्यपाकला ॥
शब्दकौस्तुभे—"उत्पत्य या कला उत्पतनं कृत्वा या पाण्डुर्भवति, सोच्यते हस्तिज्वरः पाकलः ।"

१०. न्यासे "अपेहिप्रसवा" इति, शब्दकौस्तुभे च "अपेहिप्रणमा" इति ॥

११. श्रीजयादित्य-विट्ठलौ न पठतः ॥

१२. गण० म०—"शाकटायनस्तु 'अद्यपञ्चमी । अद्यद्वितीया' इत्याह ।" (२ । १२३)

१३. श्रीविट्ठलः—"०माभीक्ष्ण्ये समस्यते, समासेन कर्त्ताभिधीयते चेत् ।"
पुनरपि बोटलिङ्क एतद् , "आख्यातमा०" इति चानुपदं वक्ष्यमाणं वाक्यं गणपाठशब्दत्वेन सङ्ख्याति ॥

१४. बोटलिङ्कः—०जोडम् ॥
गण० म०—"जहि जोडं देवदत्त [इति] यो वक्ताभीक्ष्णं सातत्येन ब्रवीति, स वक्ता जहिजोडः ।" (२ । १२१)

१५. श्रीबोटलिङ्को नैतं शब्दं पठति ॥

१६. प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥
श्रीबोटलिङ्कः—०स्तम्बम् ॥

१७. श्रीबोटलिङ्कः—०स्तम्बम् ॥

१८. न्यासे—"अश्नीत पिबत इत्यसकृद् यत्रोच्यते, तत्र 'अश्नीतपिबता' इति प्रयुज्यते ।"

१९. विट्ठलः—खादतवमता ॥

आहरनिवपा [७१] आवपनिष्किरा[1] [७२] उत्पचविपचा[2] [७३] भिन्द्धिलवणा [७४] छिन्धिविचक्षणा[3] [७५] कृन्धिविचक्षणा[4] [७६] पचलवणा [७७] पचप्रकूटा[5] ॥ आकृतिगणोऽयम् । अर्थादविहितलक्षणः समानाधिकरणतत्पुरुषो मयूरव्यंसकादित्वात् सिद्धो भवति ॥ ७१ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

['मयूरव्यंसकादयः'] मयूरव्यंसकादि गणशब्द हैं। वे समास किये हुए समानाधिकरणतत्पुरुष-सञ्ज्ञक निपातन किये हैं, और इन में नित्य समास होता है। अर्थात् पूर्व के विकल्प से यहां वाक्य भी नहीं रहा। जैसे—मयूरव्यंसकः। छात्रव्यंसकः। यहां मयूर-और छात्र-शब्द का व्यंसक सुबन्त के साथ नित्य समास हुआ है ॥

इस सूत्र में चकार-ग्रहण निश्चय के लिये है कि मयूरव्यंसकादि में ही नित्य समास हो। परमो मयूरव्यंसकः। यहां परम-शब्द का समास नहीं हुआ। मयूरव्यंसकादिगण पूर्व संस्कृत में सब क्रम से लिख दिया है। सो यह आकृतिगण अर्थात् जितने शब्द पढ़े हैं, उन से अलग भी समास किये हुए समानाधिकरण तत्पुरुष विषयक शब्द मयूरव्यंसकादि से सिद्ध समझने चाहियें ॥ ७१ ॥

यह द्वितीयाध्याय का प्रथम पाद समाप्त हुआ ॥

---

१. पाठान्तरम्—आहरनिष्किरा ॥

२. विट्ठलः—०निपचा ॥

३. प्र०कौ०टीकायां ७४, ७५ इति द्वौ शब्दौ न स्तः। बोटलिङ्कोऽपि "छिन्धि०" इत्येतं "कृन्धि०" इत्यस्य पाठान्तरं मन्यते ॥

४. काशिकायां नास्ति ॥

५. अतः परं श्रीबोटलिङ्कः—"K. ausserdem: प्रेहिस्वागता, अपोह्यकर्दमा, अचितोपचितं, अवचितपराचितं, उज्जहिजोडः, Ist ein आकृतिगण, zu welchem auch अकुतोभयः, कांदिशीकः, आहोपुरुषिका, अहमहमिका, यदृच्छा, एहिरेयाहिरा, उन्मृजावमृजा, द्रव्यान्तरं und अवश्यकार्य gehören sollen."

गणरत्नमहोदधौ "छत्रव्यंसकः, एहिप्रकसा, अपेहिप्रकसा, निकुच्यकर्णिः, उद्धमचूडा, भुक्त्वासुहितः, अकुतोभयम्, कान्दिशीकः (कां दिशं व्रजामीति), उद्धपनिवपा, आहोपुरुषिका अहमहमिका, यदृच्छा, एहिरेयाहिरा, अहम्पूर्विका, अहम्प्रथमिका" इत्यादयः शब्दा अधिकाः ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

[तत्पुरुषसमासाधिकारो वर्त्तते]

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे[1] ॥ १ ॥

समानाधिकरण-ग्रहणं निवृत्तम् । विभाषा-ग्रहणमनुवर्त्तते । पूर्व-अपर-अधर-उत्तरम् । १ । १ । एकदेशिना । ३ । १ । एकाधिकरणे । ७ । १ । पूर्वं च अपरं च अधरं च उत्तरं च, तानि पूर्वापराधरोत्तरम् । 'विभाषा वृक्षमृग०[2] ॥' इत्येकवद्भावः । 'स नपुंसकम्[3] ॥' इति नपुंसकत्वम् । एकदेशः = अवयवः, सोऽस्यास्तीति अवयवी, तेनैकदेशिना = अवयविना । एकं च तदधिकरणं = एकाधिकरणं, तस्मिन् । एकाधिकरणेऽभिधेये पूर्व-अपर-अधर-उत्तर-शब्दा एकदेशिवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । नद्याः पूर्वं = पूर्वनदी । वृक्षस्यापरं = अपरवृक्षः । गृहस्याधरं = अधरगृहम् । शरीरस्योत्तरं = उत्तरशरीरम् । उत्तरपर्वतः । अत्रैकदेशवाचिनां पूर्वादीनामेकदेशिवाचिभिर्नद्यादिभिः सह समासः ॥

'एकदेशिना' इति किमर्थम् । पूर्वं शिखरस्य पर्वतस्य । अत्र शिखर-शब्देन सह समासो न भवति ॥

'एकाधिकरणे इति' किम् । पूर्वं विद्यावतां सत्कारः कर्त्तव्यः । अत्र पूर्व-विद्यावत्-शब्दयोरेकाधिकरणं नास्तीति समासोऽपि न भवति ॥ १ ॥

अवयववाची जो ['पूर्व-अपर-अधर-उत्तरम्'] पूर्व-, अपर-, अधर- और उत्तर-शब्द हैं, वे ['एकाधिकरणे'] एकाधिकरण अर्थ में ['एकदेशिना'] अवयवीवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष कहावे । एकाधिकरण अर्थात् अवयव और अवयवी का अधिकरण एक हो, [तो] । पूर्वं पर्वतस्य = पूर्वपर्वतः । अपरं पर्वतस्य =

---

१. सा—पृ० २६ ॥

२. २ । ४ । १२ ॥

३. २ । ४ । १७ ॥

अपरपर्वतः । अधरपर्वतः । उत्तरपर्वतः । यहां पर्वत के एकदेशवाची पूर्वादि शब्दों का अवयवी पर्वत के साथ समास हुआ है ॥

एकदेशी-ग्रहण इसलिये है कि 'पूर्वं द्वारस्य गृहस्य' यहां द्वार-शब्द के साथ समास न हो । क्योंकि अवयवी तो गृह है, द्वार भी अवयव है ॥

एकाधिकरण-ग्रहण इसलिये है कि 'पूर्वमुत्कृष्टविद्यानां परीक्षा' यहां एकाधिकरण नहीं है । इससे पूर्व-शब्द का समास उत्कृष्टविद्य-शब्द के साथ नहीं हुआ ॥ १ ॥

अर्द्धं नपुंसकम्[१] ॥ २ ॥

'एकदेशिनैकाधिकरणे' इत्यनुवर्त्तते । अर्द्धम् । १ । १ । नपुंसकम् । १ । १ । एकस्य वस्तुनस्तुल्यौ द्वौ विभागौ भवतः । तत्रैकविभागे वर्त्तमानोऽर्द्ध-शब्दः, तस्येह सूत्रे ग्रहणम् । स च नपुंसकलिङ्गो भवति । अन्यश्चावयववाची पुँल्लिङ्गः[२] । एकाधिकरणे गम्यमाने नपुंसकलिङ्गोऽर्द्ध-शब्द एकदेशिवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते[३] । तत्पुरुषः स समासो भवति । अर्द्धं पिप्पल्याः=अर्द्धपिप्पली । अर्द्धं राशेः=अर्द्धराशिः । अत्र विभागवाचिनोऽर्द्ध-शब्दस्य समुदायवाचिभ्यां पिप्पली-राशि-शब्दाभ्यां सह समासः ॥

'नपुंसकम्' इति किम् । ग्रामार्द्धः । अत्र पुँल्लिङ्गे षष्ठीसमासः ॥

'एकदेशिना' इति किम् । अर्द्धं देवदत्तस्य वस्त्रस्य । अत्र देवदत्तेन सह समासो न भवति ॥

'एकाधिकरणे' इति किम् । अर्द्धं पिप्पलीनाम् । अत्र 'पिप्पलीनां' इति बहुवचनस्यैकाधिकरणं नास्तीति समासोऽपि न भवति[४] ॥

एतत् सूत्रद्वयं षष्ठीसमासस्यापवादः । षष्ठीसमासे सत्यवयविनः पूर्वनिपातः स्यात् । अत्र त्ववयविनः परनिपातो भवति ॥ २ ॥

एक वस्तु के दो भाग बराबर हों, उस एक भाग का वाची जो अर्द्ध-शब्द है, वह नपुंसक है । उसी का ग्रहण इस सूत्र में है । अन्यत्र अवयव का वाची पुँल्लिङ्ग है । ['अर्द्धं नपुंसकम्']

---

१. सा०—पृ० २६ ॥

२. महाभाष्ये—"क पुनरयं नपुंसकलिङ्गः, क पुँल्लिङ्गः । समप्रविभागे नपुंसकलिङ्गः, अवयववाची पुँल्लिङ्गः ।" (अ० २ । पा० २ । आ० १)

३. इत्यताऋग्वेदे (४ । ४२ । ८) अर्धदेव-शब्दः—

"अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्
सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने ।
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या
इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम् ॥"

(अपि च ४ । ४२ । ६)

४. महाभाष्ये—"इह कस्मान्न भवति—अर्धं पिप्पलीनामिति । न वा भवति "अर्धपिप्पल्यः" इति । भवति यदा खण्डसमुच्चयः । अर्धपिप्पली चार्धपिप्पली चार्धपिप्पली च=अर्धपिप्पल्य इति ॥"

नपुंसक जो अर्द्ध-शब्द है, वह [एकाधिकरण अर्थ में] एकदेशी सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। अर्द्धं राशेः=अर्द्धराशिः। यहां विभागवाची अर्द्ध-शब्द का समास समुदायवाची राशि-शब्द के साथ हुआ है॥

नपुंसक-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामार्द्धः' यहां पुँल्लिङ्ग में षष्ठी समास हो जाता है॥

एकदेशी-ग्रहण इसलिये है कि 'अर्द्धं देवदत्तस्य वस्त्रस्य' यहां देवदत्त-शब्द के साथ समास न हुआ॥

और एकाधिकरण-ग्रहण इसलिये है कि 'अर्द्धं पिप्पलीनां' यहां बहुवचन और एकवचन का एकाधिकरण न होने से समास न हुआ॥ २॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्य्याण्यन्यतरस्याम्[1] ॥ ३॥

'एकदेशिनैकाधिकरणे' इत्यनुवर्त्तते। द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्य्याणि। १। ३। अन्यतरस्याम्। अ०। षष्ठीसमासस्यापवादोऽयं योगः। षष्ठीसमासे सति द्वितीयादीनां परनिपातो भविष्यति। अत्र तु पूर्वनिपातः। महाविभाषाऽनुवर्त्तते। पुनर्विभाषाग्रहणात् षष्ठीसमासोऽपि भवति। एवं रूपत्रयं सिद्धं भवति। एकाधिकरणे गम्यमाने द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्य्य-शब्दा एकदेशिवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते। तत्पुरुषः स समासो भवति। द्वितीयं भिक्षायाः, द्वितीयभिक्षा। षष्ठीसमासे—भिक्षाद्वितीयम्। तृतीयं भिक्षायाः, तृतीयभिक्षा, भिक्षातृतीयं वा। चतुर्थं भिक्षायाः, चतुर्थभिक्षा, भिक्षाचतुर्थं वा। तुर्य्यं भिक्षायाः, तुर्य्यभिक्षा, भिक्षातुर्य्यं वा। एवं विकल्पद्वयेन रूपत्रयं सिद्धं भवति। अत्र विभागवाचिनां द्वितीयादिशब्दानां समुदायवाचिभिक्षा-शब्देन सह समासः॥

'एकदेशिना' इति किम्। द्वितीयं भिक्षुकस्य भिक्षायाः॥

'एकाधिकरणे' इति किम्। द्वितीयं भिक्षाणाम्। अत्र समास एव न भवति॥

> भा०—द्वितीयादीनां विभाषाप्रकरणे विभाषाग्रहणं क्रियते ज्ञापनार्थम्[2]। किं ज्ञाप्यते। एतज्ज्ञापयत्याचार्यः—अवयवविधौ सामान्यविधिर्न भवतीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्। 'भिनत्ति, छिनत्ति' इति श्नमि[3] कृते शम्न भवतीति॥[4]

अत्रैतत्कथनस्येदं प्रयोजनम्—षष्ठीसमासः=सामान्यविधिः, द्वितीयादीनां समासः=अवयवविधिः। तत्र महाविभाषया द्वितीयादीनां समासे कृते वाक्यमेव

---

१. सा०—पृ० २७॥

२. पाठान्तरम्—विभाषावचनं ... ज्ञापकार्थम्॥

३. "रुधादिभ्यः श्नम्॥" (३।१।७८)

४. अ० २। पा० २। आ० १॥

भवति, षष्ठीसमासो न प्राप्नोति । अतो द्वितीयं विकल्प-ग्रहणं सार्थं भवति । द्वितीयेनैव विकल्पेन षष्ठीसमासो भवति ॥ ३ ॥

यह सूत्र षष्ठी समास का अपवाद है । षष्ठी समास में द्वितीयादि शब्दों का परप्रयोग होता और यहां पूर्वप्रयोग होता है । पूर्व से विकल्प की अनुवृत्ति चली आती है, फिर विकल्प-ग्रहण इसलिये है [कि] षष्ठीसमास भी हो जाय । इस प्रकार दो विकल्पों के होने से तीन प्रयोग सिद्ध होते हैं । ['द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्याणि'] द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, तुर्य, ये चार जो शब्द हैं, सो एकाधिकरण अर्थ में एकदेशिवाची सुबन्त के साथ ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । द्वितीयं भिक्षायाः, द्वितीयभिक्षा । और षष्ठी समास में 'भिक्षाद्वितीयम्' भिक्षा-शब्द पूर्व होता है । इसी प्रकार तृतीय आदि शब्दों के भी तीन २ रूप बनते हैं । यहां विभागवाची द्वितीय आदि शब्दों का समुदायवाची भिक्षा-शब्द के साथ विकल्प करके समास हुआ है ॥

'अवयवविधौ०' इस परिभाषा का यहां यह प्रयोजन है कि षष्ठी समास तो सामान्यविधि और द्वितीयादिकों का समास अवयवविधि है । वहां पूर्व [अर्थात् महाविभाषा के] विकल्प से द्वितीय आदि का समास करने में वाक्य ही होता, षष्ठी समास नहीं प्राप्त होता । इससे द्वितीय विकल्प-ग्रहण सार्थक हुआ, कि द्वितीय विकल्प के होने से ही षष्ठी समास होता है ॥ ३ ॥

प्राप्तापन्ने च द्वितीयया[1] ॥ ४ ॥

अन्यतरस्यां-ग्रहणमनुवर्त्तते । 'एकदेशिनैकाधिकरणे' इति निवृत्तम् । प्राप्त-आपन्ने । १ । २ । (अः[2] । १ । १ ।) च । [अ० ।] द्वितीयया । ३ । १ । 'द्वितीया श्रितातीत०[3]॥' इति द्वितीयातत्पुरुषस्यापवादः । द्वितीयासमासे कृते द्वितीयान्तस्य पूर्वनिपातो भवति । अत्र तु द्वितीयान्तस्य परनिपातः । द्वितीयविकल्पस्यानुवर्त्तनाद् द्वितीयासमासोऽपि भवति । प्राप्त-आपन्न-शब्दौ द्वितीयान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । प्राप्त-आपन्न-शब्दयोरकारादेशश्च भवति । प्राप्तो जीविकां = प्राप्तजीविकः । आपन्नो जीविकां = आपन्नजीविकः । द्वितीयासमासे सति—जीविकाप्राप्तः । जीविकापन्नः ॥

प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति । प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीविका । आपन्ना जीविकां = आपन्नजीविका । समानाधिकरणतत्पुरुषे तु कर्मधारय-सञ्ज्ञत्वात् पुंवद्भावो भवति । अत्र समानाधिकरणं नास्तीति मत्वा सूत्रे

---

१. सा०—पृ० २७ ॥ [(२।२।१६) चा० श०—"प्राप्तापन्नौ द्वितीययात्वं च ॥"

२. महाभाष्ये—"एवं तर्हि नायमनुकर्षणार्थश्चकारः । किं तर्हि । अत्वमनेन विधीयते । प्राप्तापन्ने द्वितीयान्तेन सह समस्येते, अत्वं च भवति प्राप्तापन्नयोरिति । प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीविका । आपन्ना जीविकां = आपन्नजीविका ।"

३. २ । १ । २३ ॥

ऽकारस्य प्रश्लेषः कृतः । तेन 'प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीविका' इति पूर्वपदस्थस्याऽऽकारस्य ह्रस्वोऽकारो भवति । एतज्जयादित्येन काशिकायां न लिखितम् । न जाने तेन बुद्धं न वा ॥ ४ ॥

यह सूत्र द्वितीया तत्पुरुष का अपवाद है। द्वितीया तत्पुरुष में तो द्वितीयान्त का पूर्वनिपात होता और यहां द्वितीयान्त परप्रयोग होता है। सो इस सूत्र में दो विकल्पों की अनुवृत्ति होने से द्वितिया तत्पुरुष भी होता है। ['प्राप्त-आपन्ने'] प्राप्त और आपन्न जो शब्द हैं, वे ['द्वितीयया'] द्वितीयान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष कहावे। और प्राप्त-आपन्न-शब्दों को ['अः'] अकारादेश हो जावे। प्राप्तो जीविकां = प्राप्तजीविकः। आपन्नजीविकः। यहां प्राप्त- और आपन्न-शब्द का जीविका-शब्द के साथ समास हुआ है। जीविकाप्राप्तः। जीविकापन्नः। यहां द्वितीया तत्पुरुष समास में जीविका-शब्द पूर्व रहता है। प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीविका। आपन्ना जीविकां = आपन्नजीविका। यहां पूर्व पद प्राप्ता- और आपन्ना-शब्द को ह्रस्व अकार आदेश हुआ है। समानाधिकरण तत्पुरुष में तो कर्मधारय-सञ्ज्ञा के होने से पूर्व पद को पुंवद्भाव हो जाता है। यहां समानाधिकरण की अनुवृत्ति नहीं, इससे पुंवत् नहीं पाता। इसलिये इस सूत्र में अकार का प्रश्लेष किया अर्थात् 'प्राप्तापन्ने' इस के आगे अकार निकाला है ॥ ४ ॥

कालाः परिमाणिना[1] ॥ ५ ॥

षष्ठीसमासस्यैवापवादः। पूर्वनिपातविपर्य्ययार्थः। कालाः । १ । ३ । परिमाणिना । ३ । १ । परिमाणमस्यास्तीति परिमाणी, तेन । परिमाणवाचिनः कालशब्दाः परिमाणिवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । मासो जातस्य = मासजातः । संवत्सरो जातस्य=संवत्सरजातः । अत्र परिमाणवाचिनो मास-शब्दस्य परिमाणिवाचिना जात-शब्देन समासः ॥

वा०—*एकवचनद्विगोश्चोपसङ्ख्यानम्*[2]॥[3]

एकवचनान्तस्य द्विगु-सञ्ज्ञकस्य च कालवाचिशब्दस्य समासो भवतीति नियमः । मासो जातस्य = मासजातः । इह मा भूत्—मासौ जातस्य । मासा जातस्य । अत्र समासो न भवति । द्विगु-सञ्ज्ञकस्य—द्वौ मासौ जातस्य = द्विमासजातः । त्रिमासजातः । स्पष्टम् ॥ ५ ॥

यह सूत्र भी षष्ठी समास का अपवाद है। जो षष्ठी समास होता, तो कालवाची शब्दों का परनिपात होता। और जब इस सूत्र से समास होता है, तब कालवाची शब्द पूर्व होते हैं।

---

१. सा०—पृ० २७॥
२. कोशेऽत्र "॥ १ ॥" इति ॥
३. अ० २। पा० २। आ० १॥

['कालाः'] परिमाणवाची जो कालशब्द हैं, वे ['परिमाणिना'] परिमाणिवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास पावें। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। मासो जातस्य = मासजातः। यहां मास-शब्द का समास परिमाणिवाची जात-शब्द के साथ हुआ है॥

'एकवचनद्विगोश्चोपसङ्ख्यानम् ॥' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास होता है, वह एकवचनान्त मास-शब्द को और द्विगु-संज्ञक मास-शब्द को भी हो। एकवचनान्त का इसलिये है कि 'मासौ जातस्य' यहां द्विवचनान्त का समास नहीं हुआ। द्विगु-सञ्ज्ञक — द्विमासजातः। यहां समास हो जाता है॥ ५॥

नञ्[1] ॥ ६ ॥

नञ्। अ०। 'नञ्' इत्यव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। न ब्राह्मणः = अब्राह्मणः। न क्षत्रियः = अक्षत्रियः। अवृषलः। समासपक्षे 'नलोपो नञः[2]॥' इति नकारलोपो भवति। अत्र ब्राह्मणादिशब्दैः सह नञः समासः॥ ६॥

['नञ्'] नञ् जो अव्यय है, वह समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। न ब्राह्मणः = अब्राह्मणः। यहां नञ् का समास ब्राह्मण-शब्द के साथ हुआ है। सो जिस पक्ष में समास होता है, वहां नञ् के नकार का लोप हो जाता है॥ ६॥

ईषदकृता[3] ॥ ७ ॥

ईषत्। अ०। अकृता। ३। १। 'ईषद्' इत्यव्ययम् अकृता = कृदन्तभिन्नेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः। अत्र 'ईषद्' इत्यस्य कडार-पिङ्गलाभ्यां सह समासः॥

वा०— *ईषद् गुणवचनेन*[4] ॥

'अकृता' इति ह्युच्यमान इह च प्रसज्येत — ईषद्गार्ग्यः। इह[5] न स्यात् — ईषत्कडारः॥[6]

'ईषदकृता' इत्यस्य स्थाने 'ईषद् गुणवचनेन' इति सूत्रं कर्त्तव्यम्। तेन गुणवचनेनैव समासः स्यादिति वार्त्तिकाशयः॥ ७॥

['ईषद्'] ईषत् जो अव्यय है, वह 'अकृता' अर्थात् कृदन्त भिन्न सुबन्त के साथ विकल्प करके समास पावे। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः। यहां कडार- और पिङ्गल-शब्द के साथ ईषद् अव्यय का समास हुआ है॥

---

१. सा०—पृ० २७॥
चा० श०—२। २। २०॥ (तदेव)
२. ६। ३। ७३॥
३. सा०—पृ० २८॥
चा० श०—"ईषद् गुणेन॥" (२।२।२१)
४. कोशेऽत्र "॥१॥" इति॥
५. पाठान्तरम्—इह च॥
६. अ० २। पा० २। आ० १॥

'ईषद् गुणवचनेनन ॥' 'अकृता' इस के स्थान में 'गुणवचनेन' ऐसा कहना चाहिये, क्योंकि 'अकृता' के कहने से 'ईषद्गार्ग्यः' यहां भी समास पाता है। अर्थात् ईषद् अव्यय का गुणवचनवाची के साथ ही समास हो। इस नियम से कृदन्त का भी निषेध हो जावेगा। यह वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ७ ॥

षष्ठी[1] ॥ ८ ॥

षष्ठी । १ । १ । षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः । ब्राह्मणस्य धनं=ब्राह्मणधनम् । ग्रामपतिः । भूपतिः । अत्र राजन्-शब्दस्य पुरुषेण सह समासः । एवमन्येष्वपि ॥

वा०—*कृद्योगा च ॥*[2] *१ ॥*

'कर्तृकर्मणोः कृति[3] ॥' इति सूत्रेण या षष्ठी विधीयते, सा 'कृद्योगा' इत्युच्यते । सा च सुबन्तेन सह समस्यते । इध्मस्य प्रव्रश्चनः=इध्मप्रव्रश्चनः । पलाशस्य शातनः=पलाशशातनः । अस्य वार्त्तिकस्यैतत् प्रयोजनम्—'न निर्धारणे[4] ॥' इत्यत्रोक्तं—"प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम् ।" सर्वा च षष्ठी प्रतिपदविधाना शेषलक्षणामर्थात् 'षष्ठी शेषे[5] ॥' इत्यारभ्य पादपर्यन्तेविहितां षष्ठीं वर्जयित्वा । कृद्योगा च षष्ठी शेषलक्षणा । तत्र प्रतिपदविधानप्रतिषेधं मत्वेदमुक्तम् ॥ १ ॥

वा०—*तत्स्थैश्च गुणैः ॥*[2] *२ ॥*

तत्स्थाः=षष्ठ्यन्तस्था ये गुणशब्दाः, तैः सह षष्ठ्यन्तं समस्यते । चन्दनस्य गन्धः=चन्दनगन्धः । पटहशब्दः । नदीघोषः । 'पूरणगुण०[6] ॥' इति सूत्रेण षष्ठ्यन्तस्य गुणेन सह समासप्रतिषेधः प्राप्तः । तदर्थमिदं द्वितीयं वार्त्तिकम् ॥[२॥]

वा०—*न तु तद्विशेषणैः ॥*[2] *३ ॥*

तद्विशेषणैः=गुणविशेषणैः सह षष्ठ्यन्तं न समस्यत इति द्वितीयवार्त्तिकस्यैव निषेधः । चन्दनस्य मृदुर्गन्धः । घृतस्य तीव्रो गन्धः । अत्र मृदु-तीव्र-विशेषणशब्दाभ्यां समासो न भवति [॥ ३] ॥ ८ ॥

---

१. सा०—पृ०२४॥चा०श०—२।२।२२॥(तदेव)
२. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥
३. २ । ३ । ६५ ॥
४. २ । २ । १० ॥
५. २ । ३ । ५० ॥
६. २ । २ । ११ ॥

['षष्ठी'] षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः। यहां राजन्-शब्द का समास पुरुष-शब्द के साथ हुआ है। इसी प्रकार अन्य असंख्य शब्दों में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है॥

'कृद्योगा च॥' कृद्योगा [षष्ठी] उस को कहते हैं, जो कृदन्त के योग में कर्त्ता, कर्म में ['कर्तृकर्मणोः कृति॥' इस] सूत्र से षष्ठी विधान है। उस षष्ठी का समास सुबन्त के साथ हो। इध्मप्रव्रश्चनः। यहां कृदन्त के योग में इध्म षष्ठ्यन्त का समास हुआ है। प्रयोजन यह है कि आगे प्रतिपदविधान षष्ठी के समास [का निषेध] कहा है, सो प्रतिपदविधाना षष्ठी से कृद्योगा षष्ठी अलग है। सो प्रतिपदविधाना षष्ठी [के समास के निषेध] से कृद्योगा षष्ठी [के समास] का निषेध न हो जाय॥ १॥

'तत्स्थैश्च गुणैः॥' षष्ठ्यन्त में रहने वाले जो गुण हैं, उन के साथ षष्ठ्यन्त का समास हो। चन्दनस्य गन्धः=चन्दनगन्धः। यहां गन्ध गुण चन्दन में रहता है, इसलिये चन्दन के साथ समास हो गया। इस द्वितीय वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि आगे [सूत्र ११ में] गुणवाची शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त के समास का निषेध किया है, सो यहां न हो जाय॥ २॥

'न तु तद्विशेषणैः॥' गुण के विशेषणवाची शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त का समास न हो। घृतस्य तीव्रो गन्धः। यहां गन्ध के विशेषण तीव्र-शब्द के साथ समास न हुआ। द्वितीय वार्त्तिक का अपवाद यह भी वार्त्तिक है, अर्थात् उस से जो समास प्राप्त है, उस का यह निषेध करता है॥ [३॥] ८॥

याजकादिभिश्च[२]॥ ६॥

'षष्ठी[३]॥' इति सूत्रेण सिद्ध एव समासः। तस्य 'कर्त्तरि च[४]॥' इति [प्रति]षेधे प्राप्ते प्रतिप्रस[व]विध्यर्थं सूत्रमिदम्। याजकादिभिः। ३। ३। च। अ०। याजकादिभिर्गणशब्दैः सह षष्ठ्यन्तं विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। ब्राह्मणस्य याजकः=ब्राह्मणयाजकः। ब्राह्मणपूजकः। अत्र ब्राह्मण-शब्दस्य याजक-पूजक-शब्दाभ्यां सह समासः॥

अथ याजकादिगणः—[१] याजक [२] पूजक [३] परिचारक [४] परिवेशक[५] [५] परिषेचक[६] [६] स्नातक[७] [७] अध्यापक [८] उत्सादक[८] [९] उद्वर्त्तक [१०] होतृ [११] पोतृ[९] [१२] भर्तृ [१३]

१. २। ३। ६५॥
२. सा०—पृ० २८॥
३. २। २। ८॥
४. २। २। १६॥
५. शब्दकौस्तुभे—परिवेषक॥ श्रीजयादित्य-बोटलिङ्कौ परिवेशक-शब्दं न पठतः॥
६. शब्दकौस्तुभे नास्ति॥
७. बोटलिङ्कः—स्नापक॥
८. बोटलिङ्कः—उत्साहक॥
९. बोटलिङ्कः पोतृ-शब्दं न पठति॥

रथगणक [१४] परिगणक[1]—इति[2] याजकादिगणः ॥ ६ ॥

पूर्व सूत्र से षष्ठी समास सिद्ध ही है । फिर आगे [सूत्र १६ से] कर्त्ता में जो षष्ठी है, उस का निषेध किया है । उस कर्त्ता में षष्ठी के निषेध का विधान इस सूत्र से किया है । षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह ['याजकादिभिः'] याजकादि गणशब्दों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । ब्राह्मणस्य याजकः=ब्राह्मणयाजकः । यहां ब्राह्मण-शब्द का याजक-शब्द के साथ समास हुआ है ॥

याजकादिगण पूर्व संस्कृत में लिख दिया है ॥ ६ ॥

न निर्द्धारणे[3] ॥ १० ॥

'षष्ठी[4]॥' इति सूत्रेण समासे प्राप्ते निषेधप्रकरण आरभ्यते । न । अ० । निर्द्धारणे । ७ । १ । जातिगुणक्रियाशब्दसमुदायादेकस्य पृथक्करणं=निर्द्धारणम् । निर्द्धारणे वर्त्तमानं षष्ठ्यन्तं सुबन्तं सुबन्तेन सह न समस्यते । मनुष्याणां क्षत्रियः शूरः । गवां कृष्णा गौः सम्पन्नक्षीरा । पण्डितानां वेदविदुत्तमः । अत्रैकस्य पृथक्करणे समासो न भवति ॥

वा०—प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम् । इह मा भूत्—सर्पिषो ज्ञानम् । मधुनो ज्ञानम् ॥[5]

'सर्पिषः, मधुनः' इति प्रतिपदविधाना षष्ठी नास्ति शेषलक्षणत्वात् । शेषलक्षणां षष्ठीं विहायान्या च सर्वा प्रतिपदविधाना । सूत्रेण यः प्रतिषेधः क्रियते, तत्र प्रतिपदविधानायाः षष्ठ्याः प्रतिषेधः स्यात् ॥ १० ॥

षष्ठी सूत्र से जो समास विधान है, उस का निषेध प्रकरण यहां से चलता है । बहुतों में से एक को पृथक् करने को निर्द्धारण कहते हैं । ['निर्द्धारणे'] निर्द्धारण अर्थ में वर्त्तमान जो षष्ठी है, वह सुबन्त के साथ समास को ['न'] न प्राप्त हो । मनुष्याणां क्षत्रियः शूरः । मनुष्यों में क्षत्रिय शूर है । यहां बहुत मनुष्यों में से एक क्षत्रिय को अल[ग] किया । इससे समास भी नहीं हुआ ॥

---

१. जयादित्य-बोटलिङ्कौ—पत्तिगणक ॥

शब्दकौस्तुभे "पत्ति, गणक" इति द्वौ शब्दौ ॥

२. शब्दकौस्तुभेऽत्र "भृत्" इति ॥

अत्र बोटलिङ्कः—"K. ausserdem: पोतृ, हतृ[र्तृ], वर्तक."

गणरत्नमहोदधौ "कर्तृ, कारक, प्रयोजक, गोप्तृ, तुर्य, चतुर्थ, उन्मादक, द्वितीय, तृतीय, तुरीय" इत्यादयः शब्दा अधिकाः । अपि च—

"क्रियानुगतिमास्थाय लोके ख्यातिमुपागताः ।
ये कान्ताः पावकाद्यास्ते द्रष्टव्या याजकादिषु ॥"
(२ । ९९, १००)

३. चा०श०—"न लनिर्धार्यपूरणभावतृप्तार्थैः ॥" (२ । २ । २३)

४. २ । २ । ८ ॥

५. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥

'प्रतिपदविधाना च० ॥' इस वार्तिक का यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास का निषेध किया है, वह प्रतिपदविधाना षष्ठी का समझना चाहिये । और 'सर्पिषो ज्ञानं' यहां प्रतिपदविधाना षष्ठी नहीं, क्योंकि शेषलक्षण है ॥ १० ॥

पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन[1] ॥ ११ ॥

सर्वं तृतीयैकवचनम् । समाहारत्वादेकवचनम् । पूरणप्रत्ययान्तेन, गुणवाचिना, सुहित-शब्दस्यार्थवाचिभिः, सत्-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्तैः शब्दैः, अव्ययेन, तव्य-प्रत्ययान्तैः शब्दैः, समानाधिकरणशब्दैश्च सह षष्ठ्यन्तं सुबन्तं न समस्यते । पूरण— पण्डितानां सप्तमः । छात्राणां दशमः । गुण— काकस्य कार्ष्ण्यम् । कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् । सुहितार्थाः = तृप्त्यर्थाः — फलानां सुहितः । अन्नस्य तृप्तः । सत्-सञ्ज्ञकौ शतृ-शानचौ[2], तदन्तैः शब्दैः—ब्राह्मणस्य पचन् । ब्राह्मणस्य पचमानः । अव्यय— पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः[3] । पुरा सूर्यस्य विसृपो विरप्शिन्[4] । अत्र 'उदेतोः' इति तोसुन्-प्रत्ययान्तमव्ययं, 'विसृपः' इति कसुन्-प्रत्ययान्तं च[5] । ताभ्यां सह 'सूर्यस्य' इति षष्ठ्याः समासो न भवति । तव्य— ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम् । समानाधिकरणेन—यास्कस्य निरुक्तकारस्य । पाणिनेः सूत्रकारस्य । अत्र पण्डितादिशब्दानां पूरणप्रत्ययान्तादिशब्दैः सह षष्ठीसमासो न भवति । समानाधिकरणेन सह यदि समासः स्यात्, तर्हि विशेषणस्य पूर्वनिपात-नियमः स्यात् । तदा 'पाणिनेः सूत्रकारस्य' इति प्रयोगो न स्यात् । इष्यते यथेष्टं प्रयोगेण भवितव्यम् ॥ ११ ॥

['पूरण-गुण-सुहितार्थ-सद्-अव्यय-तव्य-समानाधिकरणेन'] पूरणप्रत्ययान्त, गुणवाची, सुहित अर्थात् तृप्ति के वाची, सत्-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्त, अव्यय-सञ्ज्ञक, तव्य-प्रत्ययान्त, समानाधिकरणवाची, इन शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समास को न प्राप्त हो । [पूरण—] छात्राणां पञ्चमः । यहां षष्ठ्यन्त छात्र-शब्द का पूरणप्रत्ययान्त पञ्चम-शब्द के साथ समास न हुआ । गुण—काकस्य कार्ष्ण्यम् । यहां षष्ठ्यन्त काक-शब्द का गुणवाची कार्ष्ण्य-शब्द के साथ समास नहीं हुआ । सुहितार्थ— अन्नस्य सुहितः । अन्नस्य तृप्तः । यहां षष्ठ्यन्त अन्न-शब्द का सुहितार्थ के साथ । सत्-सञ्ज्ञक शतृ-शानच्-प्रत्ययान्त—ब्राह्मणस्य पचन् । ब्राह्मणस्य पचमानः । यहां षष्ठ्यन्त ब्राह्मण-शब्द का

---

१. चा० श०—"न तनिर्धार्यपूरणभावतृप्तार्थैः ॥" (२ । २ । १३)

२. दृश्यताम्—"तौ सत् ॥" (३ । २ । १२७)

३. काठकसंहितायामिठिमिकायां—८ । ३ ॥

४. वाजसनेयि (१।२८)-तैत्तिरीय (१।१।६।३)-काठक (१।६) संहितासु—"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् ।"

५. १ । १ । ३६ ॥

सत्-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्त के साथ । अव्यय—पुरा सूर्यस्योदेतोः[1] । पुरा सूर्यस्य विसृपः[2] । यहां षष्ठ्यन्त सूर्य-शब्द का तोसुन्-कसुन्-प्रत्ययान्त अव्यय के साथ । तव्य—ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम् । यहां षष्ठ्यन्त ब्राह्मण-शब्द का तव्य-प्रत्ययान्त के साथ । समानाधिकरण—पाणिनेः सूत्रकारस्य । और यहां षष्ठ्यन्त पाणिनि-शब्द का सूत्रकार-शब्द के साथ समास नहीं हुआ । समानाधिकरण के साथ जो समास होता, तो विशेषण पूर्व होना, यह नियम हो जाता । इसलिये निषेध है कि विशेषण वा विशेष्य कोई [भी] पूर्व रहे ॥ ११ ॥

क्तेन च पूजायाम् ॥ १२ ॥

नकारग्रहणमनुवर्त्तते । क्तेन । ३ । १ । च । अ० । पूजायाम् । ७ । १ । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च[3] ॥' इति वर्त्तमाने यः क्तः प्रत्ययो विधीयते, तस्येह ग्रहणम् । पूजा-ग्रहणमुपलक्षणार्थम्[4] । पूजायां वर्त्तमानेन क्त-प्रत्ययान्तसुबन्तेन सह षष्ठ्यन्तं सुबन्तं न समस्यते । राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां पूजितः । अत्र षष्ठ्यन्तस्य राजन्-शब्दस्य क्तान्तेन सह समासो न भवति ॥

'पूजायां' इति किम् । मयूरस्य नृत्तं = मयूरनृत्तम् । अत्र 'नपुंसके भावे क्तः[5] ॥' तेन समासो भवति ॥ १२ ॥

'मतिबुद्धि०[3] ॥' इस सूत्र से वर्त्तमान काल में जो क्त-प्रत्यय होता है, उस का इस सूत्र में ग्रहण है । ['पूजायाम्'] पूजा अर्थ में वर्त्तमान ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त समास को न प्राप्त हो । राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां पूजितः । यहां षष्ठ्यन्त राजन्-शब्द [का] क्त-प्रत्ययान्त के साथ समास नहीं हुआ ॥

पूजा-ग्रहण इसलिये है कि 'छात्रस्य हसितं = छात्रहसितं' यहां नपुंसकभाव में क्त है । उस के साथ समास हो जाता है ॥ १२ ॥

अधिकरणवाचिना च ॥ १३ ॥

'क्तेन' इत्यनुवर्त्तते । 'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः[6] ॥' इत्यधिकरणे क्तो विधीयते । तस्येदं ग्रहणम् । अधिकरणवाचिना । ३ । १ । च । अ० । षष्ठ्यन्तं सुबन्तमधिकरणवाचिना क्त-प्रत्ययान्तेन च न समस्यते । इदमेषां जग्धम् । इदमेषां भुक्तम् । अत्र षष्ठ्यन्तस्य जग्ध-भुक्त-क्तप्रत्ययान्ताभ्यां सह समासो न भवति ॥

---

१. काठकसंहिता—८ । ३ ॥

२. वाजसनेयि (१ । २८), तैत्तिरीय (१ । १ । ६ । ३) और काठक (१ । ६) संहिताओं में—"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् ।"

३. ३ । २ । १८८ ॥

४. "पूजाग्रहणमुपलक्षणार्थम्" इति मतिबुद्ध्योरपि यः क्तो विहितः, तेनापि षष्ठीसमासस्य प्रतिषेधः ॥

५. ३ । ३ । ११४ ॥

६. ३ । ४ । ७६ ॥

चकारग्रहणं 'क्तेन' इत्यनुवर्त्तनार्थम् ॥ १३ ॥

'क्तोऽधिकरणे च०[1] ॥' इस सूत्र से जो अधिकरण में क्त-प्रत्यय होता है, उस का यहां ग्रहण है । ['अधिकरणवाचिना'] अधिकरणवाची क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समास को न प्राप्त हो । इदमेषां जग्धम् । यहां 'एषां' इस षष्ठ्यन्त का समास 'जग्धं' [इस] क्त-प्रत्ययान्त के साथ नहीं हुआ ॥

चकार-ग्रहण क्त की अनुवृत्ति के लिये समझना चाहिये ॥ १३ ॥

कर्मणि च ॥ १४ ॥

'उभयप्राप्तौ कर्मणि[2] ॥' इति सूत्रेण या षष्ठी, तस्या अत्र ग्रहणम् । कर्मणि । ७ । १ । च । अ० । इति-शब्दार्थेऽत्र चकारः । 'कर्मणि' इत्येवं या षष्ठी । कर्मणि या षष्ठी, सा समर्थसुबन्तेन सह न समस्यते । गवां दोहो गोपालेन । मोदकस्य भोजनं बालेन । 'गां दोग्धि, मोदकं भुङ्क्ते' इति कर्मणि षष्ठ्याः समासो न भवति ॥

भा०—इत्यर्थेऽयं चः पठितः । कर्मणि च । 'कर्मणि' इत्येवं या षष्ठी ॥[3] १४ ॥

इस सूत्र में चकार इति-शब्द के अर्थ में पढ़ा है । 'कर्मणि' ऐसे शब्द से जो षष्ठी अर्थात् 'उभयप्राप्तौ कर्मणि[2] ॥' इस सूत्र से जो षष्ठी विधान है, उस का यहां ग्रहण है । ['कर्मणि'] कर्म में जो षष्ठी है, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को न प्राप्त हो । गवां दोहो गोपालेन । यहां 'गवां' इस षष्ठ्यन्त का समास दोह-शब्द के साथ नहीं हुआ ॥ १४ ॥

तृजकाभ्यां कर्त्तरि ॥ १५ ॥

'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते । तृच्-अकाभ्याम् । ३ । २ । कर्त्तरि । ७ । १ । कर्त्तरि यौ तृच्-अकौ । तेन तृच्-प्रत्ययान्तेन अकान्तेन[4]=ण्वुल्-प्रत्ययान्तेन च सह कर्मणि या षष्ठी, सा न समस्यते । पुरां भेत्ता । अपां स्रष्टा । यवानां लावकः । कूपस्य खनकः । अत्र 'पुरां' इत्यादिषष्ठ्याः समासो न भवति ॥

जयादित्येनास्मिन् सूत्रे 'कर्त्तृग्रहणं षष्ठीविशेषणम्' इत्युक्तम् । कर्त्तरि या षष्ठी, सा न समस्यत इत्यर्थः कृतः । एतद् महाभाष्यान्महद्विरुद्धमस्ति । कथम् । महाभाष्यकारेणास्य सूत्रस्य 'पुरां भेत्ता, अपां स्रष्टा,[6] यवानां लावकः' इति

---

१. ३ । ४ । ७६ ॥
२. २ । ३ । ६६ ॥
३. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥
४. "युवोरनाकौ ॥" (७ । १ । १)
५. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥ "कर्मणि च ॥" (२ । २ । १४) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने ॥
६. महाभाष्ये "अपां स्रष्टा । पुरां भेत्ता" इति क्रमभेदः ॥

ण्युदाहरणानि दत्तानि । अत्र सर्वत्र कर्मणि षष्ठी । जयादित्येन तृजन्तस्योदाहरणमपि नोक्तम् । तत्रोक्तं तेन—'तृच् कर्त्तर्येव विधीयते, तत्प्रयोगे कर्त्तरि षष्ठी नास्ति । तस्मात् तृच्-ग्रहणमुत्तरार्थम् ।' इति सर्वमवद्यमेवोक्तम् ॥ १५ ॥

कर्म में जो षष्ठी है, वह ['कर्त्तरि'] कर्त्ता में ['तृच्-अकाभ्यां'] तृजन्त और अकान्त सुबन्तों के साथ समास को न प्राप्त हो। पुरां भेत्ता । यवानां लावकः । यहां 'पुरां' और 'यवानां' इन षष्ठ्यन्त शब्दों का समास नहीं हुआ ॥

काशिकावृत्ति के बनाने वाले जयादित्य पण्डित ने इस सूत्र में "कर्तृ-ग्रहण षष्ठी का विशेषण अर्थात् कर्त्ता में जो षष्ठी है, वह समास न पावे" यह अर्थ किया है। सो यह महाभाष्य से अत्यन्त विरुद्ध है। महाभाष्यकार ने इस सूत्र के जो उदाहरण दिये हैं, वहां कर्म में षष्ठी है। और ऐसा उलटा अर्थ करने से जयादित्य को तृजन्त का उदाहरण ही न मिला, इसलिये उन ने लिखा कि तृच्-ग्रहण उत्तरार्थ है। अर्थात् इस सूत्र का जयादित्य ने कुछ भी नहीं समझा, फिर अच्छा कहां से लिखते ॥ १५ ॥

कर्त्तरि च ॥ १६ ॥

क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्त्तत इत्यक-ग्रहणमनुवर्त्तते । तृच् कर्त्तर्येव भवति, तस्मात् कर्त्तरि षष्ठी न भवति । [कर्त्तरि । ७ । १ । च । अ० ।] कर्त्तरि या षष्ठी, साऽकान्तेन सह न समस्यते । तव शायिका । मम जागरिका । अत्र भावे ण्वुल् । 'तव, मम' इति षष्ठ्यन्तस्य समासो न भवति ॥

अत्रापि जयादित्येन विरुद्धमेव व्याख्यानं कृतम् । पूर्वसूत्रस्यार्थोऽत्र कृतः, अस्य योऽर्थः, स पूर्वसूत्रे कृतः ॥ १६ ॥

यहां पूर्व सूत्र से अक की अनुवृत्ति आती है, तृच् की नहीं। क्योंकि तृच् कर्त्ता ही में होता है, इससे कर्त्ता में षष्ठी नहीं होती। ['कर्त्तरि'] कर्त्ता में जो षष्ठी है, वह अकान्त के साथ समास को न प्राप्त हो। तव शायिका । मम जागरिका । यहां भाव में ण्वुल्-प्रत्यय है, तब कर्त्ता से षष्ठी हुई। 'तव, मम' इन षष्ठ्यन्त शब्दों का समास नहीं हुआ ॥

इस सूत्र का भी जयादित्य ने विरुद्ध व्याख्यान किया, अर्थात् पूर्व सूत्र का अर्थ इस सूत्र में और इस सूत्र का अर्थ पूर्व सूत्र में किया है। यह बड़ा भारी उन का दोष समझा जाता है ॥ १६ ॥

नित्यं क्रीडाजीविकयोः[१] ॥ १७ ॥

निषेधो निवृत्तः । अक-ग्रहणमनुवर्त्तते । निषेधे तु समासो भवत्येव न[२] । अतो विभाषानिवृत्त्यर्थमेव नित्य-ग्रहणम् । क्रीडार्थे जीविकार्थे च षष्ठ्यन्तं सुबन्तं

१. सा०—पृ० २६ ॥

२. महाभाष्ये—"विधिर्हि विभाषा, नित्यः प्रतिषेधः ।" (अ० २ । पा० २ । आ० १

समर्थसुबन्तेन सह नित्यं समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । क्रीडार्थे—पुष्पभञ्जिका[1] । जीविकार्थे—पुस्तकलेखकः । अत्र पुष्प-पुस्तक-षष्ठ्यन्तशब्दयोर्नित्यसमासः ॥ १७ ॥

इस सूत्र में नित्य-ग्रहण विकल्प की निवृत्ति के लिये है, क्योंकि निषेध में समास होता ही नहीं । ['क्रीडा-जीविकयोः'] क्रीडा और जीविका अर्थ में षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समर्थ सुबन्त के साथ ['नित्यं'] नित्य समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । क्रीडा—पुष्पभञ्जिका[1] । यहां क्रीडार्थ में षष्ठ्यन्त पुष्प-शब्द का भञ्जिका सुबन्त के साथ । जीविका—पुस्तकलेखकः । और यहां जीविकार्थ में षष्ठ्यन्त पुस्तक-शब्द का लेखक सुबन्त के साथ नित्य समास हुआ है ॥

अब यहां से आगे नित्य समास चलेगा ॥ १७ ॥

कुगतिप्रादयः[2] ॥ १८ ॥

'नित्यम्' इत्यनुवर्त्तते । कु-शब्दोऽव्यय-सञ्ज्ञकः । गति-सञ्ज्ञकाः = ऊर्य्यादयः । प्रादयः = उपसर्गाः । [कु-गति-प्रादयः । १ । ३ ।] कु-गति-प्रादयः शब्दाः समर्थेन सह नित्यं समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [कु—] कुब्राह्मणः । कुवृषलः । कुत्सित इत्यर्थः । गति— ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । अत्र समासकरणात् क्त्वास्थाने ल्यप् । प्रादि— प्रकृतम् । पराजितम् । अपहृतम् । संस्कृतम् । अत्र प्रादीनां नित्यसमासमाश्रित्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरो नित्यं भवति ॥

अथ वार्त्तिकानि—

प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयप्रतिषेधः ॥ १ ॥

वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति ॥

अत्र प्रतेः प्रादित्वात् समासः प्राप्तः, स न भवति ॥ १ ॥

स्वती पूजायाम्[4] ॥ २ ॥

सुराजा । अतिराजा ॥[3]

पूजनीयो राजेत्यर्थः ॥ २ ॥

दुर्निन्दायाम् ॥[3] ३ ॥

---

१. पुष्पाणां भञ्जनं यत्र क्रीडायाम् । "सञ्ज्ञायाम् ॥" (३ । ३ । १०९) इति भावे ण्वुल् । पुष्पाणामिति कर्मणि षष्ठी ॥

एवमेव—सहकारभञ्जिका, अभ्यूषखादिका, पुष्पावचायिका ॥

२. सा०—पृ० २६ ॥

चा० श०—"कुप्रादयोऽसुब्विधौ नित्यम् ॥" (२ । २ । २४)

३. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥

४. २–१० वार्त्तिकानि सौनागकृतानि ॥

दुष्कुलम् । दुर्गवः ॥[1]

'दुर्गवः' इति नित्यसमासाद् **'गोरतद्धितलुकि**[2] ॥' इति समासान्तः टच् प्रत्ययः ॥ ३ ॥

आङीषदर्थे ॥ ४ ॥

आकडारः । आपिङ्गलः ॥[1]

ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गल इत्यर्थः ॥ ४ ॥

कुः पापार्थे ॥ ५ ॥

कुब्राह्मणः । कुवृषलः ॥[1]

पापीत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥ ६ ॥

प्रादीनां गतादिष्वर्थेषु प्रथमया विभक्त्या समासो भवति ॥

प्रगत आचार्यः = प्राचार्यः । प्रान्तेवासी । प्रपितामहः ॥[1] ६ ॥

अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥[1] ७ ॥

अत्यादयः शब्दाः क्रान्तादिष्वर्थेषु द्वितीयया विभक्त्या नित्यं समस्यन्ते । अतिक्रान्तः खट्वां = अतिखट्वः । अतिमालः । अत्र **'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते**[3] ॥' इति खट्वा-माला-शब्दयोर्नियतद्वितीयाविभक्तित्वादुपसर्जन-सञ्ज्ञा । तस्माद् **'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य**[4] ॥' इति ह्रस्वत्वम् ॥ ७ ॥

अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥[1] ८ ॥

क्रुष्टादिष्वर्थेषु वर्त्तमाना अवादयः शब्दास्तृतीयया विभक्त्या नित्यं समस्यन्ते । अवक्रुष्टः कोकिलया = अवकोकिलः [वसन्तः] । अत्रापि पूर्ववदुपसर्जन-सञ्ज्ञा-कार्यम् ॥ ८ ॥

पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥[1] ९ ॥

पर्यादयः[5] शब्दा ग्लानादिष्वर्थेषु चतुर्थ्या विभक्त्या सह नित्यं समस्यन्ते ।

परिग्लानोऽध्ययनाय = पर्यध्ययनः ॥[1] ९ ॥

निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥[1] १० ॥

---

१. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥
२. ५ । ४ । ९२ ॥
३. १ । २ । ४४ ॥
४. १ । २ । ४८ ॥
५. न्यासे—"पर्यादिराकृतिगणः ।"

कान्तादिष्वर्थेषु वर्त्तमाना निरादयः शब्दाः पञ्चम्या विभक्त्या सह समस्यन्ते । निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः = निष्कौशाम्बिः । निर्वाराणसिः । अत्राप्युपसर्जन-सञ्ज्ञा ह्रस्वत्वं च पूर्ववत् ॥ १० ॥

अव्ययं प्रवृद्धादिभिः ॥[1] *११ ॥*

प्रवृद्धादिभिः शब्दैः सहाव्ययं नित्यं समस्यते । पुनःप्रवृद्धं बर्हिर्भवति । पुनर्गवः[2] । पुनःसुखम् । अत्र 'पुनर्' इत्यव्ययस्य नित्यसमासः ॥ ११ ॥

इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च ॥[1] *१२ ॥*

'इव' इत्यव्ययशब्देन सह सुबन्तस्य नित्यसमासो भवति, नित्यसमासेऽपि विभक्तिर्न लुप्यते, पूर्वपदस्य च प्रकृतिस्वरो भवति । वाससीइव । कन्येइव । अत्र द्विवचनविभक्त्या लोपो न भवति ॥ १२ ॥

अव्ययमव्ययेन[3] *॥*[1] *१३ ॥*

अव्ययस्याव्ययेनैव नित्यसमासः । प्रप्र यज्ञपतिम्[4] । अत्र 'प्र' इत्यव्ययस्य प्र-शब्देनैव समासः ॥ १३ ॥

उदात्तवता तिङा गतिमता च तिङाऽव्ययं[5] समस्यत इति वक्तव्यम् ॥ १४ ॥

अनुव्यचलत् । अनुव्याकरोत्[6] । यत्परियन्ति[7] ॥[1]

'अनुव्यचलत्, अनुव्याकरोत्' इति गतिमता तिङा सह अनु-अव्ययस्य समासः । 'यत्परियन्ति' इत्युदात्तवता तिङा सह परेरव्ययस्य नित्यसमासः ॥ १४ ॥

द्वितीयवार्त्तिकमारभ्य दशमपर्यन्तानि सूत्रेण सामान्यविहितस्य विशेषविधायकानि वार्त्तिकानि सन्ति । अन्यानि तु सूत्रादपूर्वविधायकानि च ॥ १८ ॥

['कु-गति-प्रादयः'] अव्यय-सञ्ज्ञक कु-शब्द, गति-सञ्ज्ञक और प्रादि, ये सब समर्थ शब्द के साथ नित्य समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । कु—

---

१. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥
२. महाभाष्यकोशेषु पाठान्तरम्—पुनर्गवम् ॥
३. केषुचिन्महाभाष्यकोशेषु "अव्ययमव्ययेन ॥" इति वार्त्तिकं तद्व्याख्यानं च नोपलभ्यते ॥
४. अ०—७ । २६ । ३ ॥
वा०—५ । ३८, ४१ ॥
वा० (काण्वशाखायां)—२ । ६ । ८ ॥
तै०—१ । ३ । ४ । १ ॥
मै०—१ । २ । १३ ॥
का०—३ । १, २ ॥
५. पाठान्तरम्—गतिमता चाव्ययं० ॥
६. पाठान्तरे—अनुव्याकरोति, अनुप्राविशत् ॥
७. द्रष्टव्यताम्—"निपातैर्यद्यदिहन्त० ॥" (८ । १ । ३०)

कुब्राह्मणः । कुवृषलः । यहां कु-अव्यय का समास ब्राह्मण- और वृषल-शब्द के साथ हुआ । गति—ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । यहां गति-सञ्ज्ञक ऊरी- और उररी-शब्द का समास होने से क्त्वा के स्थान में ल्यप् हुआ । प्रादि—प्रकृतम् । पराजितम् । और यहां प्र और परा उपसर्ग का समास होने से पूर्व पद को नित्य प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥

आगे वार्त्तिकों का अर्थ किया जाता है—

'प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयप्रतिषेधः ॥' सूत्र से जो प्रादिकों का समास कहा है, वहां कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञक प्रादिकों का समास न हो । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । यहां प्रति-शब्द का समास नहीं हुआ ॥ १ ॥

'स्वती पूजायाम् ॥' पूजा अर्थ में वर्त्तमान सु-अति-शब्द सुबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त हों । सुराजा । अतिराजा । राजा पूज्य है । यहां सु और अति का समास राजा-शब्द के साथ हुआ ॥ २ ॥

'दुर्निन्दायाम् ॥' दुर्-शब्द निन्दा अर्थ में समास को प्राप्त हो । दुष्कुलम् । निन्दित कुल है । यहां दुर्-शब्द का समास कुल के साथ हुआ ॥ ३ ॥

'आङीषदर्थे ॥' ईषत् अर्थात् थोड़े का वाची आङ्-शब्द समास को प्राप्त हो । आकडारः । यहां ईषदर्थ में आङ्-शब्द का समास हुआ ॥ ४ ॥

'कुः पापार्थे ॥' कु-शब्द पाप अर्थ में समास को प्राप्त हो । कुब्राह्मणः । पापी ब्राह्मण है ॥ ५ ॥

'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥' प्रादि जो शब्द हैं, वे गत आदि अर्थों में प्रथमा विभक्ति के साथ समास को प्राप्त हों । प्रगत आचार्यः=प्राचार्यः । यहां गत अर्थ में प्र-शब्द का समास हुआ ॥ ६ ॥

'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥' अति आदि जो शब्द हैं, वे क्रान्त आदि अर्थों में द्वितीया विभक्ति के साथ समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष कहावे । अतिखट्वः । यहां खट्वा-शब्द की नियत विभक्ति के होने से उपसर्जन-सञ्ज्ञा हुई । उस के होने से खट्वा-शब्द को ह्रस्व हो गया ॥ ७ ॥

'अवादयः कुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥' अवादि जो शब्द हैं, वे कुष्टादि अर्थों में तृतीया विभक्ति के साथ नित्य समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अवकुष्टः कोकिलया=अवकोकिलः । यहां पूर्व के तुल्य उ[पसर्जन-]सञ्ज्ञा होके ह्रस्व हुआ है ॥ ८ ॥

'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥' परि आदि शब्द ग्लान [आदि] अर्थों में चतुर्थी विभक्ति के साथ समास पावें । परिग्लानोऽध्ययनाय=पर्यध्ययनः । यहां अध्ययन-शब्द के साथ परि का समास हुआ है ॥ ९ ॥

'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥' निर् आदि शब्द क्रान्त आदि अर्थों में नित्य समास को प्राप्त हों । निष्कौशाम्बिः । यहां निर्-शब्द का कौशाम्बी-शब्द के साथ समास हुआ, और पूर्व के तुल्य उपसर्जन-सञ्ज्ञा होके ह्रस्व भी हुआ है ॥ १० ॥

'अव्ययं प्रवृद्धादिभिः ॥' प्रवृद्ध आदि शब्दों के साथ अव्यय समास पावे । पुनर्गवः । यहां अव्यय का नित्य समास होने से गौ-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है ॥ ११ ॥

'इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च ॥' इव जो अव्यय है, उस के साथ नित्य समास हो, और विभक्ति का लोप न हो, तथा पूर्व पद को प्रकृतिस्वर हो जावे। वाससीइव। यहां पूर्वोक्त सब कार्य हुए हैं ॥ १२ ॥

'अव्ययमव्ययेन ॥' अव्यय जो है, वह अव्यय के साथ नित्य समास को प्राप्त हो। 'प्रप्र यज्ञपतिम्[१]।' यहां प्र अव्यय का प्र के साथ समास हुआ है ॥ १३ ॥

'उदात्तवता तिङा गतिमता च तिङाऽव्ययं समस्यत इति वक्तव्यम् ॥' उदात्त वाले और गतियुक्त तिङन्त के साथ अव्यय नित्य समास को प्राप्त हो। यत्परियन्ति। यहां परि-शब्द का उदात्तवान् तिङन्त के साथ। अनुव्यचलत्। और यहां गतियुक्त तिङन्त के साथ अनु अव्यय का समास हुआ है ॥ १४ ॥

द्वितीय वार्त्तिक से लेके दशमपर्यन्त जो वार्त्तिक हैं, वे सूत्र से सामान्य समासविधान के विशेष विधान करने वाले हैं, और अन्य वार्त्तिक सूत्र से पृथक् विधान करने वाले हैं ॥ १८॥

उपपदमतिङ्[२] ॥ १९ ॥

'नित्यम्' इत्यनुवर्त्तते। उपपदम् । १ । १ । अतिङ् । १ । १ । अतिङन्तमुपपदं समर्थेन सह नित्यं समस्यते। तत्पुरुषश्च समासो भवति। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। गोदः। कम्बलदः। अत्र कुम्भादिकर्मणा उपपदस्य नित्यसमासो भवति ॥

'अतिङ्' इति किमर्थम्। कारको व्रजति। हारको व्रजति ॥[३]

अत्र तिङन्तस्य समासो न भवति ॥ १९ ॥

['अतिङ्'] तिङ्भिन्न जो ['उपपदं'] उपपद सुबन्त है, वह समर्थ शब्द के साथ नित्य समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। कुम्भकारः। गोदः। कम्बलदः। यहां कुम्भ आदि उपपद शब्दों का नित्य समास हुआ है ॥

अतिङ्-ग्रहण इसलिये है कि 'कारको व्रजति' यहां उपपद तिङन्त समास को न प्राप्त हो ॥ १९ ॥

अमैवाव्ययेन[४] ॥ २० ॥

पूर्वेण सिद्धे पुनरारम्भो नियमार्थः। उपपदस्याव्ययेन समासो भवेत् चेत्, तर्हि अमा एव अव्ययेन स्यात् नान्येन। निमूलकाषं कषति। समूलकाषं कषति। अत्र निमूल-समूल-शब्दयोः 'काषं' इत्यमन्तेन[५] सह नित्यसमासः ॥

'अमैव' इति किमर्थम्। कालो गन्तुम्। समयः पठितुम्। अत्र तुमुनन्ता-

१. देखो पृ० २४७ टिप्पण ४ ॥ [यत्वम् ॥
२. सा०— पृ० ३० ॥
३. अ० २। पा० २। आ० १ ॥
४. सा०—पृ० ३१ ॥
५. "कृन्मेजन्तः ॥" (१। १। ३८) इत्यव्य-
६. "कालसमयवेलासु तुमुन् ॥" (३।३।१६७)

व्ययेन सह समासो न भवति । अमैव तुल्येन यत्र केवलस्यामन्ताव्ययस्य विधानं, तत्रैव यथा स्यात् । यत्रामन्तस्यान्यप्रत्ययस्य [च तुल्य]विधानं, तत्र समा[सो] [मा] भूत् । अग्रे भुक्त्वा । अग्रे भोजम् । अत्र क्त्वा-णमुलौ सह विधीयेते[1] ॥२०॥

पूर्व सूत्र से उपपद समास सिद्ध है । फिर इस सूत्र का आरम्भ नियमार्थ है । उपपद का अव्यय के साथ जो समास हो, तो ['अमा'] अमन्त ['अव्ययेन एव'] अव्यय के ही साथ हो, अन्य के नहीं । शुष्कपेषं पिनष्टि । चूर्णपेषं पिनष्टि । यहां शुष्क और चूर्ण उपपदों का 'पेषं' इस अमन्त अव्यय के साथ समास है ॥

'अमैव' ग्रहण इसलिये है कि 'समय उत्थातुम्' यहां तुमुन्-प्रत्ययान्त अव्यय के साथ समास नहीं हुआ। जहां केवल अमन्त अव्यय का विधान हो, वहीं समास हो । अग्रे भोजम् । अग्रे भुक्त्वा । यहां एक सूत्र में क्त्वा और णमुल् दो प्रत्ययों का विधान है । इससे 'अग्रे' इस उपपद का 'भोजं' इस अमन्त के साथ समास नहीं हुआ ॥ २० ॥

तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्[2] ॥ २१ ॥

'उपपदं' इत्यनुवर्त्तते, 'अमैव' इति च । तृतीयाप्रभृतीनि । १ । ३ । अन्यतरस्याम् । अ० । 'उपदंशस्तृतीयायाम्[3] ॥' इति सूत्रादग्रे यान्युपपदानि, तानि तृतीयाप्रभृतीन्युपपदान्यमन्तेनैवाव्ययेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं[3] भुङ्क्ते । यष्टिग्राहं, यष्टिं ग्राहं[4] वा युध्यन्ते । अत्र मूलकोपपदस्यामन्तेन सह विकल्पेन समासः ॥

'अमैव' इति किम् । समर्थो भोक्तुम् । अत्र तुमुन्-प्रत्ययान्तेन सह समासो न भवति ॥ २१ ॥

['तृतीयाप्रभृतीनि'] तृतीया प्रभृति जो उपपद हैं, वे अमन्त ही अव्यय के साथ ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते । यहां मूलक उपपद का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प करके समास हुआ है ॥

'अमैव' ग्रहण इसलिये है कि 'समर्थो भोक्तुं' यहां तुमुन्-प्रत्ययान्त के साथ समर्थ उपपद का विकल्प करके समास नहीं हुआ ॥ २१ ॥

क्त्वा च[2] ॥ २२ ॥

पूर्वसूत्रे 'अमैव' इत्यनुवर्त्तनादन्यत्र समासो न प्राप्तः । तदर्थोऽयमारम्भः । पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वा-प्रत्ययान्तेनाव्ययेन सह

---

१. "विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु ॥" (३ । ४ । २४)
२. सा०—पृ० ३१ ॥
३. ३ । ४ । ४७ ॥
४. "द्वितीयायां च ॥" (३ । ४ । ५३)

विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । उच्चैःकृत्य । उच्चैः कृत्वा । समासपक्षे ल्यप् ॥

'तृतीयाप्रभृतीनि' इति किम् । अलं भुक्त्वा । खलूक्त्वा । अत्र समासाभावाल्ल्यबपि न भवति ॥ २२ ॥

इति तत्पुरुषसमासाधिकारः सम्पूर्णः ॥

पूर्व सूत्र में अमन्त की अनुवृत्ति आने से अन्यत्र समास नहीं पाता था, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है। तृतीया प्रभृति जो उपपद हैं, वे ['क्त्वा'] क्त्वा-प्रत्ययान्त अव्यय के साथ विकल्प करके समास पावें। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। उच्चैःकृत्य। उच्चैः कृत्वा। यहां जिस पक्ष में समास होता है, वहां क्त्वा के स्थान में ल्यप्-आदेश हो जाता है ॥

तृतीयाप्रभृति-ग्रहण इसलिये है कि 'खलूक्त्वा' यहां समास के न होने से ल्यप् न हुआ ॥ २२ ॥

यह तत्पुरुष समास का अधिकार पूरा हुआ ॥

अब आगे बहुव्रीहि समास का अधिकार चलेगा—

[अथ बहुव्रीहिसमासाधिकारः]

शेषो बहुव्रीहिः[1] ॥ २३ ॥

यस्या विभक्तेः समासो नोक्तः, स शेषः[2] । शेषः । १ । १ । बहुव्रीहिः । [१ । १ ।] शेषः समासो बहुव्रीहि-सञ्ज्ञो भवति । अधिकारसूत्रं चेदम् । अतोऽग्रे यः समासो भविष्यति, बहुव्रीहि-सञ्ज्ञा तस्य विज्ञेया ॥ २३ ॥

जिस प्रथमा विभक्ति का समास पूर्व नहीं कहा, वह शेष कहाता है। ['शेषः'] शेष जो समास है, वह ['बहुव्रीहिः'] बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो। यहां से आगे जो समास कहेंगे, उस की बहुव्रीहि-संज्ञा होगी। इससे यह अधिकार सूत्र समझना चाहिये ॥ २३ ॥

अनेकमन्यपदार्थे[3] ॥ २४ ॥

बहुव्रीहि-ग्रहणमनुवर्त्तते । अनेकम् । १ । १ । अन्यपदार्थे । ७ । १ । अन्यपदार्थे वर्त्तमानमनेकं सुबन्तं परस्परं समस्यते । स समासो बहुव्रीहि-सञ्ज्ञो भवति । चित्रा गावो यस्य, स चित्रगुः । शबलगुः । उद्धृत ओदनः स्थाल्याः=

---

१. सा०—पृ० ३१ ॥

२. महाभाष्ये (अ० २ । पा० २ । आ० १)— "यस्य त्रिकस्यानुक्तः समासः स शेषः । कस्य चानुक्तः । प्रथमायाः ॥"

३. सा०—पृ० ३१ ॥ चा० श०—"अनेकमन्यार्थे ॥" (२ । २ । ४६)

उद्धृतौदना स्थाली । वीराः पुरुषा यस्मिन्नगरे=वीरपुरुषकं नगरम् । अत्र बहुव्रीहि-सञ्ज्ञत्वात् कप् भवति ॥

अनेक-ग्रहणं किमर्थम् । त्रिप्रभृतीनामपि पदानां बहुव्रीहिर्यथा स्यात् । 'तुल्यास्यप्रयत्नं=तुल्य आस्ये प्रयत्न एषाम्'[1] इति त्रिपदबहुव्रीहिः सिद्धो भवति ॥

वा०—*बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम् ॥ १ ॥*

किं प्रयोजनम् । व्यधिकरणानां मा भूत् । पञ्चभिर्भुक्तमस्य ॥[2]

अत्र विभक्तिभेदात् सामानाधिकरण्यं नास्ति, अतः समासो न भवति ॥१॥

अव्ययानां च ॥ २ ॥

उच्चैर्मुखमस्येति उच्चैर्मुखः[3] । नीचैर्मुखः ॥[2]

'उच्चैः, नीचैः' इत्यव्यययोरधिकरणप्रधानत्वात् सामानाधिकरण्यं नास्ति, तदर्थमिदमुक्तम् ॥ २ ॥

सप्तम्युपमानपूर्व[पद]स्योत्तरपदलोपश्च ॥[2] ३ ॥

सप्तमीपूर्वस्योपमानपूर्वस्य च यः समासो भवति, तत्रोत्तरपदस्य लोपो विज्ञेयः । सप्तमीपूर्वस्य— कण्ठेस्थः कालोऽस्य=कण्ठेकालः । उपमानपूर्वस्य— उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य=उष्ट्रमुखः । खरमुखः । उत्तरपदलोपार्थमिदम् ॥ ३ ॥

समुदायविकारषष्ठ्याश्च ॥[2] ४ ॥

चकारादुत्तरपदलोपस्यानुवृत्तिः । समुदायावयवसम्बन्धे प्रकृतिविकारसम्बन्धे च या षष्ठी तदन्तात् परं यत् पदं, त[दन्त]स्यान्यशब्देन सह बहुव्रीहिर्भवति । उत्तरपदस्य च लोपः । केशसमाहारश्चूडा अस्य=केशचूडः । अत्र समाहार-उत्तरपदस्य लोपः । सुवर्णविकारोऽलङ्कारोऽस्य=सुवर्णालङ्कारः । अत्र विकार-उत्तरपदस्य लोपः ॥ ४ ॥

प्रादिभ्यो धातुजस्य वा ॥[2] ५ ॥

वा-ग्रहणमुत्तरपदलोपार्थम् । प्राद्युपसर्गेभ्यः परं धातुजं यत् पदं, तस्योत्तरपदस्य विकल्पेन लोपो भवति । बहुव्रीहिर्नित्यं भवति । प्रपतिताः पर्णा अस्य =प्रपतितपर्णः,=प्रपर्णः । प्रपतितपलाशः, प्रपलाशः । उत्तरपदलोपविकल्पेन रूपद्वयं सिद्धं भवति ॥ ५ ॥

---

१. महाभाष्ये—अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥
२. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥
३. केषुचिन्महाभाष्यकोशेषु "उच्चैर्मुखमस्येति" इति नास्ति ॥

नञोऽस्त्यर्थानां च[1] ॥[2] ६ ॥

चकारेण वा-ग्रहणमुत्तरपदलोपश्चानुवर्त्तते । नञः परेषामस्त्यर्थानामुत्तरपदानां विकल्पेन लोपो भवति । बहुव्रीहिश्च नित्यमेव । अविद्यमानः पुत्रोऽस्य = अविद्यमानपुत्रः, = अपुत्रः । अवि[द्य]मानभार्यः, अभार्यः । अत्र विद्यमान-उत्तरपदस्य विकल्पेन लोपो भवति ॥ ६ ॥

सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादीनामुपसङ्ख्यानम्[3] ॥[2] ७ ॥

अस्ति क्षीरमस्याः = अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी । अस्ति-शब्दस्य तिङन्तत्वान्न प्राप्तम् ॥ [७ ॥] २४ ॥

['अन्यपदार्थे'] अन्य पदार्थ में वर्त्तमान ['अनेकम्'] अनेक जो सुबन्त हैं, वे परस्पर समास को प्राप्त हों । वह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो । वीराः पुरुषा अस्मिन् ग्रामे = वीरपुरुषको ग्रामः । यहां वीर- और पुरुष-शब्द का परस्पर बहुव्रीहि समास हुआ है, और अन्य पदार्थ ग्राम है । अर्थात् वीर और पुरुष दोनों शब्द मिलके ग्राम के वाची हो जाते हैं । यहां बहुव्रीहि समास के होने से समासान्त कप्-प्रत्यय हुआ है ॥

अनेक-ग्रहण इसलिये है कि तीन पद आदि का भी बहुव्रीहि समास हो जावे । तुल्य आस्ये प्रयत्न एषां,[4] तत् तुल्यास्यप्रयत्नम् । यहां तीन पदों का बहुव्रीहि हुआ है ॥

अब वार्त्तिकों का अर्थ किया जाता है—

'बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम् ॥' समानाधिकरण शब्दों का बहुव्रीहि समास होना चाहिये । इससे 'पञ्चभिर्भुक्तमस्य' यहां विभक्तिभेद होने से समास नहीं हुआ ॥ १ ॥

'अव्ययानां च ॥' अव्ययों का अन्य शब्दों के साथ बहुव्रीहि समास हो । उच्चैर्मुखमस्य = उच्चैर्मुखः । यहां उच्चैस् अव्यय के अधिकरणप्रधान होने से सामानाधिकरण्य नहीं, इससे समास नहीं पाता है । इसलिये यह वार्त्तिक कहा ॥ २ ॥

'सप्तम्युपमानपूर्व[पद]स्योत्तरपदलोपश्च ॥' सप्तमी विभक्ति जिस के पूर्व और उपमानवाची शब्द जिस के पूर्व हो, उस पद का समास अन्य पद के साथ हो, और उत्तर पद का लोप हो जावे । कण्ठेस्थः कालोऽस्य = कण्ठेकालः । यहां सप्तमीपूर्वक स्थ उत्तर पद का लोप हुआ । उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य = उष्ट्रमुखः । यहां एक मुख- और इव-शब्द का लोप हुआ है ॥ ३ ॥

'समुदायविकारषष्ठ्याश्च ॥' समुदाय-अवयव के सम्बन्ध में जो षष्ठी और प्रकृति-विकार के सम्बन्ध में जो षष्ठी, उस से परे जो उत्तर पद, उस का लोप और अन्य शब्दों के साथ समास होता है । केशसमाहारश्चूडा अस्य = केशचूडः । यहां समाहार उत्तर पद

---

१. पाठान्तरम्—नञोऽस्त्यर्थानाम् ॥

२. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

३. पाठान्तरम्—०क्षीरेत्युपसङ्ख्यानम् ॥

४. महाभाष्य में—अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥

का लोप । सुवर्णविकारोऽलङ्कारोऽस्य=सुवर्णालङ्कारः । और यहां विकार उत्तर पद का लोप हुआ है ॥ ४ ॥

'प्रादिभ्यो धातुजस्य वा ॥' प्रादि उपसर्गों से पर जो धातुज उत्तर पद, उस का विकल्प करके लोप और नित्य [बहुव्रीहि] समास हो । प्रपतिताः पर्णा अस्य=प्रपतितपर्णः,= प्रपर्णः । यहां उत्तर पद लोप के विकल्प से दो उदाहरण बनते हैं ॥ ५ ॥

'नञोऽस्त्यर्थानां च ॥' नञ् से परे जो अस्त्यर्थ उत्तर पद, उन का विकल्प करके लोप और नित्य [बहुव्रीहि] समास हो । अविद्यमानः पुत्रोऽस्य=अविद्यमानपुत्रः,=अपुत्रः । यहां विद्यमान उत्तर पद का विकल्प करके लोप हुआ है ॥ ६ ॥

सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादीनामुपसङ्ख्यानम् ॥' इस [सुबन्तों के] समास [के] अधिकार में अस्तिक्षीरा आदि शब्दों का भी समास हो । अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी । यहां अस्ति-शब्द क्रियावाची तिङन्त है । इससे समास नहीं पाता था, क्योंकि सुबन्तों का समास सुबन्तों के साथ होता है । इसलिये यह वार्त्तिक है ॥ [७ ॥] २४ ॥

सङ्ख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये[1] ॥ २५ ॥

सङ्ख्यया । ३ । १ । अव्यय-आसन्न-अदूर-अधिक-सङ्ख्याः । १ । ३ । सङ्ख्येये । ७ । १ ॥

मत्वर्थे पूर्वो योगः । अमत्वर्थोऽयमारम्भः ॥[2]

'अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक, सङ्ख्या' इत्येते शब्दाः सङ्ख्येये = गणनीयेऽर्थे वर्त्तमानया सङ्ख्यया सह समस्यन्ते । [बहुव्रीहिः स समासो भवति ।] अव्यय— दशानां समीपः=उपदशाः । आसन्न— आसन्नदशाः । आसन्नविंशाः । अदूर— अदूरदशाः । अधिक— अधिकदशाः । सङ्ख्या—द्वित्राः । त्रिचतुराः । द्विदशाः । अत्राव्ययादीनां सङ्ख्यावाचिभिः सह समासः । बहुव्रीहिसमासाद् 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात्[3] ॥' इति समासान्तो डच्-प्रत्ययः ॥

'सङ्ख्यया' इति किम् । पञ्च शूराः । अत्र समासो न भवति ॥

'सङ्ख्येये' इति किम् । अधिका विंशतिः ॥ २५ ॥

पूर्व सूत्र से जो समास होता है, वह मत्वर्थ में समझना चाहिये, और यहां मत्वर्थ नहीं, इसलिये पृथक् सूत्र किया है । ['अव्यया०'] अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक, संख्या, ये जो शब्द हैं, वे ['सङ्ख्येये'] गणना करने अर्थ में वर्त्तमान जो ['सङ्ख्यया'] सङ्ख्या है, उस के साथ समास को प्राप्त हों । वह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो । अव्यय—उपदशाः । यहां उप

---

१. सा०—पृ० ३३ ॥ ३. ५ । ४ । ७३ ॥

२. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

अव्यय का समास दश सङ्ख्या के साथ । आसन्न—आसन्नदशाः । यहां आसन्न-शब्द का समास । अदूर—अदूरदशाः । यहां अदूर-शब्द का समास । अधिक—अधिकदशाः । यहां अधिक-शब्द का समास । संख्या—द्विदशाः । और यहां संख्यावाची द्वि-शब्द का समास संख्यावाची दश-शब्द के साथ हुआ है । इन सब शब्दों का बहुव्रीहि समास होने से समासान्त डच्-प्रत्यय हुआ है ॥ २५ ॥

दिङ्नामान्यन्तराले[1] ॥ २६ ॥

दिङ्नामानि । १ । ३ । अन्तराले । ७ । १ । दिशां नामानि = दिङ्नामानि । अन्तराले वाच्ये दिङ्नामवाचीनि सुबन्तानि परस्परं समस्यन्ते । बहुव्रीहिः स समासो भवति । उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्चान्तराला दिग् = उत्तरपूर्वा । पूर्वदक्षिणा । दक्षिणपश्चिमा । पश्चिमोत्तरा । अत्रान्तरालायाः प्रदिशो वाची समासार्थो भवति ॥

वा०—सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावो वक्तव्यः ॥[2]

वृत्तिमात्रे = समासमात्रे पूर्वपदस्य सर्वनाम्नः पुंवद्भाव इत्यर्थः ॥ २६ ॥

['दिङ्नामानि'] दिशाओं के नामवाची जो शब्द, वे ['अन्तराले'] अन्तराल अर्थ में परस्पर समास को प्राप्त हों । वह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो । उत्तरपूर्वा दिक् । उत्तर और पूर्व के बीच में जो दिशा है, उस को उत्तरपूर्वा कहते हैं । समासार्थ उपदिशा का वाची होता है ॥

'सर्वनाम्नो०' समासमात्र में सर्वनामवाची पूर्व पद को पुंवद्भाव हो जावे । उत्तरपूर्वा । यहां उत्तर-शब्द को पुंवद् हुआ है । यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ २६ ॥

तत्र तेनेदमिति सरूपे[3] ॥ २७ ॥

तत्र । अ० । तेन । ३ । १ । इदम् । १ । १ । इति । अ० । सरूपे । १ । २ । 'तत्र' इति सप्तम्यन्तम् । 'तेन' इति तृतीयान्तम् । इदं-शब्दाद् इतिकरणः प्रयुज्यमानोऽन्यं कर्मव्यतिहारार्थं प्रत्याययति । सरूपे = समानरूपे द्वे पदे । 'तत्र' इति सप्तम्यन्ते सरूपे द्वे पदे 'तेन' इति तृतीयान्ते सरूपे द्वे पदे 'इदं' इति कर्मव्यतिहारेऽर्थे परस्परं समस्येते । बहुव्रीहिः स समासो भवति । हस्तेषु हस्तेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवर्त्तते = हस्ताहस्ति । केशेषु केशेषु = केशाकेशि । दन्तैश्च दन्तैश्च = दन्तादन्ति । मुष्टामुष्टि । नखानखि । दण्डादण्डि इत्यादिशब्देषु बहुव्रीहिसमासकरणाद् 'इच् कर्मव्यतिहारे[4] ॥' इति सूत्रेण समासान्त इच्-प्रत्ययः ।

---

१. सा०—पृ० ३३ ॥
२. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥
३. सा०—पृ० ३३ ॥ चा० श०—"तत्र गृहीत्वा तेन प्रहृत्य युद्धे सरूपम् ॥" (२ । २ । ४७)
४. ५ । ४ । १२७ ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतित्वादिजन्तस्याव्यय-सञ्ज्ञा[1] । 'अन्येषामपि दृश्यते[2] ॥' इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् ॥

सरूप-ग्रहणं किमर्थम् । दण्डैर्मुसलैश्चेदं युद्धं प्रवृत्तम् । अत्र दण्डमुसलयो रूपभेदात् समासो न भवति ॥ २७ ॥

['तत्र'] तत्र नाम सप्तम्यन्त और ['तेन'] तेन नाम तृतीयान्त ['सरूपे'] तुल्य रूप वाले जो दो २ पद हैं, वे ['इदम्'] इदं अर्थात् कर्मव्यतिहार अर्थ में परस्पर समास को प्राप्त हों । वह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो । केशेषु केशेषु = केशाकेशि । यहां सप्तम्यन्त दो केश-शब्दों का समास । दण्डैश्च दण्डैश्च = दण्डादण्डि । और यहां तृतीयान्त दो दण्ड-शब्दों का परस्पर बहुव्रीहि समास हुआ है । इत्यादि शब्दों में बहुव्रीहि समास के होने से कर्मव्यतिहार अर्थ में समासान्त इच्-प्रत्यय[3] होता है । और इच्-प्रत्ययान्त जो शब्द हैं, वे तिष्ठद्गुप्रभृतिगण में होने से अव्यय-सञ्ज्ञक हो जाते हैं । तथा 'अन्येषामपि दृश्यते[2] ॥' इस सूत्र से यहां पूर्व पद को दीर्घ होता है ॥

सरूप-ग्रहण इसलिये है कि 'दण्डैश्च मुसलैश्चेदं युद्धं प्रवृत्तम्' दण्ड- और मुसल-शब्द स्वरूपभिन्न होने से समास नहीं हुआ ॥ २७ ॥

तेन सहेति तुल्ययोगे[4] ॥ २८ ॥

तेन । ३ । १ । सह । अ० । इति । अ० । तुल्ययोगे । ७ । १ । सह - सम्बन्धि-पदस्य 'तेन' इति तृतीयान्तस्य चैकस्यां क्रियायां योगः = तुल्ययोगः, तस्मिन् । [तुल्ययोगे] 'सह' इत्यव्ययपदं 'तेन' इति तृतीयान्तेन पदेन सह समस्यते । बहुव्रीहिः स समासो भवति । शिष्येण सहागतः = सशिष्यः । पुत्रेण सहागतः = सपुत्रः । अत्रागमनक्रियायां द्वयोस्तुल्ययोगः । अत्र 'वोपसर्जनस्य[5] ॥' इति सह-शब्दस्य सकारादेशः । अत्र शिष्य-पुत्र-शब्दाभ्यां सह-शब्दस्य समासः ॥

'तुल्ययोगे' इति किम् । त्रिभिः पुत्रैः सह कार्याणि करोति । त्रिभिर्विद्यमानैः कार्याण्येक एव करोति [इत्यर्थः ।] अत्र क्रियायां तुल्ययोगाभावात् समासो न भवति ॥ २८ ॥

[इति बहुव्रीहिसमासाधिकारः ॥]

तुल्ययोग उस को कहते हैं कि एक क्रिया में योग होना । ['सह'] सह जो अव्यय है, वह ['तेन'] तृतीयान्त सुबन्त के साथ ['तुल्ययोगे' तुल्ययोग अर्थ में] समास को प्राप्त

---

१. २ । १ । १६ ॥

२. ६ । ३ । १३७ ॥

३. ५ । ४ । १२७ ॥

४. सा० — पृ० ३४ ॥ महाभाष्य इदं सूत्रं "दिङ्नामान्यन्तराले ॥" (२।२।२६) "तत्र तेनेदमिति सरूपे ॥" (२।२।२७) इत्यनयोर्मध्य उपलभ्यते ॥

५. ६ । ३ । ८२ ॥

हो । वह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो । शिष्येण सहागतः = सशिष्यः । यहाँ सह-शब्द का शिष्य-शब्द के साथ बहुव्रीहि समास हुआ है । समास होने से सह-शब्द को स-आदेश हो गया ॥

तुल्ययोग-ग्रहण इसलिये है कि 'त्रिभिः पुत्रैः सह प्रवर्त्तते' यहां तुल्ययोग के न होने से पुत्र-शब्द के साथ सह-शब्द का समास नहीं हुआ ॥ २८ ॥

[यह बहुव्रीहि समास का अधिकार पूरा हुआ ॥]

[अथ द्वन्द्व-सञ्ज्ञासूत्रम्]

चार्थे द्वन्द्वः[1] ॥ २९ ॥

'अनेकम्' इत्यनुवर्त्तते । चार्थे । ७ । १ । द्वन्द्वः । १ । १ ॥

भा०—चेन कृतोऽर्थः चार्थ इति । कः पुनश्चेन कृतोऽर्थः । समुच्चयः, अन्वाचयः, इतरेतरयोगः, समाहार इति । समुच्चये[2]—'प्लक्षश्च' इत्युक्ते गम्यत एतद् 'न्यग्रोधश्च' इति । तथा 'न्यग्रोधश्च' इत्युक्ते गम्यत एतत् 'प्लक्षश्च' इति[3] । अन्वाचये[4]—'प्लक्षश्च' इत्युक्ते गम्यत एतत्—सापेक्षोऽयं प्रयुज्यते [इति] । इतरेतरयोगे[5]—'प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च' इत्युक्ते गम्यत एतत् 'प्लक्षोऽपि न्यग्रोधसहायो न्यग्रोधोऽपि प्लक्षसहायः' इति । (समाहारे—'प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च' इत्युक्ते)[6] समाहारेऽपि क्रियते 'प्लक्षन्यग्रोधम्' इति । तत्रायमप्यर्थः—द्वन्द्वैकवद्भावो न पठितव्यो भवति । समाहारैकत्वाद्[7] [एव] सिद्धम् ॥[8]

चार्थाश्चत्वारः, तत्र समुच्चय-अन्वाचययोरन्यपदस्याध्या[हा]रात् समासो न भवति । चार्थे वर्त्तमानमनेकं सुबन्तं परस्परं समस्यते । स समासो द्वन्द्व-सञ्ज्ञो भवति । इतरेतरयोगे—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च = प्लक्षन्यग्रोधौ । परस्परं सहाया-

---

१. सा०—पृ० ४३ ॥
चा० श०—"चार्थे ॥" (२ । २ । ४८)
२. पाठान्तरम्—समुच्चयः ॥
३. केषुचिन्महाभाष्यकोशेषु—"तथा ... इति" इति [नास्ति ॥
४. पाठान्तरम्—अन्वाचयः ॥
५. पाठान्तरम्—इतरेतरयोगः ॥
६. कोष्ठान्तर्गतः पाठः केषुचिदपि महाभाष्यकोशेषु नोपलभ्यते ॥
७. पाठान्तरम्—समाहारस्यैक० ॥
८. कोशेऽत्र "आ० २ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

वित्यर्थः । समाहारे—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च=प्लक्षन्यग्रोधम् । समाहार एकत्वं भवति । 'द्वन्द्वैकवद्भावः' अर्थात् 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति[1] ॥' इति परिभाषा न कर्त्तव्या भवति । समाहारस्य द्वन्द्वसमासादेकत्वं भविष्यत्येव ॥ २९ ॥

चकार के चार अर्थ हैं—[१] समुच्चय, [२] अन्वाचय, [३] इतरेतरयोग और [४] समाहार । इन में से समुच्चय और अन्वाचय अर्थ में सापेक्ष पद के होने से एक पद का समास नहीं होता । ['चार्थे'] चकार के अर्थ में वर्त्तमान जो अनेक सुबन्त हैं, वे परस्पर समास को प्राप्त हों । वह समास ['द्वन्द्वः'] द्वन्द्व-सञ्ज्ञक हो । इतरेतरयोग—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च=प्लक्षन्यग्रोधौ । यहां प्लक्ष- और न्यग्रोध-शब्द का द्वन्द्व समास हुआ है । समा[हा]र—वाक् च स्रक् च त्वक् च=वाक्स्रक्त्वचम् । यहां द्वन्द्व समास के होने से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है[2] । और समाहार के होने से एकवचन हो जाता है ॥ २९ ॥

उपसर्जनं पूर्वम्[3] ॥ ३० ॥

उपसर्जनम् । १ । १ । पूर्वम् । १ । १ । 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्[4] ॥' इत्युपसर्जन-सञ्ज्ञा कृता । तस्याः समासप्रकरणस्यान्ते प्रयोजनमुच्यते । समासविधायकेषु सूत्रेषु प्रथमानिर्दिष्टं यदुपसर्जनं, तत् पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । द्वितीया श्रितादिभिः समस्यते[5] । 'द्वितीया' इति प्रथमानिर्दिष्टम् । कष्टं श्रितः=कष्टश्रितः । कष्ट-शब्दस्य द्वितीयान्तस्यैव पूर्वनिपातो भवति । तथा 'षष्ठी[6] ॥' इति प्रथमानिर्दिष्टम् । राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः । षष्ठ्यन्तस्य राज-शब्दस्यैव पूर्वनिपातो भवति । एवं सर्वत्र विज्ञेयम् ॥ ३० ॥

समास सूत्रों में प्रथमानिर्दिष्ट पद की उपसर्जन-सञ्ज्ञा पूर्व[4] कर चुके हैं । उस का प्रयोजन यहां समास प्रकरण के अन्त [में] दिखाया जाता है । ['उपसर्जनं'] उपसर्जन-सञ्ज्ञक जो पद है, उस का ['पूर्वं'] पूर्वप्रयोग करना चाहिये । जैसे श्रितादि शब्दों के साथ द्वितीयान्त का समास होता है, तो द्वितीया प्रथमानिर्दिष्ट है । इससे ['कष्टं श्रितः=] कष्टश्रितः' [यहां] द्वितीयान्त कष्ट-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये ॥ ३० ॥

राजदन्तादिषु परम्[3] ॥ ३१ ॥

'उपसर्जनम्' इत्यनुवर्त्तते । पूर्वसूत्रेण पूर्वनिपाते प्राप्ते परप्रयोगार्थं सूत्रमिदम् । राजदन्तादिषु । ७ । ३ । परम् । १ । १ । राजदन्तादिगणशब्देषूपसर्जन-

---

१. पा०, प०—सू० ३४ ॥
२. "द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे ॥" (५ । ४ । १०६)
३. सा०—पृ० ४४ ॥
४. १ । २ । ४३ ॥
५. "द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ॥" (२ । १ । २३)
६. २ । २ । ८ ॥

सञ्ज्ञं पदं परं प्रयोक्तव्यम् । दन्तानां राजा = राजदन्तः । वनस्याग्रे = अग्रेवणम् । अत्र दन्त-वन-शब्दयोः पूर्वनिपाते प्राप्ते परप्रयोगो भवति ॥

अथ राजदन्तादिगणः—[१] राजदन्तः [२] अग्रेवणम्[1] [३] लिप्तवासितम्[2] [४] नग्नमुषितम्[3] [५] सिक्तसंमृष्टम्[4] [६] मृष्टलुञ्चितम्[5] [७] अवक्लिन्नपक्वम् [८] अर्पितोप्तम्[6] [९] उप्तगाढम्[7] [१०] उलूखलमुसलम्[8] [११] तण्डुलकिण्वम् [१२] दृषदुपलम्[9] [१३] आरग्वायनबन्धकी[10] [१४] चित्ररथवाह्लीकम्[11] [१५] अवन्त्यश्मकम्[12] [१६] शूद्रार्यम् [१७] स्नातकराजानौ[13] [१८] अक्षिभ्रुवम् [१९] दारगवम्[14] [२०] शब्दार्थौ

---

१. गण० म०—"अत एव पाठात् सप्तम्या अलुक् । अभ्भावश्चाव्ययीभावत्वात् । 'वनस्याग्रं = अग्रेवणम्' इत्येके । निपातनाण्णत्वम् ।" (२ । ७८)

२. गण० म०—"पूर्वं वासितं = भावितं पश्चाल्लिप्तं = दिग्धं, लिप्तवासितम् । अनयोरेकादिसूत्रेण ['पूर्वकालैक० ॥' २ । १ । ४८] यथा—यल्लिप्तवासितमिव सुसदोऽब्जवातैः ॥" (२ । ७८)

३. गण० म०—"पूर्वं मुषितः पश्चान्नग्नः । यथा—चौरास नग्नमुषितेव हृतेऽरुणेन ।" (२ । ८२)

४. काशिका-प्रक्रियाकौमुद्यादिषु—सिक्तसम्मृष्टम् ॥
गण० म०—"पूर्वं सम्मृष्टं पश्चात् सिक्तम् । सिक्तसंसृष्टमित्यन्ये ।" (२ । ७९)

५. श्रीवर्धमानस्तु— "पूर्वं लुञ्चितं = अपनीतं पश्चाद् भृष्टं = पक्वं, भृष्टलुञ्चितम् ।" (२ । ७८)

६. श्रीवर्धमानस्तु "अर्पितोतम्" इति । तद्व्याख्यानं च—"पूर्वमुतं = आतानवितानीकृतं पश्चादर्पितम् ।" (२ । ७८)

७. गण० म०—"पूर्वं गाढं = अवलोडितं पश्चादुप्तम् । यथा—व्योमोप्तगाढमिव भानुमरीचिसस्यम् ।" (२ । ७९)

८. अतः पूर्वं काशिकायां—"पूर्वकालस्य परनिपातः।"
गण० म०—"उलूयन्त इत्युल्वः = धान्यानि । आप्ये [कर्मणीत्यर्थः] क्विप् । उल्वः खल्यन्ते = सञ्चीयन्ते = प्रक्षिप्यन्त इति उलूखलम् । तच्च मुसलं च ।" (२ । ८४)

९. गण० म०—"अजायदद्वारेण ['अजायदन्तम्॥' २ । २ । ३३]" (२ । ८३)
न्यासकारस्तु—"प्रमादाच्चायं पाठो लक्ष्यते। अल्पाच्तरत्वाद् दृषच्छब्दस्य पूर्वनिपातः सिद्धः ।"

१०. श्रीविट्ठलाचार्यः—आरड्डायनिबान्धकम् ॥
श्रीवर्धमानस्तु "आरड्डायनिचान्धनि" इति । मतान्तरत्वेन च—"कश्चिद् आरड्डायनिबन्धनीत्याह । पाणिनिस्तु आरड्डायनिबन्धकीत्याह ।" (२ । ८३)

११. काशिकायाम्—०बाह्लीकम् ॥
गण० म०—"चित्ररथबाह्लीकौ राजानौ । अल्पाज्द्वारेण । पाणिनि-वामनमतेन । शाकटायनस्तु बह्लोऽस्यास्तीति बह्ली । बह्लिकः । सञ्ज्ञाप्रकृत्योरित्यनेन के । चित्ररथबह्लिकम् । भोजस्तु चित्ररथवाह्लिकौ अस्मिन् गणे पपाठ ।" (२।८५)

१२. काशिकायाम्—आवन्त्यश्मकम् ॥
गण० म०—"अवन्तिर्नाम राजा जनपदो वा । अश्मका नाम [दक्षिणापथे] जनपदः [अपि च दृश्यतां बृहत्संहितायां १४ । २२]" (२ । ८२)

१३. अतः परं काशिकादिषु—विष्वक्सेनार्जुनौ ॥

१४. = दाराश्च गौश्च ॥

[२१] धर्मार्थौ] २२] कामार्थौ[1] [२३] अर्थशब्दौ[2] [२४] अर्थधर्मौ [२५] अर्थकामौ[3] [२६] वैकारि[म]तम्[4] [२७] गजवाजम्[5] [२८] गोपाल-धानीपूलासम्[6] [२९] पूलासककुरण्डम्[7] [३०] स्थूलपूलासम्[8] [३१] उशी-रबीजम्[9] [३२] जिज्ञास्थि[10] [३३] स्वसिञ्जास्थम्[11] [३४] चित्रास्वाती [३५] भार्यापती[12] [३६] जायापती[13] [३७] जम्पती [३८] दम्पती[14] [३९] पुत्रपती [४०] पुत्रपशू[15] [४१] केशश्मश्रू[16] [४२] श्मश्रुकेशौ[17]

---

१. काशिकायामतः परम्—"अनियमश्चात्रेष्यते।"

२. प्र०कौ०टीकायां २३–२५ शब्दा न सन्ति ॥

३. काशिकायामतः परम्—"तत्कथं वक्तव्यमिदम्। 'धर्मादिषूभयम् ॥' इति ॥"

४. गण० म०—"विकारस्यापत्यं=वैकारिः। स च मतश्च। शाकटायनस्तु 'वैकारेर्मतः=वैकारिमतः। गाजयतीति गाजः, वाजयतीति वाजः। गाजस्य वाजः=गाजवाजः। वैकारिमतश्च गाजवाजश्च =वैकारिमतगाजवाजम्।' इत्याह ॥" (२।८२)

५. श्रीबोटलिङ्कः—"गोजवाजम् (गाजवाजम्)" विट्ठलाचार्यः—गाजव्याजम् ॥

गण० म०—"गाजश्च वाजश्च=गाजवाजम्। अन्यस्तु—गजानां समूहः=गाजं, वाजिनां समूहः=वाजम्। गाजं च वाजं चेति गाजवाजम्। तत्प्रत्ययस्तु गणपाठादेव न भवतीत्याह। अनियमप्रसङ्गे वाज-शब्दस्यैव परनिपातः।"(२।८३)

६. श्रीविट्ठलः—गोपालिधानपूलासम् ॥

गण० म०—"गौपालिः [=गोपालस्यापत्यं] धीयते यस्मिन्, तद् गौपालिधानम्। ग्रामोऽवस्थानं वा। पूलानस्यतीति पूलासः। गौपालिधानञ्च पूलासश्च=गौपालिधानपूलासम्।" (२।८१)

७. काशिकायाम्—०ककरण्डम् ॥

श्रीविट्ठलः—पूलासकुरण्टकम् ॥ [पठति ॥

श्रीबोटलिङ्कः "पूलासकारण्डम्" इति पाठान्तरत्वेन

श्रीवर्धमानः "पूलासकुरण्डम्" इति पठित्वा मतान्तरमाह—"शाकटायनस्तु 'कुरण्डानां स्थलं =कुरण्डस्थलम्। कुरण्डस्थलञ्च पूलासश्च= कुरण्डस्थलपूलासम्' इत्युवाच।" (२।८३)

८. प्र०कौ०टीकायां पाठान्तरम्—०मूलासम् ॥

९. गण० म०—"उशीरञ्च बीजञ्च। शाकटायनस्तु—उशीरं बीजं यस्मिन्। उशीरबीजो नाम पर्वतः। सिञ्जायां तिष्ठतीति सिञ्जास्थः पर्वतः। उशीरबीजश्च सिञ्जास्थश्च=उशीरबीजसिञ्जास्थम्।" (२।८३)

१०. काशिका-प्र०कौ०टीकयोर्नास्ति ॥

११. काशिकायाम्—सिञ्जास्थम् ॥ (गण० म०—"सिञ्जनं=सिञ्जा। आस्थानं=आस्था। सिञ्जा चास्था च। अत्रानियमे प्राप्ते नियमः।" २।८३)

श्रीविट्ठलः—शिञ्जास्थम् ॥

बोटलिङ्कः—सिञ्जाश्वत्थम् ॥ [परं पठ्यते ॥

१२. प्र०कौ०टीकायामयं शब्दः "दम्पती" इत्यतः

१३. प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥

श्रीबोटलिङ्कः ३६–३८ शब्दान् "दम्पती, जम्पती, जायापती" इति क्रमेण पठति ॥

१४. अतः परं काशिकायाम्—"जाया-शब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते।" [भिन्नेरते।"(६।४) काठकसंहितायां च—"अग्निहोत्रे वै **जायम्पती** व्य-

१५. काशिकायाम्—०पशु ॥

प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥

१६. काशिका-प्र०कौ०टीकादिषु—०श्मश्रु ॥

गण० म०—"केशाश्च श्मश्रु च=केशश्मश्रु। 'केशश्मश्रू' इति भोजः। असखियुद्धारेण ['द्वन्द्वे घि ॥' २।२।३२]" (२।८२)

१७. विट्ठल-बोटलिङ्कौ न पठतः ॥

[४३] शिरोषिजम्[1] [४४] शिरोबीजम्[2] [४५] शिरोजानु[3] [४६] सर्पिर्मधुनी [४७] मधुसर्पिषी [४८] आद्यन्तौ [४९] अन्तादी [५०] गुणवृद्धी [५१] वृद्धिगुणौ[4]—इति[5] राजदन्तादिगणः ॥ ३१ ॥

पूर्व सूत्र से पूर्वनिपात प्राप्त था इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है। ['राजदन्तादिषु'] राजदन्त आदि गणशब्दों में उपसर्जन-सञ्ज्ञक शब्दों का ['परम्'] परप्रयोग करना चाहिये। दन्तानां राजा=राजदन्तः। यहां दन्त-शब्द का पूर्वप्रयोग प्राप्त था। इस सूत्र से परप्रयोग होता है ॥

राजदन्तादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में सब क्रम से लिख दिया है ॥ ३१ ॥

द्वन्द्वे घि[6] ॥ ३२ ॥

'उपसर्जनं पूर्वम्' इति सर्वमनुवर्त्तते। द्वन्द्वे। ७। १। घि। [१।१।] 'घि' इति सञ्ज्ञानिर्देशः। ह्रस्वेकारान्तोकारान्तशब्दानां घि-सञ्ज्ञा कृता[7]। द्वन्द्वसमासे घि-सञ्ज्ञस्य पूर्वनिपातो भवति। अग्निवातौ। अग्निमरुतौ। वायुसूर्यौ। पटुवीरौ। अत्र द्वन्द्वसमासे घि-सञ्ज्ञस्यैव पूर्वनिपातः॥

'द्वन्द्वे' इति किम्। पूर्ववायुः। अत्र षष्ठीतत्पुरुषे घि-सञ्ज्ञकस्य पूर्वनिपातो न भवति ॥ ३२ ॥

ह्रस्व इकरान्त उकरान्त शब्दों की पूर्व[7] घि-सञ्ज्ञा कर चुके हैं। ['द्वन्द्वे'] द्वन्द्व समास में ['घि'] घि-सञ्ज्ञक शब्द का पूर्वप्रयोग होना चाहिये। अग्निवातौ। यहां अग्नि-शब्द की घि-सञ्ज्ञा है। उसी का पूर्वप्रयोग हुआ ॥

द्वन्द्व-ग्रहण इसलिये है कि 'पूर्ववायुः' यहां षष्ठी तत्पुरुष समास में घि-सञ्ज्ञक वायु-शब्द का पूर्वनिपात नहीं हुआ ॥ ३२ ॥

अजाद्यदन्तम्[8] ॥ ३३ ॥

---

१. काशिकादिषु नोपलभ्यते ॥

२. विट्ठलः—०विजु ॥

वर्धमानश्च—"शिरश्च विजुश्च = शिरोविजु। विजुः=ग्रीवा स्कन्धो वा। असखियुद्द्वारेण।" (२। ८०)

३. काशिका-प्र०कौ०टीकयोर्नास्ति ॥

४. अतः परं बोटलिङ्कः—"Bei Doppelformen ist die eine die regelmässige."

५. आकृतिगणोऽयम् ॥

गणरत्नमहोदधौ "परःशताः, नृवरः, कुरुश्रेष्ठः, उत्तमर्णः, अधमर्णः, परःसहस्राः, श्रद्धातपसी, अधरोष्ठम्, मेधातपसी, दीक्षातपसी, अग्नीन्द्रौ, इन्द्राग्नी, अर्कचन्द्रौ, चन्द्रार्कौ, ग्रीष्मवसन्तौ, वसन्तग्रीष्मौ, कुशकाशम्, काशकुशम्, तपःश्रुते, श्रुततपसी, शकृन्मूत्रम्, मूत्रशकृत्, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयपाणिनीयाः" इत्यादयः शब्दा अधिकाः ॥

६. सा०—पृ० ४४ ॥

७. १।४।७॥

८. सा०—पृ० ४५ ॥

'द्वन्द्वे' इत्यनुवर्त्तते । अजाद्यदन्तम् । १ । १ । अजादि चादोऽदन्तं = अजाद्यदन्तं पदम् । द्वन्द्वसमासे अजाद्यदन्तं पदं पूर्वं प्रयुक्तं भवति । उष्ट्रश्च वृषश्च = उष्ट्रवृषौ । अश्वसिंहौ । 'द्वन्द्वे घि[1] ॥' इत्यस्य प्राप्तावप्यजाद्यदन्तं भवति विप्रतिषेधेन । इन्द्राग्नी[2] । इन्द्रवायू । अत्रेन्द्र-शब्दोऽजादिरदन्तश्च, तस्यैव पूर्वनिपातो भवति । एवमन्यत्रापि ॥ ३३ ॥

['अजाद्यदन्तम्'] अच् जिस के आदि में [और] अकार जिस का अन्त हो, ऐसा जो पद है, वह द्वन्द्व समास में पूर्व प्रयुक्त करना चाहिये । अश्वसिंहौ । उष्ट्रव्याघ्रौ । इभवृषौ । यहां अजादि अदन्त अश्व-, उष्ट्र- और इभ-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । पूर्व सूत्र की प्राप्ति में भी अजादि अदन्त धर्म वाला पद पूर्व प्रयुक्त होता है, क्योंकि दो कार्यों की प्राप्ति में विप्रतिषेध के होने से पर को कार्य होता है । इन्द्राग्नी । इन्द्रवायू । यहां अग्नि- और वायु-शब्द की घिसञ्ज्ञा है, और इन्द्र-शब्द अजादि अदन्त है, सो परविप्रतिषेध के होने से इन्द्र-शब्द का द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग किया जाता है ॥ ३३ ॥

अल्पाच्तरम् ॥ ३४ ॥

'द्वन्द्वे' इत्यनुवर्त्तते । अल्पश्चासावच् = अल्पाच् । अतिशयेनाल्पाच् = अल्पाच्तरम् । द्वन्द्वसमासेऽल्पाच्तरं पदं पूर्वं प्रयोज्यम् । प्लक्षन्यग्रोधौ । कुशकाशौ । अत्राल्पाच्त्वात् प्लक्ष-शब्दस्य पूर्वनिपातो भवति ॥

तरप्-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—कुश-काश-शब्दयोर्द्वौ द्वावच्, काश-शब्द एकमात्राऽधिकास्ति । तत्रापि मात्रान्यूनस्य कुश-शब्दस्यैव पूर्वनिपातो यथा स्यात् ॥

अथ वार्त्तिकानि—

अनेकस्य प्राप्तावेकस्य नियमोऽनियमः शेषेषु ॥[3] १ ॥

अनेकस्य पदस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते एकस्य पदस्य नियमो भवति, शेषाणां पदानामनियमः। पटु-मृदु-शुक्लाः। पटु-शुक्ल-मृदवः। अत्र पटु-शब्दस्य पूर्वं प्रयोगः स्यादिति नियमः । अन्येषां मध्ये वा स्याद्, अन्ते वेति नियमाभावः ॥ १ ॥

ऋतुनक्षत्राणामानुपूर्व्येण समानाक्षराणाम् ॥[4] २ ॥

समानाक्षराणामृतूनां समानाक्षराणां नक्षत्राणां च क्रमेण पूर्वनिपातो भवति । हेमन्तशिशिरौ । शिशिरवसन्तौ । समानाक्षराणामिति किम् । ग्रीष्मवसन्तौ ।

---

१. २ । २ । ३२ ॥

२. वाजसनेयिसंहितायां तु "अग्नीन्द्रौ" इत्यपि— "उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वा ॥" (७।३२)

३. पाठान्तरम्—अनेकप्राप्ता० ॥

४. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

अल्पाच्तरम् ॥ ३४ ॥

'द्वन्द्वे' इत्यनुवर्त्तते। अल्पश्चासावच्=अल्पाच्। अतिशयेनाल्पाच्=अल्पाच्तरम्। द्वन्द्व-समासेऽल्पाच्तरं पदं पूर्वं प्रयोज्यम्। प्लक्षन्यग्रोधौ। कुशकाशौ। अत्राल्पाच्त्वात् प्लक्ष-शब्दस्य पूर्वनिपातो भवति॥

तरप्-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—कुश-काश-शब्दयोर्द्वौ द्वावचौ, काश-शब्द एकमात्राऽधिकास्ति। तत्रापि मात्रान्यूनस्य कुश-शब्दस्यैव पूर्वनिपातो यथा स्यात्॥

अथ वार्त्तिकानि—

अनेकस्य प्राप्ता[1]वेकस्य नियमोऽनियमः शेषेषु ॥[2] १ ॥

अनेकस्य पदस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते एकस्य पदस्य नियमो भवति, शेषाणां पदानामनियमः। पटु-मृदु-शुक्लाः। पटु-शुक्ल-मृदवः। अत्र पटु-शब्दस्य पूर्वं प्रयोगः स्यादिति नियमः। अन्येषां मध्ये वा स्याद्, अन्ते वेति नियमाभावः॥ १॥

ऋतुनक्षत्राणामानुपूर्व्येण समानाक्षराणाम् ॥[2] २ ॥

समानाक्षराणामृतूनां समानाक्षराणां नक्षत्राणां च क्रमेण पूर्वनिपातो भवति। हेमन्तशिशिरौ। शिशिरवसन्तौ। समानाक्षराणामिति किम्। ग्रीष्मवसन्तौ। अत्र वसन्त-शब्दस्य पूर्वनिपातो न भवति। नक्षत्राणाम्—चित्रास्वाती। कृत्तिकारोहिण्यः। समानाक्षराणामिति किम्। पुष्यपुनर्वसू। तिष्यपुनर्वसू। अत्र पुनर्वसु-शब्दस्य पूर्वनिपातो न भवति॥ २॥

अभ्यर्हितं च[3] ॥[2] ३ ॥

अभितः=सर्वतः अर्हितं=पूजितं योग्यं द्वन्द्वसमासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। मातापितरौ। श्वश्रूश्वशुरौ। श्रद्धामेधे। पित्रपेक्षायां माताऽधिकतया सेव्यास्ति॥ ३॥

लघ्वक्षरम् ॥[2] ४ ॥

दीर्घाक्षरपदानामपेक्षायां लघ्वक्षरं पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। कुशकाशम्। शरचापम्॥ ४॥

अपर आह—सर्वत एवाभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम्। लघ्वक्षरादपीति ॥[2] ५ ॥

दीक्षातपसी। श्रद्धातपसी। तपसः फले दीक्षा-श्रद्धे, तस्माच्छ्रेष्ठे॥ ५॥

वर्णानामानुपूर्व्येण ॥[2] ६ ॥

ब्राह्मणादिवर्णानामनुक्रमेण[4] पूर्वनिपातो भवति। ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः॥ ६॥

भ्रातुश्च ज्यायसः ॥[2] ७ ॥

---

१. पाठान्तरम्—अनेकप्राप्ता०॥ २. अ० २। पा० २। आ० २॥

३. पाठान्तरम्—अभ्यर्हितम्॥

४. "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" (ऋ० १०। ९०। १२) इति वर्णानामानुपूर्व्यम्॥

ज्येष्ठस्य भ्रातुः पूर्वं प्रयोगो भवति। युधिष्ठिरार्जुनौ। रामलक्ष्मणौ। भरतशत्रुघ्नौ। अत्र युधिष्ठिरादिज्येष्ठभ्रातॄणां पूर्वप्रयोगः ॥ ७ ॥

सङ्ख्याया अल्पीयसः ॥[1] ८ ॥

अल्पार्थवाचिकायाः सङ्ख्यायाः पूर्वनिपातो भवति[2]। एकादशद्वादशम्। त्रयोदश-चतुर्दशम्। अत्र न्यूनार्थवाचिन एकादश-शब्दस्य [त्रयोदश-शब्दस्य च] पूर्वनिपातः ॥ ८ ॥

धर्मादिषूभयम् ॥[1] ९ ॥

धर्मादिशब्देषु द्वयोर्व्यतिक्रमेण पूर्वनिपातो भवति। धर्मार्थौ। अर्थधर्मौ। कामार्थौ। अर्थकामौ। गुणवृद्धी। वृद्धिगुणौ। आद्यन्तौ। अन्तादी ॥ ९ ॥ ३४ ॥

['अल्पाच्तरम्'] थोड़े अच् वाला जो पद है, उस का द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग करना चाहिये। प्लक्षन्यग्रोधौ। यहां प्लक्ष-शब्द में दो स्वर और न्यग्रोध-शब्द में तीन स्वर हैं। इस[से] प्लक्ष शब्द का पूर्वप्रयोग होता है ॥

यहां से वार्त्तिकों का अर्थ किया जाता है—

'अनेकस्य०' द्वन्द्व समास में अनेक पदों का पूर्वनिपात प्राप्त हो, वहां एक पद का तो पूर्व होने का नियम हो जाय और अन्य पदों का नियम नहीं। अन्य पद मध्य का अन्त में हो, वा अन्त का मध्य में, कुछ नियम नहीं। [जैसे—पटु-मृदु-शुक्लाः। यहां पटु-शब्द के पूर्वनिपात का नियम करके मृदु और शुक्ल का अनियम करने से 'पटु-शुक्ल-मृदवः' यह दूसरा प्रयोग बनता है ॥] १ ॥

'ऋतुनक्षत्राणां०' बराबर अक्षर वाले ऋतुवाची और नक्षत्रवाची शब्दों का द्वन्द्व समास में क्रम से पूर्वप्रयोग करना चाहिये। ऋतुवाची—शिशिरवसन्तौ। यहां तीन तीन अक्षर वाले शिशिर-वसन्त-शब्दों में शिशिर-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है। समानाक्षर-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रीष्म-वसन्तौ' यहां वसन्त शब्द का पूर्वप्रयोग न हो। नक्षत्रवाची—कृत्तिकारोहिण्यः। चित्रास्वाती। यहां बराबर अक्षरों वाले नक्षत्रों का क्रम से पूर्वनिपात होता है। समानाक्षर-ग्रहण इसलिये है कि 'पुष्यपुनर्वसू' यहां पुनर्वसु-शब्द का पूर्वनिपात न हो ॥ २ ॥

'अभ्यर्हितं च ॥' सब प्रकार जो पूजनीय है, उस पद का द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग हो। मातापितरौ। पिता की अपेक्षा में माता अत्यन्त सेवा करने योग्य है। इससे उस का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ३ ॥

'लघ्वक्षरम् ॥' दो पदों में से ह्रस्व अक्षर वाला पद पूर्व होना चाहिये। शरचापौ। यहां शर-शब्द ह्रस्व अक्षर वाला है। उसी का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ४ ॥

'सर्वत एवाभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् ॥' किन्हीं ऋषियों का ऐसा मत है कि सब सूत्र वार्त्तिकों की अपेक्षा में अभ्यर्हित अर्थात् जो सब से श्रेष्ठ हो, उसी का पूर्वप्रयोग हो। दीक्षातपसी। यहां तपस्-शब्द लघ्वक्षर भी है, परन्तु श्रेष्ठ होने से दीक्षा-शब्द का ही पूर्वप्रयोग होता है ॥ ५ ॥

---

१. अ० २। पा० २। आ० २॥
२. "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ॥" (१। ४। २२) इति तु सौत्रो निर्देशः ॥

'**वर्णानामानुपूर्व्येण** ॥' ब्राह्मण आदि वर्णों का क्रम से पूर्वप्रयोग होना अर्थात् जो जिस से पूर्व हो, उस का उस से पूर्वनिपात समझना चाहिये । **ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः** । ब्राह्मण-शब्द का सब से पूर्व प्रयोग, विट्=वैश्य से पूर्व क्षत्रिय और शूद्र से पूर्व विट्-शब्द का प्रयोग क्रम से होता है ॥ ६ ॥

'**भ्रातुश्च ज्यायसः** ॥' ज्येष्ठ भाई का वाची जो शब्द हो, उस का पूर्वप्रयोग हो । **रामलक्ष्मणौ** । **युधिष्ठिरार्जुनौ** । यहां राम और युधिष्ठिर ज्येष्ठ थे । उन्हीं का पूर्वप्रयोग होता है ॥७॥

'**सङ्ख्याया अल्पीयसः** ॥' थोड़े अर्थ की वाची जो सङ्ख्या है, उस का पूर्वप्रयोग हो । **एकादशद्वादशम्** । यहां थोड़े के वाची एकादश-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ८ ॥

'**धर्मादिषूभयम्** ॥' धर्मादि शब्दों में लोट फेर दोनों का पूर्वप्रयोग हो । **धर्मार्थौ** । **अर्थधर्मौ** । यहां धर्म और अर्थ दोनों का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ९ ॥ ३४ ॥

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ[1] ॥ ३५ ॥

बहुव्रीहिसमासे सर्वस्योपसर्जन-सञ्ज्ञा, तत्र नियमाभावेऽनेन सूत्रेण नियमः क्रियते । 'द्वन्द्वे' इति निवृत्तम् । 'उपसर्जनं पूर्वं' इत्यनुवर्त्तते । सप्तमी-विशेषणे । १ । २ । बहुव्रीहौ । ७ । १ । बहुव्रीहिसमासे सप्तम्यन्तं पदं विशेषणवाचि च यत् पदं, तत् पूर्वं निपतति । **कण्ठेकालः** । अत्र सप्तम्यन्तस्य कण्ठ-शब्दस्य पूर्वनिपातः । '**घकालतनेषु कालनाम्नः**[2] ॥' इति सप्तम्या अलुक् । विशेषणम्—**बहुधनः** । **विद्याधनः** । अत्र बहु-शब्दस्य विद्याशब्दस्य च विशेषणत्वात् पूर्वप्रयोगो भवति ॥

वा०—*बहुव्रीहौ सर्वनामसङ्ख्ययोरुपसङ्ख्यानम्* ॥ १ ॥

विश्वदेवः ।[3] विश्वयशाः । द्विपुत्रः । द्विभार्य्यः[4] ॥[5]

अत्र सर्वनाम्नः सङ्ख्याशब्दस्य च विशेष्यत्वात् पूर्वप्रयोगः सूत्रेण न प्राप्तः, तदर्थं वचनम् ॥ १ ॥

वा प्रियस्य ॥[5] २ ॥

प्रिय-शब्दस्य विशेषणवाचित्वात् सूत्रेण नित्ये पूर्वप्रयोगे प्राप्ते विकल्पः क्रियते । प्रियशब्दस्य विकल्पेन पूर्वनिपातो भवति । **प्रियगुडः** । **गुडप्रियः** ॥ २ ॥

सप्तम्याः पूर्वनिपाते गड्वादिभ्यः परवचनम् ॥[5] ३ ॥

---

१. सा०—पृ० ४२ ॥ २. ६ । ३ । १७ ॥

३. अत्र विश्वस्य विशेष्यत्वम्—विश्वं देवो यस्य इति ॥

४. कैयटश्चाह—"द्विपुत्रः [द्विभार्यः] इति दिक्प्रदर्शनमेतत् । अत्र हि विशेषणत्वादेव सिद्धः सङ्ख्यायाः पूर्वनिपातः । तस्माद् 'द्विशुक्लः' इत्याद्युदाहरणम् ।"

अथात्र नागेशः—"पुत्र-भार्या-शब्दावपि गुणवचनाविति भाष्याशयः । जन्यपुंस्त्वधर्मभोग्यस्त्रीत्वयोर्गुणत्वादित्यन्ये ।"

५. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

'सप्तमीविशेषणे०'[1] ॥' इति सूत्रेण सप्तम्यन्तस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते वार्त्तिकारम्भः । गड्वादिभ्यः पदेभ्यः सप्तम्यन्तं पदं परं प्रयोक्तव्यम् । गडुकण्ठः । गडुशिराः । अत्र कण्ठ-शिरस्-शब्दयोः परनिपातो भवति ॥ [३ ॥] ३५ ॥

बहुव्रीहि-समास में सब पदों की उपसर्जन-सञ्ज्ञा होने से पूर्वप्रयोग का कुछ नियम नहीं था, इसलिये यह सूत्र पढ़ा है । ['बहुव्रीहौ'] बहुव्रीहि समास में ['सप्तमी-विशेषणे'] सप्तम्यन्त और विशेषणवाची जो पद हैं, उन का पूर्वप्रयोग होना चाहिये । सप्तम्यन्त—कण्ठेकालः । यहां सप्तम्यन्त कण्ठ-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । और षष्ठाध्याय के सूत्र[2] से कण्ठ-शब्द की सप्तमी का अलुक् हो जाता है । विशेषण—बहुधनः । यहां विशेषणवाची बहु-शब्द का पूर्वप्रयोग हुआ ॥

वार्त्तिकों के अर्थ—

'बहुव्रीहौ सर्वनामसङ्ख्ययोरुपसङ्ख्यानम् ॥' बहुव्रीहि समास में सर्वनामवाची और सङ्ख्यावाची जो शब्द हैं, उन का पूर्वप्रयोग हो । सर्वनाम—विश्वदेवः । विश्वयशाः । यहां सर्वनामवाची विश्व-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । सङ्ख्या—द्विपुत्रः । द्विभार्यः । यहां सङ्ख्यावाची द्वि-शब्द का पूर्वनिपात हुआ है ॥ १ ॥

'वा प्रियस्य ॥' प्रिय-शब्द के विशेषणवाची होने से पूर्व सूत्र से नित्य पूर्वप्रयोग प्राप्त था, इस वार्त्तिक से उस का विकल्प करते हैं । प्रिय-शब्द का पूर्वनिपात विकल्प करके हो । **प्रियगुडः । गुडप्रियः** । यहां प्रिय-शब्द विकल्प से पूर्व होता है ॥ २ ॥

'सप्तम्याः पूर्वनिपाते गड्वादिभ्यः परवचनम् ॥' सप्तम्यन्त शब्द का पूर्वनिपात सूत्र से होता है । उस में गडु आदि शब्दों का पूर्वप्रयोग हो । **कण्ठे गडुः=गडुकण्ठः । गडुशिराः** । यहां सप्तम्यन्त कण्ठ-और शिरस्-शब्द का परप्रयोग होता है ॥ [३ ॥] ३५ ॥

निष्ठा[3] ॥ ३६ ॥

'बहुव्रीहौ' इत्यनुवर्त्तते । बहुव्रीहिसमासे निष्ठान्तं पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । कृतकटः । भुक्तौदनः । पठितविद्यः । कृतत्तम इत्यादिप्रयोगेषु निष्ठान्तस्य पूर्वनिपातो भवति ॥

वा०—*निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम् ॥*[4] *१ ॥*

जातिवाचिभ्यः कालवाचिभ्यः सुखादिशब्देभ्यश्च परं निष्ठाप्रत्ययान्तं पदं प्रयोक्तव्यम् । जाति—शार्ङ्गभक्षिती । पलाण्डुभक्षिती । काल—मासजाता । संवत्सरजाता । सुखादि—सुखजाता । दुःखजाता । अत्र जात्यादिभ्यः परं निष्ठान्तं प्रयुज्यते ॥ १ ॥

प्रहरणार्थेभ्यश्च ॥[5] *२ ॥*

चकारग्रहणात् 'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते । प्रहरणवाचिभ्यः पदेभ्यः परं निष्ठान्तं सप्तम्यन्तं च पदं प्रयोक्तव्यम् । [निष्ठान्तं—] अस्युद्यतः । मुसलोद्यतः । सप्तम्यन्तं—पाणावसिरस्य= असिपाणिः । दण्डपाणिः । सूत्रेण प्राप्तं सप्तम्यन्तं निष्ठान्तं च पदं पूर्वं, अनेन परं प्रयुज्यते ॥ [२ ॥] ३६ ॥

---

१. २ । २ । ३५ ॥

२. "घकालतनेषु कालनाम्नः ॥" (६ । ३ । १७)

३. सा०—पृ० ४२ ॥

४. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

बहुव्रीहि समास में [निष्ठा] निष्ठा-प्रत्ययान्त जो पद है, उस का पूर्वप्रयोग करना चाहिये। पठितविद्यः। कृतश्रमः। इत्यादि प्रयोगों में निष्ठान्त का पूर्वनिपात होता है॥

वार्त्तिकों के अर्थ—

'निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम्॥' निष्ठा-प्रत्ययान्त जो पद है, उस का जातिवाची, कालवाची और सुखादि शब्दों से परप्रयोग हो। जाति—पलाण्डुभक्षिती। पलाण्डु कहते हैं प्याज़ को, सो यह जाति है। उस से पर भक्षिती निष्ठान्त का प्रयोग होता है। कालवाची—मासजाता। संवत्सरजाता। यहां मास और संवत्सर कालवाची शब्दों से पर निष्ठान्त का प्रयोग है। सुखादि—सुखजाता। दुःखजाता। यहां सुखादिकों से पर निष्ठान्त का प्रयोग है॥ १॥

'प्रहरणार्थेभ्यश्च॥' शस्त्रवाची शब्दों से पर निष्ठान्त और सप्तम्यन्त पदों का प्रयोग होना चाहिये। अस्युद्यतः। यहां तलवार का वाची असि-शब्द है, उस से पर निष्ठान्त का प्रयोग है। असिपाणिः। और यहां असि-शब्द से पर सप्तम्यन्त का प्रयोग है॥ ३६॥

वाऽऽहिताग्न्यादिषु[1]॥ ३७॥

प्राप्तविभाषेयम्। पूर्वसूत्रेण निष्ठान्तस्य नित्ये पूर्वनिपाते प्राप्ते विकल्प उच्यते। वा। [अ०।] आहिताग्न्यादिषु। ७। ३। आहिताग्न्यादिगणशब्देषु निष्ठान्तस्य पूर्वनिपातो विकल्पेन भवति। आहिताग्निः। अग्न्याहितः। जातपुत्रः। पुत्रजातः। एवं सर्वेषां गणशब्दानां रूपद्वयं भवति॥

अथाहिताग्न्यादिगणः—[१] आहिताग्निः [२] पुत्रजातः[2] [३] दन्तजातः[3] [४] जातश्मश्रुः [५] तैलपीतः [६] घृतपीतः [७] मद्यपीतः[4] [८] ऊढभार्यः [९] गतार्थः—इत्याहिताग्न्यादिगणः[5]॥ ३७॥

इस सूत्र में प्राप्तविभाषा है। पूर्व सूत्र से निष्ठान्त का नित्य पूर्वनिपात प्राप्त था। इस सूत्र से विकल्प किया है। ['आहिताग्न्यादिषु'] आहिताग्न्यादि गणशब्दों में निष्ठा-प्रत्ययान्त का पूर्वप्रयोग ['वा'] विकल्प करके हो। आहिताग्निः। अग्न्याहितः। इसी प्रकार गण के सब शब्दों के दो दो प्रयोग होते हैं॥

आहिताग्न्यादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया है॥ ३७॥

---

१. सा०—पृ० ४३॥ २. पाठान्तरम्—जातपुत्रः॥

३. पाठान्तरम्—जातदन्तः॥ ४. काशिकायां नास्ति॥

५. विट्ठलोदाहृते गणपाठे कश्चिद्भेदो न लक्ष्यते॥ काशिकादिषु—आकृतिगणश्चायम्॥

गण० म०—"प्रिय-शब्दस्य केवलस्येह ('आहिताग्नि-गतार्थ-ऊढभार्य-पीतघृत-प्रियाः' इत्यत्र) उपदेशादुत्तरपदमनियतम्। तेन प्रियगुडः, गुडप्रियः। प्रियविश्वः, विश्वप्रियः। प्रियद्विः, द्विप्रियः। एतेन चाहिताग्न्यादयो गणाधीता एव ग्राह्या नाधिकप्रयोगाः। तेनाहितवसुरित्यादौ यथाप्राप्तं स्यान्न विकल्पः॥"

कडाराः कर्मधारये ॥ ३८ ॥

'वा' इत्यनुवर्त्तते। कडाराः।१।३। कर्मधारये।७।१। कर्मधारये=समानाधिकरणतत्पुरुषसमासे कडारादयो गणशब्दा विकल्पेन पूर्वं प्रयुक्ता भवन्ति। कडारशाण्डिल्यः। शाण्डिल्यकडारः। गडुलशाण्डिल्यः।शाण्डिल्यगडुलः। एवं सर्वत्र। 'कडाराः' इति बहुवचननिर्देशात् 'कडारादयः' इति प्रतीयते॥

अथ गणः—[१] कडार [२] गडुल [३] खण्ड[1] [४] काण [५] खञ्ज [६] कुण्ठ[2] [७] खञ्जर[3] [८] खलति [९] गौर [१०] वृद्ध[4] [११] भिक्षुक [१२] पिङ्ग[5] [१३] पिङ्गल [१४] जठर[6] [१५] तनु [१६] बधिर [१७] मठर [१८] कञ्ज[7] [१९] वटर[8]—इति कडारादिगणः॥ ३८॥

इत्येकसञ्ज्ञाधिकारः समासाधिकारश्च सम्पूर्णः॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः॥

समानाधिकरण तत्पुरुष समास की कर्मधारय-सञ्ज्ञा की है। उस ['कर्मधारये'] कर्मधारय समास में ['कडाराः'] कडारादि जो गणशब्द हैं, उन का विकल्प करके पूर्वप्रयोग हो। कडारशाण्डिल्यः। शाण्डिल्यकडारः। इसी प्रकार गण के सब शब्दों के दो दो प्रयोग बनते हैं॥

कडारादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में सब लिख दिया है॥ ३८॥

यह एकसञ्ज्ञा का अधिकार और समास का अधिकार पूरा हुआ॥

तथा द्वितीयाध्याय का द्वितीय पाद भी समाप्त हुआ॥

---

१. काशिका-प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभेषु नोपलभ्यते॥
बोटलिङ्कस्तु ३—५ शब्दान् "खञ्ज, खोड, काण" इत्येवं पठति॥

२. शब्दकौस्तुभे—कुण्ड॥

३. बोटलिङ्कः खञ्जर-शब्दं खञ्ज-शब्दस्य पाठान्तरं मन्यते॥
प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभयोः—खोड॥

४. शब्दकौस्तुभे—वृद्ध॥

५. काशिका-प्र० कौ० टीकयोर्नास्ति॥

६. काशिकायां १४, १६—१८ इति चत्वारः शब्दा न सन्ति॥
भट्टोजि-बोटलिङ्कौ—तनु, जठर॥ प्र० कौ० टीकायां "जठर" इति नास्ति॥

७. शब्दकौस्तुभे—कुब्ज॥ अतः परं विट्ठल-भट्टोजि-बोटलिङ्काः—बर्बर॥

८. प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभयोर्नास्ति॥

* ओ३म् *

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

अथातो विभक्तिविधानप्रकरणम् ॥

अनभिहिते[1] ॥ १ ॥

अनभिहिते । ७ । १ । अभिधीयते प्रत्ययो यस्मिन्, तत् कर्त्रादिकारकम् । अर्थाद् यस्मिन् कारके प्रत्ययो भवति, तद् अभिहितम् । न अभिहितं=अनभिहितं, तस्मिन् । 'अनभिहिते' इत्यधिकारो वेदितव्यः । अतो यद् विभक्तिविधानं भविष्यति, अनभिहिते कारके तद् बोध्यम् । 'अनुक्ते, अनभिहिते, अनिर्दिष्टे' इति पर्यायशब्दाः ॥ १ ॥

जिस में प्रत्यय विधान किया जाय, वह कारक अभिहित होता है, और जिस में प्रत्यय विधान न हो, उस को अनभिहित कहते हैं । 'अनभिहिते' यह इस पाद के अन्त तक अधिकार किया है । यहां से आगे जो विभक्ति विधान करेंगे, वह अनभिहित कारक [में] होगी ॥ १ ॥

कर्मणि द्वितीया[2] ॥ २ ॥

'अनभिहिते' इत्यनुवर्त्तते । कर्मणि । ७ । १ । द्वितीया । १ । १ । 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म[3] ॥' इति कर्म-सञ्ज्ञा कृता, तस्या इदानीं फलं दर्श्यते । अनभिहिते कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति । द्वितीया-शब्देन त्रिकस्यात्र ग्रहणम् । ओदनं पचति । कटं करोति । ग्रामं गच्छति । शरीरं पश्यति । अत्र सर्वत्र कर्मणि कारके द्वितीया विधीयते ॥

'अनभिहिते' इति किम् । ओदनः पच्यते । कटः क्रियते । अत्र कर्मणि प्रत्ययः, स चाभिहितः, तस्माद् द्वितीया न भवति ॥

अथ वार्त्तिकानि—

'समयानिकषाहायोगेषूपसङ्ख्यानम्[4] ॥'[5] १ ॥

'समया, निकषा, हा' इति त्रयाणामव्ययानां योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति । समया—समया ग्रामम् । [निकषा—] निकषा ग्रामम् । [हा—] हा देवदत्तम् ॥ १ ॥

अपर आह—द्वितीयाभिधाने[6]ऽभितः-परितः-समया-निकषा-अध्यधि-धिग्योगेषूपसङ्ख्यानम् ॥ २ ॥

अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । अध्यधि ग्रामम् । धिग् जाल्मम् ॥[5]

---

१. कार०—सू० ६ ॥ २. कार०—सू० ७ ॥ ३. १ । ४ । ४९ ॥
४. पा० श०—"समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणयुक्तात् ॥" (२ । १ । ५०)
५. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥ ६. पाठान्तरम्—०विधाने ॥

समया-निकषा-शब्दयोः पूर्वं उदाहरणे ॥ २ ॥

अपर आह—उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।

द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते[1] ॥ ३[2] ॥

'उभ[3], सर्व' इत्येताभ्यां तसन्ताभ्यां[4] द्वितीया वक्तव्या । उभयतो ग्रामम् । सर्वतो ग्रामम् । [धिग्योगे—] धिग् जाल्मम् । धिग् वृषलम् । उपर्यादिषु त्रिष्वाम्रेडितान्तेषु द्वितीया वक्तव्या । उपर्युपरि ग्रामम् । अध्यधि ग्रामम् । अधोऽधो ग्रामम् । ततोऽन्यत्रापि दृश्यते—न देवदत्तं प्रतिभाति[5] किञ्चित् । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ॥[6]

'अन्यत्रापि दृश्यते' इति वचनाद् विनायोगेऽपि क्वचिद् द्वितीया दृश्यते । मृगाणां माहिषं विना । एवमन्यत्रापि यत्र क्वचिदविहिता द्वितीया दृश्येत, तत्रानेनैव वचनेन भवतीति बोद्धव्यम् ॥ [३ ॥] २ ॥

कर्त्ता को जो अत्यन्त इष्ट है । उस की कर्म-सञ्ज्ञा कर चुके हैं[7] । उस सञ्ज्ञा का फल अब दिखाया जाता है । अनभिहित ['कर्मणि'] कर्म कारक में ['द्वितीया'] द्वितीया विभक्ति होती है । द्वितीया विभक्ति में तीनों वचनों का ग्रहण समझा जाता है । ओदनं पचति । ग्रामं गच्छति इत्यादि सब उदाहरणों में कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति होती है ॥

अनभिहित-ग्रहण इसलिये है कि 'ओदनः पच्यते' यहां कर्म में प्रत्यय है, इससे अनभिहित कर्म नहीं । इससे द्वितीया विभक्ति नहीं होती ॥

अब वार्त्तिकों का अर्थ किया जाता है—

'समयानिकषाहायोगेषूपसङ्ख्यानम् ॥' समया, निकषा और हा इन तीन अव्ययों के योग में द्वितीया विभक्ति हो । समया ग्रामम् । निकषा ग्रामम् । हा देवदत्तम् । यहां उक्त अव्ययों के योग में ग्राम-और देवदत्त-शब्द में द्वितीया हुई है ॥ १ ॥

'द्वितीयाभिधानेऽभितः-परितः-समया निकषा-अध्यधि-धिग्योगेषूपसङ्ख्यानम् ॥' अभितः, परितः, [समया, निकषा,] अध्यधि, धिग्, इन शब्दों के योग में भी द्वितीया विभक्ति हो । अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । अध्यधि ग्रामम् । धिग् जाल्मम् । यहां भी ग्राम-और जाल्म शब्द में द्वितीया हुई है । [समया और निकषा के उदाहरण पहले दे आए हैं] ॥ २ ॥

---

१. चा० श०—"द्विर्वेऽध्यादिभिः ॥ सर्वाभिपर्युभयात् तसा ॥" (२ । १ । ५१, ५२)

२. कोशे—१ ॥ ३. पाठान्तरम्—उभय ॥

४. पाठान्तरम्—तसन्ताभ्यां योगे ॥

५. पञ्चयत्र प्राप्ता । प्रति-शब्दश्चात्र क्रियाविशेषक उपसर्गो न तु कर्मप्रवचनीय इत्युदाहृतम् ॥

६. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥ ७. १ । ४ । ४९ ॥

'उभसर्वतसोः०' तसि-प्रत्ययान्त उभ-और सर्व-शब्द तथा धिग्, आम्रेडितान्त जो उपरि, अधि, अधस्, इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति हो। यह अन्य ऋषियों का मत है। उभ-उभयतो ग्रामम्। सर्व—सर्वतो ग्रामम्। धिग्—धिग् जाल्मम्। धिग् वृषलम्। आम्रेडितान्त उपरि—उपर्युपरि ग्रामम्। आम्रेडितान्त अधि—अध्यधि ग्रामम्। आम्रेडितान्त अधस्—अधोऽधो ग्रामम्। यहां ग्राम-,जाल्म और वृषल-शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई है। इस से अन्यत्र जहां किसी सूत्र, वार्त्तिक से द्वितीया विधान नहीं, वहां भी इस कारिका के प्रमाण से द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये। जैसे—बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्। यहां प्रति के योग में द्वितीया है। इसी प्रकार जहां कहीं द्वितीया विभक्ति देखने में आवे, वहां इसी प्रमाण से समझनी चाहिये ॥ [३ ॥] २ ॥

तृतीया च होश्छन्दसि[1] ॥ ३ ॥

चकारग्रहणाद् द्वितीयाप्यनुवर्त्तते। तृतीया। १। १। च। [अ०।] होः। ६। १। छन्दसि। ७। १। 'हु दानादनयोः। आदाने चेत्येके[2]' इत्यस्य धातोः कर्मणि कारके छन्दसि=वेदविषये तृतीया च द्वितीया च भवति। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति[3]। यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। अत्र कर्मवाचिनि यवागू-शब्दे तृतीया-द्वितीये विभक्ती भवतः ॥

'छन्दसि' इति किमर्थम्। यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। अत्र तृतीया न भवति, किन्तु लोके द्वितीयैव यथा स्यात् ॥ ३ ॥

['छन्दसि'] वेदविषय में ['होः'] हु धातु के कर्मकारक में तृतीया और चकार से द्वितीया विभक्ति भी हो। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति। यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। यहां कर्मवाची यवागू-शब्द में तृतीया और द्वितीया विभक्ति हुई हैं ॥

'छन्दसि' ग्रहण इसलिये है कि 'यवागूमग्निहोत्रं जुहोति' यहां तृतीया विभक्ति न हो ॥ ३ ॥

अन्तराऽन्तरेणयुक्ते[4] ॥ ४ ॥

'द्वितीया' इत्यनुवर्त्तते। तृतीया निवृत्ता। अन्तराऽन्तरेणयुक्ते। ७। १। अन्तरा-अन्तरेण-शब्दौ निपातौ, तयोर्योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति। अग्निमन्तरा कथं पचेत्। अग्निमन्तरेण कथं पचेत्। अग्निना विनेत्यर्थः। 'अन्तरा, अन्तरेण' इति शब्दौ विनार्थे वर्त्तेते ॥ ४ ॥

---

१. कार०—सू० ११ ॥

२. धा०—जुहो० १ ॥ माधवीयायां धातुवृत्त्याम्—"हु दानादनयोः। दानादानयोरित्यन्ये। आत्रेयस्तु 'दाने' इति पठित्वा 'आदानेऽप्येके' इति ॥"

श्रीबोटलिङ्कः—"हु दाने (आदाने, अदने, प्रीणनेऽपि)"

३. काठक इष्टिमिकायामग्निहोत्रब्राह्मणे—६। ३ ॥

अपि च शाङ्ख्यायन श्रौतसूत्रे—३। १२। १५, १६ ॥

४. कार०—सू० १२ ॥

चा० श०—"समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणयुक्तात् ॥" (२। १। ५०)

['अन्तरा-अन्तरेणयुक्ते'] विना अर्थवाची जो अन्तरा और अन्तरेण ये दो अव्यय शब्द हैं, उन के योग में द्वितीया विभक्ति हो। अग्निमन्तरा कथं पचेत्। अग्निमन्तरेण कथं पचेत्। यहां अन्तरा, अन्तरेण इन दो शब्दों के योग होने से अग्नि-शब्द में द्वितीया विभक्ति होती है। 'अग्निमन्तरेण' अर्थात् अग्नि के विना॥ ४॥

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे[1] ॥ ५॥

कालाध्वनोः। ७। २। अत्यन्तसंयोगे। ७। १। अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने कालवाचिनि शब्दे अध्ववाचिनि च द्वितीयाविभक्तिर्भवति। [काले—] मासमधीतोऽनुवाकः। संवत्सरमधीतोऽष्टकः। अध्वनि—क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशं रमणीया वनराजी। अत्र मास-संवत्सर-कालवाचिशब्दयोः क्रोशे चाध्ववाचिनि द्वितीया विधीयते॥

'अत्यन्तसंयोगे' इति किम्। क्रोशांशे पर्वतः। अत्र द्वितीया विभक्तिर्न भवति॥ ५॥

['अत्यन्तसंयोगे'] अत्यन्त संयोग अर्थ में ['काल-अध्वनोः'] कालवाची और मार्गवाची शब्दों में द्वितीया विभक्ति हो। मासमधीतोऽनुवाकः। क्रोशं कुटिला नदी। यहां कालवाची मास-शब्द और मार्गवाची क्रोश-शब्द में द्वितीया हुई है॥

अत्यन्तसंयोग-ग्रहण इसलिये है कि 'दिवसस्य द्विर्भुङ्क्ते' यहां दिवस शब्द में द्वितीया विभक्ति न हो॥ ५॥

अपवर्गे तृतीया[2] ॥ ६॥

'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे[3]॥' इति सर्वं सूत्रमनुवर्त्तते। अपवर्गे। ७। १। तृतीया। १। १। दुःखान्निवृत्तिः शुभकर्मफलस्य सुखस्य प्राप्तिः=अपवर्गः। अपवर्गेऽर्थे कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे सति तृतीया विभक्तिर्भवति। मासेनानुवाकोऽधीतः। क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः। पूर्वसूत्रस्यापवादत्वेन तृतीया विभक्तिर्भवति॥

'अपवर्गे' इति किम्। मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः। अत्राध्ययनस्य धारणाभावे फलाभावः॥ ६॥

शुभ कर्म के फल की जो प्राप्ति वह अपवर्ग कहाता है। ['अपवर्गे'] अपवर्ग अर्थ में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से ['तृतीया'] तृतीया विभक्ति हो अत्यन्त संयोग में। मासेनाधीतोऽनुवाकः। क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः। यहां कालवाची मास-और मार्गवाची क्रोश-शब्द से तृतीया विभक्ति होती है॥

अपवर्ग ग्रहण इसलिये है कि 'मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः' यह अपवर्ग के न होने से तृतीया विभक्ति नहीं हुई॥ ६॥

सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये[4] ॥ ७॥

'कालाध्वनोः' इति वर्त्तते। सप्तमी-पञ्चम्यौ। १। २। कारकमध्ये। ७। १। कारकयोर्मध्यं=कारकमध्यं, तस्मिन्। कारकमध्ये कालाध्ववाचिभ्यां शब्दाभ्यां सप्तमी-पञ्चम्यौ विभक्ती

---

१. कार०—सू० १३॥
२. कार०—सू० १४॥
३. २।३।५॥
४. कार०—सू० १५॥

अपवर्गे तृतीया[1] ॥ ६ ॥

'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे[2] ॥' इति सर्वं सूत्रमनुवर्त्तते । अपवर्गे । ७ । १ । तृतीया । १ । १ । दुःखान्निवृत्तिः शुभकर्मफलस्य सुखस्य प्राप्तिः = अपवर्गः । अपवर्गेऽर्थे कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे सति तृतीया विभक्तिर्भवति । मासेनानुवाकोऽधीतः । क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः । पूर्वसूत्रस्यापवादत्वेन तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

'अपवर्गे' इति किम् । मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः । अत्राध्ययनस्य धारणाभावे फलाभावः ॥ ६ ॥

शुभ कर्म के फल की जो प्राप्ति वह अपवर्ग कहाता है । ['अपवर्गे'] अपवर्ग अर्थ में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से ['तृतीया'] तृतीया विभक्ति हो अत्यन्त संयोग में । मासेनाधीतोऽनुवाकः । क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः । यहां कालवाची मास- और मार्गवाची क्रोश-शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ॥

अपवर्ग-ग्रहण इसलिये है कि 'मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः' यहां अपवर्ग के न होने से तृतीया विभक्ति नहीं हुई ॥ ६ ॥

सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये[3] ॥ ७ ॥

'कालाध्वनोः' इति वर्त्तते । सप्तमी-पञ्चम्यौ । १ । २ । कारकमध्ये । ७ । १ । कारकयोर्मध्यं = कारकमध्यं, तस्मिन् । कारकमध्ये कालाध्ववाचिभ्यां शब्दाभ्यां सप्तमी-पञ्चम्यौ विभक्ती भवतः । अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहाद् भोक्ता, द्व्यहे भोक्ता । अत्र कालवाचिनो द्व्यह-शब्दात् सप्तमी-पञ्चम्यौ भवतः । इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे लक्ष्यं विध्यति । अत्राध्ववाचिनः क्रोश-शब्दात् सप्तमी-पञ्चम्यौ भवतः । अत्र कर्तृकर्मवाचिनोः शब्दयोर्मध्ये क्रोश-शब्दः ॥ ७ ॥

['कारकमध्ये'] दो कारकों के बीच में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से ['सप्तमी-पञ्चम्यौ'] सप्तमी और पंचमी विभक्ति हों । अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहाद् भोक्ता, द्व्यहे भोक्ता । यहां कालवाची द्व्यह-शब्द से सप्तमी और पंचमी विभक्ति हुई हैं । इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे लक्ष्यं विध्यति । यहां कर्त्ता कर्मवाची कारकों के बीच में क्रोश-शब्द से सप्तमी, पंचमी विभक्ति हुई हैं ॥ ७ ॥

[अथ कर्मप्रवचनीययोगे विभक्तिनियमप्रकरणम्]

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया[4] ॥ ८ ॥

---

१. कार०—सू० १४ ॥
२. २ । ३ । ५ ॥
३. कार०—सू० १५ ॥
४. कार०—सू० १५४ ॥

कर्मप्रवचनीययुक्ते । ७ । १ । द्वितीया । १ । १ । कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञैः शब्दैर्युक्ते = कर्मप्रवचनीययुक्ते । कर्मप्रवचनीययुक्ते सति द्वितीया विभक्तिर्भवति । अनु-शब्दो लक्षणे कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञो[1] भवति । शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् । अत्र कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञानु-शब्दस्य योगे संहिता-शब्दे द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ ८ ॥

['कर्मप्रवचनीययुक्ते'] कर्मप्रवचनीय-संज्ञक शब्दों के योग में ['द्वितीया'] द्वितीया विभक्ति हो । शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् । यहां कर्मप्रवचनीय-संज्ञक अनु-शब्द के योग में संहिता-शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई है ॥ ८ ॥

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं, तत्र सप्तमी[2] ॥ ९ ॥

'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इति वर्त्तते । यस्मात् । ५ । १ । अधिकम् । १ । १ । यस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] ईश्वरवचनम् । १ । १ । तत्र । [अ० ।] सप्तमी । १ । १ । यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं, तत्र कर्मप्रवचनीययोगे सप्तमी विभक्तिर्भवति । उपरौप्ये कार्षापणम् । अत्र 'उपोऽधिके च[3] ॥' इत्यधिकार्थे उप-शब्दस्य कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञा । रौप्यात् कार्षापणमधिकम् । रौप्य-शब्दात् सप्तमी विभक्तिर्भवति । अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः । अत्र 'अधिरीश्वरे[4] ॥' इति कर्म-प्रवचनीय-सञ्ज्ञा । पञ्चालवासिषु ब्रह्मदत्तस्येश्वरवचनं = अधिकसामर्थ्यं, तस्माद् ब्रह्मदत्त-शब्दे सप्तमी विभक्तिर्भवति । पूर्वसूत्रेण द्वितीया प्राप्ता, तस्यापवादोऽयं योगः ॥ ९ ॥

पूर्व सूत्र से द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी, उस का अपवाद यह सूत्र है । ['यस्माद्'] जिस से ['अधिकं'] अधिक हो ['यस्य च'] और जिस का ['ईश्वरवचनं'] ईश्वरवचन अर्थात् बहुतों के बीच में अधिक सामर्थ्य हो, ['तत्र'] वहां कर्मप्रवचनीय शब्दों के योग में ['सप्तमी'] सप्तमी विभक्ति हो । उपरौप्ये कार्षापणम् । यहां उप-शब्द की कर्मप्रव-चनीय-संज्ञा है । तथा रुपये से एक कार्षापण अधिक है, इसलिये कर्मप्रवचनीय के योग में रौप्य-शब्द से सप्तमी हो गई । अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः । यहां अधि-शब्द की कर्म-प्रवचनीय-संज्ञा है । उस के योग में ईश्वरवचन अर्थात् अधिक सामर्थ्य वाले ब्रह्मदत्त-शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है ॥ ९ ॥

पञ्चम्यपाङ्परिभिः[5] ॥ १० ॥

'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इत्यनुवर्त्तते । पञ्चमी । १ । १ । अप-आङ्-परिभिः ।

---

१. १ । ४ । ८३ ॥
२. कार०—सू० १५९ ॥
चा० श०—"सप्तम्याधिक्ये ॥ स्वाम्येऽधिना ॥" (२ । १ । ६०, ६१)
३. १ । ४ । ८६ ॥
४. १ । ४ । ९६ ॥
५. कार०—सू० १६२ ॥
चा० श०—"पर्यपाभ्यां वर्जने ॥" (२।१।८२)

३ । ३ । कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञकैः अप-आङ्-परि-शब्दैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अप पर्वतात् = पर्वतं वर्जयित्वा । आ पर्वतात् = पर्वतं मर्यादीकृत्य । परि पर्वताद्वृष्टो मेघः, पर्वतं विहायेत्यर्थः । अप-पर्योर्वर्जनार्थयोराङ्-शब्दस्य मर्यादार्थस्य ग्रहणमत्रास्ति । अपादियोगे पर्वत-शब्दात् पञ्चमी ॥ १० ॥

कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञक जो ['अप-आङ्-परिभिः'] अप-, आङ्- और परि-शब्द हैं, उन के योग में ['पञ्चमी'] पञ्चमी विभक्ति होती है । अप — अप पर्वतात् । [आङ्—] आ पर्वतात् । [परि—] परि पर्वताद् वृष्टो मेघः । यहां पर्वत-शब्द में पञ्चमी विभक्ति हुई है । अप और परि दो शब्द तो यहां वर्जन अर्थ में, और आङ्-शब्द मर्यादा अर्थ में है ॥ १० ॥

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्[1] ॥ ११ ॥

पञ्चमी-ग्रहणं, 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इति चानुवर्त्तते । प्रतिनिधि-प्रतिदाने । १ । २ । च । [अ० ।] यस्मात् । ५ । १ । यस्मात् प्रतिनिधिः, यस्माच्च प्रतिदानं, तत्र [कर्मप्रवचनीययुक्ते] पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अध्यापकात् प्रति शिष्यः । तिलेभ्यः प्रति माषानस्मै ददाति । अत्र अध्यापक-शब्दात् तिल-शब्दाच्च पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अध्यापककार्यं शिष्यः करोतीति शिष्यः प्रतिनिधिः । तिलेषु दातव्येषु माषदानं प्रतिदानम् ॥ ११ ॥

इति कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञाकार्यं निवृत्तम् ॥

प्रतिनिधि उस को कहते हैं जो मनुष्य किसी के बदले में कार्य के लिये प्रवृत्त हो । प्रतिदान उस को कहते हैं कि जो अन्न देना चाहिये, उस के बदले में दूसरा दे देना । ['यस्मात्'] जिस से ['प्रतिनिधि-प्रतिदाने'] प्रतिनिधि और प्रतिदान हो, वहां कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी विभक्ति हो । अध्यापकात् प्रति शिष्यः । यहां अध्यापक से प्रतिनिधि है । उस से पञ्चमी विभक्ति हो गई । तिलेभ्यः प्रति माषान् ददाति । यहां तिलों से प्रतिदान है । उस में कर्मप्रवचनीय के योग से पंचमी विभक्ति हो गई ॥ ११ ॥

[यह कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञा का कार्य समाप्त हुआ ॥]

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि[2] ॥ १२ ॥

गत्यर्थकर्मणि । ७ । १ । द्वितीया-चतुर्थ्यौ । १ । २ । चेष्टायाम् । ७ । १ । अनध्वनि । ७ । १ । गत्यर्थानां धातूनां कर्म = गत्यर्थकर्म, तस्मिन् ।

---

१. कार०—सू० १६६ ॥ [(२ । १ । ८३) २. कार०—सू० १६ ॥

• श०—"प्रतिना प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥"

चेष्टाक्रियाणां गत्यर्थानां धातूनामध्ववर्जिते कर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ विभक्ती भवतः । ग्रामं गच्छति, ग्रामाय गच्छति । ग्रामं व्रजति, ग्रामाय व्रजति । अत्र ग्राम-कर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ भवतः ॥

गत्यर्थ-ग्रहणं किम् । कटं करोति । अत्र चतुर्थी न भवति ॥

'कर्मणि' इति किमर्थम् । अश्वेन गच्छति । अत्र करणे द्वितीया-चतुर्थ्यौ न भवतः ॥

'चेष्टायां' इति किम् । मनसा गृहं गच्छति । अत्र चेष्टा नास्तीति द्वितीया-चतुर्थ्यौ न भवतः ॥

अनध्वनि-ग्रहणं किमर्थम् । अध्वानं गच्छति । अत्र अध्व-शब्दे चतुर्थी न भवति ॥

वा०—*अध्वन्यर्थग्रहणम्* ॥ १ ॥

इह[1] मा भूत्—पन्थानं गच्छति । वीवधं गच्छतीति ॥[2]

अर्थग्रहणादध्वपर्यायग्रहणम् । तेन 'पन्थानं, [वीवधं] इत्यत्र चतुर्थी न भवति ॥ १ ॥

आस्थितप्रतिषेधश्च ॥[2]२ ॥

'आस्थितप्रतिषेधः' अर्थाद् 'अनध्वनि' इति यः प्रतिषेधः, स मुख्यस्याध्वनो विज्ञेयः । तेनेह न भवति । यत्र उत्पथेन पन्थानं गच्छति 'पथे गच्छति' इति प्रतिषेधाभावे चतुर्थी भवत्येवात्र ॥ [२॥] १२ ॥

[**'चेष्टायाम्'**] चेष्टा जिन की क्रिया हो, ऐसे [**'गत्यर्थकर्मणि, अनध्वनि'**] गत्यर्थक धातुओं के मार्ग रहित कर्म में द्वितीया, चतुर्थी विभक्ति हों । **ग्रामं गच्छति । ग्रामाय गच्छति** । यहां गत्यर्थक धातुओं के ग्राम कर्म में द्वितीया, चतुर्थी हुई हैं ॥

गत्यर्थक धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि '**कटं करोति**' यहां चतुर्थी न हो ॥

कर्म-ग्रहण इसलिये है कि '**अश्वेन गच्छति**' यहां करण में द्वितीया, चतुर्थी न हों ॥

चेष्टा-ग्रहण इसलिये है कि '**मनसा गृहं गच्छति**' यहां चेष्टा नहीं, इससे उक्त [अर्थात् चतुर्थी] विभक्ति नहीं हुई ॥

और '**अनध्वनि**' ग्रहण इसलिये [है कि] '**अध्वानं गच्छति**' यहां चतुर्थी विभक्ति न हो ॥

'**अध्वन्यर्थग्रहणम्** ॥' अध्व-शब्द के पर्यायवाची जो शब्द हैं, उन का भी निषेध में ग्रहण हो जावे ॥[१॥]

---

१. पाठान्तरम्—इहापि ॥ २. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥

'आस्थितप्रतिषेधश्च ॥' मार्गवाची मुख्य-शब्दों का निषेध होना चाहिये, क्योंकि 'उत्पथेन पन्थानं गच्छति, पथे गच्छति' यहां निषेध न हो ॥ [२॥] १२ ॥

चतुर्थी सम्प्रदाने[1] ॥ १३ ॥

चतुर्थी । १ । १ । सम्प्रदाने । ७ । १ । 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्[2] ॥' इति सम्प्रदान-सञ्ज्ञा कृता, तस्या इह फलमुच्यते । सम्प्रदानकारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति । शिष्याय विद्यां ददाति । ब्राह्मणेभ्यो धनं ददाति । भिक्षवे भिक्षां ददाति । इत्यादिसम्प्रदान-सञ्ज्ञकेषु शब्देषु चतुर्थी भवति ॥

वा०— *चतुर्थीविधाने तादर्थ्य उपसङ्ख्यानम्*[3] ॥ १ ॥

यूपाय दारु । कुण्डलाय हिरण्यमिति ॥[4]

तस्मै = चतुर्थ्यन्तप्रयोजनाय यद् भवति, तद् तदर्थम् । तदर्थस्य भावः = तादर्थ्यम्, तस्मिन् ॥ १ ॥

क्लृपिसम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥ २ ॥

मूत्राय कल्पते यवागूः । उच्चाराय[5] यवान्नमिति[6] ॥[4]

यवागूर्मूत्रमुत्पादयितुं समर्थेत्यर्थः । क्लृप-धातोः सम्पद्यमाने = उत्पद्यमाने कारके चतुर्थी भवति ॥ २ ॥

उत्पातेन ज्ञाप्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥ ३ ॥

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी ।
कृष्णा सर्वविनाशाय[7] दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥[8]
मांसौदनाय व्याहरति मृगः ॥[4]

उत्पातेन = कदाचिदाश्चर्यासम्भवदर्शनेन शकुनेन ज्ञाप्यमाने, इदमस्याश्चर्यदर्शनस्य फलं भविष्यतीत्युत्पातो ज्ञापयति । तद्यथा— कपिला विद्युद् दृश्येत चेद् वायुवेगो भविष्यतीति ज्ञापनम् ॥ ३ ॥

हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या ॥ ४ ॥

हितमरोचकिने । हितमामयाविने ॥[4]

---

१. कार०—सू० ५५ ॥
चा० श०—"सम्प्रदाने चतुर्थी ॥" (२।१।७३)
२. १ । ४ । ३२ ॥
३. चा० श०—"तादर्थ्ये ॥" (२।१।७६)
४. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥
५. पाठान्तरम्—उच्चाराय कल्पते ॥
६. काशिकायां तु—उच्चाराय कल्पते यवागूः ॥
७. पाठान्तरम्—पीता भवति सस्याय ॥
काशिकायां तु—पीता वर्षाय विज्ञेया ॥
८. कोशेऽत्र—"॥१॥" इति ॥

हितयोगे सर्वत्रैव चतुर्थी भवति ॥ [४॥] १३ ॥

सम्प्रदान-सञ्ज्ञा पूर्व कर चुके हैं। उस का फल यहां दिखाया जाता है। ['सम्प्रदाने'] सम्प्रदान कारक में ['चतुर्थी'] चतुर्थी विभक्ति हो। शिष्याय विद्यां ददाति। यहां शिष्य-शब्द की सम्प्रदान-संज्ञा होने से शिष्य-शब्द में चतुर्थी हुई है ॥

'चतुर्थीविधाने तादर्थ्ये उपसङ्ख्यानम् ॥' कार्यवाची शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो। यूपाय दारु। यहां यूप-शब्द कार्यवाची है, इससे यूप-शब्द में चतुर्थी हुई है ॥ १ ॥

'क्लृपिसम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥' क्लृपि धातु का उत्पन्न होने वाला जो कारक है, उस में चतुर्थी विभक्ति हो। मूत्राय कल्पते यवागूः। मूत्र के उत्पन्न करने में यवागू समर्थ है ॥ २ ॥

'उत्पातेन ज्ञाप्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥' आकाश में विद्युत् के चमकने और गिरने[1] को उत्पात कहते हैं। उत्पात से होने वाली बात जनाने में चतुर्थी विभक्ति हो। वाताय कपिला विद्युत्। कपिला विद्युत् जो चमके तो वायु अधिक चले। यह बात कपिला बिजली से जानी गई। इससे वात-शब्द में चतुर्थी हुई ॥ [३ ॥]

'हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या ॥' हित-शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति हो। हितमरोचकिने। यहां अरो[च]की-शब्द में चतुर्थी हुई ॥ [४ ॥] १३ ॥

क्रियार्थोपपदस्य च कर्म्मणि स्थानिनः[2] ॥ १४ ॥

चतुर्थी-ग्रहणमनुवर्त्तते। क्रियार्थोपपदस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] कर्म्मणि । ७ । १ । स्थानिनः । ६ । १ । क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य, स क्रियार्थोपपदो धातुः, तस्य । स्थानिनः = अप्रयुज्यमानस्य । स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य क्रियार्थोपपदस्य धातोः कर्मणि कारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति । वृकेभ्यो व्रजति । शशेभ्यो व्रजति । वृकान् शशांश्च हन्तुं व्रजति । अत्र हन-धातोरुपपदं व्रज-धातुः । हन्तिः क्रियार्थोपपदः, स चाप्रयुज्यमानः, तस्य वृक-शशौ कर्मणी, तत्र चतुर्थी भवति । 'कर्मणि द्वितीया[3] ॥' इति द्वितीया प्राप्ता । [अनेन सूत्रेण] चतुर्थी भवति । अतो द्वितीयापवादोऽयं योगः ॥

'कर्मणि' इति किम् । वृकेभ्यो व्रजत्यश्वेन । अत्राश्व-शब्दे चतुर्थी न भवति ॥

'स्थानिनः' इति किम् । वृकान् हन्तुं व्रजति । अत्रापि न भवति ॥ १४ ॥

---

१. कोश में "असम्भव आश्चर्यरूप [श]कुन देखने में आये उस" इन शब्दों को काटकर पंक्ति के ऊपर "आकाश में विद्युत् के चमकने और गिरने" ये शब्द बनाये गये हैं। हस्तलेख और स्याही आदि में कोई भेद नहीं ॥ कारकीय में—"आकाश से बिजली के चमकने और ओले पत्थर आदि गिरने को उत्पात कहते हैं।" (सू० ५८)

२. कार०—सू० ६० ॥

३. २ । ३ । २ ॥

अनभिहित कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी। उस का अपवाद यह सूत्र है। ['क्रियार्थोपपदस्य'] क्रिया के लिये क्रिया हो उपपद जिस के, उस ['स्थानिनः'] अप्रयुज्यमान धातु के ['कर्म्मणि'] अनभिहित कर्म कारक में चतुर्थी विभक्ति हो। वृकेभ्यो व्रजति = वृकान् हन्तुं व्रजति। यहां मारना जो क्रिया है, उस के लिये 'व्रजति' उपपद है[1]। वह हन धातु अप्रयुज्यमान है। उस के कर्म में चतुर्थी विभक्ति हुई है ॥

कर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'वृकेभ्यो व्रजत्यश्वेन' यहां अश्व-शब्द में चतुर्थी न हो ॥

और स्थानी-ग्रहण इसलिये है कि 'वृकान् हन्तुं व्रजति' यहां प्रयुज्यमान के होने से चतुर्थी नहीं हुई ॥ १४ ॥

तुमर्थाच्च भाववचनात्[2] ॥ १५ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते। तुमर्थात्। ५। १। च। [अ० ।] भाववचनात्। ५। १। अप्रयुज्यमानस्य क्रियार्थोपपदस्य धातोर्यत् कर्म, तद्वाचिनो भाववचनात् तुमर्थात् प्रातिपदिकाच्च चतुर्थी विभक्तिर्भवति। इष्टये व्रजति = इष्टिं कर्तुं व्रजति। पाकाय व्रजति = पाकं कर्तुं व्रजति। अत्राप्रयुज्यमानः क्रियार्थोपपदः कृञ्-धातुः, तस्येष्टिः कर्म, तस्मिन् चतुर्थी ॥

तुमर्थ-ग्रहणं किम्। पाकं करोति ॥ [॥ १५ ॥

'भाववचनाद्' इति किमर्थम्। स्तावको गच्छति। अत्रोभयत्र चतुर्थी न भवति

अप्रयुज्यमान क्रियार्थोपपद धातु का जो कर्म, उस का वाची ['तुमर्थाद् भाववचनात्'] तुमर्थभाववचन जो प्रातिपदिक, उस से चतुर्थी विभक्ति हो। इष्टये व्रजति = इष्टिं कर्तुं व्रजति। यहां अप्रयुज्यमान क्रियार्थोपपद कृञ् धातु है। इष्टि उस का कर्म है। उस में चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

तुमर्थ-ग्रहण इसलिये है कि 'पाकं करोति' यहां चतुर्थी न हो ॥

और भाववचन-ग्रहण इसलिये है कि 'स्तावको गच्छति' यहां चतुर्थी न हो ॥ १५ ॥

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च[3] ॥ १६ ॥

चतुर्थी-ग्रहणमनुवर्त्तते। अन्यत् सर्वं निवृत्तम्। नमस्-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधा-अलं-वषड्योगात्। ५। १। च। [अ० ।] 'नमस्, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं, वषट्' इत्येतैः शब्दैर्योगे चतुर्थी विभक्तिर्भवति। नमो गुरुभ्यः। नमः पितृभ्य[4]।

---

१. कोश में "०उपपद है" इस के आगे "हन धातु के" इतना अधिक है ॥

२. कार०—सू० ६१ ॥

३. कार०—सू० ६२ ॥

चा० श०—"नमःस्वस्तिस्वाहास्वधावषड्डक्तार्थैः ॥" (२। १। ७८)

४. अथर्ववेदे (५। ३०। १२)—"नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति।"

स्वस्ति शिष्येभ्यः[1]। अग्नये स्वाहा[2]। सोमाय स्वाहा[3]। स्वधा पितृभ्यः[4]। अलं मल्लो मल्लाय। वषडग्नये। वषडिन्द्राय[5]। एवं नमःस्वस्त्यादिषट्शब्दानां योगे चतुर्थी भवति ॥

वा०—अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥ १ ॥

इह मा भूत्—अलङ्कुरुते कन्याम्। इहापि यथा स्यात्—प्रभुर्मल्लो मल्लाय। प्रभवति मल्लो मल्लाय ॥[6]

पर्याप्त्यर्थाः समर्थपर्यायाः शब्दाः। मल्लाय मल्लः समर्थः ॥ १६ ॥

['नमःस्वस्ति०'] नमस्, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं, वषट्, इन शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति हो। नमो गुरुभ्यः। यहां नमस्-शब्द के योग में गुरु-शब्द से चतुर्थी। स्वस्ति शिष्येभ्यः। यहां स्वस्ति-शब्द के योग में शिष्य-शब्द से चतुर्थी। अग्नये स्वाहा[2]। यहां स्वाहा-शब्द के योग में अग्नि-शब्द से चतुर्थी। स्वधा पितृभ्यः[4]। यहां स्वधा-शब्द के योग में पितृ-शब्द से चतुर्थी। अलं मल्लो मल्लाय। यहां अलं-शब्द के योग में मल्ल-शब्द से चतुर्थी। वषडग्नये। और यहां वषट्-शब्द के योग में अग्नि-शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणं कर्तव्यम् ॥' अलं-शब्द से समर्थवाचक शब्दों का ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि 'अलंकुरुते कन्याम्' यहां तो चतुर्थी विभक्ति न हो और 'प्रभुर्मल्लो मल्लाय' यहां अलं के पर्यायवाची प्रभु-शब्द से भी चतुर्थी विभक्ति हो जावे ॥ १६ ॥

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु[7]॥ १७ ॥

---

१. अथर्ववेदे (१ । ३१ । ४)—"स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।"

२. वा०—१० । ५ ॥
तै०—१ । ८ । १३ । ३ ॥
मै०—२ । ६ । ११ ॥
का०—१५ । ७ ॥
अ०—१९ । ४ । १ ॥

३ वा०—१० । ५ ॥
तै०—७ । १ । १४ ॥
मै०—२ । ६ । ११ ॥
का०—१५ । ७ ॥
अ०—१९ । ४३ । ५ ॥

४. वा०—२ । ७ ॥
तै०—१ । १ । ११ । १ ॥
मै०—१ । १ । १३ ॥
का०—३ । १ ॥　　[आ कृणोमि।"

५. ऋग्वेदे (७।९९।७)—"वषट् ते विष्णवास इश्यतां कारकीये—"['नमस्ते रुद्रमन्यवे'] प्राण के लिये 'नमः' अन्न। ['अग्नये स्वाहा'] अग्नि में 'स्वाहा' संस्कृत हवि। ['स्वधा पितृभ्यः'] पितरों अर्थात् पिता आदि ज्ञानियों से 'स्वधा' अर्थात् अपने योग्य सुशिक्षा। ['वषडिन्द्राय'] 'इन्द्र' बिजली की विद्या ग्रहण करने के लिये उत्तम क्रिया अच्छी होती है।" (सू० ६२ टिप्पणं †)

६. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥

७. कार०—सू० ६४ ॥　[(२ । १ । ८०) चा० श०—"मन्याप्ये कुत्सायामनादरे वा ॥"

चतुर्थी-ग्रहणमनुवर्त्तते । मन्यकर्मणि । ७ । १ । अनादरे । ७ । १ । विभाषा । [अ० ।] अप्राणिषु । ७ । ३ । मन्यतेर्दैवादिकस्य धातोः कर्म = मन्यकर्म, तस्मिन् । अनादरे = तिरस्कारे । मन्य-धातोरनभिहितेऽचेतनवाचिकर्मणि चतुर्थी विभक्तिर्विकल्पेन भवत्यनादरे कर्त्तव्ये । त्वां तृणं मन्ये । त्वां तृणाय मन्ये । तृणवन्मन्य इत्यर्थः । अत्राप्राणिवाचिनि तृण-शब्दे द्वितीया-चतुर्थ्यौ भवतः ॥

'मन्य' इति विकरणग्रहणं किम् । त्वां तृणं मन्वे । अत्र चतुर्थी न भवति ॥

'मन्यकर्मणि' इति किम् । त्वां तृणं जानामि ॥

'अनादरे' इति किम् । भ्रातृपुत्रं सुतं मन्ये ॥

'अप्राणिषु' इति किम् । त्वां काकं मन्ये, शुकं मन्ये । अत्र सर्वत्र चतुर्थी न भवति ॥

वा०—अनावादिष्विति वक्तव्यम्[1] ॥ १ ॥

'अप्राणिषु' इत्येतस्य स्थाने 'अनावादिषु' इति न्यासरूपं वार्त्तिकं कर्त्तव्यं, तेन प्राणिष्वपि क्वचिद् यथा स्यात् । न त्वा श्वानं मन्ये । न त्वा शुने मन्ये । अत्र प्राणिवाचिन्यपि श्व-शब्दे चतुर्थी भवति । अप्राणिवाचिन्यपि क्वचिन्न भवति । न त्वा नावं मन्ये यावत् तीर्णं न नाव्यम् । न त्वाऽन्नं मन्ये यावद् भुक्तं न श्राद्धम् । अत्राऽप्राणिवाचिनि नौ-शब्देऽन्न-शब्दे च चतुर्थी न भवति ॥ १७ ॥

इस सूत्र में 'मन्य' निर्देश दिवादिगण के धातु का किया है । ['मन्यकर्मणि अप्राणिषु'] मन्य धातु के अप्राणिवाची अनभिहित कर्म में ['विभाषा'] विकल्प करके ['अनादरे'] तिरस्कार अर्थ में चतुर्थी विभक्ति हो । त्वां तृणं मन्ये । त्वां तृणाय मन्ये । यहां मन्य धातु के तृण कर्म में चतुर्थी और पक्ष में द्वितीया विभक्ति हुई है । मैं तुझ को तृण के तुल्य मानता हूं । यह तिरस्कार है ॥

दिवादिविकरण के ग्रहण से 'त्वां तृणं मन्वे' यहां चतुर्थी नहीं होती ॥

मन्यकर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'त्वां तृणं जानामि' यहां ज्ञा धातु के कर्म में चतुर्थी न हो ॥

अनादर-ग्रहण इसलिये है कि 'वाचं मन्ये सरस्वतीम्' यहां चतुर्थी न हो ॥

---

१. चा० श०—"मन्याप्ये कुत्सायामनावादौ वा ॥" (२ । १ । ८०)

महाभाष्यकोशेषु पाठान्तरम्—"यदेतदप्राणिष्वित्येतदनावादिष्विति वक्ष्यामि ॥"

काशिकायां च—"यदेतदप्राणिष्विति तदनावादिष्विति वक्तव्यम् ॥"

प्रक्रियाकौमुद्यां तु—"अप्राणिष्विति नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम् ॥" (विभक्त्यर्थप्रकरणे)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥

और अप्राणि-ग्रहण इसलिये है कि '[त्वां] काकं मन्ये' यहां भी चतुर्थी न हो ॥

'अनावादिष्विति वक्तव्यम् ॥' सूत्र में अप्राणि जो ग्रहण किया है, उस के स्थान में वार्त्तिक रूप 'अनावादिषु' ऐसा न्यास करना चाहिये, क्योंकि कहीं २ प्राणिवाची मन्य धातु के कर्म में भी चतुर्थी होती है। जैसे—न त्वा श्वानं मन्ये। न त्वा शुने मन्ये। यहां कुत्ते के वाची श्व-शब्द से चतुर्थी हो गई। तथा कहीं २ अप्राणिवाची में भी नहीं होती। जैसे—न त्वा नावं मन्ये यावत् तीर्णं न नाव्यम्। यहां नौका के वाची नौ-शब्द में भी चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई ॥ १७ ॥

कर्तृकरणयोस्तृतीया[1] ॥ १८ ॥

कर्तृ-करणयोः । ७ । २ । तृतीया । १ । १ । अनभिहितयोः कर्तृ-करण-कारकयोस्तृतीया विभक्तिर्भवति । [कर्तरि—] देवदत्तेन कृतम् । देवदत्तेन भुक्तम् । मयाऽधीतम् । त्वया दृष्टम् । करणे—असिना छिनत्ति । दात्रेण लुनाति । अग्निना पचति । कर्तृ-करण-सञ्ज्ञे पूर्वं[2] कृते, तयोरिदं फलं तृतीयाविधानम् ॥

वा०—*तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य[3] उपसङ्ख्यानम् ॥*

प्रकृत्या दर्शनीयः । प्रायेण याज्ञिकः[4] । प्रायेण वैयाकरणः[5] । माठरोऽस्मि गोत्रेण । गार्ग्योऽस्मि गोत्रेण । समेन धावति । विषमेण धावति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । [त्रिद्रोणेन धान्यं क्रीणाति ।] पञ्चकेन पशून् क्रीणाति । साहस्रेणाश्वान् क्रीणाति[6] ॥[7]

अत्र कर्तृकरणकारकौ न स्तः, अतस्तृतीया न प्राप्ता । अनेन वार्त्तिकेन विधीयते ॥ १८ ॥

---

१. कार०—सू० ४० ॥ [(२ । १ । ६२, ६३) चा० श०—"कर्तरि तृतीया ॥ करणे ॥"

२. १ । ४ । ५४, ४२ ॥

३. काशिकायाम्—प्रकृत्यादीनाम् ॥
प्रक्रियाकौमुद्यां तु "प्रकृत्यादिभ्यस्तृतीया ॥" इति वार्त्तिकम् ॥

४. पाठान्तरम्— याज्ञिकाः ॥

५. पाठान्तरम्—वैयाकरणाः ॥

६. "प्रकृत्या दर्शनीयः" इत्यादौ क्रियाया अविद्यमानत्वात् कर्तृकरणे न सम्भवतः । तयोः क्रियापेक्षत्वात् । ततश्च सम्बन्धलक्षणा षष्ठी स्यात् —प्रकृतेर्दर्शनीयः । प्रायस्य याज्ञिकः । प्रायस्य वैयाकरणः । ("प्रायेण याज्ञिकाः । प्रायेण वैयाकरणाः" इत्यत्र तु प्राय-शब्दो बह्वर्थवाची । तत्र प्रथमा प्राप्नोति) "गोत्रेण" इत्यत्र प्रथमा षष्ठी वा स्यात् । "समेन धावति" इत्यादौ सत्यामपि क्रियायां न सम-विषम-शब्दौ करणत्वेन विवक्षितौ । किं तर्हि । कर्मत्वेन । ततश्च द्वितीया स्यात् । "द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति" इत्यत्रापि पूर्ववद् द्वितीयाप्राप्तिः । "पञ्चकेन" पञ्चकं सङ्घं कृत्वेति । "पशून्" इत्यनेनैतत् समानाधिकरणमिति द्वितीयैव स्यात् । "साहस्रेण" साहस्रं सङ्घं कृत्वेति । सहस्रं सहस्रं कृत्वेत्यर्थः ॥

७. म० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

अनभिहित ['कर्तृ-करणयो:'] कर्त्ता, करण कारकों में ['तृतीया'] तृतीया विभक्ति हो । [कर्ता—] देवदत्तेन कृतम् । यहां कर्त्तावाची देवदत्त-शब्द से तृतीया हुई । करण— दात्रेण लुनाति । और यहां करणवाची दात्र-शब्द से तृतीया विभक्ति हुई है । पूर्व प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद में[1] कर्त्ता- और करण-सञ्ज्ञा कर चुके हैं । उस का फल यहां दिखलाया है ॥

'तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् ॥' प्रकृति आदि शब्दों से भी तृतीया विभक्ति हो । प्रकृत्याऽभिरूप: । यहां कर्त्ता, करण कारक के न होने से तृतीया नहीं प्राप्त थी, सो इस वार्तिक से विधान की है । प्रकृति आदि शब्द बहुत हैं । वे संस्कृत में पूर्व लिख दिये हैं ॥ १८ ॥

सहयुक्तेऽप्रधाने ॥ १९ ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते । सहयुक्ते । ७ । १ । अप्रधाने । ७ । १ । सह-शब्देन युक्तेऽप्रधाने कर्तृकारके तृतीया विभक्तिर्भवति । शिष्येण सहागतोऽध्यापकः । पुत्रेण सहागतः पिता । अत्र शिष्यपुत्रावप्रधानौ, तत्र तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

अनभिहितस्याप्रधानत्वात् पूर्वसूत्रेणैव सिद्धा तृतीया । पुनर्वचनं सह-शब्देन विनाऽपि सहार्थे गम्यमानेऽनेनैव तृतीया विभक्तिर्यथा स्यात्[3] । वत्सेन गौश्चरति । 'वत्सेन सह' इत्यर्थः ॥ १९ ॥

['सहयुक्ते'] सह-शब्द से युक्त ['अप्रधाने'] अप्रधान कर्ता कारक में तृतीया विभक्ति होती है । पुत्रेण सहागतः पिता । यहां पुत्र अप्रधान है । उस में तृतीया विभक्ति होती है ॥

पूर्व सूत्र से अप्रधान कर्ता में तृतीया विभक्ति हो जाती, फिर इस सूत्र के पृथक् पढ़ने से कहीं २ सह-शब्द का योग न हो, वहां भी तृतीया हो जाती है ॥ १९ ॥

येनाङ्गविकारः[4] ॥ २० ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते । येन । ३ । १ । अङ्गविकारः । १ । १ । अङ्गस्य = शरीरस्य विकारः = अङ्गविकारः । 'येन' अङ्गेन इत्याक्षेपः । येनाङ्गेन = अवयवेन [विकृतेन] अङ्गिनो विकारो लक्ष्यते, तत्र तृतीया विभक्तिर्भवति[5] । अक्ष्णा काणः । पादेन खञ्जः । अत्राक्षि-शब्देन पाद-शब्देन च काणत्वं खञ्जत्वं च लक्ष्यते, तत्रावयवे तृतीया भवति । एवं 'शिरसा खल्वाटः' [इति] अत्रापि ॥ २० ॥

['येन'] जिस [विकृत] अंग = अवयव से ['अङ्गविकारः'] शरीर का विकार प्रसिद्ध

१. सूत्र ५४ और ४२ ॥

२. कार०—सू० ४२ ॥

चा० श०—"सहार्थेन ॥" (२ । १ । ६५).

३. "वृद्धो यूना० ॥" (१ । २ । ६५) इति निदर्शनात् ॥

४. कार०—सू० ४३ ॥

५. वार्तिकं चापि भवति—"अङ्गाद् विकृतात् तद्विकारतश्चेदङ्गिनो वचनम् ॥" (अ० २ । पा० ३ । आ० २)

हो, उस अवयव में तृतीया विभक्ति हो। शिरसा खल्वाटः। यहां शिरस्-शब्द से गञ्जापन प्रसिद्ध होता है, इससे शिरस्-शब्द में तृतीया विभक्ति हुई है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में समझना चाहिये ॥ २० ॥

इत्थम्भूतलक्षणे[1] ॥ २१ ॥

इत्थंभूतलक्षणे। ७। १। लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्। **इत्थंभूतस्य लक्षणं = इत्थंभूतलक्षणं, तस्मिन्।** इत्थंभूतलक्षणे तृतीया विभक्तिर्भवति। अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्। अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत्। अत्र कमण्डलु-मेखले लक्षणे, तत्र तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

'इत्थंभूत' इति किम्। वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। अत्र वृक्ष-शब्दे तृतीया न भवति ॥ २१ ॥

['इत्थंभूतलक्षणे'] इत्थंभूत अर्थात् 'इस प्रकार का' यह बात जिस से जानी जाय, वहां तृतीया विभक्ति हो। अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत्। यहां मेखला-शब्द से ब्रह्मचारी का स्वरूप जाना जाता है, इसलिये मेखला-शब्द में तृतीया होती है ॥

इत्थंभूत-ग्रहण इसलिये है कि 'वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्' यहां वृक्ष-शब्द में तृतीया न हो ॥ २१ ॥

सञ्ज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि[2] ॥ २२ ॥

अप्राप्तविभाषेयम्। 'कर्मणि द्वितीया[3] ॥' इति द्वितीया प्राप्ता। अप्राप्ता तृतीयाऽनेन विधीयते। पक्षे द्वितीयाऽपि भवति। सञ्ज्ञः। ६। १। अन्यतरस्याम् [अ० ।] कर्मणि। ७। १। सं-पूर्वकस्य ज्ञा-धातोरनभि[हि]ते कर्मणि विकल्पेन तृतीया विभक्तिर्भवति। मात्रा सञ्जानीते बालः। मातरं सञ्जानीते बालः। अत्र मातृ-शब्दे तृतीया-द्वितीये विभक्ती भवतः ॥ २२ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि अनभि[हि]त कर्म में द्वितीया प्राप्त है और तृतीया किसी से प्राप्त नहीं। ['सञ्ज्ञः'] सं पूर्वक ज्ञा धातु के ['कर्मणि'] अनभिहित कर्म में तृतीया विभक्ति ['अन्यतरस्यां'] विकल्प करके हो। पक्ष में द्वितीया हो। मात्रा सञ्जानीते बालः। मातरं सञ्जानीते बालः। यहां मातृ-शब्द में तृतीया और द्वितीया विभक्ति विकल्प से हुई हैं ॥ २२ ॥

हेतौ[4] ॥ २३ ॥

---

१. कार०—सू० ४४ ॥
चा० श०—"लक्षणे ॥" (२ । १ । ६६)

२. कार०—सू० ४५ ॥
चा० श०—"सञ्ज्ञो व्याप्ये वा ॥" (२।१।६७)

३. २ । ३ । २ ॥

४. कार०—सू० ४६ ॥
चा० श०—"हेतौ ॥" (२ । १ । ६८)

हेतौ । ७ । १ । हेतुवाचिशब्दे तृतीया विभक्तिर्भवति । विद्यया यशः । सत्सङ्गेन बुद्धिः । यशसो हेतुर्विद्या, तस्माद् विद्या-शब्दे तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

वा०—*निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् ॥*[1] ? ॥

निमित्त-कारण-हेतुषु त्रिषु शब्देषु सर्वासां [विभक्तीनां] प्रायेण = बहुलेन दर्शनं भवति ।

किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन वसति । कस्मै निमित्ताय वसति । कस्मान् निमित्ताद् वसति । कस्य निमित्तस्य वसति । कस्मिन् निमित्ते वसति । किं कारणं वसति । केन कारणेन वसति । कस्मै कारणाय वसति । कस्मात् कारणात् वसति । कस्य कारणस्य वसति । कस्मिन् कारणे वसति । को हेतुर्वसति । कं हेतुं वसति । केन हेतुना वसति । कस्मै हेतवे वसति । कस्माद्धेतोर्वसति । कस्य हेतोर्वसति । कस्मिन् हेतौ वसति ॥[2]२३ ॥

['हेतौ'] हेतुवाची शब्द में तृतीया विभक्ति हो । **विद्यया यशः** । यश होने का हेतु विद्या है, इसलिये विद्या-शब्द में तृतीया विभक्ति हो गई ॥

'**निमित्त-कारण-हेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्** ॥' निमित्त, कारण और हेतु इन तीन शब्दों [में] सब विभक्ति बहुत करके होती हैं । जैसे— **किं निमित्तं वसति** । **केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय** इत्यादि उदाहरण संस्कृत में सब लिख दिये हैं ॥ २३ ॥

अकर्त्तर्यृणे पञ्चमी[3] ॥ २४ ॥

'हेतौ' इत्यनुवर्त्तते । अकर्त्तरि । ७ । १ । ऋणे । ७ । १ । पञ्चमी । १ । १ । कर्तृरहिते हेतौ पञ्चमी विभक्तिर्भवति ऋणे वाच्ये सति । शताद् बद्धः । सहस्राद् बद्धः । शतं सहस्रं वा ऋणमस्योपरि वर्त्तते, तस्माद् हेतोरुत्तमर्णेनाऽयं बद्ध इत्यर्थः । अत एव शत-सहस्र-शब्दयोः पञ्चमी भवति ॥

---

१. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

वृत्तिकारेण त्विदं वार्त्तिकं "सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥" (२ । ३ । २७) इति सूत्रे पठितम् ॥

अत्र कैयटः—"निमित्तेति असर्वनाम्नोऽपि विधानार्थमत्र सूत्र इदं पठितं, न तु [वृत्तिकारवत्] 'सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥' (२ । ३ । २७) इत्यत्र । तत्र प्राय-ग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमा-द्वितीये न भवतः, अन्यास्तु यथादर्शनं भवन्ति । पर्यायोपादानं केचित् पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थमिच्छन्ति । अन्ये तूपलक्षणार्थमिच्छन्तः प्रयोजनादि-प्रयोगेऽप्येतद्विभक्तिविधानं मन्यन्ते ॥"

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. कार०—सू० ४८ ॥

चा० श०—"ऋणे पञ्चमी ॥" (२।१।६६)

अकर्तरि-ग्रहणं किमर्थम् । शतेन बन्धितः[1] । अत्र प्रयोजककर्तृत्वेन शत-शब्दो विवक्षितः, तस्मात् पञ्चमी [न] भवति ॥ २४ ॥

['अकर्त्तरि'] कर्त्ताभिन्न हेतुवाची शब्दों में ['पञ्चमी'] पञ्चमी विभक्ति हो ['ऋणे'] ऋण अर्थ में । शताद् बद्धः । सौ रुपये जिस पर आते थे, [उस को] उस ऋण के होने से ऋण वाले ने बांधा । इसलिये शत-शब्द में पञ्चमी विभक्ति हुई है ॥

'अकर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि 'शतेन बन्धितः'[2] यहां शत-शब्द में प्रयोजक कर्त्ता की विवक्षा होने से पंचमी विभक्ति न हुई ॥ २४ ॥

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्[3] ॥ २५ ॥

'हेतौ' इत्यनुवर्त्तते । विभाषा । [अ० ।] गुणे । ७ । १ । अस्त्रियाम् । ७ । १ । अप्राप्तविभाषेयम् । पूर्वेण[4] हेतुवाचिनि नित्यं तृतीया प्राप्ता, पञ्चमी विकल्प्यते । अस्त्रियां = स्त्रीलिङ्गं विहाय पुन्नपुंसकलिङ्गे वर्त्तमानो यो गुणशब्दः, तस्मिन् विकल्पेन पञ्चमी विभक्तिर्भवति । मौढ्याद् बद्धः । मौढ्येन बद्धः । पाण्डित्यात् पाण्डित्येन वा पूजितः । अत्र मौढ्यं पाण्डित्यं च गुणः, तत्र पञ्चमी-तृतीये भवतः ॥

'अस्त्रियाम्' इति किम् । प्रज्ञया पूजितः । बुद्ध्या पूजितः । अत्र स्त्रीलिङ्गत्वात् पञ्चमी विभक्तिर्न भवति ॥ २५ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि हेतु अर्थ में तृतीया प्राप्त है [और] यहां पंचमी का विकल्प किया है । ['अस्त्रियां'] स्त्रीलिंग को छोड़के पुँल्लिङ्ग वा नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान जो ['गुणे'] गुणवाची शब्द, उस में ['विभाषा'] विकल्प करके पंचमी विभक्ति हो । मौढ्यात् मौढ्येन वा बद्धः । यहां मौढ्य अर्थात् मूढपन यह गुणवाची शब्द है । उस में पञ्चमी और तृतीया विभक्ति होती हैं ॥

'अस्त्रियां' ग्रहण इसलिये है कि 'प्रज्ञया पूजितः' यहां पंचमी विभक्ति न हो ॥ २५ ॥

षष्ठी हेतुप्रयोगे[5] ॥ २६ ॥

तृतीया-पञ्चम्यौ निवृत्ते । षष्ठी । १ । १ । हेतुप्रयोगे । ७ । १ । हेतोः प्रयोगः = हेतुप्रयोगः, तस्मिन् । हेतु-शब्दस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति । विद्याया हेतोर्वाराणस्यां वसति । अन्नस्य हेतोर्धनिकुले वसति । अत्र सविशेषणे हेतु-शब्दे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ २६ ॥

---

१. बन्धेर्ण्यन्तस्य निष्ठायामेतद् रूपम् ॥

२. अर्थात् सौ रुपये के ऋण ने बन्धवा दिया ॥

३. कार०—सू० ४६ ॥
चा० श०—"गुणे वा ॥" (२ । १ । ७०)

४. २ । ३ । २३ ॥

५. कार०—सू० ५० ॥
चा० श०—"षष्ठी हेतुना ॥" (२ । १ । ७१)

['हेतुप्रयोगे'] हेतु-शब्द के प्रयोग में ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो । अन्नस्य हेतोर्वनिकुले वसति । यहां विशेषण सहित हेतु-शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई है ॥ २६ ॥

सर्वनाम्नस्तृतीया च[1] ॥ २७ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । सर्वनाम्नः । ६ । १ । तृतीया । १ । १ । च । [अ० ।] सर्वनामविशेषणस्य हेतु-शब्दस्य प्रयोगे तृतीया-षष्ठ्यौ विभक्ती भवतः । केन हेतुना वसति, कस्य हेतोर्वसति । अनेन हेतुना, अस्य हेतोर्वा वसति । तेन हेतुना, तस्य हेतोर्वा वसति । अत्र सर्वनामविशेषणस्य हेतु-शब्दस्य प्रयोगे तृतीया-षष्ठ्यौ विभक्ती भवतः ॥ २७ ॥

['सर्वनाम्नः'] सर्वनामवाची शब्द विशेषण सहित हेतु-शब्द के प्रयोग में ['तृतीया च'] तृतीया [और] षष्ठी विभक्ति हों । केन हेतुना, कस्य हेतोर्वा वसति । यहां सर्वनामवाची किं-शब्द विशेषणसहित [हेतु-]शब्द के प्रयोग में तृतीया, षष्ठी विभक्ति हुई हैं ॥२७॥

अपादाने पञ्चमी[2] ॥ २८ ॥

'ध्रुवमपायेऽपादानम्[3] ॥' इत्यपादान-सञ्ज्ञा कृता । तस्या इह फलमुच्यते । अपादाने । ७ । १ । पञ्चमी । १ । १ । अपादानकारके पञ्चमी विभक्तिर्भवति । ग्रामादागच्छति । वृक्षात् पर्णानि पतन्ति । वृकेभ्यो बिभेति । अध्ययनात् पराजयत इत्युदाहरणेषु ग्रामाद्यपादानशब्देषु पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥

वा०—*पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसङ्ख्यानम् ॥[4] १ ॥*

ल्यबन्तस्य यत् कर्म, तत्र [ल्यब्लोपे] पञ्चमी विभक्तिर्भवति । प्रासादमारुह्य प्रेक्षते = प्रासादात् प्रेक्षते । अत्र 'आरुह्य' इति ल्यबन्तं, तस्य प्रासादः कर्म, तत्र पञ्चमी ॥ १ ॥

अधिकरणे च ॥[4] २ ॥

ल्यबन्तस्य यदधिकरणं, तत्रापि [ल्यब्लोपे] पञ्चमी भवति । आसन उपविश्य प्रेक्षते = आसनात् प्रेक्षते । शयनात् प्रेक्षते । अत्र 'उपविश्य' इति ल्यबन्तस्यासनमधिकरणं, तस्मिन् पञ्चमी ॥ २ ॥

प्रश्नाख्यानयोश्च ॥[4] ३ ॥

---

१. कार०—सू० ५१ ॥
चा० श० (२ । १ । ७२)—"सर्वाः सर्वादिभ्यो हेत्वर्थैः ॥ (हेत्वर्थैः शब्दैर्योगे सर्वादिभ्यः सर्वा विभक्तयो भवन्ति)"

२. कार०—सू० ७७ ॥
चा० श०—"अवधेः पञ्चमी ॥" (२ । १ । ८१)

३. १ । ४ । २४ ॥

४. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

प्रश्नवाचिशब्दे आख्यानवाचिशब्दे च पञ्चमी भवति । कुतो भवान् । पाटलिपुत्रात्[1]। अत्र 'कुतः' इति प्रश्नवाचिशब्दे पञ्चमी, 'पाटलिपुत्रात्' इत्याख्यानवाचिशब्दे च ॥ ३ ॥

यतश्चाध्वकालनिर्माणम् ॥[2] *४ ॥*

यस्मादध्वनिर्माणं कालनिर्माणं च भवति, तद्वाचिशब्दादपि पञ्चमी वक्तव्या । गवीधुमतः[3] साङ्काश्यं[4] चत्वारि योजनानि । गवीधुमतो नगरात् साङ्काश्यं नगरं चत्वारि योजनानि इति मार्गनिर्माणं = [मार्ग-] इयत्तादर्शनम् । कालनिर्माणम्— कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे । कार्त्तिक्याः पौर्णमास्या आग्रहायणी मास इति कालनिर्माणम् । गवीधुमत्-शब्दादध्वनिर्माणं, तत्र पञ्चमी । कार्त्तिकी-शब्दात् कालनिर्माणं, तत्र च ॥ ४ ॥

तद्युक्तात् काले सप्तमी ॥[2] *५ ॥*

१. कोशे तु—"पाटलिपुत्राद्वसति ।" इति । कारकीयेऽप्येष एव पाठः ॥ (सू० ८०)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. नेदं नगरं कुत्रचिदप्युपवर्णितम् । दिष्ट्या संयुक्तप्रान्त इटावानगरात् त्रिषु योजनेषु पूर्वोत्तरदिश्ये कुदारकोटग्रामे श्रीहरिदत्तसुतस्य श्रीहरिवर्म्मणः शिलालेखः सम्प्राप्तः । (दृश्यतां "एपिग्राफिया इण्डिका" प्रथमो भागः पृ० १८०. Epigr. Ind. Vol. 1. p. 180 . एतस्माच्छक्यतेऽनुमातुं—पुरा "गवीधुमान्" इति लब्धप्रतिष्ठं "रम्यं सन्ततवेदविद्याव्याख्यानघोषबधिरीकृतदिङ्मुखं" नगरं सम्प्रति नष्टविभवं "कुदारकोट" इति नामान्तरं बिभर्त्ति इति ॥

अथ शिलालेखः—

(पं० १) आसीच्छ्रीहरिदत्ताख्यः

(पं० २) ख्यातो हरिरिवापरः ।

श्रीहर्षे समुत्कर्षं नीतोऽपि विकृतो न यः ॥ [२॥]

(पं० १०) रम्ये गवीधुमति सन्ततवेदविद्याव्याख्यान-

(पं० ११) घोषब[ब]धिरीकृतदिङ्मुखेऽस्मिन् ।

उच्चैरचीकरदुरुस्थिरचारुचित्रं

त्रैविद्यमन्दिरमुदारमिदं स साधुः ॥ [१५॥]

४. रामायणे "साङ्काश्या" इति ॥ (महाराष्ट्रशाखीये बालकाण्डे सप्ततितमे सर्गे श्लो० ३, ७)

इदं नगरमिक्षुमत्याः ("कालीनदी" इत्यपरनाम्न्याः) वामतटे फतहगढ़नगरात् पश्चिमदिश्ये-कादशक्रोशेषु, कान्यकुब्जनगराच्चोत्तरपश्चिमस्यां द्वाविंशतिक्रोशेषु 'संकिसा' इति नाम्ना सम्प्रति लोके प्रसिद्धम् । कुदारकोटग्रामादष्टादशक्रोशाध्वना विच्छिन्नोऽयं संकिसाग्रामः । पुरात्र बौद्धानां महान् तीर्थ आसीत् । धर्मराजप्रियदर्शिनाऽशोकेन कारितः स्तूपश्चात्राद्यावधि तिष्ठति ॥

रामायणे चोक्तम्—

"ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा महर्षिभिः ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शतानन्दं पुरोहितम् ॥१॥
भ्राता मम महातेजा वीर्यवानतिधार्मिकः ।
कुशध्वज इति ख्यातः पुरीमध्यवसच्छुभाम् ॥२॥
वार्याफलकपर्यन्तां पिबन्निक्षुमतीं नदीम् ।
साङ्काश्यां पुण्यसङ्काशां विमानमिव पुष्पकम् ॥३॥"

(महाराष्ट्रशाखीये बालकाण्डे सप्ततितमः सर्गः)

अथापि दृश्यतां विनयपिटके सुत्तविभङ्गे प्रथमपाराजिके (१ । ४) वेरञ्जभाणवारम् ॥

तद्युक्तात् = पञ्चमीयुक्तात् कालवाचिशब्दे सप्तमी भवति, सा च मास-शब्दे पूर्ववार्त्तिके दर्शिता ॥ ५ ॥

अध्वनः प्रथमा च ॥[1] *६ ॥*

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते । अध्ववाचिनि शब्दे प्रथमा-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि । गवीधुमतः साङ्काश्यं चतुर्षु योजनेषु । अत्र योजन-शब्दे प्रथमा-सप्तम्यौ भवतः ॥ [६॥] २८ ॥

पूर्व[2] अपादान-सञ्ज्ञा कर चुके हैं । उस का फल यहां दिखलाते हैं । ['अपादाने'] अपादान कारक में ['पञ्चमी'] पंचमी विभक्ति हो । ग्रामादागच्छति इत्यादि उदाहरणों में ग्राम आदि अपादान-सञ्ज्ञक शब्दों से पंचमी विभक्ति होती है ॥

अब आगे वार्त्तिकों के अर्थ किये जाते हैं—

'पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसङ्ख्यानम् ॥' ल्यबन्त क्रिया का लोप हो और उस का जो कर्म है, उस में पञ्चमी विभक्ति हो। प्रासादमारुह्य प्रेक्षते = प्रासादात् प्रेक्षते । यहां ल्यबन्त क्रिया आरुह्य है । उस का लोप हो गया है, इससे उस के प्रासाद कर्म में पंचमी विभक्ति हुई है ॥ १ ॥

'अधिकरणे च ॥' ल्यबन्त क्रिया का जो अधिकरण है, उस में पञ्चमी विभक्ति हो और ल्यबन्त क्रिया का लोप हो जावे । आसने उपविश्य प्रेक्षते = आसनात् प्रेक्षते । यहां उपविश्य ल्यबन्त क्रिया है । उस के आसन अधिकरण शब्द में पंचमी हुई और उपविश्य ल्यबन्त का लोप हो गया ॥ २ ॥

'प्रश्नाख्यानयोश्च ॥' प्रश्न और आख्यानवाची शब्द में पंचमी विभक्ति हो । कुतो भवान् । पाटलिपुत्रात्[3]। यहां कुतः-शब्द में प्रश्नवाची के होने से और पाटलिपुत्र-शब्द में आख्यान के होने से पंचमी विभक्ति हुई है ॥ ३ ॥

'यतश्चाध्वकालनिर्माणम् ॥' जहां से मार्ग और काल का प्रमाण किया जाय, वहां पंचमी विभक्ति हो । गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि । गवीधुमान् किसी नगर का नाम है, उस से सांकाश्य नगर चार योजन दूर है । यहां गवीधुमान् से मार्ग का प्रमाण होता है । इससे उस में पंचमी विभक्ति हो गई । और योजन-शब्द में प्रथमा और सप्तमी दो विभक्ति हों—योजनानि, योजनेषु । कालनिर्माण—कार्तिक्या आग्रहायणी मासे । यहां कार्तिकी-शब्द से काल का प्रमाण है । उस में पंचमी और मास-शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है ॥ [४—६॥] २८ ॥

अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते[4] ॥ २९ ॥

---

१. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

२. १ । ४ । २४ ॥

३. कोश में—"पाटलिपुत्राद्वसति ॥" कारकीय में (सू० ८०) भी इसी प्रकार से है ॥

४. कार०—सू० ८४ ॥ चा० श०—"ऋते द्वितीया च ॥" (२।१।८४)

'पञ्चमी' इत्यनुवर्त्तते । [अन्या० । ७ । १ ।] 'अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्छब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्, आहि' इत्येतैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अन्य[1]— अन्योऽयं वृक्षः पूर्वदृष्टात् । अन्यमिदं कुलं पूर्वदृष्टात् । आरात्— क्षत्रियादारात् । इतर— इतरो देवदत्तात् । ऋते— ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः । दिग्वाचिनः शब्दाः = दिक्छब्दाः— पूर्वो ग्रामात् कूपः । उत्तरो ग्रामात् कूपः । अञ्चुः क्विन्नन्तो धातुरुत्तरपदं यस्य, सोऽञ्चूत्तरपदः— प्राग् ग्रामान्नदी । प्रत्यग् ग्रामान्नदी । आच्— दक्षिणा ग्रामात् । अत्र 'दक्षिणादाच्[2] ॥' इत्याच्-प्रत्ययान्तस्याव्ययशब्दस्य ग्रहणम् । आहि— दक्षिणाहि ग्रामात् । अत्राप्याहि-प्रत्ययान्तस्याव्ययस्यैव ग्रहणम् । अन्य-शब्दादियोगे शब्दान्तरेभ्यः परा पञ्चमी भवति ॥

'दिक्छब्द' इत्येव सिद्धेऽञ्चूत्तरपद-ग्रहणं किमर्थम् । 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन[3] ॥' इत्यतसर्थप्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी विहिता, तद्बाधनार्थमञ्चूत्तरपद-ग्रहणम् । अञ्चूत्तरपदस्यातसर्थत्वात् । अतसर्थेष्वञ्चूत्तरपदमप्यव्ययं वर्त्तते ॥ २९ ॥

['अन्यारा०'] अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिशावाची शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्-प्रत्ययान्त अव्यय शब्द, आहि-प्रत्ययान्त अव्यय, इन शब्दों के योग में पंचमी विभक्ति हो । अन्य— अन्यो देवदत्ताद् यज्ञदत्तः । यहां अन्य-शब्द के योग में देवदत्त-शब्द से पंचमी विभक्ति हुई । आरात्— आराच्छूद्राद् रजकः । यहां आरात् के योग में शूद्र-शब्द से । इतर— स्वस्मादितरं न गृह्णीयात् । यहां इतर-शब्द के योग में स्व-शब्द से पंचमी । ऋते— ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः । यहां ऋते-शब्द के योग में ज्ञान-शब्द से पंचमी । दिग्वाची शब्द— पूर्वो ग्रामात् कूपः । यहां दिग्वाची पूर्व-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से पंचमी । अञ्चूत्तरपद— प्राग् ग्रामात् । यहां अञ्चूत्तरपद प्राक्-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से पंचमी । आच्-प्रत्ययान्त —दक्षिणा कूपाद् वृक्षः । यहां आच्-प्रत्ययान्त दक्षिणा-शब्द के योग में कूप-शब्द से पंचमी । आहि-प्रत्ययान्त — दक्षिणाहि नगराद् वृक्षः । और यहां आहि-प्रत्ययान्त दक्षिणाहि-शब्द के योग में नगर-शब्द से पंचमी विभक्ति होती है ॥

'दिक्छब्द' के ग्रहण से अञ्चूत्तरपद के उदाहरण भी सिद्ध हो जाते, फिर अञ्चूत्तरपद-ग्रहण इसलिये है कि आगे के सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त है, उस को बाध कर पंचमी विभक्ति ही हो ॥ २० ॥

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन[4] ॥ ३० ॥

षष्ठी । १ । १ । अतसर्थप्रत्ययेन । ३ । १ । अतसुच्-प्रत्ययस्य येऽर्थाः,

---

१. जयादित्यः—"अन्य इत्यर्थग्रहणम् ॥"
२. ५ । ३ । ३६ ॥
३. २ । ३ । ३० ॥
४. कार०—सू० ८५ ॥

त्र विहिताः प्रत्यया अतसर्थाः । अतसर्थाश्च ते प्रत्ययाः = अतसर्थप्रत्ययाः । अतसर्थप्रत्ययान्तेन युक्ते सति षष्ठी विभक्तिर्भवति । दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्टाद् ग्रामस्य । पश्चाद् ग्रामस्य इत्याद्युदाहरणेष्व-तसर्थप्रत्ययान्ताव्यययोगे ग्राम-शब्दात् षष्ठी भवति ॥ ३० ॥

['अतसर्थप्रत्ययेन'] अतसुच्-प्रत्ययान्त के अर्थों में वर्त्तमान जो अव्यय-शब्द हैं, उन के योग में अन्य शब्द से ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो। दक्षिणतो ग्रामस्य। उपरि ग्रामस्य। इत्यादि उदाहरणों में अतसर्थप्रत्ययान्त अव्ययों के योग में ग्राम-शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई है ॥ ३० ॥

एनपा द्वितीया[1] ॥ ३१ ॥

पूर्वसूत्रेण षष्ठी प्राप्ता । तस्यायमपवादः । एनप्-प्रत्ययस्यातसर्थत्वात् । 'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः[2]॥' इति सूत्रमागामिष्यति, तस्येदं ग्रहणम् । एनपा । ३ । १ । द्वितीया । १ । १ । एनप्-प्रत्ययस्य योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति । दक्षिणेन ग्रामम् । उत्तरेण ग्रामम् । अत्रैनप्-प्रत्ययस्य योगे ग्राम-शब्दाद् द्वितीया ॥ ३१ ॥

अतसर्थ प्रत्ययों में एनप्-प्रत्यय के होने से पूर्व सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी, उस का अपवाद यह सूत्र है। ['एनपा'] एनप्-प्रत्ययान्त अव्यय के योग में ['द्वितीया'] द्वितीया विभक्ति हो। दक्षिणेन ग्रामम्। यहां दक्षिणेन एनप्-प्रत्ययान्त के योग में ग्राम-शब्द से द्वितीया हुई है ॥ ३१ ॥

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्[3] ॥ ३२ ॥

अप्राप्तविभाषेयम् । अप्राप्ता तृतीया विकल्प्यते । [पृथग्-विना-नानाभिः । ३ । ३ । तृतीया । १ । १ । अन्यतरस्याम् । अ० ।] 'पृथक्, विना, नाना' इति त्रयाणामव्ययानां योगे विकल्पेन तृतीया विभक्तिर्भवति । पक्षे पञ्चमी भवति । पृथग्ग्रामेण, पृथग्ग्रामात् । विना घृतेन, विना घृतात् । नाना घृतेन, नाना घृतात् । अत्र पृथगादियोगे ग्रामादिशब्देषु तृतीया-पञ्चम्यौ भवतः ॥

अत्र जयादित्य-भट्टोजिदीक्षितादयो येन केन प्रकारेण[4] विनायोगे द्वितीयां

---

१. कार०—सू० ८६ ॥
चा० श०—"एनपा ॥" (२ । १ । ५२)

२. ५ । ३ । ३५ ॥

३. कार०—सू० ८७ ॥
चा० श०—"विना तृतीया च ॥ पृथग्नानाभ्याम् ॥" (२ । १ । ८५, ८६)

४. काशिकायाम्—"पृथग्विनानानाभिरिति योगविभागो द्वितीयार्थः ।"
सिद्धान्तकौमुद्याम्— "पञ्चमीद्वितीयेऽनुवर्त्तेते ।" (कारकप्रकरणे)
प्रक्रियाकौमुद्याम्— "पक्षे पञ्चमीद्वितीये ।" (विभक्त्यर्थप्रकरणे)

विदधति । तदिदं तेषां भ्रम एवास्ति । कुतः । यदि विनायोगे द्वितीयाऽनेन स्यात्, तर्हि महाभाष्यकारेण पञ्चम्या व्याख्यानं कृतं, द्वितीयायाः कथं न कुर्यात् । अन्यच्च 'कर्मणि द्वितीया[1] ॥' इति सूत्रस्य व्याख्याने 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति वचनादविहिता द्वितीया कस्यचिच्छब्दस्य योगे सत्प्रयोगेषु दृष्टा चेत्, सिद्धा मन्तव्या । अतो जयादित्यादीनां कथनमयुक्ततरमेवास्ति ॥ ३२ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि तृतीया विभक्ति किसी से प्राप्त नहीं । उस का विकल्प इस सूत्र से किया है । ['पृथग्-विना-नानाभिः'] पृथक्, विना, नाना इन तीन अव्यय शब्दों के योग में ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके ['तृतीया'] तृतीया विभक्ति हो । पक्ष में पंचमी हो । पृथक् स्थानेन, पृथक् स्थानात् । यहां पृथक्-शब्द के योग में स्थान-शब्द से । विना—विना घृतेन, विना घृतात् । यहां विना-शब्द के योग में घृत-शब्द से । नाना—नाना पदार्थेन, नाना पदार्थात् । और यहां नाना-शब्द के योग में पदार्थ-शब्द से तृतीया और पंचमी विभक्ति होती हैं ॥

इस सूत्र में जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि पण्डितों ने जिस किसी प्रकार से 'विना-शब्द के योग में द्वितीया विभक्ति होती है' ऐसा लिखा है, सो ठीक नहीं, क्योंकि महाभाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में पंचमी की अनुवृत्ति ली है । जो द्वितीया आती, तो उस को भी लिखते । और अनभिहित कर्म में जहां द्वितीया विभक्ति होती है, वहां एक कारिका लिख चुके हैं[2] । उस का यही प्रयोजन है कि जिन शब्दों के योग में किसी सूत्र से द्वितीया विधान नहीं और सत्य ग्रन्थों में आवे, उस को इसी कारिका से समझना चाहिये । इसलिये उक्त लोगों का व्याख्यान किसी प्रकार ठीक नहीं ॥ ३२ ॥

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य[3] ॥ ३३ ॥

चकारेण 'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते । पञ्चमी स्वाभाविकाऽनुवर्त्तत एव । करणे । ७ । १ । च । [अ० ।] स्तोक-अल्प-कृच्छ्र-कतिपयस्य । ६ । १ । असत्त्ववचनस्य । ६ । १ । असत्त्ववचनस्य = अद्रव्यवाचिनां स्तोकादीनां करणे तृतीया-पञ्चम्यौ विभक्ती भवतः । यत्र स्तोकादिभिः सह विशेषो नोच्यते, तत्र स्तोकादयोऽसत्त्ववचना भवन्ति । स्तोकेन मुक्तः, स्तोकान्मुक्तः । अल्पेन मुक्तः, अल्पान्मुक्तः । कृच्छ्रेण बद्धः, कृच्छ्राद्बद्धः । कतिपयेन मुक्तः, कतिपयान्मुक्तः । अत्र करणवाचिभ्यः स्तोकादिभ्यस्तृतीया-पञ्चम्यौ भवतः ॥

'असत्त्ववचनस्य' इति किम् । स्तोकेन जलेन तृप्तः । अल्पेन मद्येन मत्तः ॥

---

१. २ । ३ । २ ॥

२. कारि०—पृ० ८८ ॥

३. चा० श०—"स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वार्थात् करणे ॥" (२ । १ । ८७)

करण-ग्रहणं किम् । अल्पं त्यजति । स्तोकं मुञ्चति । अत्रोभयत्र करणाभावात् तृतीया विभक्तिर्न भवति ॥ ३३ ॥

['असत्त्ववचनस्य'] अद्रव्यवाची ['स्तोक-अल्प-कृच्छ्र-कतिपयस्य'] स्तोक, अल्प, कृच्छ्र, कतिपय इन शब्दों से ['करणे'] करण कारक में तृतीया और पंचमी विभक्ति हों । स्तोकेन मुक्तः, स्तोकान्मुक्तः । अल्पेन अल्पाद्वा मुक्तः । कृच्छ्रेण कृच्छ्राद्वा मुक्तः । कतिपयेन कतिपयाद्वा मुक्तः । यहां स्तोक आदि शब्दों से तृतीया, पंचमी विभक्ति हुई हैं ॥

अद्रव्यवाची का ग्रहण इसलिये है कि 'अल्पेन जलेन तृप्तः' यहां पंचमी विभक्ति नहीं हो ॥

करण-ग्रहण इसलिये है कि 'अल्पं त्यजति' यहां तृतीया [और] पंचमी विभक्ति न हों ॥ ३३ ॥

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्[1] ॥ ३४ ॥

दूरान्तिकार्थैः । ३ । ३ । षष्ठी । १ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] दूरार्थानामन्तिकार्थानां = समीपार्थानां शब्दानां योगे षष्ठी विभक्तिर्विकल्पेन भवति । पक्षे पञ्चमी । दूरं ग्रामस्य, दूरं ग्रामात् । विप्रकृष्टं ग्रामस्य, विप्रकृष्टं ग्रामात् । अन्तिकं ग्रामस्य, अन्तिकं ग्रामात् । समीपं ग्रामस्य, समीपं ग्रामात् ॥

[अन्यतरस्यां-ग्रहणे प्रकृते पुनर्] अन्यतरस्यां-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—पञ्चमी यथा स्यात् । अन्यथा समीपस्यानुवर्त्तनात् तृतीया मा भूत् ॥ ३४ ॥

['दूरान्तिकार्थैः'] दूरवाची और समीपवाची शब्दों के योग में ['अन्यतरस्यां'] विकल्प करके ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो, और पक्ष में पंचमी हो । दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामस्य । दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामात् । यहां दूरवाची दूर- और विप्रकृष्ट-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से षष्ठी, पञ्चमी विभक्ति । अन्तिकं समीपं वा ग्रामस्य ग्रामाद् वा । यहां समीपवाची अन्तिक- और समीप-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से षष्ठी, पंचमी विभक्ति हुई हैं ॥

विकल्प-ग्रहण पक्ष में पंचमी होने के लिये समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च[2] ॥ ३५ ॥

'षष्ठ्यन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्त्तते । षष्ठ्या विकल्पात् पक्षे पञ्चमी भवति । एवं विभक्तित्रयं सिद्धं भवति । दूरान्तिकार्थेभ्यः शब्देभ्यो द्वितीया भवति, विकल्पेन षष्ठी भवति । पक्षे पञ्चमी च[3] । दूरं, दूरस्य, दूराद् वा ग्रामस्य । विप्रकृष्टं, विप्र-

---

१. कार०—सू० ८९ ॥

२. कार०—सू० ९० ॥

३. जयादित्यस्तु—"पञ्चम्यनुवर्त्तते । दूरान्तिकार्थेभ्यः शब्देभ्यो द्वितीया विभक्तिर्भवति । चकारात् पञ्चमी तृतीयापि समुच्चीयते ।" शब्दकौस्तुभे—"चकारात् पञ्चमीतृतीये ।"

कृष्टस्य, विप्रकृष्टाद् वा ग्रामस्य । अन्तिकं, अन्तिकस्य, अन्तिकाद् वा ग्रामस्य । सनीडं, सनीडस्य, सनीडाद् वा ग्रामस्य । पूर्वसूत्रेण दूरान्तिकार्थैर्योगेऽन्यशब्देभ्यो विभक्तिविधानम् । अत्र तु दूरान्तिकार्थेभ्य एव विभक्तयो भवन्ति ॥ ३५ ॥

['दूरान्तिकार्थेभ्यः'] दूरवाची और समीपवाची शब्दों से ['द्वितीया'] द्वितीया हो । विकल्प करके षष्ठी और पक्ष में पञ्चमी विभक्ति हो । दूरं, दूरस्य, दूराद् वा ग्रामस्य । विप्रकृष्टं, विप्रकृष्टस्य, विप्रकृष्टाद् वा ग्रामस्य । यहां दूरवाची शब्दों से द्वितीया, षष्ठी और पञ्चमी । तथा 'अन्तिकं, अन्तिकस्य, अन्तिकाद् वा ग्रामस्य । समीपं, समीपस्य, समीपाद् वा ग्रामस्य' यहां समीपवाची शब्दों से उक्त तीनों विभक्ति होती हैं । पूर्व सूत्र से तो दूरवाची और समीपवाचियों के योग में विभक्ति होती हैं और यहां इन्हीं से होती हैं ॥ ३५ ॥

सप्तम्यधिकरणे च[1] ॥ ३६ ॥

'दूरान्तिकार्थेभ्यः' इत्यनुवर्त्तते । सप्तमी । १ । १ । अधिकरणे । ७ । १ । च । [अ० ।] अधिकरण-सञ्ज्ञा पूर्वं कृता[2], तस्या इह फलं दर्श्यते ॥

भा०—अधिकरणं नाम त्रिप्रकारकं[3] भवति[4]—व्यापकं, औपश्लेषिकं, वैषयिकमिति ॥[5]

इदं वचनं महाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे 'संहितायाम्[6] ॥' इति सूत्रस्योपरि वर्त्तते । अस्मिन् त्रिप्रकारकेऽधिकरणकारके सप्तमी विभक्तिर्भवति, दूरान्तिकार्थेभ्यश्च[7] । व्यापके—तिलेषु तैलम् । दध्नि घृतम् । तैलं तिलेषु व्याप्तं, दध्नि घृतं च व्याप्तं भवति । अतोऽत्र व्यापकेऽधिकरणे सप्तमी । औपश्लेषिके—कटे शेते । खट्वायां शेते । ग्रामे वसति । अत्र कट-खट्वा-ग्रामा[णां] सर्वावयवेषु व्याप्तो न भवत्यत उपश्लेषः । वैषयिके—अशिति = अशिद्विषये । आर्धधातुके = आर्धधातुकविषये । खेशकुनयः । खेविषय इति गम्यते ॥

वार्त्तिकानि—

सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम् ॥[8] १ ॥

क्त-प्रत्ययान्ताद् इन्-प्रत्ययविषये यत् कर्म, तत्र सप्तमी विभक्तिर्भवति । असा-

---

१. कार०—सू० १३३ ॥
चा० श०—"सप्तम्याधारे ॥" (२ । १ । ८८)
२. "आधारोऽधिकरणम् ॥" (१ । ४ । ४५)
३. कोशे—त्रिःप्रकारकम् ॥
४. महाभाष्यकोशेषु न दृश्यते ॥
५. अ० ६ । पा० १ । आ० ३ ॥
६. ६ । १ । ७२ ॥
७. एतेषामुदाहरणानि—दूरे ग्रामस्य । विप्रकृष्टे ग्रामस्य । अन्तिके ग्रामस्य । सनीडे ग्रामस्य ॥
८. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

वधीती व्याकरणे । परिगणिती याज्ञिक्ये[1]। अत्र 'असावधीती' इत्यस्य व्याकरणं कर्म,तत्र सप्तमी । अमुना मनुष्येण व्याकरणमधीतम् ॥ १ ॥

साध्वसाधुप्रयोगे च ॥[2] *२ ॥*

साधु-शब्दस्य असाधु-शब्दस्य च योगेऽन्यशब्दात् सप्तमी भवति । साधुर्देवदत्तो मातरि[3]। असाधुर्मातुले कृष्णः । अत्र साधु-असाधु-शब्दप्रयोगे मातृ-मातुल-शब्दाभ्यां सप्तमी ॥ २ ॥

कारकार्हाणां च कारकत्वे ॥[2] *३ ॥*

कारकार्हेषु = कारकयोग्येषु स्वकार्यत्वमापन्ने सति सप्तमी विभक्तिर्भवति[4] । ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते । ब्राह्मणेषु तरत्सु वृषला आसते । अत्र ऋद्धा ब्राह्मणाश्च कारका[र्हाः], ते स्वकार्यत्वमापन्नाः, तेष्वेव सप्तमी भवति ॥ ३ ॥

अकारकार्हाणां चाकारकत्वे ॥ ४ ॥

मूर्खेष्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते । वृषलेष्वासीनेषु ब्राह्मणास्तरन्ति ॥[2]

अत्राकारकार्हा मूर्खा वृषलाश्च स्वकार्यत्वमापन्नाः, तत्र सप्तमी ॥ ४ ॥

तद्विपर्यासे च ॥[2] *५ ॥*

अकारकार्हाः कारकार्हाणां योग्यतामापन्नाः कारकार्हाश्चाकारकार्हाणां, तदा पूर्वप्रयुक्तेषु सप्तमी भवति । ऋ[द्धे]ष्वासीनेषु मूर्खा भुञ्जते । ब्राह्मणेष्वासीनेषु वृषलास्तरन्ति ॥ ५ ॥

निमित्तात् कर्मसंयोगे[5] *॥*[2] *६ ॥*

निमित्तवाचिशब्दात् सप्तमी विभक्तिर्भवति कर्मसंयोगे सति ।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको[6] हतः ॥[2] १ ॥

अत्र निमित्तवाचिषु चर्मादिशब्देषु सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥ [६ ॥] ३६ ॥

---

१. कोशे—"याज्ञिके ।" इति । कारकांयेऽप्येष एव पाठः ॥ (सू० १३४)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. न्यासे—"अत्राप्यधिकरण एव सप्तमी । तथा ह्यत्र मातृस्थासु क्रियासु मातृ-शब्दो वर्त्तते ।... तासां च क्रियाणां साध्वसाधुतां प्रति विषयभावोऽस्तीति वैषयिकाधिकरण एव सप्तमी ।"

४. न्यासे—"भावप्रधानोऽत्र कारकशब्दः । क्रियां प्रति येषां कारकत्वं साधनत्वं न्याय्यं, ते कारकार्हाः, तेषां कारकार्हत्वे सप्तमी वक्तव्या ॥"[(२।१।८६)

५. चा० श०—"निमित्ताद् व्याप्येन ॥"

६. हरदत्तः—"पुष्कलकः = शङ्कुः । स सीम्नि = सीमाज्ञानार्थं हतः [=निहतः] = निखात इत्यर्थः ।"
शब्दकौस्तुभे —"दुर्गवाक्यप्रबोधे तु कुलचन्द्र-

अधिकरण तीन प्रकार का होता है—[१] व्यापक [२] औपश्लेषिक [३] वैषयिक। व्यापक उस को कहते हैं कि जो एक वस्तु में दूसरी मिली हुई हो। औपश्लेषिक वह होता है कि जिस में स्थिति हो। और वैषयिक [जो] उस के विषय में हो। इस तीन प्रकार के अधिकरण में सप्तमी विभक्ति हो। और चकार से दूरवाची तथा समीपवाची शब्दों से भी सप्तमी हो[1]। व्यापक — **तिलेषु तैलम्**। तिलों के बीच तेल व्यापक है, इससे तिल-शब्द में सप्तमी। औपश्लेषिक—**कटे शेते**। चटाई पर सोता है। यहां कट-शब्द में सप्तमी। और वैषयिक—**खेशकुनयः**। आकाश के विषय [में] पक्षी उड़ते हैं। यहां ख-शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है ॥

अब वार्त्तिकों के अर्थ किये जाते हैं—

'**सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्** ॥' क्त-प्रत्ययान्त से जहां इन्-प्रत्यय हो, वहां [उस के] कर्म में सप्तमी विभक्ति हो। **असावधीती व्याकरणे**। यहां अधीती-शब्द में क्त-प्रत्ययान्त से इन्-प्रत्यय हुआ है, और व्याकरण-शब्द कर्म है। उस में सप्तमी हो गई ॥ १ ॥

'**साध्वसाधुप्रयोगे च** ॥' साधु- और असाधु-शब्द के योग में सप्तमी विभक्ति हो। **साधुर्देवदत्तो मातरि**। यहां साधु-शब्द के योग में मातृ-शब्द से। **असाधुर्मातुले कृष्णः**। और यहां असाधु-शब्द के योग में मातुल-शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है ॥ २ ॥

'**कारकार्हाणां च कारकत्वे** ॥' कारक जो हैं, वे अपने कृत्य को ठीक २ प्राप्त हों, तो उन से सप्तमी हो। **ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते**। यहां ऋद्ध-शब्द कारक है। उस के यथावत् कृत्य को प्राप्त होने से उस में सप्तमी विभक्ति होती है ॥ ३ ॥

'**अकारकार्हाणां चाकारकत्वे** ॥' जो कारक योग्य नहीं हैं, वे अपने कृत्य को ठीक २ प्राप्त हों, तो भी सप्तमी विभक्ति हो। **मूर्खेष्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते**। यहां मूर्ख-शब्द में अकारक के होने से सप्तमी हुई है ॥ ४ ॥

'**तद्विपर्यासे च** ॥' और इन के कर्म के बदलने में अर्थात् मूर्खों को शिष्टों के [और शिष्टों को मूर्खों के] कर्म प्राप्त होने में [पूर्व प्रयुक्त से] सप्तमी हो जावे। **ऋद्धेष्वासीनेषु मूर्खा भुञ्जते**। यहां विपरीत भाव होने से ऋद्ध-शब्द में सप्तमी हुई ॥ ५ ॥

['**निमित्तात् कर्मसंयोगे** ॥'] निमित्तवाची शब्द से कर्म के संयोग में सप्तमी हो। **चर्मणि द्वीपिनं हन्ति**। यहां 'द्वीपिनं' इस कर्म के संयोग में निमित्तवाची चर्म-शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है ॥ ६ ॥ ३६ ॥

यस्य च भावेन भावलक्षणम्[2] ॥ ३७ ॥

स्वाह—सीमा = अण्डकोशः, पुष्कलकः = गन्धमृगः।"

कारकीये (सू० १३६)—"(सीम्नि पुष्कलको०) कस्तूरी की चाहना करके कस्तूरिया मृग को मारता है।"

१. इन के उदाहरणों के लिये देखो पृष्ठ २६४ टिप्पण ७ ॥

२. कार०—सू० १४० ॥

चा० श० (२ । १ । ६०) —"यत्क्रिया क्रियाचिह्नम् ॥"

सप्तमी-ग्रहणमनुवर्त्तते । यस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] भावेन । ३ । १ । भावलक्षणम् । [१ । १ ।] भावस्य लक्षणं = भावलक्षणम् । यस्य भावेन = यस्य क्रियया भावलक्षणं = क्रियाया लक्षणं भवति, तत्र सप्तमी विभक्तिर्भवति । अग्निषु हूयमानेषु गतः । हुतेष्वागतः । गोषु दुह्यमानासु गतः । दुग्धास्वागतः । अत्र 'दुह्यमानासु, दुग्धासु' इति च सप्तमी भवति ॥

'भावेन' इति किम् । यो जटिलः स भुङ्क्ते । अत्र सप्तमी न भवति ॥ ३७॥

['यस्य भावेन'] जिस की क्रिया से ['भावलक्षणम्'] दूसरी क्रिया का लक्षण किया जाय, उस में सप्तमी विभक्ति हो । गोषु दुह्यमानासु गतः । दुग्धास्वागतः । यहां गमनागमन क्रिया का लक्षण दोहन क्रिया से किया जाता है । उस में सप्तमी हो गई ॥

'भावेन' ग्रहण इसलिये है कि 'यो जटिलः स भुङ्क्ते' यहां सप्तमी न हो ॥ ३७ ॥

षष्ठी चानादरे[1] ॥ ३८ ॥

षष्ठी । १ । १ । च । [अ० ।] अनादरे । ७ । १ । चकारात् सप्तम्यनुवर्त्तते । अनादरेऽर्थे गम्यमाने [यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते, ततः] षष्ठी भवति, चकारात् सप्तमी च । आहूयमानस्य देवदत्तस्य आहूयमाने वा चौरो गतः । रुदतः रुदति वा बालो गतः । आहूयमानं रुदन्तं चानादृत्य गत इत्यर्थः । अत्राहूयमान-शब्दे रुदन्-शब्दे च षष्ठी-सप्तम्यौ भवतः ॥ ३८ ॥

['अनादरे'] अनादर अर्थ में [जिस की क्रिया से दूसरी क्रिया का लक्षण किया जाय, वहां 'षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो, ['च'] और चकार से सप्तमी हो । आहूयमानस्य आहूयमाने वा गतः । यहां आहूयमान-शब्द में षष्ठी और सप्तमी हुई है । आहूयमान अर्थात् बुलाए जाते हुए का तिरस्कार करके गया ॥ ३८ ॥

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च[2] ॥ ३९ ॥

स्वामि-ईश्वर-अधिपति-दायाद-साक्षि-प्रतिभू-प्रसूतैः । ३ । ३ । च । [अ० ।] षष्ठी-सप्तम्यावनुवर्त्तेते । 'स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत' इत्येतैः शब्दैर्योगे षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । गवां स्वामी, गोषु स्वामी । पृथिव्या ईश्वरः, पृथिव्यामीश्वरः । ग्रामस्याधिपतिः, ग्रामेऽधिपतिः । क्षेत्रस्य दायादः, क्षेत्रे दायादः । दत्तस्य साक्षी, दत्ते साक्षी । धनस्य प्रतिभूः, धने प्रतिभूः । गवां प्रसूतः, गोषु प्रसूतः । अस्मिन् सूत्रे स्व-स्वामि-

---

१. कार०—सू० १४१ ॥ २. कार०—सू० १४२ ॥

चा० श०—"षष्ठी चानादरे ॥" (२।१।९१)

सम्बन्धत्वात् [शेषलक्षणा] षष्ठ्येव प्राप्ता । सप्तम्यपि स्यादिति प्रयोजनार्थं सूत्रमिदम् । स्वाम्यादियोगे गवादिशब्देषु षष्ठी-सप्तम्यौ ॥ ३९ ॥

['स्वामि-ईश्वर-अधिपति-दायाद-साक्षि-प्रतिभू-प्रसूतैः'] स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी दो विभक्ति हों । [स्वामिन्—] गवां स्वामी । गोषु स्वामी । यहां स्वामि-शब्द के योग में गो-शब्द में । ईश्वर—पृथिव्या ईश्वरः । पृथिव्यामीश्वरः । यहां ईश्वर-शब्द के योग में पृथिवी-शब्द से । अधिपति—ग्रामस्याधिपतिः । ग्रामेऽधिपतिः । यहां अधिपति-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से । दायाद—क्षेत्रस्य क्षेत्रे वा दायादः । यहां दायाद-शब्द के योग में क्षेत्र-शब्द से । साक्षिन्—देवदत्तस्य साक्षी । देवदत्ते साक्षी । यहां साक्षि-शब्द के योग में देवदत्त-शब्द से । प्रतिभू—धनस्य प्रतिभूः । धने प्रतिभूः । यहां प्रतिभू-शब्द के योग में धन-शब्द से । प्रसूत—गवां प्रसूतः । गोषु प्रसूतः । और यहां प्रसूत-शब्द के योग में गो-शब्द से षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं । इस सूत्र के न होने से सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति होती । 'सप्तमी भी हो' इसलिये है कि सप्तमी भी हो जावे ॥ ३९ ॥

आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम्[1] ॥ ४० ॥

षष्ठी-सप्तम्यावनुवर्त्तेते । आयुक्त-कुशलाभ्याम् । ३ । २ । च । [अ० ।] आसेवायाम् । ७ । १ । आ=समन्ताद् युक्तः=आयुक्तः । आयुक्त-कुशल-शब्दाभ्यां योगे आसेवायां सत्यां षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । आयुक्तः पठनस्य, आयुक्तः पठने । कुशलो लेखनस्य, कुशलो लेखने । अत्र पठन-लेखन-शब्दाभ्यां षष्ठी-सप्तम्यौ भवतः ॥

'आसेवायाम्' इति किम् । आयुक्तो वृषभः शकटे । अत्र ईषद्युक्तत्वाद् आसेवा नास्ति । तत्राधिकरणे सप्तमी भवति । अधि[करणे] सप्तम्यां प्राप्तायां षष्ठ्यर्थं सूत्रमिदम् ॥ ४० ॥

['आसेवायाम्'] आसेवा अर्थ में ['आयुक्त-कुशलाभ्यां'] आयुक्त- और कुशल-शब्द के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों । आयुक्तः पठनस्य । आयुक्तः पठने । यहां आयुक्त-शब्द के योग में पठन-शब्द से । कुशलो लेखनस्य । कुशलो लेखने । और कुशल-शब्द के योग में लेखन-शब्द से षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥

आसेवा-ग्रहण इसलिये है कि 'आयुक्तो वृषभः शकटे' यहां आसेवा के न होने से षष्ठी विभक्ति न हुई । अधिकरण में सप्तमी तो प्राप्त ही थी, षष्ठी होने के लिये यह सूत्र है ॥ ४० ॥

यतश्च निर्द्धारणम्[2] ॥ ४१ ॥

१. कार०—सू० १४३ ॥

२. कार०—सू० १४४ ॥ चा० श०—"यतो निर्धारणम् ॥" (२।१।९२)

यतः । [अ० ।] च । [अ० ।] निर्द्धारणम् । १ । १ । षष्ठी-सप्तम्या-वनुवर्त्तेते । यतः = यस्मात् समुदायवाचिजाति-गुण-क्रिया-शब्दात् निर्द्धारणम् = एकस्य पृथक्करणं भवति, तस्मात् षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । ब्राह्मणानां वेदविच्छ्रेष्ठतमः, ब्राह्मणेषु वेदविच्छ्रेष्ठतमः । मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः, मनुष्येषु क्षत्रियः शूरतमः । अत्र जातिवाचिब्राह्मण-शब्दात् मनुष्य-शब्दाच्च निर्द्धारणं, तत्र षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः ॥ ४१ ॥

समुदायवाची जाति आदि शब्द से एक जो अलग करना है, उस को निर्द्धारण कहते हैं । ['यतः'] जिस से ['निर्द्धारणं'] निर्द्धारण किया जाय, अर्थात् एक को अलग किया जाय, वहां षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों । ब्राह्मणानां ब्राह्मणेषु वा वेदविच्छ्रेष्ठतमः । यहां जातिवाची ब्राह्मण-शब्द से निर्द्धारण है, उस में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥४१॥

पञ्चमी विभक्ते[1] ॥ ४२ ॥

षष्ठी-सप्तम्यौ निवृत्ते । पञ्चमी । १ । १ । विभक्ते । ७ । १ । यस्मिन् निर्द्धारणे विभागो भवति, तत्र पञ्चमी विभक्तिर्भवति । पाटलिपुत्रेभ्यः सांकाश्या आढ्यतराः । अत्र पाटलिपुत्रनिवासिभ्यः सांकाश्यनिवासिनां विभागो भवति, तस्मात् पाटलिपुत्रे पञ्चमी । निर्द्धारणं तु वस्तुत एकत्वमेव भवति, कथनमात्रं पृथक्त्वम् । अत्र तु वस्तुत एव विभागः[2] । पूर्वसूत्रेण षष्ठी-सप्तम्यौ प्राप्ते, तयोरपवादः ॥ ४२ ॥

पूर्व सूत्र से निर्द्धारण अर्थ में षष्ठी, सप्तमी विभक्ति प्राप्त हैं । उस का अपवाद यह सूत्र है । जिस से निर्द्धारण में ['विभक्ते'] विभाग किया जाय, उस में ['पञ्चमी'] पञ्चमी विभक्ति हो । पाटलिपुत्रेभ्यः सांकाश्या आढ्यतराः । यहां पाटलिपुत्र से सांकाश्य का विभाग होता है, इससे पाटलिपुत्र में पञ्चमी हो गई । पूर्व सूत्र से जो निर्द्धारण होता है, वह तो समुदाय से एक का पृथक् समझना ही है । और यहां तो प्रथम ही से विभाग है ॥ ४२ ॥

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः[3] ॥ ४३ ॥

साधु-निपुणाभ्याम् । ३ । २ । अर्चायाम् । ७ । १ । सप्तमी । १ । १ । अप्रतेः । ६ । १ । अर्चायां = पूजायां = सत्कारे । साधु-निपुण-शब्दाभ्यां योगे सप्तमी विभक्तिर्भवति, अर्चायां = सत्कारे सति, अप्रतेः = प्रतियोगं विहाय ।

---

१. कार०—सू० १४५ ॥

२. न्यासकारः—"यत्र राशीकृतस्य पृथक्करणं, स पूर्वस्य योगस्य विषयः । यत्र तु पृथग्भूतस्यैव गुणान्तराविष्करणं सोऽस्य । तत्र द्वयोरप्यवस्थयो-र्विभाग एवेति कृत्वा ।"

३. कार०—सू० १४६ ॥

मातरि साधुः । पितरि साधुः । मातरि निपुणः । पितरि निपुणः । मातापित्रोः प्रीत्या सेवकः [इत्यर्थः ।] सेवनमेव तयोरर्चा । तत्र मातृ-शब्दे पितृ-शब्दे सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥

'अर्चायाम्' इति किम् । राज्ञो भृत्यः साधुः । अत्र सेवा नास्तीति सप्तमी न भवति ॥

'अप्रतेः' इति किम् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । अत्र प्रति-योगे सप्तमी न भवति ॥

वा०—अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥

इहापि यथा स्यात्—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति[1] । मातरं परि । मातरमनु ॥[2]

अत्र प्रत्यादीनां कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया भवति ॥ ४३ ॥

['अर्चायाम्'] पूजा अर्थात् सत्कारपूर्वक सेवा करने अर्थ में वर्त्तमान जो ['साधु-निपुणाभ्यां'] साधु- और निपुण-शब्द, इन के योग में ['सप्तमी'] सप्तमी विभक्ति हो, ['अप्रतेः'] प्रति के योग में न हो । मातरि साधुः । पितरि साधुः । मातरि निपुणः । पितरि निपुणः । यह पुत्र माता पिता की प्रीति पूर्वक सेवा करता है । यही पूजा कहाती है । इससे मातृ-पितृ-शब्द में सप्तमी विभक्ति हो गई ॥

अर्चा-ग्रहण इसलिये है कि 'साधुर्देवदत्तस्य पुत्रः' यहां पूजा के न होने से सप्तमी नहीं हुई ॥

'अप्रतेः' इस का ग्रहण इसलिये है कि 'साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति' यहां प्रति के योग में सप्तमी न हो ॥

'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥' इस वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि सूत्र से जो प्रति के योग में निषेध किया है, सो प्रति आदि अन्य शब्दों के योग में भी समझना चाहिये । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरमनु । यहां सर्वत्र सप्तमी न हो ॥ ४३ ॥

प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च[3] ॥ ४४ ॥

सप्तम्यनुवर्त्तते । प्रसित-उत्सुकाभ्याम् । ३ । २ । तृतीया । १ । १ । च । [अ० ।] 'प्रसित, उत्सुक' इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां योगे तृतीया विभक्तिर्भवति । चात् सप्तमी च । प्रसितः=प्रतिबद्धः[4] । उत्सुकः=उत्कण्ठितः । विद्यया प्रसितः ।

१. केषुचिन्महाभाष्यकोशेषु प्रति-शब्दो नोपलभ्यते ॥

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. कार०—सू० १४८ ॥

४. महाभाष्ये—" 'प्रसितः' इत्युच्यते । कः प्रसितो नाम । यस्तत्र नित्यं प्रतिबद्धः । कुत एतत् । सिनोतिरयं बध्नात्यर्थे वर्त्तते । बद्ध इवासौ तत्र भवति ॥" (अ० २ । पा० ३ । आ० २)

विद्यायां प्रसितः। पठनेनोत्सुकः, पठन उत्सुकः। विद्यायां पठने च नित्यं लिप्त एवास्ति। अतो विद्या-शब्दे पठन-शब्दे च तृतीया-सप्तम्यौ। अधिकरणे सप्तमीति सप्तमी प्राप्ता। तस्या अपवादत्वेन तृतीया विधीयते॥ ४४॥

अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति प्राप्त है। उस का अपवाद यह सूत्र है। ['प्रसित-उत्सुकाभ्यां'] प्रसित और उत्सुक इन शब्दों के योग में ['तृतीया च'] तृतीया और सप्तमी विभक्ति हो। विद्यया विद्यायां वा प्रसितः। यहां प्रसित-शब्द के योग में विद्या-शब्द से तृतीया, सप्तमी। गानेन गाने वोत्सुकः। और यहां उत्सुक-शब्द के योग में गान-शब्द से तृतीया, सप्तमी विभक्ति हुई हैं॥ ४४॥

नक्षत्रे च लुपि ॥ ४५॥

तृतीया-सप्तम्यावनुवर्त्तेते। नक्षत्रे। ७। १। च। [अ०।] लुपि। ७। १। 'नक्षत्रेण युक्तः कालः[१]॥' इति नक्षत्रवाचिशब्दादण्-प्रत्ययः। 'लुबविशेषे[२]॥' इत्यणो लुप्। तस्येदं ग्रहणम्। लुबन्तात् नक्षत्रशब्दात् तृतीया-सप्तम्यौ भवतः। पुष्येण युक्तः कालः = पुष्यः। पुष्येण कार्यमारभेत, पुष्ये कार्यमारभेत। अत्रापि सप्तमी प्राप्ता, अपवादत्वेन तृतीया विधीयते। पुष्य-शब्दोऽत्र कालवाची, तस्मिन् तृतीया-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः॥ ४५॥

नक्षत्रवाची शब्द से काल अर्थ में जहां प्रत्यय का लुप् हो जाता है, उस नक्षत्र का इस सूत्र में ग्रहण है। ['लुपि'] लुबन्त ['नक्षत्रे'] नक्षत्र से तृतीया, सप्तमी विभक्ति हों। पुष्य नक्षत्र से युक्त जो काल, वह पुष्य कहावे। पुष्येण पुष्ये वा कार्यमारभेत। पुष्य-शब्द यहां कालवाची है। उस से तृतीया, सप्तमी विभक्ति हुई हैं। यहां भी नक्षत्रवाची शब्द से अधिकरण में सप्तमी प्राप्त थी। उस का अपवाद यह सूत्र है॥ ४५॥

यह सप्तमी [विभक्ति] का अधिकार पूरा हुआ॥

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा[४] ॥ ४६॥

प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे। ७। १। प्रथमा। १। १। प्रातिपदिकार्थः = प्रातिपदिकस्य सत्ता। लिङ्गं = स्त्री-पुं-नपुंसकानि। परिमाणं = तोलनम्। वचनं = एकत्व-द्वित्व-बहुत्वानि। मात्र-शब्दः सर्वैः सह सम्बध्यते। प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्रे, परिमाणमात्रे, वचनमात्रे च प्रथमा विभक्तिर्भवति।

---

१. कार०—सू० १४१॥
२. ४।२।३॥
३. ४।२।४॥
४. कार०—सू० ४॥
चा० श०—"अर्थमात्रे प्रथमा॥" (२।१।६३)

प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः । नीचैः । अत्र प्रथमया पदत्वं यथा स्यात् । लिङ्गमात्रे— कुमारी । वृक्षः । कुण्डम् । परि[माण]मात्रे—द्रोणः । खारी । आढकम् । वचनमात्रे—एकः । द्वौ । बहवः ॥

मात्र-ग्रहणं किमर्थम् । एतत्परिगणनमात्रे प्रथमा यथा स्याद्, अन्यत्र [कर्मादिविशिष्टे] मा भूत् । ओदनं पचति । कटं करोति । अत्र प्रथमा विभक्तिर्मा भूत् ॥ ४६ ॥

['प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे'] प्रातिपदिकार्थमात्र में, लिङ्गमात्र में, परिमाणमात्र में और वचनमात्र में ['प्रथमा'] प्रथमा विभक्ति हो । प्रातिपदिकार्थमात्र में—उच्चैः । नीचैः । यहां प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति है । लिङ्गमात्र में—कुमारी । वृक्षः । कुण्डम् । यहां कुमारी स्त्रीलिङ्ग, वृक्ष पुँल्लिङ्ग और कुण्ड नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा । परिमाण अर्थात् तोलमात्र में— द्रोणः । खारी । आढकम् । यहां परिमाणवाची शब्दों में प्रथमा । वचन [अर्थात्] एक, दो, बहुत— एकः । द्वौ । बहवः । यहां वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है ॥

मात्र-ग्रहण इसलिये है कि इतने स्थानों ही में प्रथमा विभक्ति हो । 'कटं करोति' यहां न हो ॥ ४६ ॥

सम्बोधने च[1] ॥ ४७ ॥

प्रथमाऽनुवर्त्तते । [सम्बोधने । ७ । १ । च । अ० ।] सम्बोधनं = सम्यङ् ज्ञापनम् [= अभिमुखीकरणम् ।] सम्बोधने च प्रथमा विभक्तिर्भवति । हे देवदत्त । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । सम्बोधने प्रातिपदिकार्थादधिकार्थत्वात्[2] प्रथमा विभक्तिर्न प्राप्ता । तदर्थं सूत्रमिदमारभ्यते ॥ ४७ ॥

सब प्रकार चेताने को सम्बोधन कहते [हैं ।] वहां प्रातिपदिकार्थ से अधिक होने से प्रथमा विभक्ति नहीं प्राप्त होती, इसलिये यह सूत्र है । ['सम्बोधने'] सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हो । हे देवदत्त । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । यहां देवदत्त-शब्द में प्रथमा विभक्ति के तीनों वचन क्रम से होते हैं ॥ ४७ ॥

साऽऽमन्त्रितम्[3] ॥ ४८ ॥

[सा । १ । १ । आमन्त्रितम् । १ । १ ।] 'सा' इति प्रथमा निर्दिश्यते ।

---

१. ना०—सू० ३७ ॥
चा० श०—"सम्बोधने ॥" (२ । १ । ६४)

२. न्यासे—"अभिमुखीकरणस्य क्रियापरत्वात् प्रातिपदिकार्थे तस्यान्तर्भावो नास्ति । तस्मात्तदात्मकत्वात् ।"

३. ना०—सू० ३८ ॥

सम्बोधने या प्रथमा, तदन्तं प्रातिपदिकम् आमन्त्रितं-सञ्ज्ञं भवति । अग्ने । 'आमन्त्रितस्य च[3] ॥' इति षाष्ठिकेनाद्युदात्तं सिद्धं भवति ॥ ४८ ॥

सम्बोधन में जो ['सा'] प्रथमान्त प्रातिपदिक है, वह ['आमन्त्रितम्'] आमन्त्रित-सञ्ज्ञक हो । अग्ने । यहां आमन्त्रित-सञ्ज्ञा के होने से अग्नि-शब्द में आद्युदात्त स्वर हुआ है ॥ ४८ ॥

एकवचनं सम्बुद्धिः[3] ॥ ४९ ॥

एकवचनम् । १ । १ । सम्बुद्धिः । १ । १ । तस्या आमन्त्रितप्रथमाविभक्तेरेकवचनं सम्बुद्धि-सञ्ज्ञं भवति । अग्ने । वायो[4] । देवदत्त[5] । अत्रैकवचनस्य सम्बुद्धि-सञ्ज्ञत्वाद् विभक्तेर्लोपः ॥ ४९ ॥

आमन्त्रित-सञ्ज्ञक प्रथमा विभक्ति का ['एकवचनं'] एक वचन जो है, उस की ['सम्बुद्धिः'] सम्बुद्धि-सञ्ज्ञा हो । अग्ने । वायो । देवदत्त । यहां सम्बुद्धि-सञ्ज्ञा के होने से सु-विभक्ति का लोप हो जाता है ॥ ४९ ॥

षष्ठी शेषे[6] ॥ ५० ॥

षष्ठी । १ । १ । शेषे । ७ । १ । कर्मादीनामविवक्षा शेषः । कर्मादीनि कारकाणि यत्र न विवक्ष्यन्ते, स शेषः । शेषे षष्ठी विभक्तिर्भवति । राज्ञः पुरुषः । कार्पासस्य वस्त्रम् । वृक्षस्य शाखा । मृत्तिकाया घट इत्यादिशेषे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ ५० ॥

कर्म आदि कारक संज्ञा की जहां विवक्षा न हो, वह शेष कहाता है । ['शेषे'] शेष अर्थ में ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो । राज्ञः पुरुषः । वृक्षस्य शाखा इत्यादि शेष में षष्ठी होती है ॥ ५० ॥

ज्ञोऽविदर्थस्य करणे[7] ॥ ५१ ॥

ज्ञः । ६ । १ । अविदर्थस्य । ६ । १ । करणे । ७ । १ । अविदर्थस्य = अज्ञानार्थस्य ज्ञा-धातोः करणकारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । [अग्निः] सर्पिषो जानीते[8] ।

---

१. न्यासे—" 'आमन्त्रितम्' इति महत्याः सञ्ज्ञायाः करणं वैचित्र्यार्थम् ॥"

२. ६ । १ । १९८ ॥

३. ना०—सू० ३९ ॥

४. ७ । ३ । १०८ ॥

५. ६ । १ । ६९ ॥

६. कार०—सू० ९८ ॥

चा० श०—"षष्ठी सम्बन्धे ॥" (२ । १ । ९५)

७. कार०—सू० ९९ ॥

८. जयादित्यस्तु—"सर्पिषो जानीते । मधुनो जानीते । सर्पिषा करणेन प्रवर्त्तत इत्यर्थः । प्रवृत्तिवचनो जानातिरविदर्थः । अथ वा मिथ्याज्ञानवचनः । सर्पिषि रक्तः प्रतिहतो वा । चित्तभ्रान्त्या तदात्मना सर्वमेव ग्राह्यं प्रतिपद्यते । मिथ्याज्ञानमज्ञानमेव ।"

मधुनो जानीते । सर्पिषा = घृतेनाग्निः प्रसिद्धो भवति । अग्नेर्जडत्वाज्ज्ञानं नास्ति ॥

'अविदर्थस्य' इति किमर्थम् । स्वरेण वत्सं जानाति गौः । अत्र गोर्ज्ञानवत्त्वात् 'स्वरेण' इति करणे षष्ठी न भवति ॥ ५१ ॥

['अविदर्थस्य'] अविदर्थ = अज्ञानार्थ जो ['ज्ञः'] ज्ञा धातु, उस के ['करणे'] करण कारक में षष्ठी विभक्ति हो जाय । सर्पिषो जानीते । यहां ज्ञा धातु के सर्पिः करण में षष्ठी हुई है ॥

अविदर्थ-ग्रहण इसलिये है कि 'स्वरेण वत्सं जानाति गौः' यहां ज्ञानार्थ के होने से करणवाची स्वर-शब्द से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५१ ॥

अधीगर्थदयेशां कर्मणि[1] ॥ ५२ ॥

'शेषे' इत्यनुवर्त्तते । 'इक् [नित्यमधिपूर्वः] स्मरणे[2] ।' अधिपूर्वकस्येग्-धातोरर्थे वर्त्तमाना अधीगर्थाः = स्मरणार्थाः । ते च दयश्च ईट् च, तेषाम् । अधीगर्थदयेशाम् । ६ । ३ । कर्मणि । ७ । १ । अधीगर्थदयेशां धातूनां शेषे कर्मणि षष्ठी विभक्तिर्भवति । [अधीगर्थ—] मातुरध्येति । मातुः स्मरति । दय—अन्नस्य दयते । [ईश्—] अन्नस्येष्टे । दय-धातुर्दानार्थोऽत्र गृह्यते । अन्नं ददातीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

['अधीगर्थ-दय-ईशां'] स्मरण अर्थ वाले, दय और ईश् इन धातुओं के शेष ['कर्मणि'] कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । मातुरध्येति । मातुः स्मरति । यहां स्मरणार्थक धातुओं के कर्म में । अन्नस्य दयते । यहां दय धातु के कर्म में । और 'अन्नस्येष्टे' यहां ईश् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

कर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'मातृगुणैः स्मरति' यहां करणवाची गुण-शब्द के होने से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५२ ॥

कृञः प्रतियत्ने[3] ॥ ५३ ॥

कृञः । ६ । १ । प्रतियत्ने । ७ । १ । 'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते । प्रतियत्ने वर्त्तमानस्य कृञ्-धातोः शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । एधोदकस्योपस्कुरुते । अत्र प्रतियत्नेऽर्थे कृञ्-धातोः सुट्-आगमोऽपि भवति[4] । कर्मवाचिन्येधोदक-शब्दे षष्ठी च ॥

प्रतियत्न-ग्रहणं किमर्थम् । कटं करोति । अत्र कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

---

१. कार०—सू० १०० ॥

२. धा०—अदा० ३८ ॥

३. कार०—सू० १०१ ॥

४. "उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ॥" (६ । १ । १३६)

'कर्मणि' इति किम् । एधोदकस्योपस्कुरुते प्रज्ञया । अत्र प्रज्ञा-शब्दे षष्ठी न भवेत् ॥ ५३ ॥

['प्रतियत्ने'] प्रतियत्न अर्थ में वर्त्तमान जो ['कृञः'] कृञ् धातु, उस के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । एधोदकस्योपस्कुरुते । यहां प्रतियत्न अर्थ में कृञ् धातु के ककार के पूर्व सुट् का आगम हुआ और कर्मवाची एधोदक-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥ ५३ ॥

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः[1] ॥ ५४ ॥

'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते । रुजार्थानाम् । ६ । ३ । भाववचनानाम् । ६ । ३ । अज्वरेः । ५ । १ । भाववचनानां=कर्त्तृस्थभावकानां रुजार्थानां धातूनां [शेषे] कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति, अज्वरेः=ज्वरिं वर्जयित्वा । चौरस्य रुजति रोगः । चौरस्यामयति रोगः । रोगभोगो भावः=धात्वर्थः । स कर्त्तरि स्थितः ॥

'रुजार्थानाम्' इति किम् । ग्रामं गच्छति ॥

'भाववचनानाम्' इति किम् । नदी कूलानि रुजति[2] । अत्र कर्मस्थभावकस्य कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

'अज्वरेः' इति किम् । बालं ज्वरयति ज्वरः । अत्र ज्वर-धातोः कर्मणि षष्ठी न स्यात् ॥

वा०—अज्वरिसन्ताप्योरिति वक्तव्यम् ॥ १ ॥

इहापि यथा स्यात्—चोरं[3] सन्तापयति । वृषलं सन्तापयति ॥[4]

ज्वरेः प्रतिषेधे सं-पूर्वकस्य तापि-धातोरपि कर्मणि षष्ठ्याः प्रतिषेधो यथा स्यादिति वार्त्तिकाशयः ॥ ५४ ॥

['भाववचनानां'] जिन धातुओं का अर्थ कर्त्ता में स्थित रहता है, ऐसे जो ['रुजार्थानां'] रुजार्थक धातु हैं, उन के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो, ['अज्वरेः'] ज्वर धातु को छोड़के । चौरस्य रुजति । चौरस्यामयति । यहां रोग का भोगना जो धात्वर्थ है, वह कर्त्ता में रहता है । इससे उस चोर कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

रुजार्थ-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामं गच्छति' यहां षष्ठी न हो ॥

---

१. कार०—सू० १०२ ॥

२. न्यासे—"रुजा-शब्दो हि रूढिशब्दत्वाद् व्याधिमेवाचष्टे । न चात्र व्याधिवचनः । किं तर्हि । भङ्गवचनो रुजिः । एवं तर्हि प्रत्युदाहरणदिगियं दर्शिता वृत्तिकृता [भाष्यकृता ।] इदं त्वत्र प्रत्युदाहरणम्—श्लेष्मा पुरुषं रुजतीति । व्याधिना ग्राहयतीत्यर्थः ।"

कैयटः—"'रुजार्थानाम्' इति धातुमात्रनिर्देशाश्रयमिदं प्रत्युदाहरणम् ।"

३. पाठान्तरम्—चौरम् ॥

४. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

भाववचन-ग्रहण इसलिये है कि 'नदी कूलानि रुजति' यहां [रुज धातु] कर्मस्थभावक है। इससे [उस के] कर्मवाची कूल-शब्द से षष्ठी न हुई ॥

और 'अज्वरेः' ग्रहण इसलिये है कि 'बालं ज्वरयति ज्वरः' यहां ज्वर धातु के कर्म में षष्ठी न हो ॥

'अज्वरिसन्ताप्योरिति वक्तव्यम् ॥' ज्वर धातु के कर्म में जो षष्ठी का प्रतिषेध किया है, वहां सं-पूर्वक तापि धातु का भी समझना चाहिये। चोरं सन्तापयति। यह वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ५४ ॥

आशिषि नाथः[1] ॥ ५५ ॥

कर्मणि-ग्रहणमनुवर्त्तते। आशिषि वर्त्तमानस्य नाथ्-धातोः [शेषे] कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति। सर्पिषो नाथते। मधुनो नाथते। आशीः=इच्छा। सर्पिरिच्छति, मध्विच्छतीत्यर्थः ॥

आशिषि-ग्रहणं किमर्थम्। अन्नं नाथते। याचत इत्यर्थः। अत्र याच्ञार्थस्य नाथ्-धातोः कर्मणि षष्ठी न भवति[2] ॥ ५५ ॥

['आशिषि'] आशीर्वचन अर्थ में वर्त्तमान जो ['नाथः'] नाथ् धातु, उस के शेष कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति हो। सर्पिषो नाथते। मधुनो नाथते। यहां आशीः-शब्द से इच्छा ली जाती है। इससे कर्मवाची सर्पिः-शब्द में षष्ठी विभक्ति हो ॥

'आशिषि' ग्रहण इसलिये है कि 'अन्नं नाथते' यहां मांगने अर्थ में नाथ् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५५ ॥

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्[3] ॥ ५६ ॥

जासि-निप्रहण-नाट-क्राथ-पिषाम्। ६। ३। हिंसायाम्। ७। १। 'जसु [जसी] ताडने'[4] चुरादौ पठ्यते। तस्येदं ग्रहणम्। 'निप्रहण' इति नि-पूर्वकस्य प्र-पूर्वकस्य च पृथक्, नि-प्र-पूर्वस्य सङ्घात-ग्रहणं च भवति। हिंसार्थानां जासि-निप्रहण-नाट-क्राथ-पिषां धातूनां शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति। [जासि—] चौरस्योज्जासयति। निप्रहण—दुष्टस्य निप्रहन्ति। वृषलस्य निहन्ति। चौरस्य प्रहन्ति। [नाट—] चौरस्योन्नाटयति। [क्राथ—] चौरस्य क्राथयति। [पिष्—] चौरस्य पिनष्टि। अत्र 'चौरं निहन्ति' इति सर्वत्रार्थः ॥

---

१. कार०—सू० १०४ ॥

२. अपि च नाथृयोगे सप्तमी—"ब्राह्मणो वै त्वायमभिचरति तस्मिन्नाथस्वेति तमुपाशिक्षित ।" "अथेन्द्रोऽधृतशिशिल इवामन्यत सोऽन्वागच्छत् सोऽग्नौ चैव सोमे चानाथत ।" (काठकसंहितायां १०। ६, २)

३. कार०—सू० १०५ ॥

४. धा०—चुरा० १७८ ॥ "जसु हिंसायाम्" इति च ॥ (चुरा० १३०)

'जास्यादीनाम्' इति किमर्थम् । चौरं हिनस्ति । अत्र 'चौरं' इति कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

हिंसायाम्' इति किम् । चूर्णं पिनष्टि । अत्रापि षष्ठी न भवति ॥ ५६ ॥

जासि धातु चुरादि का ग्रहण है । नि प्र उपसर्ग इकट्ठे और दोनों पृथक् [पृथक् हन धातु से] पूर्व हों तो भी । ['जासि०पिषां हिंसायाम्'] जासि, निप्रहण, नाट, क्राथ, पिष्— हिंसार्थक इन धातुओं के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । चौरस्योज्जासयति । यहां जासि धातु के चौर कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है । निप्रहण—चौरस्य निप्रहन्ति । चौरस्य निहन्ति । चौरस्य प्रहन्ति । यहां नि-प्र-पूर्वक हन धातु के कर्म में । [नाट—] चौरस्योन्नाटयति । यहां नाट धातु के कर्म में । [क्राथ—] चौरस्य क्राथयति । यहां क्राथ धातु के कर्म में । [पिष्—] दुष्टस्य पिनष्टि । और यहां पिष् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

जासि आदि धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि 'चौरं हिनस्ति' यहां कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो ॥

और हिंसा-ग्रहण इसलिये है कि 'चूर्णं पिनष्टि' यहां हिंसा के न होने से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५६ ॥

व्यवहृपणोः समर्थयोः[1] ॥ ५७ ॥

'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते । व्यवहृ-पणोः । ६ । २ । समर्थयोः । [६ । २ ।] समर्थयोः = समानार्थयोः । वि-अव-पूर्वको हृञ्-धातुः, पण्-धातुश्च । अनयोः समानार्थयोः [शेषे] कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । शतस्य व्यवहरति । शतस्य पणायति[2] । व्यवहारे समानार्थौ धातू । तत्र कर्मणि षष्ठी भवति ॥

'समर्थयोः' इति किम् । विद्वांसं पणायति[3] । स्तौतीत्यर्थः । अत्र स्तुत्यर्थस्य कर्मणि षष्ठी न भवति ॥ ५७ ॥

['समर्थयोः'] समानार्थक ['व्यवहृ-पणोः'] वि-अव-पूर्वक हृ धातु और पण् धातु, इन के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । शतस्य व्यवहरति । शतस्य पणायति । यहां व्यवहार अर्थ में दोनों धातु हैं । इससे कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है ॥

समर्थ-ग्रहण इसलिये है कि 'विद्वांसं पणायति' यहां पण् धातु [का] अर्थ स्तुति है । इससे कर्म में षष्ठी नहीं होती ॥ ५७ ॥

दिवस्तदर्थस्य[4] ॥ ५८ ॥

---

१. कार०—सू० १०६ ॥

२. जयादित्यः—"शतस्य पणते । सहस्रस्य पणते । आय-प्रत्ययः [३ । १ । २८] कस्मान्न भवति । स्तुत्यर्थस्य पणतेराय-प्रत्यय इष्यते ।"

३. निघण्टौ (३ । १४) "पणायति, पणते" इति द्वावपि समानार्थावर्चतिकर्माणौ ॥

४. कार०—सू० १०७ ॥

दिवः । ६ । १ । तदर्थस्य । ६ । १ । तदर्थस्य = व्यवहारार्थस्य दिवु-धातोः शेषकर्मणि षष्ठी विभक्तिर्भवति । शतस्य दीव्यति । सहस्रस्य दीव्यति । व्यवहरतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

['तदर्थस्य'] व्यवहारार्थक ['दिवः'] दिवु धातु के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो। शतस्य दीव्यति । यहां व्यवहार अर्थ में दिवु धातु के शत कर्म में षष्ठी विभक्ति हो ॥ ५८ ॥

विभाषोपसर्गे[1] ॥ ५६ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । पूर्वसूत्रेण नित्ये प्राप्ते विकल्प आरभ्यते । पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । व्यवहारार्थस्य दिवु-धातोः सोपसर्गे सति शेषकर्मणि विकल्पेन षष्ठी विभक्तिर्भवति । शतस्य प्रतिदीव्यति । शतं प्रतिदीव्यति । अत्र षष्ठ्या विकल्पे पक्षे 'कर्मणि द्वितीया[2] ॥' इति द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ ५६ ॥

इस सूत्र में प्राप्तविभाषा है । पूर्व सूत्र से षष्ठी नित्य प्राप्त है । उस का विकल्प इस सूत्र से किया है । ['उपसर्गे'] उपसर्गपूर्वक व्यवहारार्थक दिवु धातु के शेष कर्म में ['विभाषा'] विकल्प करके षष्ठी विभक्ति हो । शतस्य प्र[ति]दीव्यति । शतं प्र[ति]दीव्यति । यहां षष्ठी के विकल्प होने के पक्ष में कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ॥ ५६ ॥

द्वितीया ब्राह्मणे[3] ॥ ६० ॥

'दिवस्तदर्थस्य' इत्यनुवर्त्तते । द्वितीया । १ । १ । ब्राह्मणे । ७ । १ । ब्राह्मणग्रन्थेषु[4] तदर्थस्य = व्यवहारार्थस्य दिवु-धातोः कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति[5] । गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः । अत्र 'गां' इति कर्म, तत्र 'दिवस्तदर्थस्य[6] ॥' इत्यनुपसर्गस्य दिवु-धातोः कर्मणि नित्यं षष्ठी प्राप्ता । सोपसर्गे तु सामान्येन पूर्वसूत्रे विकल्पः कृत एवास्ति । अतोऽनुपसर्गस्य दिवः कर्मणि ब्राह्मणे द्वि[ती]यार्थं वचनमिदम् ॥ ६० ॥

['ब्राह्मणे'] ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यवहारार्थ जो दिवु धातु, उस के कर्म कारक में ['द्वितीया'] द्वितीया विभक्ति हो । गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः । यहां गां-शब्द कर्मवाची है । अनुपसर्ग दिवु धातु के कर्म कारक में नित्य षष्ठी विभक्ति प्राप्त है । इसलिये अनुपसर्ग

---

१. कार०—सू० १०८ ॥

२. २ । ३ । २ ॥

३. कार०—सू० १०६ ॥

४. न्यासकारः—"ब्राह्मण-शब्दः शतपथस्याख्या।"

५. महाभाष्ये—"किमुदाहरणम् । गां घ्नन्ति । गां प्रदीव्यन्ति । गां सभासद्भ्य उपहरन्ति । नैतदस्ति । पूर्वेणाप्येतत् सिद्धम् । इदं तर्हि—गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः ।" (अ० २ । पा० ३ । आ० ३)

६. २ । ३ । ५८ ॥

दिवु धातु के कर्म में भी ब्राह्मण ग्रन्थ के विषय में द्वितीया हो, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया है ॥ ६० ॥

प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने[1] ॥ ६१ ॥

'ब्राह्मणे'[2] इत्यनुवर्त्तते । प्रेष्य-ब्रुवोः । ६ । २ । हविषः । ६ । १ । देवतासम्प्रदाने । ७ । १ । प्र-पूर्वस्य इष-धातोर्दैवादिकस्य ग्रहणम्[3] । देवताभ्यः सम्प्रदानं=देवतासम्प्रदानं, तस्मिन् । देवतासम्प्रदाने सति ब्राह्मणविषये प्रेष्य-ब्रुवोर्धात्वोर्हविषः कर्मणः स्थाने षष्ठी विभक्तिर्भवति । इन्द्राग्निभ्यां[4] छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य । इन्द्राग्निभ्यां[4] छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि । अत्र हविः कर्म, तस्यान्यानि षष्ठ्यन्तानि विशेषणानि । 'छागं हविर्वपां मेदः प्रेष्य' इति प्राप्तम् । तत्र षष्ठीविधानार्थं वचनम् ॥

'प्रेष्य-ब्रुवोः' इति किम् । अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहुधि ॥

'हविषः' इति किम् । अग्नये समिधं प्रेष्य ॥

'देवतासम्प्रदाने' इति किम् । बालाय पुरोडाशं प्रेष्य । अत्र सर्वत्र कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

वा०—हविषोऽप्रस्थितस्येति वक्तव्यम्[5] ॥[6]

प्रस्थित-विशेषणरहितस्य हविषः कर्मणः स्थाने षष्ठी भवति । तेनेह न भवति—इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य । अत्रापि कर्मणि षष्ठी न भवति ॥ ६१ ॥

['प्रेष्य-ब्रुवोः'] प्र-पूर्वक दिवादिगण वाला इष धातु और ब्रू धातु इन के ['हविषः'] हविः कर्म में ब्राह्मण विषय में षष्ठी विभक्ति हो, वह कर्म ['देवतासम्प्रदाने'] देवताओं के लिये दिया जाता हो, तो । इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य । इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि[7] । यहां हविः कर्म है, अन्य षष्ठ्यन्त पद उस के विशेषण हैं । 'छागं हविर्वपां मेदः प्रेष्य' ऐसा प्राप्त था । सो इस सूत्र से कर्म में षष्ठी विभक्ति हो गई ॥

---

१. कार०—सू० ११० ॥

२. न्यासकारः—"भाषाविषयेऽप्ययं योगः । उत्तर-सूत्रे छन्दोग्रहणात् ।"

३. जयादित्यः—"'प्रेष्य' इति इष्यतेर्दैवादिकस्य लोण्मध्यमपुरुषस्यैकवचनम् । तत्साहचर्याद् ब्रुविरपि तद्विषय एव गृह्यते ।"

४. काशिकादिषु "अग्नये" इति ॥

५. जयादित्यस्तु—"०प्रस्थितस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥"

६. कोशे "॥ १ ॥" इति ॥
अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

७. कारकीय में इस उदाहरण का व्याख्यान इस प्रकार किया है—"अजा के अर्थ खाने पीने की वस्तु के योग में बिजुली और अग्नि को उपयुक्त कर और सुनकर उपदेश भी कर ।" (टिप्पण *)

प्र-पूर्वक इष और ब्रू धातु का ग्रहण इसलिये है कि 'अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहु-धि' यहां हु धातु के कर्म में षष्ठी न हो ॥

हविः-ग्रहण इसलिये है कि 'अग्नये समिधं प्रेष्य' यहां समिध कर्म में षष्ठी न हो ॥

और देवतासम्प्रदान-ग्रहण इसलिये है कि 'बालकाय पुरोडाशं प्रेष्य' यहां बालक देवता नहीं। इससे षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥

'हविषोऽप्रस्थितस्येति वक्तव्यम् ॥' प्रस्थित विशेषण रहित हविः कर्म में षष्ठी हो, किन्तु 'इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य' यहां प्रस्थित विशेषण के होने से षष्ठी नहीं हुई ॥ ६१ ॥

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि[1] ॥ ६२ ॥

छन्दः-शब्देन मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति। ब्राह्मण-शब्देनैतरेया-दिव्याख्यानानाम्[2]। अत एव 'ब्राह्मणे' इत्यनुवर्तमाने पुनश्छन्दः-ग्रहणं कृतम्। छन्दसि=वेदविषये चतुर्थ्यर्थे बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति। **दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्**[3]। ते वनस्पतिभ्य इति ॥

वा०—षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या ॥[4]

या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते[5]। अत्र 'तस्याः' इति प्राप्ते[6]॥[7]

अत्र वार्त्तिकेन षष्ठ्यर्थे चतुर्थी भवति। बहुल-ग्रहणात् क्वचिन्नापि भवति ॥६२॥

---

१. कार०—सू० ११२ ॥

२. सायणोऽपि—"तत्र **शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद्** व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति।"

(काण्वसंहिताभाष्ये पृ० ८)

"**ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वा**न्मन्त्रा एवादौ व्याख्याताः"। (आनन्दाश्रमग्रन्थावलि-प्रकाशिते तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये पृ० ७)

३. वा०—२४ । ३५ ॥
तै०—५ । ५ । १५ । १ ॥
मै०—३ । १४ । १६ ॥

४. कोशे "॥१॥" इति ॥

५. अत्र नागेशः—"रजस्वलाप्रस्तावे तैत्तिरीयश्रुतौ 'न सहासीत, नास्या अन्नमद्यात्...' इत्युपक्रम्य 'यां मलवद्वाससम्' इत्यादि।"

महाभाष्ये—"या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते। अत्र 'तस्याः' इति प्राप्ते। यस्ततोऽभिजायते सोऽभिशस्तः। यामरण्ये तस्यै स्तेनः, यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्यपगल्भः, या स्नाति तस्या अप्सु मारुकः, याभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा:, या प्रलिखते तस्यै खलतिरपमारी, याङ्क्ते तस्यै काणः, या दतो धावते तस्यै श्यावदन्, या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी, या कृणत्ति तस्यै क्लीबः, या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुकः, या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको जायते। अहल्यायै जार। मनाय्यै तन्तुः॥" (द्रष्टव्यं तैत्तिरीयसंहितायां द्वितीयकाण्डे पञ्चमप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः)

६. महाभाष्यकोशेषु पाठान्तरे—
"खर्वो जायते यां मलवद्वाससं सम्भवन्ति।"
"०खर्वैस्तिस्रो रात्रीः। 'तस्याः' इति प्राप्ते।"

७. अ० २। पा० ३। आ० ३ ॥

ब्राह्मण-शब्द से ऐतरेय आदि व्याख्यानों का ग्रहण होता है, और छन्दस्-शब्द से मन्त्र-भाग मूल वेदों का ग्रहण है। इसलिये इस सूत्र में छन्दः-ग्रहण किया है। ['छन्दसि'] वेद विषय में ['चतुर्थ्यर्थे'] चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति हो ['बहुलं'] बहुल करके। **दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्**[1] । यहां 'वनस्पतिभ्यः' ऐसा प्राप्त था, सो षष्ठी विभक्ति हो गई ॥

'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या ॥' षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति हो। **या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते** । यहां तस्यै-शब्द में षष्ठी के स्थान में चतुर्थी हुई है ॥

इस सूत्र में बहुल-ग्रहण करने से कहीं २ [चतुर्थी के स्थान में] षष्ठी और [षष्ठी के स्थान में] चतुर्थी विभक्ति नहीं भी होती ॥ ६२ ॥

यजेश्च करणे[2] ॥ ६३ ॥

'बहुलं छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते । यजेः । ६ । १ । च । [अ० ।] करणे । ७ । १ । यज-धातोः करणकारके वेदविषये बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति । घृतेन यजते, घृतस्य यजते[3] । सोमस्य यजते, सोमेन यजते । अत्र करणकारके तृतीया प्राप्ता, तस्या अपवादः ॥ ६३ ॥

वेदविषय में ['यजेः'] यज धातु के ['करणे'] करण कारक में बहुल करके षष्ठी विभक्ति हो। **घृतस्य घृतेन वा यजते** । यहां करण कारक में तृतीया विभक्ति प्राप्त थी। उस का अपवाद होने से घृत-शब्द में तृतीया, षष्ठी दोनों ही होती हैं ॥ ६३ ॥

कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे[4] ॥ ६४ ॥

'बहुलं छन्दसि' इति निवृत्तम् । [कृत्वोऽर्थप्रयोगे । ७ । १ । काले । ७ । १ । अधिकरणे । ७ । १ ।] कृत्वसुच्-प्रत्ययस्यार्थे वर्त्तमाना ये प्रत्ययास्तदन्तशब्दप्रयोगे सति कालवाचिन्यधिकरणशब्दे षष्ठी विभक्तिर्भवति । दिवसस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते बालः । दिवसे पञ्चवारं भुङ्क्त इत्यर्थः । दिवसस्य द्विरधीते । दिवसे द्विवारमधीत इत्यर्थः । अत्राधिकरणदिवस-शब्दे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥

कृत्वोऽर्थप्रयोग-ग्रहणं किम् । अहनि शेते । अत्र षष्ठी न भवति ॥

काल-ग्रहणं किमर्थम् । आयसपात्रे द्विर्भुङ्क्ते । अत्रायसपात्रेऽधिकरणशब्दे षष्ठी न भवति ॥ ६४ ॥

---

१. देखो पृष्ठ ३१० टि० ३ ॥

२. कार०—सू० ११४ ॥

३. कौषीतकि-शतपथब्राह्मणयोः (क्रमेण १६ । ५ ॥ ४ । ४ । २ । ४) शाङ्ख्यायन-कात्यायन-आपस्तम्ब-मानवश्रौतसूत्रेषु (क्रमेण ८ । ४ । १, ३ ॥ १० । ६ । १० ॥ १३ । १३ । २१ ॥ २ । ५ । २ । २, ४) च—"घृतस्य यज ।"

४. कार०—सू० ११५ ॥

['कृत्वोऽर्थप्रयोगे'] कृत्वसुच्-प्रत्यय के अर्थ में वर्तमान जो प्रत्यय हैं, तदन्त प्रातिपदिकों के प्रयोग में ['काले'] कालवाची जो ['अधिकरणे'] अधिकरण शब्द, उस में षष्ठी विभक्ति हो। अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति प्राप्त है, उस का अपवाद यह सूत्र है। दिवसस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । एक दिन में यह बालक पांच बार खाता है। यहां अधिकरणवाची दिवस-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है। दिवसस्य द्विरधीते। इसी प्रकार 'दिन भर में दो बार पढ़ता है' यहां दिवस-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

कृत्वोऽर्थप्रयोग-ग्रहण इसलिये है कि 'अहनि शेते' यहां षष्ठी न हो ॥

और काल-ग्रहण इसलिये है कि 'आयसपात्रे [द्विः] भुङ्क्ते' यहां अधिकरणवाची आयसपात्र-शब्द में षष्ठी न हो ॥ ६४ ॥

कर्तृकर्मणोः कृति[1] ॥ ६५ ॥

कर्तृ-कर्मणोः । ७ । २ । कृति । ७ । १ । कृत्सम्बन्धे कर्त्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिर्भवति । कर्त्तरि—तव शायिका। मम जागरिका। देवदत्तस्य व्रज्या। देवदत्तस्येज्या । कर्मणि—पुरां भेत्ता[2] । अपां स्रष्टा । अत्र त्वत्-मत्-देवदत्त-शब्देषु कर्त्तरि षष्ठी, पुर्-अप्-शब्दयोः कर्मणि च ॥

'कर्त्तृ-कर्मणोः' इति किम् । दात्रेण लविता । अत्र करणकारके षष्ठी विभक्तिर्न भवति ॥

'कृति' इति किम् । तद्धितप्रयोगे मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् । भुक्तपूर्वी ओदनम् । अत्र कट-शब्दे ओदन-शब्दे च षष्ठी विभक्तिर्न भवति ॥ ६५ ॥

['कृति'] कृदन्तसम्बन्धी ['कर्तृ-कर्मणोः'] कर्त्ता और कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति हो। देवदत्तस्य व्रज्या। देवदत्तस्येज्या। यहां कर्त्तावाची देवदत्त-शब्द में षष्ठी। पुरां भेत्ता[2]। और यहां कर्मवाची पुर्-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

कर्तृकर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'दात्रेण छेत्ता' यहां करण कारक में षष्ठी न हो ॥

और कृत्-ग्रहण इसलिये है कि 'कृतपूर्वी कटं' यहां तद्धित के प्रयोग में षष्ठी न हो ॥६५॥

उभयप्राप्तौ कर्मणि[3] ॥ ६६ ॥

'कृति' इत्यनुवर्त्तते । उभयप्राप्तौ । ७ । १ । कर्मणि । ७ । १ । उभयोः= कर्तृ-कर्मणोः प्राप्तिर्यस्मिन्, तस्मिन् कृद्योगे कर्मणि षष्ठी भवति, कर्त्तरि नेति

---

१. कार०—सू० ११६ ॥

२. शाङ्ख्यायनश्रौतसूत्रे—८ । १७ । १ ॥

ऋग्वेदे (८ । १७ । १४)—

"द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीना- मिन्द्रो मुनीनां सखा ।"

ऐतरेयब्राह्मणे (८ । १२ । ५) च "पुरां भेत्ताजनि" इति ॥

३. कार०—सू० ११७ ॥

नियमः । गवां दोहो गोपालेन । ओदनस्य पाको देवदत्तेन । कर्मणि षष्ठ्या विधाने कर्तुरनभिहितत्वात् तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

वा०— *अकाकारयोः प्रयोगे प्रतिषेधो नेति वक्तव्यम्*[1] ॥[2] १ ॥

अकप्रयोगे = ण्वुच्प्रयोगे, अकारप्रयोगे = '**अ प्रत्ययात्**[3] ॥' इत्यप्रयोगे च कर्त्तरि षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति, किन्तु कर्तृकर्मणोरुभयत्र षष्ठी विभक्तिर्भवति । भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षा विष्णुमित्रस्य कटस्य । अत्र 'देवदत्तस्य, विष्णुमित्रस्य' चेति कर्तरि, 'काष्ठानां, कटस्य' च [इति] कर्मणि षष्ठ्यौ ॥ १ ॥

शेषे विभाषा[4] ॥[2] २ ॥

अकाकारप्रयोगादन्यः शेषः, तत्र विकल्पेन कर्तरि षष्ठी विभक्तिर्भवति । शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः, शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः । शोभना खलु दाक्षायणस्य सङ्ग्रहस्य कृतिः, शोभना खलु दाक्षायणेन सङ्ग्रहस्य कृतिः । अत्र कर्त्तृवाचिनि पाणिनि-शब्दे दाक्षायण-शब्दे च विकल्पेन षष्ठी, पक्षेऽनभिहितकर्त्तरि तृतीया भवति ॥ [२ ॥] ६६ ॥

पूर्व सूत्र से कृत् के योग में कर्त्ता, कर्म में सर्वत्र षष्ठी प्राप्त है । उस का नियम करने के लिये यह सूत्र है । जिस कृदन्त के योग में ['उभयप्राप्तौ'] कर्त्ता और कर्म दोनों में एक साथ षष्ठी प्राप्त हो, वहां ['कर्मणि'] कर्म में षष्ठी हो और कर्त्ता में [तृतीया हो।] **ओदनस्य पाको देवदत्तेन** । यहां ओदन कर्म है, उस में षष्ठी हो गई । और देवदत्त कर्त्ता है, उस में अनभिहित के होने से तृतीया हो गई ॥

'**अकाकारयोः प्रयोगे प्रतिषेधो नेति वक्तव्यम्** ॥' ण्वुच्-प्रत्ययान्त और अ-प्रत्ययान्त कृदन्त के योग में कर्त्ता में [भी] षष्ठी विभक्ति हो जावे । **भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम्** । **चिकीर्षा विष्णुमित्रस्य कटस्य** । यहां देवदत्त- और विष्णुमित्र-शब्द में कर्त्ता में, और काष्ठ- तथा कट-शब्द में कर्म में षष्ठी है ॥ [१॥]

'**शेषे विभाषा** ॥' पूर्व वार्त्तिक से शेष कृदन्त के योग में विकल्प करके कर्त्ता में षष्ठी

---

१. जयादित्यस्तु —"अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम् ॥"

भाषावृत्तौ च—"अकाकारयोस्तु स्त्रियां नियमप्रतिषेधः ॥"

मिताक्षरा-प्रक्रियाकौमुद्योः—"स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोः प्रयोगे नेति वाच्यम् ।" (प्र०कौ० विभक्त्यर्थप्रकरणे)

कारकीये—"अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे प्रतिषेधो न ॥" (सू० ११८)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

३. ३ । ३ । १०२ ॥ [विभक्त्यर्थप्रकरणे]

४. प्रक्रियाकौमुद्याम्—"शेषे स्त्रीप्रत्यये वा ॥"

भाष्ये ऽकाकारयोः "भेदिका, चिकीर्षा, कृतिः" इति स्त्रीप्रत्यय एवोदाहरणाद् अकाकारव्यतिरिक्तस्त्रीप्रत्यय एव नान्यस्मिन्निति केचिदाहुः । अपरे तु प्रत्ययमात्रेऽकाकारवर्जिते विकल्पमिच्छन्ति ॥

विभक्ति हो। और कर्म में तो नित्य विधान ही है। शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः। शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः। यहां कर्तावाची पाणिनि-शब्द में विकल्प करके षष्ठी और पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है ॥ [२॥] ६६ ॥

क्तस्य च वर्त्तमाने[1] ॥ ६७ ॥

क्त-प्रत्ययस्य निष्ठा-सञ्ज्ञत्वात् 'न लोकाव्यय०[2] ॥' इति प्रतिषेधः प्राप्तः। पुनः षष्ठी विधीयते। क्तस्य। ६। १। च। [अ०।] वर्त्तमाने। ७। १। वर्तमानकाले विहितस्य क्त-प्रत्ययान्तस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति। राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। राज्ञामर्चितः। 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च[3] ॥' इति वर्त्तमाने क्तो विधीयते। तस्येदं ग्रहणम् ॥

'क्तस्य' इति किम्। भारं वहमानः ॥

'वर्त्तमाने' इति किम्। ग्रामं गतः। अत्र भूतस्य कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

वा०—*क्तस्य च वर्त्तमाने[4] नपुंसके भाव उपसङ्ख्यानम्* ॥

छात्रस्य हसितम्। नटस्य भुक्तम्। मयूरस्य नृत्तम्। कोकिलस्य व्याहृतम् ॥[5]

'नपुंसके भावे क्तः[6] ॥' इति सूत्रेण यः क्तो विधीयते, तदन्तस्य कर्त्तरि षष्ठी विभक्तिर्भवतीति वार्त्तिकप्रयोजनम् ॥ ६७ ॥

क्त-प्रत्यय की निष्ठा-सञ्ज्ञा होने से आगे के[2] सूत्र से षष्ठी का निषेध प्राप्त है, इसलिये यह सूत्र है। ['वर्त्तमाने'] वर्तमान काल में जो ['क्तस्य'] क्त-प्रत्ययान्त है, उस के सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति हो। राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। यहां राज-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

'क्तस्य' ग्रहण इसलिये है कि 'गुरुं भजमानः' यहां कर्म में षष्ठी न हो ॥

और वर्त्तमान-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामं गतः' यहां भूतकाल के होने से षष्ठी न हो ॥

'क्तस्य च वर्त्तमाने नपुंसके भाव उपसङ्ख्यानम् ॥' नपुंसक भाव में जो क्त-प्रत्ययान्त है, उस के कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति हो। छात्रस्य हसितम्। यहां छात्र-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है। यह वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ६७ ॥

अधिकरणवाचिनश्च[7] ॥ ६८ ॥

---

१. कार०—सू० १२० ॥
२. २। ३। ६९ ॥
३. ३। २। १८८ ॥
४. काशिकायां "क्तस्य च वर्त्तमाने" इति नास्ति ॥
५. अ० २। पा० ३। आ० ३ ॥
६. ३। ३। ११४ ॥
७. कार०—सू० १२२ ॥

'क्तस्य' इत्यनुवर्त्तते । अधिकरणवाचिनः । ६ । १ । च । [अ० ।] 'क्तोऽधिकरणे च०[1] ॥' इत्यधिकरणे यः क्तो विधीयते, तस्येदं ग्रहणम् । अधिकरणवाचिनः क्त-प्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी विभक्तिर्भवति । इदमेषामासितम् । इदमेषां शयितम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषां यातम् । 'एषां' इति सर्वत्र कर्त्तरि षष्ठी । 'आसितं, शयितं, भुक्तं' इति स्थानविशेषणम् । 'यातं' इति मार्गविशेषणं च । 'आस्तेऽस्मिन्' इति निर्वचनम् ॥ ६८ ॥

['अधिकरणवाचिनः'] अधिकरणवाची क्त-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति हो । इदमेषामासितम् । इदमेषां यातम् । यहां 'एषां' यह कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति है । जिस में स्थित हो, उस स्थान का वाची आसित-शब्द है । इसलिये स्थान ही अधिकरण है ॥ ६८ ॥

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम्[2] ॥ ६९ ॥

'कर्तृकर्मणोः कृति[3] ॥ उभयप्राप्तौ कर्मणि[4] ॥' इति सूत्रद्वयेन प्राप्तायाः षष्ठ्याः प्रतिषेधः क्रियते । न । अ० । ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृणाम् । ६ । ३ । 'ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन्' [इति] एषां योगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति । ल-ग्रहणेन लकारस्थाने य आदेशास्तदन्तानां कर्मणि षष्ठी न भवति । तत्र शतृ-शानचौ, कानच्-क्वसू, कि-किनौ च गृह्यन्ते । शतृ-शानचौ—ओदनं पचन् । ओदनं पचमानः । कानच्—सूर्यं ददृशानः[5] । क्वसुः—प्रयोगं सेधिवान् । कि-किनौ— पपिः सोमं ददिर्गाः[6] । उ—विद्यां पिपठिषुः । गृहं जिगमिषुः । उक—प्रपातुका गर्भम् । अनृतं प्रतिपादुकः । अव्यय—ग्रामं गत्वा । वचनमुक्त्वा । निष्ठा—कटं कृतवान् । देवदत्तेन कृतम् । खलर्थ—ईषत्करः कुम्भस्त्वया । ईषत्पानः सोमस्त्वया । [तृन्—] तृन्-प्रत्याहारग्रहणं भवति । 'लटश्शतृशानचाव०[7] ॥' इत्यारभ्य आ तृनो[8] नकारात् । तेन 'शानन्,

---

१. ३ । ४ । ७६ ॥

२. कार०—सू० १२३ ॥

३. २ । ३ । ६५ ॥

४. २ । ३ । ६६ ॥

५. ऋग्वेदे (४ । ७ । १०)—
"सद्यो जातस्य ददृशानमोजो
यदस्य वातो अनुवाति शोचिः ।"

६. "मन्तेयान्ति सवना हरिभ्यां
बभ्रिर्वज्रं पपिः सोमं ददिर्गाः ।
कर्त्ता वीरं नर्यं सर्ववीरं [२२ । ४)
श्रोता हवं गृणतः स्तोमवाहाः ॥" (ऋ० ६ ।
अपि च (ऋ० ८ । ४६ । १५)—
"ददी रेक्णस्तन्वे ददिर्वसु
ददिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम् ।"

७. ३ । २ । १२४ ॥

८. "तृन् ॥" (३ । २ । १३५)

चानश्, शतृ, तृन्' इति चतुर्णां प्रत्ययानां ग्रहणं भवति । शानन्—सोमं पवमानः । चानश्—पतङ्गान् निघ्नानः । शतृ—धारयन् विश्वाम् । तृन्—कर्त्ता कटान् । लविता यवान् । अत्र सर्वत्र कर्मणि षष्ठी प्राप्ता, सा प्रतिषिध्यते ॥

वा०—*उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः ॥*[1] *१ ॥*

भाषायां = वेदादितरग्रन्थेषु [उक-प्रत्ययान्तस्य कमिधातोर्योगे] षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति । दास्याः कामुकः । वृषल्याः कामुकः । अत्र दासी[-शब्दे] वृषली-शब्दे च षष्ठ्याः प्रतिषेधे द्वितीया प्राप्ता । पुनः प्रतिषेधात् षष्ठ्येव भवति ॥ १ ॥

अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्-कसुनोरप्रतिषेधः ॥[1] *[२ ॥]*

तोसुन्-कसुन्-प्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति । पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः[2] । पुरा वत्सानामपाकर्तोः[3] । पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्[4] । अत्र सूर्य-[वत्स-]क्रूर-शब्दानामनेन वार्त्तिकेन षष्ठी ॥ २ ॥

द्विषः शतुर्वावचनम् ॥[1] *३ ॥*

चौरं द्विषन् । चौरस्य द्विषन् । अत्र 'तृन्' इति प्रत्याहारग्रहणेन नित्यं प्रतिषेधः प्राप्तः । अनेन वार्त्तिकेन विकल्प्यते ॥ [३ ॥] ६९ ॥

कृदन्त के योग में कर्त्ता, कर्म में षष्ठी विभक्ति प्राप्त है । उस का निषेध करने वाला यह सूत्र है । ['ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृणाम्'] ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन्, इन के योग में षष्ठी विभक्ति ['न'] न हो । ल करके लकार के स्थान में जो आदेश होते हैं, उन के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो । शतृ, शानच्, कानच्, क्वसु, कि, किन्, ये सब लकार के स्थान में आदेश होते हैं । ओदनं पचन् । ओदनं पचमानः । इत्यादि उदाहरणों में ओदन [आदि] शब्द[ों]में षष्ठी नहीं हुई । उ— उ-प्रत्ययान्त के योग में कर्म में षष्ठी न हो । कटं चिकीर्षुः । यहां कट-शब्द में । उक— उकञ्-प्रत्ययान्त के कर्म में षष्ठी न हो । अनृतं प्रतिपादुकः । यहां अनृत-शब्द में षष्ठी न हुई । अव्यय—कृदन्त अव्यय के कर्म में षष्ठी न हो । ग्रामं गत्वा । ओदनं भुक्त्वा । यहां ग्राम- और ओदन-शब्द में षष्ठी

---

१. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

२. का०—८ । ३ ॥

३. काण्वीये शतपथब्राह्मणे तु तोसुन्-प्रत्ययस्य योगे पञ्चमी विभक्तिरपि दृश्यते । यथा—"आ तिसृभ्यो (माध्यन्दिनीये—"तिसृणां") दोग्धोः ।" (२ । ६ । ३ । ८) "पुरा नखेभ्यो निकर्तितोः ।" (४ । १ । २ । १) "आस्तमेतोरादित्यात् ।" (४ । २ । २ । १)

४. वा०—१ । २८ ॥ तै०—१ । १ । ९ । ३ ॥ मै०—१ । १ । १० ॥ का०—१ । ९ ॥

नहीं हुई । निष्ठा—क्त- और क्तवतु-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो । देवदत्तेन कृतम् । कटं कृतवान् । यहां देवदत्त- और कट-शब्द में षष्ठी प्राप्त है । खलर्थ—ईषत्करः कटस्त्वया । ईषत्पानः सोमस्त्वया । यहां कट- और सोम-शब्द में षष्ठी प्राप्त है । तृन्—यह प्रत्याहार लिया जाता है । शतृ-प्रत्यय के तृ से लेके तृन्-प्रत्यय के नकार पर्यन्त । इस में शानन्, चानश्, शतृ, तृन्, इतने प्रत्ययों का ग्रहण होता है । शानन् आदि प्रत्ययान्त शब्दों के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो । सोमं पवमानः । पतङ्गान् निघ्नानः । विद्यां धारयन् । लविता यवान् । यहां सोम आदि शब्दों में षष्ठी विभक्ति प्राप्त है, सो नहीं हो ॥

'उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः ॥' उक-प्रत्ययान्त के योग में जो षष्ठी का निषेध किया है, वहां कमि धातु से उक-प्रत्ययान्त के योग में लौकिक प्रयोगों में निषेध न हो, किन्तु षष्ठी विभक्ति हो जावे । दास्याः कामुकः । यहां दासी-शब्द में षष्ठी का निषेध प्राप्त था, सो न हुआ ॥ १ ॥

'अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्-कसुनोरप्रतिषेधः ॥' इस सूत्र में अव्यय के योग में जो षष्ठी का निषेध किया है, वहां तोसुन्- और कसुन्-प्रत्ययान्त अव्यय के योग में षष्ठी का निषेध न हो, किन्तु षष्ठी विभक्ति हो जावे । पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः । पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्[1]। यहां सूर्य- और क्रूर-शब्द में षष्ठी का निषेध प्राप्त था, सो न हुआ ॥ २ ॥

'द्विषः शतुर्वावचनम् ॥' द्विष् धातु से शतृ-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति विकल्प करके हो । चौरस्य द्विषन् । चौरं द्विषन् । यहां चौर-शब्द में षष्ठी के विकल्प में पक्ष में कर्म की द्वितीया हो जाती है । तृन् प्रत्याहार में शतृ-प्रत्यय के होने से षष्ठी का निषेध प्राप्त है । इसलिये यह तीसरा वार्त्तिक है ॥ [३ ॥]

निषेध की अनुवृत्ति यहां से आगे भी जायगी ॥ ६९ ॥

अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः[2] ॥ ७० ॥

'न' इत्यनुवर्त्तते । अक-इनोः । ६ । २ । भविष्यद्-आधमर्ण्ययोः । ७ । २ । भविष्यति काल आधमर्ण्येऽर्थे चाकान्तस्य कर्मणि इन्-प्रत्ययान्तस्य च कर्मणि षष्ठी विभक्तिर्न भवति । अकेनौ द्वौ, भविष्यदाधमर्ण्यौ च द्वावर्थौ, तत्र यथासङ्ख्यं प्राप्नोति ॥

भा०—*अकस्य भविष्यति*[3] ॥[4] *[१॥]*

अकान्तस्य कर्मणि भविष्यत्काले षष्ठी न भवति । यवान् लावको व्रजति । ओदनं भोजको व्रजति ॥

इन आधमर्ण्ये च[3] ॥[4] *[२॥]*

---

१. देखो पृष्ठ ३१६ टिप्पण २ और ४ ॥

२. कार०—सू० १२७ ॥

३. वार्त्तिकमिदम् ॥

४. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

चकाराद् भविष्यत्काले । इन्-प्रत्ययान्तस्य कर्मणि भविष्यदाधमर्ण्ययोर्द्वयो-रप्यर्थयोः षष्ठी न भवति । आधमर्ण्ये—शतं दायी । सहस्रं दायी । भवि-ष्यति—ग्रामं गमी । ग्रामं गामी । अत्रापि 'कर्तृकर्मणोः कृति[1] ॥' इति षष्ठी प्राप्ता, साऽनेन प्रतिषिध्यते ॥

'भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति किम् । यवानां लावकः । जगतः प्रकाशकः । अत्र षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति ॥ ७० ॥

['अक-इनोः'] अक-प्रत्ययान्त और इन्-प्रत्ययान्त शब्दों के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो ['भविष्यद्-आधमर्ण्ययोः'] भविष्यत्काल और आधमर्ण्य अर्थ में। दो अर्थ और दो प्रत्ययों के होने से यथासंख्य प्राप्त होता है, इसलिये 'अकस्य० ॥' महाभाष्य में व्याख्यान है कि अकान्त के योग में भविष्यत्काल और इन्-प्रत्ययान्त के योग में दोनों अर्थों में षष्ठी न हो। यवान् लावको व्रजति । यहां अकान्त के योग में भविष्यत्काल में षष्ठी नहीं हुई । और 'ग्रामं गमी' यहां इन्नन्त के योग में भविष्यत्काल में, तथा 'शतं दायी' यहां आधमर्ण्य अर्थ में षष्ठी विभक्ति का निषेध हुआ है ॥

भविष्यत्- और आधमर्ण्य-ग्रहण इसलिये है कि 'यवानां लावकः' यहां षष्ठी का निषेध न हो ॥ ७० ॥

कृत्यानां कर्त्तरि वा[2] ॥ ७१ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । 'कर्तृकर्मणोः कृति[1] ॥' इति नित्यं षष्ठी प्राप्ता, कर्त्तरि विकल्प्यते । कृत्यानाम् । ६ । ३ । कर्त्तरि । ७ । १ । वा । [अ० ।] कृत्यानां=कृत्यप्रत्ययान्तानां कर्त्तरि विकल्पेन षष्ठी विभक्तिर्भवति । देवदत्तस्य कर्त्तव्यम् । देवदत्तेन कर्त्तव्यम् । अत्र कर्त्तुरनभिहितत्वात् षष्ठ्या विकल्पपक्षे कर्त्तरि तृतीया भवति ॥

'कर्त्तरि' इति किम् । वक्तव्यः श्लोकः । अत्र श्लोक-शब्दे षष्ठी-तृतीये न भवतः ॥

अस्य सूत्रस्य महाभाष्यकारेण योगविभागः कृतः । तत्राऽयमर्थः—'कृत्यानां' इति पृथग्योगः । 'उभयप्राप्तौ' इत्यनुवर्त्तते । उभयप्राप्तौ[3] कृत्यप्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति । ग्राममाक्रष्टव्या शाखा देवदत्तेन । अत्र कर्त्तृकर्मणो-

१. २ । ३ । ६५ ॥

२. कार०—सू० १२६ ॥

३. महाभाष्ये—"उभयप्राप्तिर्नाम सा भवति, यत्रोभयस्य युगपत् प्रसङ्गः । अत्र च यदा कर्मणि, न तदा कर्त्तरि, यदा कर्त्तरि न तदा कर्मणीति ।"

रुभयत्र प्राप्ता षष्ठी प्रतिषिध्यते । ततः 'कर्त्तरि वा ।' कर्त्तरि विकल्पेन षष्ठी भवति । तदेव पूर्वमुदाहृतम् ॥ ७१ ॥

['कृत्यानां'] कृत्य-प्रत्ययान्त के ['कर्त्तरि'] कर्त्ता में ['वा'] विकल्प करके षष्ठी विभक्ति हो । देवदत्तस्य देवदत्तेन वा कर्त्तव्यम् । यहां देवदत्त-शब्द में षष्ठी विकल्प करके होती है । षष्ठी के निषेध पक्ष में अनभिहित कर्त्ता के होने से तृतीया होती है ॥

'कर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि 'वक्तव्यः श्लोकः' यहां कर्म में षष्ठी न हो ॥

इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योगविभाग किया है । इस से दो अर्थ होते हैं—[१] उभयप्राप्त कृत्य-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो । ग्राममाकृष्टव्या शाखा देवदत्तेन । यहां कर्त्ता, कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त है, सो कहीं न हुई । [२] और कृत्य-प्रत्यय के योग में कर्त्ता में षष्ठी विकल्प करके हो । इस का उदाहरण पूर्व इसी सूत्र की व्याख्या में लिख चुके हैं ॥ ७१ ॥

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्[1] ॥ ७२ ॥

'वा' इत्यनुवर्त्तमाने पुनर् अन्यतरस्यां-ग्रहणं 'कर्त्तरि' इतिनिवृत्त्यर्थम् । अप्राप्तविभाषेयम् । शेषत्वात् षष्ठी प्राप्ता, तृतीयाऽनेन विकल्प्यते । अत एव पक्षे षष्ठी भवति । तुल्यार्थैः । ३ । ३ । अतुला-उपमाभ्याम् । ३ । २ । तृतीया । १ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] तुल्यार्थैः शब्दैर्योगे तृतीया विभक्तिर्विकल्पेन भवति तुला-उपमा-शब्दौ वर्जयित्वा । तुल्यो देवदत्तेन, तुल्यो देवदत्तस्य । सदृशो देवदत्तेन, सदृशो देवदत्तस्य ॥

'अतुलोपमाभ्यां' इति किम् । तुला परमेश्वरस्य, उपमा परमेश्वरस्य च नास्ति । अत्र परमेश्वर-शब्दे तृतीया न भवति । शेषत्वात् षष्ठ्येव भवति ॥ ७२ ॥

विकल्प की अनुवृत्ति चली आती थी, फिर विकल्पग्रहण इसलिये है कि कर्त्ता की अनुवृत्ति न आवे । इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है । शेष के होने से षष्ठी प्राप्त थी, तृतीया किसी से प्राप्त नहीं, उस का विकल्प किया है । ['तुल्यार्थैः'] तुल्य के पर्यायवाची शब्दों के योग में ['अन्यतरस्यां'] विकल्प करके ['तृतीया'] तृतीया और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हो, ['अतुला-उपमाभ्यां'] तुला- और उपमा-शब्द को छोड़के । तुल्यः सदृशो वा देवदत्तेन देवदत्तस्य वा । यहां तुल्यार्थ शब्दों के योग में देवदत्त-शब्द से तृतीया और षष्ठी विभक्ति हुई है ॥

तुला- और उपमा-शब्द का निषेध इसलिये है कि 'तुलोपमा वा परमेश्वरस्य नास्ति' यहां परमेश्वर-शब्द में शेष के होने से षष्ठी हो गई ॥ ७२ ॥

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः[2] ॥ ७३ ॥

---

१. कार०—सू० १३० ॥ [(२ । १ । ६६) २. कार०—सू० १३१ ॥

चा० श०—"तुल्यार्थैस्तृतीया वा" ॥ चा० श०—"हितसुखाभ्यां चतुर्थी च ॥ आशि-

अन्यतरस्यां-ग्रहणमनुवर्त्तते । चतुर्थी । १ । १ । च । [अ० ।] आशिषि । ७ । १ । आयुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुख-अर्थ-हितैः । ३ । ३ । आशिषि = आशीर्वचनेऽर्थे सति 'आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित' इत्येतैः शब्दैर्योगे विकल्पेन चतुर्थी विभक्तिर्भवति । पक्षे शेषत्वात् षष्ठी । आयुष्यं शिष्याय शिष्यस्य वा भूयात्[1] । मद्र—मद्रं बालाय बालस्य वा । भद्र—भद्रं पुत्राय पुत्रस्य वा । कुशल—कुशलं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । [सुख—] सुखं पण्डिताय पण्डितस्य वा । [अर्थ—] अर्थो देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । [हित—] हितं माणवकाय माणवकस्य वा । अत्र सर्वत्राशिष्यर्थे चतुर्थी-षष्ठ्यौ भवतः ॥

'आशिषि' इति किम् । आयुष्यमस्य ब्रह्मचर्यम् । अत्र चतुर्थी न भवति ॥७३॥

इति विश्वजनीनायां पाणिनीयसूत्रवृत्तौ

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः पूर्त्तिमगमत् ॥

['आशिषि'] आशीर्वचन अर्थ में ['आयुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुख-अर्थ-हितैः'] आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित, इन शब्दों के योग में विकल्प करके ['चतुर्थी'] चतुर्थी और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हो । आयुष्यं शिष्याय शिष्यस्य वा इत्यादि उदाहरणों में आयुष्य आदि शब्दों के योग में शिष्य आदि शब्दों से चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति होती हैं ॥

आशीर्वचन-ग्रहण इसलिये है कि 'आयुष्यमस्य ब्रह्मचर्यम्' यहां चतुर्थी विभक्ति नहीं होती, किन्तु शेष में षष्ठी होती है ॥ ७३ ॥

यह द्वितीयाध्याय का तृतीय [पा]द समाप्त हुआ ॥

---

१. अत्र काशिकायां "अत्रायुष्यादीनां पर्यायग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥" इति वार्त्तिकम् । महाभाष्ये त्वेतद् न दृश्यते ॥

ष्यायुष्यभद्रार्थकुशलार्थैश्च ॥" (२ । १ । ६७, ६८)

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥

[अथैकवद्भावप्रकरणम्]

द्विगुरेकवचनम् ॥ १ ॥

द्विगुः । १ । १ । एकवचनम् । १ । १ । उच्यते तद्वचनम् । एकस्य वचनं = एकवचनम् । द्विगुः समास एकवचनं = एकवद् भवतीति । सङ्ख्यापूर्वस्य तत्पुरुषस्य द्विगु-सञ्ज्ञास्ति । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । प्रत्यधिकरणं वचनोत्पत्ति-र्भवति, अतो बहुषु बहुवचनं प्राप्तं, एकवचनं विधीयते । तच्च नपुंसकं भवति ॥१॥

संख्या जिस के पूर्व हो, ऐसे तत्पुरुष समास की द्विगु-संज्ञा है । ['द्विगुः'] द्विगु समास ['एकवचनम्'] एकवचन हो । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । यहां प्रति द्रव्य के वचन के उत्पन्न होने से बहुत में बहुवचन प्राप्त था, इसलिये एकवचन का आरम्भ किया है ॥

यहां से आगे एकवचन का अधिकार चलेगा और एकवचन को नपुंसकभाव हुआ करेगा ॥ १ ॥

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्[1] ॥ २ ॥

'एकवचनम्' इत्यनुवर्त्तते । द्वन्द्वः । [१ । १ ।] च । [अ० ।] प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् । ६ । ३ । प्राणिश्च तूर्य्यश्च सेना च, तासामङ्गानि = प्राणि-तूर्य्यसेनाङ्गानि, तेषाम् । अङ्ग-शब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । प्राण्यङ्गानां तूर्य्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्व एकवद्भवति[2] । प्राण्यङ्गानाम्— पाणी च पादौ च = पाणिपा-दम् । कण्ठश्च पृष्ठं च ग्रीवा च जंघौ च = कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम् । तूर्य्याङ्गानां = वाद-नाङ्गानाम्— वंशी च वीणा च = वंशीवीणम् । मृदङ्गश्च शङ्खश्च पणवश्च = मृद-ङ्गशङ्खपणवम् । सेनाङ्गानाम्— हस्तिनश्च अश्वाश्च उष्ट्राश्च = हस्त्यश्वोष्ट्रम् ।

---

१. सा०— पृ० ४५ ॥
चा० श०— "प्राणितूर्याङ्गानाम् ॥ सेनाङ्गानां बहुत्वे ॥" (२ । २ । ५८, ५९)

२. अत्र महाभाष्ये— "प्राण्यङ्गानां प्राण्यङ्गैरिति वक्तव्यम् । तूर्याङ्गानां तूर्याङ्गैः । सेनाङ्गानां सेनाङ्गैरिति ।"

रथशाकटम् । अत्र द्वन्द्वसमासस्योभयपदार्थप्रधानत्वाद् बहुवचनं द्विवचनं च प्राप्तं, एकवचनं विधीयते । तच्च वक्ष्यमाणसूत्रेण[1] नपुंसकमेव भवति ॥ २ ॥

अंग-शब्द अवयववाची यहां लिया है । ['प्राणि-तूर्य्य-सेनाङ्गानाम्'] मनुष्य आदि प्राणियों, तूर्य्य=बजाने [के] बाजे और सेना के अवयववाचियों का जो ['द्वन्द्वः'] द्वन्द्व समास है, वह एकवचन को प्राप्त हो । प्राण्यङ्ग—पाणिपादम् । यहां पाणि=हाथ और पादों के द्वन्द्व समास में बहुवचन प्राप्त था, सो एकवचन हो गया । तूर्य्याङ्ग—वंशीवीणम् । यहां वंशी- और वीणा-शब्द के द्वन्द्व समास में द्विवचन प्राप्त था । सेनाङ्ग—हस्त्यश्वोष्ट्रम् । और यहां हस्ति, अश्व, उष्ट्र, इन तीनों के द्वन्द्व समास में बहुवचन प्राप्त है । इस सूत्र से एकवचन होता है । द्वन्द्व समास उभयपदार्थप्रधान है, इससे द्विवचन और बहुवचन प्राप्त हैं । इसलिये यह सूत्र है ॥ २ ॥

अनुवादे चरणानाम्[2] ॥ ३ ॥

'द्वन्द्वः' इत्यनुवर्त्तते । अनुवादे । ७ । १ । चरणानाम् । ६ । ३ । चरण-शब्दः प्राचीनपुरुषविशेषाणां सञ्ज्ञा[3] । उक्तस्य पुनः कथनमनुवादः[4] । अनुवादे गम्यमाने सति चरणवाचिनां द्वन्द्व एकवद् भवति । उदगात् **कठकालापम्** । प्रत्यष्ठात् **कठकौथुमम्**[5] । कठाश्च कालापाश्च, कठाश्च कौथुमाश्चेति विग्रहः ॥

अनुवाद एवैकवचनं भवति । यदा प्रथमत एव वादस्तदा—उदगुः कठ-कालापाः । अनुवादस्यैतत् प्रत्युदाहरणम् ॥

वा०—स्थेणोरद्यतन्यां चेति वक्तव्यम् ॥[7]

---

१. २ । ४ । १७ ॥

२. सा०—पृ० ४५ ॥
चा० श०—"अनुवादे चरणानां स्थेणोर्लुङि ॥" (२ । २ । ५०)

३. जयादित्यः—"चरण-शब्दः शाखानिमित्तकः पुरुषेषु वर्त्तते ।"
मालतीमाधवटीकायां जगद्धरः—"चरण-शब्दः शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसङ्घवाची ।"

४. जयादित्यः—"प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन सङ्कीर्तनमात्रमनुवादः ।"

५. =कठ-कालापशाखाध्यायिनः, कठ-कौथुमशाखा-[ध्यायिनः ॥
तथा च चरणव्यूहपरिशिष्टसूत्रे—"यजुर्वेदस्य षडशीतिभेदा भवन्ति । तत्र चरकानां द्वादश भेदा भवन्ति—चरका आह्वरकाः कठाः प्राच्यकठाः कपिष्ठलकठाश्चारायणीया वारायणीया वार्तान्तवीया श्वेताश्वतरा औपमन्यवः पाताण्डनीया मैत्रायणीयाश्चेति ।" (द्वितीयकण्डिकायाम्)
"सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्ति । एष्वनध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतुवज्रेणाभिहताः । शेषान् व्याख्यामः । तत्र राणायनीयानां सप्त भेदा भवन्ति—राणायनीयाः शाट्यमुग्राः कालोपाः [कालापाः] महाकालोपा लाङ्गलायनाः शार्दूलाः कौथुमाश्चेति ।" (तृतीयकण्डिकायाम्)

६. महाभाष्ये "स्थेणोरिति वक्तव्यम् ॥" इति पृथग् व्याख्यातम् ॥

७. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

अद्यतन्यां = लुङ्लकारे स्था-धातोरिण्-धातोश्च प्रयोगेऽस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिर्भवतीति वार्त्तिकाशयः । तथैव पूर्वमुदाहृतम् ॥

'स्थेणोः' इति किम् । अनन्दिषुः कठकालापाः ॥

'अद्यतन्याम्' इति किम् । तिष्ठन्तु कठकालापाः । अत्रोभयत्रैकवचनं न भवति ॥ ३ ॥

चरण-शब्द प्राचीन ऋषियों के किसी कुल विशेष की संज्ञा में आता है। कही हुई बात को फिर कहना, इस को अनुवाद कहते हैं । ['अनुवादे'] अनुवाद अर्थ में ['चरणानाम्'] चरणवाचियों का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवचन को प्राप्त हो। उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् । यहां अनुवाद अर्थ में एकवचन हुआ है ॥

अनुवाद-ग्रहण इसलिये है कि 'उदगुः कठकालापाः' यहां एकवचन न हो ॥

'स्थेणोरद्यतन्यां चेति वक्तव्यम् ॥' लुङ् लकार में स्था और इण् धातु के प्रयोग में इस सूत्र की प्रवृत्ति हो, यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है । इसी के अनुकूल सूत्र के उदाहरण दे चुके हैं ॥

स्था और इण् का ग्रहण इसलिये है कि 'अनन्दिषुः कठकालापाः' यहां एकवचन न हो ॥

और अद्यतन-ग्रहण इसलिये है कि 'तिष्ठन्तु कठकालापाः' यहां भी एकवचन न हो ॥ ३ ॥

अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम्[1] ॥ ४ ॥

अध्वर्यौ = [यजुः]वेदे विहितः क्रतुः = अध्वर्युक्रतुः । अनपुंसकलिङ्गानामध्वर्य्युक्रतुवाचिनां शब्दानां द्वन्द्वसमास एकवद् भवति । सोमयागराजसूयम् । अर्काश्वमेधम्[2] ॥

'अनपुंसकम्' इति किम् । राजसूयवाजपेये[3] । अत्रैकवद्भावो न भवति ॥ ४ ॥

['अनपुंसकम्'] नपुंसकलिंग को छोड़के जो ['अध्वर्युक्रतुः' यजुः]वेदविहित यज्ञवाची शब्द हैं, उन का द्वन्द्व समास एकवचन हो । अर्काश्वमेधम् । यहां अर्क और अश्वमेध-शब्द का द्वन्द्व एकवचन हुआ है ॥

अनपुंसक-ग्रहण इसलिये है कि 'राजसूयवाजपेये' यहां एकवद्भाव न हो ॥ ४ ॥

अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्[4] ॥ ५ ॥

---

१. सा०—पृ० ४६ ॥
चा० श०—"अध्वर्युक्रतूनामनपुंसकानाम् ॥" (२ । २ । ५१)

२. अथर्ववेदे (११ । ९ । ७) तु—
"राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥"

३. न्यासे—"एतौ राजसूय-वाजपेय-शब्दौ पुँल्लिङ्गावपि स्तः । तत्र यदा नपुंसकलिंगौ प्रयुज्येते, तत्रेदं प्रत्युदाहरणम् ।"

४. सा०—पृ० ४६ ॥
चा० श०—"सन्निकृष्टपाठानाम् ॥" (२ । २ । ५२)

अध्ययनतः। [अ०।] अविप्रकृष्टाख्यानाम्। ६।३। अध्ययनतः—अध्ययनेनेति तृतीयार्थे तसिः। विप्रकृष्टाः=दूरीभूताः। न विप्रकृष्टाः=अविप्रकृष्टाः। समीपवर्त्तिन इत्यर्थः। अध्ययन[नि]मित्तेन सह समीपाख्यानां द्वन्द्व एकवद् भवति। उदाहरणप्रत्युदाहरणम्। अर्थोदाहरणम्। अष्टाध्यायीमहाभाष्यम्। व्याकरणनिरुक्तम्। ऋग्वेदयजुर्वेदम्। उदाहरणपठनपश्चात् प्रत्युदाहरणान्यध्येयानीति पठनक्रमे समीपवर्त्तिनां द्वन्द्व एकवद् भवति। व्याकरणमधीत्य निरुक्तमध्येयमिति॥

'अध्ययनतः' इति किम्। पितापुत्रौ। अत्र समीपवाचिनोर्द्वन्द्व एकवन्न भवति॥ ५॥

['अध्ययनतः'] अध्ययन का निमित्तवाची जो प्रातिपदिक है, उस के ['अविप्रकृष्टाख्यानाम्'] समीपवाचियों का जो द्वन्द्व है, वह एकवचन हो। व्याकरणनिरुक्तम्। व्याकरण के पीछे निरुक्त पढ़ना चाहिये। यहां व्याकरण पढ़ने के समीप निरुक्त का पढ़ना है। इससे इन का द्वन्द्व एकवत् हो गया॥

'अध्ययनतः' ग्रहण इसलिये है कि 'पितापुत्रौ' यहां समीपवाचियों का द्वन्द्व एकवत् प्राप्त है, सो न हो॥ ५॥

जातिरप्राणिनाम्[1] ॥ ६ ॥

जातिः। १। १। अप्राणिनाम्। ६। ३। अप्राणिवाचिनां जातिशब्दानां द्वन्द्व एकवद् भवति। खट्वापीठम्। घटपटम्॥

'जातिः' इति किम्। नन्दकपाञ्चजन्यौ॥

'अप्राणिनाम्' इति किम्। ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः। अत्रोभयत्रैकवद्भावो न भवति॥ ६॥

['अप्राणिनाम्'] प्राणिरहित ['जातिः'] जातिवाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवत् हो। खट्वापीठम्। यहां दो शब्दों का द्विवचन प्राप्त था, सो एकवचन हो गया॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि 'नन्दकपाञ्चजन्यौ' यहां एकवत् न हो॥

और अप्राणि-ग्रहण इसलिये है कि 'ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः' यहां भी एकवद्भाव न हो॥ ६॥

विशिष्टलिङ्गो नदी देशोऽग्रामाः[2] ॥ ७ ॥

विशिष्टलिङ्गः। १। १। नदी। १। १। देशः। १। १। अग्रामाः।

---

१. सा०—पृ० ४६॥ चा० श०—"अप्राणिजातीनाम्॥" (२।२।५३)

२. सा०—पृ० ४६॥ चा० श०—"नदीदेशनगराणां भिन्नलिङ्गानाम्॥" (२।२।५४)

१ । ३ । विशिष्टलिङ्गानां = भिन्नलिङ्गानां नदीवाचिनां देशावयववाचिनां शब्दानां च द्वन्द्व एकवद् भवति, अग्रामाः = ग्रामविशेषवाचिशब्दान् वर्जयित्वा । भिद्यं च इरावती च = भिद्येरावति । उद्ध्येरावति । गङ्गा च शोणं च = गङ्गाशोणम् । देशवाचिनाम्—पञ्चालजाङ्गलम्[1] । पञ्चालकुरुक्षेत्रम् ॥

'विशिष्टलिङ्गः' इति किम् । गङ्गायमुने ॥

'नदी, देशः' इति किम् । मातापितरौ ॥

'अग्रामाः' इति किम् । शाकलं च शालूकिनी च = शाकलशालूकिन्यौ[2] । सर्वत्रात्रैकवद्भावो न भवति ॥ वार्त्तिकानि—

ग्रामप्रतिषेधे नगरप्रतिषेधः ॥ १ ॥

इह मा भूत्—मथुरा च पाटलिपुत्रं च = मथुरापाटलिपुत्रम्[3] ॥[4]

सूत्रेऽस्मिन् देश-शब्देन देशावयवग्रहणा[द्] ग्रामनगराणां द्वन्द्वस्यैकवद्भावः प्राप्तः । तत्र 'अग्रामाः' इति प्रतिषेधे नगरस्यापि प्रतिषेधः प्राप्तः । तस्य प्रतिषेधो वार्त्तिकेन क्रियते । ततः प्रतिप्रसवेन नगराणामेकवद्भावो भवत्येव । कुतः । 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः' इत्यादि ग्रामे यत् कार्यं प्रतिषिध्यते, नगरेऽपि तत्र क्रियते । अतो ज्ञायते ग्राम-शब्देन नगरस्यापि ग्रहणं भवति ॥ १ ॥

उभयतश्च[5] ग्रामाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः[6] ॥ [२ ॥]

शौर्यं च केतवता च = शौर्यकेतवते[7] । जाम्बवं च शालूकिनी च = जाम्बवशालूकिन्यौ ॥[8]

१. महाभारतेऽन्यत्र पुराणेषु बृहत्संहितादिषु च "कुरुजाङ्गलम्" इति ॥
"तस्य नाम्नाऽभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम्। कुरुक्षेत्रं स तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः ॥"
[तस्य—कुरोः] (आदिपर्वणि श्लो० ३७३६)
सम्प्रत्यपि बीकानेरराज्याधिपतिः "जंगलधरपतशाह" इत्युपाधि बिभर्त्ति ॥

२. महाभारते तीर्थयात्रापर्वणि (वनपर्वणि श्लो० ५०८३, ५०८४)—
"ततः शालूकिनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥
दशाश्वमेधे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात् ।"
"शाकल" इति च सम्प्रति "सियालकोट" इति नाम्ना प्रसिद्धम् ॥

३. पाठान्तरम्—"इह मा भूत्—मथुरापाटलिपुत्रमिति ॥"

४. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

५. नागेशः—"यो ग्रामाणां प्रतिषेधः, उभयतः ग्रामसर्वावयवकस्य ग्रामान्यतरावयवकस्य वेत्यर्थः।"

६. चान्द्रवृत्तौ—"इह कथम्—शौर्यं च नगरं केतवता च ग्रामः, शौर्यकेतवतम् । नगराश्रयो हि विधिरस्ति, ग्रामाश्रयः प्रतिषेधो नास्ति ।"

७. काशिकायाम्—"सौर्यं च नगरं, केतवतं च ग्रामः, सौर्यकेतवते ।"

८. पाठान्तरम्—शालु० ॥

अत्र शौर्य-जाम्बवे नगरे, केतवता-शालूकिन्यौ ग्रामौ । ग्रामनगरयोरुभयोरपि द्वन्द्व एकवन्न भवतीति वार्त्तिकप्रयोजनम् ॥ [२ ॥] ७ ॥

['विशिष्टलिङ्गः'] भिन्न २ लिंग वाले ['नदी'] नदीवाची शब्द और ['देशः'] देशों के अवयववाची शब्द, इन का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवत् हो, ['अग्रामाः'] ग्रामवाची शब्दों को छोड़के । भिद्येरावति । गङ्गाशोणम् । यहां नदीवाची शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवचन हुआ है । देश के अवयव—कुरुजाङ्गलम् । पञ्चालकुरुक्षेत्रम् । और यहां देशवाची शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवचन हुआ है ॥

'ग्रामप्रतिषेधे नगरप्रतिषेधः ॥' ग्राम में जिस कार्य का निषेध है, वह कार्य नगर में भी नहीं किया जाता । इसीसे ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण होता है । इसलिये यह वार्त्तिक है कि सूत्र में ग्राम का जो निषेध किया है, वहां नगर का निषेध न हो । मथुरा-पाटलिपुत्रम् । यहां नगरवाची शब्दों के द्वन्द्व में एकवद्भाव हो गया ॥ १ ॥

'उभयतश्च ग्रामाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥' ग्राम और नगरवाची शब्द का परस्पर जो द्वन्द्व समास हो, वहां एकवद्भाव का निषेध हो जावे । शौर्यं च केतवता च = शौर्यकेतवते । यहां शौर्य किसी नगर का नाम और केतवता किसी ग्राम का नाम है । सो नगर की विधि होने से यहां भी एकवद्भाव प्राप्त है, सो इस वार्त्तिक से नहीं हुआ ॥ [२ ॥] ७ ॥

क्षुद्रजन्तवः[1] ॥ ८ ॥

सूक्ष्मात् सूक्ष्मान् जीवानारभ्य नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः । क्षुद्राश्च ते जन्तवः = क्षुद्रजन्तवः । क्षुद्रजन्तूनां द्वन्द्व एकवद् भवति । यूकाश्च लिक्षाश्च = यूकालिक्षम् । कीटाश्च पिपीलिकाश्च = कीटपिपीलिकम् । दंशाश्च मशकाश्च = दंशमशकम् । अत्र सर्वत्र 'बहुषु बहुवचनम्[2] ॥' इति बहुवचनं प्राप्तम् । एकवचनं विधीयते ॥

भा०—'क्षुद्रजन्तवः' इत्युच्यते । के[3] क्षुद्रजन्तवः । क्षोत्तव्या जन्तवः = क्षुद्रजन्तवः[4] । यद्येवं 'यूकालिक्षं, कीटपिपीलिकं, दंशमशकम्' इति[5] न सिध्यति । एवं तर्ह्यनस्थिकाः क्षुद्रजन्तवः । अथ वा येषां स्वं शोणितं नास्ति, ते क्षुद्रजन्तवः । अथ वा येषामा सहस्रादञ्जलिर्न पूर्यते, ते क्षुद्रजन्तवः । अथ वा येषां गोचर्ममात्रं राशिं हत्वा न पतति[6], ते क्षुद्रजन्तवः । अथ वा नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः ॥[7]

१. सा०—पृ० ४७ ॥
चा० श०—"क्षुद्रजन्तूनाम् ॥" (२ । २ । ६०)
२. १ । ४ । २१ ॥
३. पाठान्तरम्—के पुनः ॥
४. पाठान्तरम्—क्षोत्तव्या जन्तवः ॥
५. पाठान्तरम्—०कीटपिपीलिकम्' इति ॥
६. पाठान्तरम्—न पतितो भवति ॥ [इति ॥
७. कोशेऽत्र—"[अ० २। पा० ४।] आ० १ [व्या०]"

'क्षुदिर् सम्पेषणे'[1]। 'क्षोत्तव्याः'[2]=सम्पेष्टव्याः=हिंसका जीवा हिंसनीयाः क्षुद्रजन्तव इति प्रथमं लक्षणम्। तत्र दोषापत्तौ सत्यामन्यानि लक्षणान्युक्तानि, तानि स्पष्टान्येव सन्ति ॥ ८ ॥

सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों से लेके नकुल पर्यन्त क्षुद्र जन्तु कहाते हैं। ['क्षुद्रजन्तवः'] क्षुद्र जन्तुओं का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवद् हो। यूकालिक्षम्। दंशमशकम्। यहां बहुतों में बहुवचन प्राप्त है, इसलिये [इस सूत्र से] एकवचन किया है ॥

'क्षुद्रजन्तवः'—हिंसक जीव मारने योग्य होते हैं। उन को क्षुद्र जन्तु समझने में यह दोष है कि 'कीटपतङ्गम्' यहां एकवत् नहीं पावे। इसलिये जिन के शरीर में हड्डी न हो, वे क्षुद्र जन्तु समझने चाहियें। अथ वा जिन के अपना रुधिर नहीं, मनुष्यादि का रुधिर पी कर जीते हैं, वे क्षुद्र जन्तु। अथ वा जिन हजार पर्यन्त जीवों से भी एक अञ्जुलि न भरे, वे क्षुद्र जन्तु। अथ वा एक पशु के चर्म भर जिन के मारने से भी पतित न हो, वे क्षुद्र जन्तु। अथ वा नकुल पर्यन्त जीवों को क्षुद्र जन्तु कहते हैं। इतने लक्षण क्षुद्र जन्तुओं के महाभाष्यकार ने लिखे हैं। [इन में से अन्तिम लक्षण ही व्यापी होने से मन्तव्य है ॥] ८ ॥

येषां च विरोधः शाश्वतिकः[3] ॥ ९ ॥

येषाम्। ६। ३। च। [अ०।] विरोधः। १। १। शाश्वतिकः। १। १। येषां जीवानां शाश्वतिकः=सनातनो विरोधः, तेषां द्वन्द्व एकवद् भवति। अहिश्च नकुलश्च=अहिनकुलम्। मार्जारश्च मूषकश्च=मार्जारमूषकम् ॥

'शाश्वतिकः' इति किम्। कुरुपाण्डवा युयुधिरे। अत्रैकवन्न भवति ॥

अस्मिन् सूत्रे चकार एवकारार्थः। शाश्वतिकविरोधे सति भवत्येवैकवद्भावः। तेन 'अश्वमहिषं, काकोलूकम्' [इति] अत्र वक्ष्यमाणसूत्रेण[4] विभाषैकवद्भावः प्राप्तः। चकारस्यैवकारार्थत्वान्नित्यमेव भवति ॥ ९ ॥

['येषां'] जिन जीवों का ['विरोधः शाश्वतिकः'] सनातन विरोध है, उन का द्वन्द्व समास एकवत् हो। अहिनकुलम्। यहां अहि- और नकुल-शब्द का एकवद्भाव हुआ है ॥

शाश्वतिक-ग्रहण इसलिये है कि 'कुरुपाण्डवा युयुधिरे' यहां एकवत् न हो ॥

इस सूत्र में चकार निश्चयार्थ है। जहां सनातन विरोध हो, वहां एकवद्भाव हो ही जावे। अश्वमहिषम्। यहां आगे के[4] सूत्र से पशुवाची शब्दों के द्वन्द्व में विकल्प करके एकवत् प्राप्त है, सो चकार के होने से नित्य होता है ॥ ९ ॥

---

१. धा०—रुधा० ६ ॥

"स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपि०शुभिभ्यो रक् ॥" (उणा० २। १३) इति रक् ॥

२. कैयटस्त्वाह—" 'क्षोत्तव्याः' इत्यर्हार्थे कृत्यः। ये क्षुद्यमाना अपि न म्रियन्ते जलौकःप्रभृतयः। ये तु म्रियन्ते ते पापनिमित्तत्वादचोदनार्हाः ॥"

३. सा०—पृ० ४७ ॥

चा० श०—"नित्यंवैरिणाम् ॥" (२। २। ५५)

४. "विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्त्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् ॥" (२। ४। १२)

शूद्राणामनिरवसितानाम्[1] ॥ १० ॥

शूद्राणाम् । ६ । ३ । अनिरवसितानाम्[2] । ६ । ३ ।

भा०—यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति, तेऽनिरवसिताः ।
यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति, ते निरवसिताः ॥[3]

यैः शूद्रैः = आर्यसेवकैर्भुक्ते सति पात्रशुद्धिः संस्कारेण[4] भवति तेऽनिरवसिताः । अनिरवसितानां शूद्रवाचिशब्दानां द्वन्द्व एकवद् भवति । तक्षायस्कारम् । रजकतन्तुवायम् । रजककुलालम् । अत्र सर्वत्र द्विवचनं प्राप्तम्, एकवचनमेव भवति ॥

'अनिरवसितानाम्' इति किम् । चण्डालमृतपाः । चण्डालाश्च मृतपाश्चेति विग्रहः । अत्र चण्डालादिभुक्तं पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति, अतस्ते निरवसिताः [=बहिष्कृताः[6] ।] तेषां द्वन्द्वोऽप्येकवन्न भवति ॥ १० ॥

जिन शूद्रों का भोजन किया हुआ पात्र संस्कार करने से [अर्थात् मांजने से] शुद्ध हो सकता है, वे अनिरवसित शूद्र कहाते हैं । और जिन का पात्र संस्कार से [अर्थात् मांजने से] भी शुद्ध न हो, वे निरवसित कहाते हैं । ['अनिरवसितानाम्'] अनिरवसित ['शूद्राणाम्'] शूद्रवाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवचन हो । रजकतन्तुवायम् । रजक कहते हैं धोबी को, और तन्तुवाय कोरी [=जुलाहा] कहाता है । इन का द्वन्द्व एकवत् हो गया ॥

अनिरवसित-ग्रहण इसलिये है कि 'अन्त्यजचण्डालाः' अन्त्यज और चण्डाल का पात्र संस्कार से [अर्थात् मांजने से] भी शुद्ध नहीं हो सकता । इससे यहां एकवत् नहीं हुआ ॥ १० ॥

---

१. सा०—पृ० ४७ ॥

चा० श०—"कारूणाम् ॥" (२ । ३ । ५६)

२. अत्र महाभाष्ये—

" 'अनिरवसितानाम्' इत्युच्यते । कुतोऽनिरवसितानाम् । आर्यावर्तादनिरवसितानाम् । कः पुनरार्यावर्तः । प्रागादर्शात् प्रत्यक्कालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम् । यद्येवं किष्किन्धगन्धिकं शकयवनं शौर्यक्रौञ्चमिति न सिध्यति ॥

"एवं तर्ह्यार्यनिवासादनिरवसितानाम् । कः पुनरार्यनिवासः । ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति । एवमपि य एते महान्तः संस्त्यायास्तेष्वभ्यन्तराश्चण्डाला मृतपाश्च वसन्ति । तत्र चण्डालमृतपा इति न सिध्यति ॥

"एवं तर्हि याज्ञात् कर्मणोऽनिरवसितानाम् । एवमपि 'तक्षायस्कारं, रजकतन्तुवायम्' इति न सिध्यति ॥

"एवं तर्हि पात्रादनिरवसितानाम् । यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति० ॥"

३. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

४. द्रष्टव्या भगवद्दयानन्दकृतोणादिवृत्तौ—२।१६॥

५. "भस्मना शुध्यते कांस्यम्" इत्यादि स्मृतिविहितेन संस्कारेण ॥ (द्रष्टव्याः मनुस्मृतौ पञ्चमाध्याये श्लोकाः ११०—११७, याज्ञवल्क्यस्मृतौ चाचाराध्याये द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् ८) [त्यर्थः ।"]

६. अत्र न्यासकारः—"न लभन्ते तत्र भोक्तुमि-

गवाश्वप्रभृतीनि च[1] ॥ ११ ॥

गवाश्वप्रभृतीनि । १ । ३ । च । [अ० ।] एकवचनाधिकारे कृतैकवद्भावसाधूनि गवाश्वप्रभृतीनि प्रातिपदिकानि सिद्धानि भवन्ति । गवाश्वम् । गवाविकम् । अत्र गो-शब्दस्य अश्व-शब्देन अवि-शब्देन च सह समासः । पृषोदरादित्वादन्यत्कार्यम् ॥

भा०—गवाश्वप्रभृतिषु यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्तं द्रष्टव्यम् ॥[2]

अस्यैतत् प्रयोजनम्—गणपाठे यथा पाणिनिनोच्चारितं, तथैव द्रष्टव्यम् । यदि विग्रहेण सिद्धिः कर्त्तव्या, तदा वक्ष्यमाणसूत्रेण[3] 'गोऽश्वं, गोऽश्वाः' इति द्वौ प्रयोगौ भविष्यतः, किन्तु निपातनकार्यं गणपाठितेष्वेव भवति ॥

अथ गणपाठः—[१] गवाश्वम् [२] गवाविकम् [३] गवैडकम् [४] अजाविकम् [५] अजैडकम्[4] [६] कुब्जवामनम् [७] कुब्जकिरातम्[5] [८] कुब्जकैरातकम्[6] [९] पुत्रपौत्रम्[7] [१०] स्त्रीकुमारम् [११] दासीमाणवकम् [१२] शाटीपिच्छकम्[8] [१३] शाटीपट्टिकम्[9] [१४] उष्ट्रखरम् [१५] उष्ट्रशशम् [१६] मूत्रशकृत् [१७] मूत्रपुरीषम् [१८] यकृन्मेदः[10] [१९] मांसशोणितम् [२०] दर्भशरम्[11] [२१] दर्भपूतीकम्[12] [२२] अर्जुनशिरीषम्[13] [२३] अर्जुन-

---

१. सा०—पृ० ४७ ॥
चा० श०—"गवाश्वादीनाम् ॥" (२ । २ । ५७)

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. २ । ४ । १२ ॥

४. "गवाश्वम्" इत्येवमादीनाम् अजैडकपर्यन्तानां पशुद्वन्द्वविभाषायां प्राप्तायां वचनम् । एवं "उष्ट्रखरम्, उष्ट्रशशम्" इति ॥

५. चान्द्रवृत्ति-काशिका-शब्दकौस्तुभेषु नैष शब्द उपलभ्यते ॥

६. पाठान्तरम्—०कैरातम् ॥
रामचन्द्र-बोटलिङ्कौ नैतं पठतः। श्रीबोटलिङ्कस्तु "कुब्जकैरातम्" इत्येतं "कुब्जकिरातम्" इत्यस्य पाठान्तरं मन्यते॥ [सर्वत्र "श्वचण्डालम्"इति॥

७. अतः परं चान्द्रवृत्ति-काशिका-प्र०कौ०टीकादिषु

८. चान्द्रवृत्तौ—शाटीपुच्छकम् ॥
प्र०कौ०टीकायाम्—शाटीप्रच्छिकम् ॥
बोटलिङ्कः "शाटीपटीरं, शाटीप्रच्छदम्" इति द्वौ शब्दौ पठति, गणान्ते च "K. ausserdem शाटीपिच्छकम्" इति ॥
शब्दकौस्तुभे "उष्ट्रखरं, शाटीप्रच्छदम्" इति ॥
न्यासे—"शाटीपिच्छकमिति 'जातिरप्राणिनाम् ॥' [२ । ४ । ६] इति सिद्धेऽबहुप्रकृत्यर्थः पाठः ।"
एवमेव मूत्रशकृदादयो मांसशोणितपर्यन्ताः ॥

९. चान्द्रवृत्ति-काशिका-प्र०कौ०टीका-शब्दकौस्तुभेषु नोपलभ्यते ॥

१०. चान्द्रवृत्तौ—यकृन्मेदम् ॥
प्र०कौ०टीकायाम्—शकृन्मेदम् ॥

११. शब्दकौस्तुभे नास्ति ॥
न्यासे—"दर्भशरप्रभृतीनां तृणोलपपर्यन्तानां तृणद्वन्द्वविभाषायां प्राप्तायां वचनम् ।"

१२. चान्द्रवृत्तौ—दर्भपूतिकम् ॥ [पलभ्यते ॥

१३. चान्द्रवृत्ति-प्र०कौ०टीका-शब्दकौस्तुभेषु नो-

पुरुषम्[1] [२४] तृणोलपम्[2] [२५] दासीदासम् [२६] कुटीकुटम्[3] [२७] भागवतीभागवतम्[4] ॥ इति गवाश्वप्रभृतिगणः ॥ ११ ॥

इस एकवचन के अधिकार में एकवद्भाव किये हुए ['गवाश्वप्रभृतीनि'] गवाश्वप्रभृति प्रातिपदिक निपातन सिद्ध समझने चाहियें । गवाश्वम् । यहां गो-शब्द का अश्व-शब्द के साथ समास होके एकवद्भाव और आकारादेश निपातन से हुआ है । इस गवाश्वप्रभृतिगण में जिस प्रकार के शब्द पाणिनिजी महाराज ने पढ़े हैं, वैसे ही समझने चाहियें । अर्थात् जो समास का विग्रह करके सिद्धि करना हो, तो आगे के सूत्र से 'गोऽश्वं, गोऽश्वाः' ये दो प्रयोग बनेंगे, किन्तु गवा का सा प्रयोग नहीं बनेगा ॥

गवाश्वप्रभृतिगण पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिया है ॥ ११ ॥

विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम्[5] ॥ १२ ॥

प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम् । विभाषा । [अ० ।] वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुनि-अश्ववडव-पूर्वापर-अधरोत्तराणाम् । ६ । ३ । 'वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर' इत्येतेषां द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति । अस्मिन् सूत्रे वृक्षादिजातिशब्देषु तद्विशेषवाचिनां शब्दानां ग्रहणं भवति । तदुक्तं प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे 'स्वं रूपम्[6]॥' इति सूत्रे । वृक्ष-शब्दे प्राप्तविभाषा । 'जातिरप्राणिनाम्[7]॥' इति नित्यः एकवद्भावे प्राप्ते विकल्प आरभ्यते । प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च = प्लक्षन्यग्रोधम्, = प्लक्षन्यग्रोधाः । मृग-शब्दे-ऽप्राप्तविभाषा । रुरवश्च पृषताश्च = रुरुपृषतं, = रुरुपृषताः । तृण-शब्दे प्राप्तविभाषा । 'जातिरप्राणिनाम्[7]॥' इति नित्ये प्राप्ते विकल्पारम्भः । कुशकाशं, कुशकाशाः । शरशिरीषं, शरशिरीषाः । धान्य-शब्दे पूर्ववत् प्राप्तविभाषा । व्रीहियवं, व्रीहियवाः । माषतिलं, माषतिलाः । व्यञ्जन-शब्देऽपि पूर्ववत् प्राप्तविभाषा । दधितक्रं, दधितक्रे । दधिघृतं, दधिघृते । पश्वादिषु सर्वेष्वप्राप्तविभाषा । गोमहिषं, गोमहिषाः । अजाविं, अजावयः । शकुनि—हंसचक्रवाकं, हंसचक्रवाकाः ।

१. काशिकायां नास्ति ॥
२. बोटलिङ्कः—"तृणोलपम् (तृणोपलम्) ॥"
३. शब्दकौस्तुभेऽतःपरं पुनरपि—मांसशोणितम् ॥
४. चान्द्रवृत्तौ—भगवतीभागवतम् ॥
५. सा०—पृ० ४८ ॥
चा० शा०—"वा वृक्षतृणधान्यमृगशकुनिविशेषाणाम् ॥ व्यञ्जनानाम् ॥ अश्ववडवौ ॥" (२ । २ । ६२–६४)
६. १ । १ । ६७ ॥ (वार्त्तिकं १)
७. २ । ४ । ६ ॥

[अश्ववडव—] अश्ववडवं, अश्ववडवौ । [पूर्वापर—] पूर्वापरं, पूर्वापरे । [अधरोत्तर—]अधरोत्तरं, अधरोत्तरे । अत्र व्यञ्जन-अश्ववडव-पूर्वापर-अधरोत्तर-शब्दान् विहायान्यत्र बहुवचनं प्राप्तं, तत्र विभाषैकवचनं विधीयते । व्यञ्जनादिषु तु द्विवचनं प्राप्तं, तत्र पक्षे द्विवचनमेव भवति ॥

वा०— *बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनि[1]क्षुद्रजन्तुधान्यतृणानाम्[2]॥[3] १ ॥*

फलादिवाचिनां शब्दानां बहुवचनानां द्वन्द्वसमासे कृत एकवद्भावो भवति । पक्षे च बहुवचनमेव तिष्ठति । फल—बदरामलकं, बदरामलकानि । सेना-शब्देन सेनाङ्गानां द्वन्द्वः—हस्त्यश्वं, हस्त्यश्वाः । वनस्पति-शब्देन वृक्षाणां ग्रहणं, तत्रोदाहृतम् । मृग-शकुनि-शब्दयोः सूत्र उदाहृतम् । क्षुद्रजन्तुषु प्राप्तविभाषा । यूकालिक्षं, यूकालिक्षाः । धान्य-तृणयोः सूत्र उदाहृतम् ॥

वार्त्तिके बहुप्रकृति-ग्रहणं किमर्थम् । बदरामलके तिष्ठतः । अत्रैकवन्न स्यात् ॥ १२ ॥

इस सूत्र में प्राप्त, अप्राप्त उभय विभाषा है । सो आगे अलग २ दिखाया जायगा । वृक्ष आदि जातिवाची शब्दों में उन के विशेषवाचियों का ग्रहण होता है । यह बात प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में[4] भी लिख दी है । ['वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुनि-अश्ववडव-पूर्वापर-अधरोत्तराणां'] वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यंजन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर, इन सब का जो द्वन्द्व समास है, वह विकल्प करके एकवद्भाव को प्राप्त हो जावे । वृक्ष-शब्द में प्राप्तविभाषा है, क्योंकि अप्राणि जातिवाची के होने से एकवद्भाव पूर्व सूत्र[5] से नित्य प्राप्त है । वृक्ष—प्लक्षन्यग्रोधम् । प्लक्षन्यग्रोधाः । यहां वृक्षवाची प्लक्ष- और न्यग्रोध-शब्द का । मृग-शब्द में अप्राप्तविभाषा अर्थात् किसी सूत्र से एकवद्भाव नहीं पाता । मृग—रुरुपृषतम् । रुरुपृषताः । यहां मृगवाची रुरु- और पृषत्-शब्द का । तृण-, धान्य- और व्यञ्जन-शब्द में अप्राणि जातिवाची के होने से एकवद्भाव नित्य पाता है । तृण—कुशकाशम् । कुशकाशाः । यहां तृणवाची कुश- और काश-शब्द का । धान्य—व्रीहियवम् । व्रीहियवाः । यहां धान्यवाची व्रीहि- और यव-शब्द का । व्यञ्जन—दधिघृतम् । दधिघृते । यहां व्यञ्जनवाची दधि- और घृत-शब्द का । पशु आदि सब शब्दों में अप्राप्तविभाषा है अर्थात् एकवद्भाव किसी सूत्र से प्राप्त नहीं, तब विकल्प का आरम्भ किया है । पशु—गोमहिषम् । गोमहिषाः । यहां पशुवाची गो- और महिष-शब्द का । शकुनि—हंसचक्रवाकम् । हंसच-

---

१. पाठान्तरम्—०शकुन्त ॥
२. चा० श०—"फलानाम् ॥" (२ । २ । ६१)
३. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥
४. १ । १ । ६७ ॥ (वार्त्तिक १)
५. २ । ४ । ६ ॥

क्रवाकाः । यहां पक्षीवाची हंस- और चक्रवाक-शब्द का । अश्ववडव—अश्ववडवम् । अश्ववडवौ । यहां अश्व- और वडव-शब्द का । पूर्वापर—पूर्वापरम् । पूर्वापरे । यहां पूर्व- और अपर-शब्द का । तथा अधरोत्तर—अधरोत्तरम् । अधरोत्तरे । यहां अधर- और उत्तर-शब्द का द्वन्द्व एकवद्भाव को प्राप्त हुआ है ॥

'बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानाम् ॥' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि फलवाची, सेना के अवयव, वनस्पति [अर्थात्] वृक्षवाची, मृग, शकुनि क्षुद्रजन्तु, धान्य और तृणवाची शब्दों के बहुवचन से द्वन्द्व समास होके विकल्प करके एकवद्भाव हो । और पक्ष में बहुवचन ही बना रहे । फल और सेनाङ्ग में प्राप्तविभाषा है । फल—बदरामलकम् । बदरामलकानि । यहां फलवाची बदर- और आमलक-शब्द का । सेना—हस्त्यश्वम् । हस्त्यश्वाः । यहां सेना के अवयववाची हस्ती- और अश्व-शब्द का । वनस्पति, मृग, शकुनि, धान्य और तृण इन शब्दों के उदाहरण वार्त्तिक के अनुकूल सूत्र में आ गये । क्षुद्र जन्तुओं में प्राप्तविभाषा है । यूकालिक्षम् । यूकालिक्षाः । और यहां यूका-लिक्षा-शब्द का एकवद्भाव हुआ है ॥

इस वार्त्तिक में बहुप्रकृति-ग्रहण इसलिये है कि 'बदरामलके तिष्ठतः' यहां एकवद् न हो ॥ १२ ॥

विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि[१]॥ १३ ॥

विभाषा-ग्रहणमनुवर्त्तते । विप्रतिषिद्धम् । १ । १ । [च । अ० ।] अ[न]-धिकरणवाचि । १ । १ । विप्रतिषिद्धं=परस्परविरुद्धम् । मूर्त्तस्य पदार्थस्याधि-करणं भवत्येव[२] । [अनधिकरणवाचि] अमूर्त्तवाचीत्यर्थः । अद्रव्यवाचिनां परस्परविरुद्धानां शब्दानां द्वन्द्वो विकल्पेनैकवद् भवति । शीतं चोष्णं च= [शीतोष्णं,=] शीतोष्णे । सुखदुःखं, सुखदुःखे । जीवितमरणं, जीवितमरणे । अत्रैकस्याभावेऽपरस्य प्रवृत्तिर्भवति । इदमेवानयोर्विप्रतिषेधः ॥

'विप्रतिषिद्धं' इति किम् । कामक्रोधौ ॥

'अनधिकरणवाचि' इति किम् । शीतोष्णे उदके । अत्रोभयत्रैकवद्भावो न भवति ॥ १३ ॥

परस्पर जो विरुद्ध हों, उन को विप्रतिषिद्ध कहते हैं । मूर्त्तिमान् पदार्थों का अधिकरण होता है और जिन पदार्थों की आकृति न हो, वे अनधिकरणवाची होते हैं । ['अनधिकरण-वाचि'] अनधिकरणवाची ['विप्रतिषिद्धं'] परस्पर विरुद्ध जो शब्द हैं, उन का द्वन्द्व

१. सा०—पृ० ४८ ॥ (२ । ६५) चा० श०—"विरोधिनामद्रव्याणाम् ॥" (२ ।
२. न्यासकारः—"अधिकरणशब्दोऽत्र द्रव्ये वर्त्तते. नाधारे । न हि विप्रतिषिद्धवाचिनां शब्दानामाधारे वृत्तिरस्ति । विभक्त्यर्थत्वादाधारशक्तेः ।"

समास विकल्प करके एकवद्भाव को प्राप्त हो। शीतोष्णम् । शीतोष्णे । यहां शीत और उष्ण का परस्पर विरोध है, क्योंकि जब शीत होता है तब उष्ण नहीं, और उष्ण समय में शीत नहीं । और इन का अधिकरण भी कोई नहीं ॥

विप्रतिषिद्ध-ग्रहण इसलिये है कि 'कामक्रोधौ' यहां एकवत् न हो ॥

और अनधिकरणवाची का ग्रहण इसलिये है कि 'शीतोष्णे जले' यहां भी जल के वाची होने से एकवद्भाव नहीं हुआ ॥ १३ ॥

न दधिपयआदीनि[1] ॥ १४ ॥

दधिपयआदित्रयाणां शब्दानां व्यञ्जनवाचित्वात् पूर्वसूत्रेण विभाषै[क]-वद्भावः प्राप्तोऽनेन प्रतिषिध्यते । एवमन्येष्वपि गणशब्देषु येन केनचित् प्राप्तं प्रतिषिध्यते । न । [अ० ।] दधिपयआदीनि । १ । ३ । दधिपयआदीनि समुदायपठितानि प्रातिपदिकानि नैकवद् भवन्ति । एकवद्भावनिषिद्धान्येव गणे पठ्यन्ते ॥

तद्यथा—[१] दधिपयसी [२] सर्पिर्मधुनी [३] मधुसर्पिषी [४] ब्रह्मप्रजापती[2] [५] शिववैश्रवणौ [६] स्कन्दविशाखौ [७] परिव्राट्कौशिकौ[3] [८] प्रवर्ग्योपसदौ[4] [९] शुक्लकृष्णौ[5] [१०] इध्माबर्हिषी[6] [११] दीक्षातपसी [१२] श्रद्धातपसी[7] [१३] मेधातपसी[8] [१४] अध्ययनतपसी[7] [१५] उलूखलमुसले[9] [१६] आद्यवसाने[10] [१७] श्रद्धामेधे [१८] ऋक्सामे[11] [१९] वाङ्मनसे ॥ इति[12] दधिपयआदिगणः ॥ १४ ॥

---

१. सा०—पृ० ४८ ॥
चा०श०—"न दधिपयआदीनाम् ॥" (२।२।६६)

२. न्यासकारः—" 'ब्रह्मप्रजापती' इत्यादीनां पञ्चानां समाहारैकत्वात् प्राप्तिः ।"

३. गणरत्ने चान्द्रवृत्तौ च— परिव्राट्कौशिकौ ॥
प्र०कौ०टीकायाम्—परिव्राजककौशिकौ ॥

४. चान्द्रवृत्तौ "प्रवर्ग्योपनिषदौ । याज्यानुवाक्ये" इति द्वौ शब्दौ ॥

५. चान्द्रवृत्ति-शब्दकौस्तुभयोः—शुक्लकृष्णे ॥
प्र०कौ०टीकायाम्— "शुक्लकृष्णौ । प्रवर्ग्योपसदौ । याज्यानुवाक्ये ।" इति क्रमपाठयोर्भेदः ॥
न्यासे— " 'शुक्लकृष्णौ' इति 'विप्रतिषिद्धम्० ॥' [२ । ४ । १३] इत्यादिना ।"

६. न्यासे—" 'इध्माबर्हिषी' इत्यादीनां समाहारैकत्वात् प्राप्तिः ।"

७. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥

८. प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥

९. चान्द्रवृत्तौ—उदूखलमुसले ॥

१०. काशिकायाम्—आद्यावसाने ॥

११. यजुर्वेदे—"ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः । शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः ॥" (४ । ९)

१२. प्र०कौ०टीकायाम्—"अन्येऽपि प्रयोगवशाज्ज्ञेयाः ।"
गणरत्नमहोदधौ (२ । १२४, १२६–१२८)

दधिपयआदि तीन शब्दों में व्यंजनवाची के होने से पूर्व सूत्र से विकल्प करके एकवद्भाव प्राप्त है। इसी प्रकार अन्य गण शब्दों में भी किन्हीं २ सूत्रों से एकवद्भाव प्राप्त हैं। सो इस सूत्र से निषेध किया है। ['दधिपयआदीनि'] दधिपयआदि जो प्रातिपदिक हैं, उन में एकवद्भाव ['न'] न हो। दधिपयसी। यहां एकवत् नहीं हुआ ॥

दधिपयआदि शब्द एकवद्भाव के निषेध किये हुए गण में पढ़े हैं, वे पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिये हैं ॥ १४ ॥

अधिकरणैतावत्त्वे च[1] ॥ १५ ॥

'न' इत्यनुवर्त्तते। अधिकरणैतावत्त्वे। ७। १। च। [अ०।] अधिकरणे आधेयस्य एतावत्त्वं (=इयत्ता=तोलनं=परिमाणं)=अधिकरणैतावत्त्वं[2], तस्मिन्। अधिकरणैतावत्त्वे यो द्वन्द्वः, स एकवन्न भवति। हस्तौ च पादौ च चत्वारो हस्तपादाः। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि पञ्चेन्द्रियाणि। अत्र प्राण्यङ्गत्वान्नित्यं प्राप्तं प्रतिषिध्यते ॥ १५ ॥

['अधिकरणैतावत्त्वे'] अधिकरण में जहां आधेय का परिमाण करना हो, वहां जो द्वन्द्व समास है वह एकवद्भाव को न प्राप्त हो। चत्वारो हस्तपादाः। हस्त, पाद प्राणि के अवयव होने से एकवद्भाव प्राप्त होता था, उस का निषेध किया है ॥ १५ ॥

विभाषा समीपे[1] ॥ १६ ॥

'अधिकरणैतावत्त्वे' इत्यनुवर्त्तते। विभाषा। [अ०।] समीपे। ७। १। अधिकरणैतावत्त्वस्य समीपेऽर्थे यो द्वन्द्वः, स विकल्पेनैकवद् भवति। उपदशं दन्तोष्ठम्, उपदशा दन्तोष्ठाः[3]। [उपदशं] जानुजङ्घं, [उपदशाः] जानुजङ्घाः। अत्र पूर्वसूत्रेण नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्प्यते। अत एवाप्राप्तविभाषेयम् ॥ १६ ॥

[इत्येकवद्भावप्रकरणम्]

"रामलक्ष्मणौ" इत्यादयः शब्दा अधिका दृश्यन्ते। तद्यथा—

"सूर्याचन्द्रमसौ सोमरुद्रौ नारदपर्वतौ।
शुक्लकृष्णौ पितापुत्रौ द्वयौ भीमार्जुनौ तथा॥
मित्रावरुणौ मातापितरावथ कम्बलाश्वतरौ।
नरनारायणशिववैश्रवणाः
अग्नीषोमाविध्माबर्हिर्याज्यानुवाक्याद्याः॥

आद्य-शब्दः प्रकारे। तेन येषां लोक इतरेतरयोग एव द्वन्द्वो दृश्यते, तेषामिह ग्रहणं भवति। यथा चन्द्रार्काविति॥"

१. सा०—पृ० ४८॥

२. अन्ये तु "अधिकरणं द्रव्यं, तस्य एतावत्त्वम्" इत्याहुः॥

काशिकायाम्—"अधिकरणं वर्त्तिपदार्थः, स हि समासस्यार्थस्याधारः, तस्यैतावत्त्वे=परिमाणे।"

३. महाभाष्ये—"एवं तर्ह्यव्ययस्य सङ्ख्ययाव्ययीभावोऽप्यारभ्यते, बहुव्रीहिरपि। तद्यदा तावदेकवचनं तदाव्ययीभावोऽनुप्रयुज्यत एकार्थस्यैकार्थ इति। यदा बहुवचनं, तदा बहुव्रीहिरनुप्रयुज्यते बह्वर्थस्य बह्वर्थ इति॥"

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि पूर्व सूत्र से नित्य निषेध प्राप्त है। अधिकरण के एतावत्त्व के ['समीपे'] समीप अर्थ में ['विभाषा'] विकल्प करके एकवत् हो। उपदर्शं दन्तोष्ठम् । उपदशा दन्तोष्ठाः । यहां दन्त- और ओष्ठ-शब्द का विकल्प करके एकवद्भाव होता है ॥ १६ ॥

[यह एकवद्भाव का प्रकरण समाप्त हुआ]

[अथ लिङ्गानुशासनप्रकरणम्]

स नपुंसकम्[1] ॥ १७ ॥

'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः[2] ॥' इति सूत्रेण परवल्लिङ्गत्वं प्राप्तं, तस्यायमपवादो योगः । सः । १ । १ । नपुंसकम् । [१ । १ ।] अस्मिन्नेकवचनप्रकरणे यस्य द्विगोर्द्वन्द्वस्य चैकवद्भावो विहितः, स नपुंसकलिंगो भवति । पञ्चपात्रम् । पाणिपादम् इत्याद्युदाहरणेषु यथाऽनेन विधीयते तथैवोदाहृतम् ॥ १७ ॥

द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में पर शब्द का लिंग प्राप्त होता है। उस का अपवाद यह सूत्र है। इस प्रकरण में जिस द्विगु और द्वन्द्व समास को एकवत् कहा है, ['सः'] वह ['नपुंसकं'] नपुंसकलिंग हो। पञ्चपात्रम् । पाणिपादम् इत्यादि उदाहरणों में नपुंसकलिङ्ग के उदाहरण दे चुके हैं ॥ १७ ॥

अव्ययीभावश्च[3] ॥ १८ ॥

'नपुंसकम्' इत्यनुवर्त्तते । अव्ययीभावः समासो नपुंसकलिंगो भवति । उपकुम्भम् । उपगु । अतिरि । अधिकुमारि । 'पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः[4]' इत्युक्तम् । तत्र पूर्वपदार्थप्रधानस्य लिङ्गत्वं न निश्चितं भवति,[5] अत इदमुच्यते । उपग्वादिशब्देषु नपुंसकत्वाद्ध्रस्वत्वम्[6] ॥ १८ ॥

['अव्ययीभावः'] अव्ययीभाव समास जो है, वह नपुंसकलिङ्ग हो। उपगु । अधिकुमारि इत्यादि शब्दों में नपुंसकलिङ्ग के होने से ह्रस्व होता है[6] । अव्ययीभाव समास पूर्वपदार्थप्रधान होता है, इससे अव्ययीभाव में कोई लिंग नहीं प्राप्त है। इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया है ॥ १८ ॥

तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः ॥ १६ ॥

---

१. सा०—पृ० ४६ ॥
चा० श०—"समाहारे नपुंसकम् ॥"
(२ । २ । ४६)
२. २ । ४ । २६ ॥
३. चा० श०—"तन्नपुंसकम् ॥" (२।२।२५)
४. महाभाष्ये—अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥
"अव्ययं विभक्ति० ॥" (२।१।६) इति सूत्रे ॥
५. " उपकुम्भम्, उपगु, अतिरि, अधिकुमारि "
इत्यादौ पूर्वपदस्यालिङ्गत्वात् ॥
६. "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥" (१।२।४७)

'नपुंसकम्' इत्यनुवर्त्तते । तत्पुरुषः । १ । १ । अनञ्कर्मधारयः[1] । १ । १ । नञ्समासं कर्मधारयसमासं च विहायान्यस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । अतोऽग्रेऽस्य सूत्रस्याधिकारो गमिष्यति । असुराणां सेना = असुरसेनम् । अत्रानञ्कर्मधारयस्य तत्पुरुषस्य नपुंसकत्वं भवति ॥

'अनञ्' इति किम् । असेना ॥

'अकर्मधारयः' इति किम् । परमसेना । अत्रोभयत्रै[वैक]वचननपुंसके न भवतः ॥ १९ ॥

यह अधिकार सूत्र है । यहां से आगे ['तत्पुरुषः'] तत्पुरुष समास को एकवचन और नपुंसकलिङ्ग कहेंगे ['अनञ्कर्मधारयः'] नञ् और कर्मधारय समास को छोड़के । असुरसेनम् । यहां एकवचन और नपुंसकलिङ्ग हुआ है ॥

'अनञ्' ग्रहण इसलिये है कि 'असेना' यहां नपुंसक न हो ॥

और कर्मधारय का निषेध इसलिये है कि 'परमसेना' यहां भी नपुंसकलिङ्ग न हो ॥ १९ ॥

सञ्ज्ञायां कन्थोशीनरेषु[2] ॥ २० ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । सञ्ज्ञायाम् । ७ । १ । कन्था । १ । १ । उशीनरेषु । ७ । ३ । सञ्ज्ञायां विषयेऽनञ्कर्मधारयः कन्थान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, उशीनरेषु = उशीनरदेश[3]प्रयोगे सति । सौशमिकन्थम् । चिह्णकन्थम्[4] । अत्र परवल्लिङ्गत्वात् कन्थालिङ्गं प्राप्तं, नपुंसकं विधीयते । उशीनरदेशे 'सौशुमिकन्थं, चिह्णकन्थम्' इति कयोश्चित् सञ्ज्ञे स्तः ॥

'सञ्ज्ञायाम्' इति किम् । वीरणकन्था ॥

---

१. न्यासे—"अथ 'अनञ्कर्मधारयः' इति कोऽयं निर्देशः । यदि अत्र नञ्कर्मधारययोर्द्वन्द्वस्तदा समाहारे वा स्यादितरेतरयोगे वा । तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे नपुंसकत्वं प्रसज्येत । इतरत्र तु द्विवचनम् । निर्देशस्य सौत्रत्वादुभयथाप्यदोषः । तथा हि 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' इति । छन्दसि च लिङ्गवचनव्यत्ययं तृतीयेऽध्याये वक्ष्यति ॥"

२. चा० श०—"नाम्नि षष्ठ्याः कन्थोशीनरेषु ॥" (२ । २ । ६७)

३. ऐतरेयब्राह्मणे—"तस्मादस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां राजानः सवशोशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते । राजेत्येनानाभिषिक्तानाचक्षते ।" (८ । १४)

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि—"अथ ह वै गार्ग्यो बालाकिरनूचानः संस्पष्ट आस । सोऽवसदुशीनरेषु सवसन् मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशिविदेहेष्विति ।" (४ । १)

४. उशीनराणां ग्रामयोः सञ्ज्ञे ॥

शब्दकौस्तुभे तु—"कन्थान्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात् सा चेदुशीनरदेशोत्पन्नायाः कन्थायाः सञ्ज्ञा । सुशमस्यापत्यानि सौशमयः, तेषां कन्था = सौशमिकन्थम् ॥"

'उशीनरेषु' इति किम् । दाक्षिकन्था[1] । अत्र नपुंसकं न भवति ॥ २० ॥

['उशीनरेषु'] उशीनर देश में ['सञ्ज्ञायाम्'] सञ्ज्ञावाची जो नञ् और कर्मधारय को छोड़के ['कन्था'] कन्थान्त तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिङ्ग हो । सौशमिकन्थम् । चिह्वणकन्थम् । यहां तत्पुरुष समास में परवत् लिङ्ग होने से कन्था-शब्द का स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था, इसलिये नपुंसक विधान किया है ॥

सञ्ज्ञा-ग्रहण इसलिये है कि 'वीरणकन्था' यहां न हो ॥

और उशीनर-ग्रहण इसलिये है कि 'दाक्षिकन्था' यहां भी नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ ॥२०॥

उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्[2] ॥ २१ ॥

उपज्ञा-उपक्रमम् । १ । १ । तदाद्याचिख्यासायाम् । ७ । १ । उपज्ञायतेऽसौ उपज्ञा । उक्रम्यतेऽसौ उपक्रमः । उपज्ञा चोपक्रमश्च = उपज्ञोपक्रमम् । समा[हा]रत्वादेकवचनम् । आख्यातुमिच्छा = आचिख्यासा । तयोः=उपज्ञोपक्रमयोरादिः= तदादिः । तदादेराचिख्यासा = तदाद्याचिख्यासा, तस्यामनञ्कर्मधारय उपज्ञान्त उपक्रमान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । यद्युपज्ञेयोपक्रम्ययोर्य आदिकर्त्तारस्तेषां मानेच्छा भवति । पाणिनेरुपज्ञा = पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम् । पतञ्जल्युपक्रमं महाभाष्यम् । अस्मिन् कल्पे पाणिनिरेव व्याकरणस्यादिकर्त्ता, व्याकरणमहाभाष्यकर्त्ता च पतञ्जलिः ॥

'उपज्ञोपक्रमम्' इति किम् । व्यासश्लोकाः । व्यासात् पूर्वमपि श्लोकरचना जाता[3] ॥

'तदाद्याचिख्यासायाम्' इति किम् । देवदत्तस्योपक्रमः पाकः । अत्रोभयत्र नपुंसकं न भवति ॥ २१ ॥

अनञ्कर्मधारय जो ['उपज्ञोपक्रमं'] उपज्ञान्त और उपक्रमान्त तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिङ्ग हो, ['तदाद्याचिख्यासायाम्'] उपज्ञेय और उपक्रम्य के करने वाले हैं, वे आदि=प्रथम कर्त्ता हों, तो । पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम् । पतञ्जल्युपक्रमं महाभाष्यम् ।

---

१. न्यासे—"अस्तीयं ग्रामस्य सञ्ज्ञा । न तूशीनरेषु । किं तर्हि । ततोऽन्यत्रेति ।" [(२।२।६८)

२. चा० श०—"उपज्ञोपक्रमं तदादित्वे ॥"

३. तथैतरेय-शतपथ-गोपथादिब्राह्मणेषु (ऐ० ब्रा० ८ । २३ ॥ श० ब्रा० १० । ५ । २ । ४ ॥ गो० ब्रा० उ० २ । ५)—

"तदप्येते श्लोका अभिगीताः—

हिरण्येन परीवृतान् कृष्णान् शुक्लदतो मृगान् ।
मष्णारे भरतोऽददाच्छतं बद्धानि सप्त च ॥...

[मृगान् = गजान् । मष्णारनामके देशे]

"तदेष श्लोको भवति—

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥

"तदपि श्लोकाः—

ऋत्विजां च विनाशाय राज्ञो जनपदस्य च ।
संवत्सरविरिष्टं तद् यत्र यज्ञो विरिष्यते ॥..."

यहां इस कल्प में व्याकरण के आदि कर्त्ता पाणिनि हैं। इससे उपज्ञान्त को नपुंसकलिङ्ग होता है ॥

उपज्ञा- और उपक्रम-ग्रहण इसलिये है कि 'व्यासश्लोकाः' व्यास से पूर्व भी श्लोक रचे गये ॥

तदाद्याचिख्यासा-ग्रहण इसलिये है [कि] 'देवदत्तोपक्रमः पाकः' यहां दोनों जगह नपुंसक न हो ॥ २१ ॥

छाया बाहुल्ये[1] ॥ २२ ॥

छाया । १ । १ । बाहुल्ये । ७ । १ । छायान्तस्य तत्पुरुषस्याग्रे[2] विभाषा नपुंसकत्वं वक्ष्यते, तदर्थमिदमारभ्यते । अनञ्कर्मधारयश्छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति [बाहुल्ये गम्यमाने ।] मुञ्जच्छायम् । इक्षुच्छायम्[3] । अत्रापि परवल्लिङ्गता प्राप्ता, नपुंसकत्वं विधीयते ॥

'बाहुल्ये' इति किम् । कुड्यच्छाया । अत्र नपुंसकं न भवति ॥ २२ ॥

छायान्त तत्पुरुष को आगे[2] सूत्र में विकल्प कहा है, नित्य नपुंसक होने के लिये यह सूत्र है। नञ् और कर्मधारय समास को छोड़के ['छाया'] छायान्त जो तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिंग हो ['बाहुल्ये'] बाहुल्य अर्थ में । इक्षुच्छायम् । यहां परवल्लिङ्ग प्राप्त है, सो नपुंसक विधान किया है ॥

बाहुल्य अर्थ इसलिये है कि 'कुड्यच्छाया' यहां नपुंसकलिङ्ग न हो ॥ २२ ॥

सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा[4] ॥ २३ ॥

सभा । १ । १ । राजाऽमनुष्यपूर्वा । १ । १ । अनञ्कर्मधारयो राजपूर्वोऽमनुष्यपूर्वः सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । राज-शब्दः पर्यायवचनानामिष्यते । इनसभम् । ईश्वरसभम् । राजपूर्वस्य तत्पुरुषस्यापि नपुंसकं न भवति । राजसभा । राज-शब्दस्य विशेषवाचिनामपि नपुंसकं न भवति । पुष्यमित्रसभा । चन्द्रगुप्तसभा । एतत् सर्वं प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे 'स्वं रूपं०[5] ॥' इति सूत्रे प्रतिपादितम् । अमनुष्यपूर्वा[6]—राक्षससभम् । पिशाचसभम् । दैत्यसभम् ॥

'राजाऽमनुष्यपूर्वा' इति किमर्थम् । धर्मसभा । विद्यासभा । आर्यसभा । अत्र सर्वत्र नपुंसकत्वं प्राप्तं, तन्न भवति ॥ २३ ॥

---

१. चा० श०—"बाहुल्ये ॥" (२ । २ । ७४)

२. २ । ४ । २५ ॥

३. मुञ्जादीनां बहुत्वमिति । न हि तेन विना छाया [सम्भवति ॥

४. चा० श०—"ईश्वरार्थादराज्ञः सभा ॥ अमनुष्यात् ॥" (२ । २ । ६९, ७०)

५. १ । १ । ६७ ॥ (वार्त्तिक ३)

६. जयादित्यः—"अमनुष्य-शब्दो रूढिरूपेण रक्षःपिशाचादिष्वेव वर्त्तते ।"

नञ् और कर्मधारय समास को छोड़के ['राजाऽमनुष्यपूर्वा'] राज और अमनुष्य पूर्व ['सभा'] सभान्त जो तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिंग हो । इनसभम् । ईश्वरसभम् । राजन्-शब्द के पर्यायवाची शब्दों से नपुंसकलिङ्ग होता है और 'राजसभा' यहां मुख्य राजन्-शब्द पूर्व से नहीं हुआ । तथा 'पुष्यमित्रसभा । चन्द्रगुप्तसभा' यहां राजविशेषवाची किन्हीं राजाओं के नाम पूर्व से भी नपुंसक नहीं हुआ । इस का हेतुवार्त्तिक प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में[1] लिख चुके हैं । अमनुष्यपूर्व—राक्षससभम् । पिशाचसभम् । यहां अमनुष्यपूर्व सभान्त को नपुंसक हुआ है ॥

'राजाऽमनुष्यपूर्वा' ग्रहण इसलिये है कि 'धर्मसभा । [आर्यसभा]' यहां नपुंसकलिङ्ग न हो ॥ २३ ॥

अशाला च[2] ॥ २४ ॥

'सभा' इत्यनुवर्त्तते । अशाला । १ । १ । च । [अ० ।] अशाला च या सभा, तदन्तोऽनञ्कर्मधारयस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । स्त्रीसभम् । दासीसभम् । वृषलीसभम् । पशुसभम् । शकुनिसभम् । यवसभम् । गोधूमसभम् । वृक्षसभम् । समुदायवाच्यत्र सभा-शब्दोऽस्ति । एवं च कृत्वा शालार्थस्य सभा-शब्दस्य निषेधः सिद्धो भवति । सभा-शब्दस्य समुदायवाचित्वादेव स्थावरपूर्वस्य सभान्तस्यापि नपुंसकं भवति ॥ २४ ॥

['अशाला'] शाला अर्थ से भिन्न अर्थ वाला जो सभा-शब्द, तदन्त अनञ् कर्मधारय तत्पुरुष नपुंसकलिंग हो । दासीसभम् । पशुसभम् । वृक्षसभम् । यहां समुदायवाची सभा-शब्द का ग्रहण है, इससे जड़ पदार्थ पूर्वक सभान्त को भी नपुंसकलिङ्ग हो जाता है । क्योंकि जो समुदायवाची का ग्रहण न होता, शालार्थ सभा-शब्द का प्रतिषेध नहीं बन सकता ॥

'अशाला' ग्रहण इसलिये है कि 'अनाथसभा' यहां नपुंसक न हो ॥ २४ ॥

विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्[3] ॥ २५ ॥

विभाषा । [अ० ।] सेना-सुरा-छाया-शाला-निशानाम् । ६ । ३ । अप्राप्त-विभाषेयम् । सेनादीनां नपुंसकं केनापि न प्राप्तं, विकल्प उच्यते । 'सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा' इत्येतदन्तोऽनञ्कर्मधारयस्तत्पुरुषो [विभाषा] नपुंसक-लिङ्गो भवति । असुरसेनम् । दैत्यसेनम् । असुरसेना । दैत्यसेना । गुडसुरं, गुडसुरा । यवसुरं, यवसुरा । आम्रच्छायं, आम्रच्छाया । गोशालं, गोशाला ।

---

१. १ । १ । ६७ ॥ (वार्त्तिक ३)

२. चा० श०—"अशाला ॥" (२ । २ । ७१)

३. चा० श०—"सेनासुराशालानिशा वा ॥ छाया ॥" (२ । २ । ७२, ७३)

खरशालं, खरशाला । श्वनिशं, श्वनिशा[1] । अत्र सर्वत्र परवल्लिङ्गता प्राप्ता, नपुंसकं विकल्पेन भवति ॥ २५ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि सेनादि शब्दों को नपुंसकलिङ्ग किसी सूत्र से प्राप्त नहीं और नपुंसकलिंग का विकल्प करते हैं । ['सेना-सुरा-छाया-शाला-निशानाम्'] सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा, ये शब्द जिस के अन्त में हों, ऐसा जो नञ् और कर्मधारय को छोड़के तत्पुरुष समास, वह नपुंसकलिङ्ग हो ['विभाषा' विकल्प करके ।] दैत्यसेनम् । दैत्यसेना । यहां दैत्य-शब्द का सेना-शब्द के साथ तत्पुरुष । यवसुरम् । यवसुरा । यहां सुरा-शब्द के साथ यव का । आम्रच्छायम् । आम्रच्छाया । यहां छाया-शब्द के साथ आम्र-शब्द का । गोशालम् । गोशाला । यहां शाला-शब्द के साथ गो-शब्द का । और 'श्वनिशम् । श्वनिशा' यहां निशा-शब्द के साथ श्व-शब्द का तत्पुरुष नपुंसक विकल्प करके होता है ॥ २५ ॥

परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः[2] ॥ २६ ॥

परवत्-लिङ्गं = परवल्लिङ्गम् । १ । १ । द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः । ७ । २ । द्वन्द्व-समासे[3] तत्पुरुषसमासे च परस्य यल्लिङ्गं तद् भवति । द्वन्द्वसमासस्योभयपदार्थ-प्रधानत्वात् कदाचित् पूर्वपदस्य यल्लिङ्गं, कदाचित् परस्य च यल्लिङ्गं, तत् समास-स्यापि स्यात्[4] । तत्पुरुषे तूत्तरपदार्थप्रधानत्वात् सिद्धमेव परवल्लिङ्गम् । [पूर्वपदार्थ-प्रधाने] तत्पुरुष एकदेशिसमासार्थं परवल्लिङ्गारम्भः । द्वन्द्वे—गुणश्च वृद्धिश्च = गुणवृद्धी । वृद्धिशब्दस्य स्त्रीत्वं, तदेव समासस्यापि भवति । वृद्धिगुणौ । गुण-शब्दस्य पुंस्त्वं, तदेव समासस्यापि यथा स्यात् । तत्पुरुषे—पिप्पल्या अर्द्धं = अर्द्ध-पिप्पली । अर्द्धकोशातकी । अत्रापि परस्य स्त्रीत्वं, तदेव समासस्यापि भवति, अर्द्ध-शब्दस्य लिङ्गं न भवति ॥

वा०—द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥[6] १ ॥

---

१. न्यासे—"यस्यां [कस्याञ्चित्] निशायां श्वानो मत्ता विहरन्ति [स्वरन्तीति पाठान्तरम् । भषन्ती-त्यर्थः ।]"

हरदत्तस्तु—"यस्यां निशायां श्वान उपवसन्ति, सा श्वनिशमित्युच्यते । सा पुनः कृष्णचतुर्दशी । तस्यां हि श्वान उपवसन्तीति प्रसिद्धिः ।"

शबरभाष्ये च " शुनश्चतुर्दश्यामुपवसतः पश्यामः" इति ॥

२. सा०—पृ० ५२ ॥

३. इतरेतरयोगद्वन्द्वस्येदं ग्रहणम् ॥

४. न्यासकारः—"इहायं द्वन्द्वः सर्वपदार्थप्रधानः । स यदा भिन्नलिङ्गावयवो भवति, तदा पूर्वोत्तरयोः पदयोर्भिन्नलिङ्गयोरनुग्राहकमेकं लिङ्गं नास्ति, येन समुदायो व्यपदिश्यते । उभाभ्यां च युगपदसम्भवादशक्यो व्यपदेशः कर्त्तुम् । अतः पर्यायः स्यादिति द्वन्द्वे नियमार्थं वचनम् ॥" [प्राप्ता० ।"

५. महाभाष्ये—"परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोरिति चेत्

६. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः = पञ्चकपालः । प्राप्तो जीविकां = प्राप्त-जीविकः । आपन्नो जीविकां = आपन्नजीविकः । अलं जीविकायै = अलंजीविकः । गतिसमासे—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः = निष्कौशाम्बिः । एषु शब्देषु सूत्रेण परवल्लिङ्गता प्राप्ताऽनेन वार्त्तिकेन प्रतिषिध्यते ॥ २६ ॥

['द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः'] द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में ['परवल्लिङ्गं'] पर शब्द का जो लिंग हो, वह समास का भी हो । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ । यहां द्वन्द्व समास में जब वृद्धि-शब्द का पर प्रयोग होता है, तब वृद्धि-शब्द के स्त्रीलिंग होने से स्त्रीलिंग और गुण-शब्द जब पर होता है, तब उस के पुँल्लिंग होने से पुँल्लिंग हो जाता है । अर्द्धपिप्पली । यहां तत्पुरुष समास में पर प्रयुक्त स्त्रीलिङ्ग पिप्पली-शब्द का लिङ्ग समास का भी हो गया । द्वन्द्व समास के उभय[पदार्थ]प्रधान होने से कभी पूर्व का और कभी पर का लिङ्ग प्राप्त है, इसलिये परवल्लिंग कहा । और तत्पुरुष समास में उत्तरपद प्रधान होने से परवल्लिङ्ग हो ही जाता, फिर तत्पुरुष का ग्रहण इसलिये है कि एकदेशी जो षष्ठी तत्पुरुष समास का अपवाद समास है, वहां भी परवल्लिंग हो जावे ॥

'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥' द्विगु समास, प्राप्तपूर्व, आपन्नपूर्व, अलंपूर्व और गति समास में परवल्लिङ्ग न हो । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः = पञ्चकपालः । यहां द्विगु समास में कपाल-शब्द का लिङ्ग नहीं हुआ । प्राप्तपूर्व—प्राप्तजीविकः । यहां जीविका-शब्द का । आपन्नजीविकः । यहां भी जीविका-शब्द का । अलंजीविकः । यहां अलंपूर्व जीविका-शब्द का । और गतिसमास—निष्कौशाम्बिः । यहां कौशाम्बी-शब्द का लिङ्ग नहीं हुआ । सूत्र से यहां सर्वत्र परवल्लिङ्ग प्राप्त था । उस का इस वार्त्तिक से निषेध किया है ॥ २६ ॥

पूर्ववदश्ववडवौ[1] ॥ २७ ॥

पूर्ववत् । [अ० ।] अश्ववडवौ । १ । २ । 'विभाषा वृक्षमृग०[2] ॥' इति सूत्रेऽश्व-वडव-शब्दयोरेकवचनं विकल्पेनोक्तम् । तत्रासत्येकवद्भावेऽस्य प्रवृत्तिः । पूर्वसूत्रेण द्वन्द्वसमासे परवल्लिङ्गं प्राप्तं, तस्यायमपवादः । अश्व-वडव-शब्दयोः पूर्ववल्लिङ्गं भवति । अश्वश्च वडवा च = अश्ववडवौ । परवल्लिङ्गेन स्त्रीत्वं प्राप्तं, पुंस्त्वमेव भवति । द्विवचनस्यात्र नियमो नास्ति । अश्वाश्च वडवाश्च = अश्ववडवाः । अश्ववडवान् । अश्ववडवैरित्याद्यपि सिद्धं भवति ॥ २७ ॥

'विभाषा वृक्ष०[2] ॥' इस सूत्र से अश्ववडव-शब्द को एकवत् विकल्प करके कह चुके हैं । सो जिस पक्ष में एकवत् नहीं होता, वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । पूर्व सूत्र से परवल्लिङ्ग प्राप्त था । उस का यह सूत्र अपवाद है । ['अश्ववडवौ'] अश्व- और वडवा-शब्द

१. चा० श०—"अश्ववडवौ ॥" (२।२।६४) २. २ । ४ । १२ ॥

के द्वन्द्व समास में [**'पूर्ववद्'**] पूर्व पद का जो लिङ्ग है, वह समास का भी हो। **अश्वश्च वडवा च = अश्ववडवौ**। यहां अश्व-शब्द का लिङ्ग होता है। इस सूत्र में द्विवचन का कुछ नियम नहीं, किन्तु 'अश्ववडवान्। अश्ववडवैः' इत्यादि बहुवचन में भी पूर्व पद का ही लिङ्ग होता है॥ २७॥

हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि ॥ २८ ॥

'पूर्ववद्' इत्यनुवर्त्तते। परवल्लिङ्गस्यैवापवादः। हेमन्तशिशिरौ। १। २। अहोरात्रे। १। २। च। [अ०।] छन्दसि। ७। १। हेमन्त-शिशिर-शब्दयोरहोरात्र-शब्दयोश्च द्वन्द्वे पूर्वपदस्य यल्लिङ्गं, तत् समासस्यापि भवति छन्दसि = वेदविषये। हेमन्तश्च शिशिरं च = **हेमन्तशिशिरौ**[1]। अहश्च रात्रिश्च = **अहोरात्रे**[2]। अहानि च रात्रयश्च = **अहोरात्राणि**। हेमन्त-शब्दः पुंल्लिङ्गः, तत्र समासस्यापि पुंस्त्वमेव। अह-शब्दो नपुंसकलिङ्गः, तदेव समासस्य लिङ्गं भवति॥

'छन्दसि' इति किम्। हेमन्तशिशिरे सुखदे। अहोरात्रौ दुःखदौ। अत्र लौकिकप्रयोगे परवल्लिङ्गमेव भवति॥ २८॥

[**'हेमन्तशिशिरौ'**] हेमन्त-शिशिर-शब्द [**'अहोरात्रे च'**] और अहन्- तथा रात्र-शब्द इन दो २ के द्वन्द्व समास में [**'छन्दसि'**] वेदविषय में पूर्ववत् लिङ्ग हो। **हेमन्तशिशिरौ**[1]। **अहोरात्रे**[2]। **अहोरात्राणि**[3]। यहां हेमन्त-शब्द पुँल्लिङ्ग और अहन्-शब्द नपुंसक है, यही [समास का भी] लिङ्ग होता है। यहां भी परवल्लिङ्ग प्राप्त था। उसी का अपवाद यह सूत्र है॥

'छन्दसि' ग्रहण इसलिये है कि 'हेमन्तशिशिरे। अहोरात्रौ' यहां लौकि[क] प्रयोगों में पूर्ववत् नहीं हुआ॥ २८॥

---

१. यजुर्वेदे (१०।१४)—"**हेमन्तशिशिरा**वृतू वर्चो द्रविणम्।"

२. यजुर्वेदे—"व्रतं च मऽऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेऽ**होरात्रे**ऽऊर्व्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥" (१८।२३)

अथर्ववेदे च (१०।७।६)—

"क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे
अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥"

३. ऋग्वेदे (१०।१९०।२)—

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥"

यजुरथर्ववेदयोस्तु "अहोरात्राः" इत्यपि द्विरुपलभ्यते—

"उषसस्ते कल्पन्ता**महोरात्रा**स्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां०॥" (वा० २७।४५)

"यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः
संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापु-
स्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥"
(अ० ४।३५।४)

रात्राह्नाहाः पुंसि[1] ॥ २९ ॥

रात्राह्नाहाः । १ । ३ । पुंसि । ७ । १ । रात्राह्नाहानां समासान्तानां ग्रहणम् । परवल्लिङ्गत्वं प्राप्तं, तस्यापवादोऽयं योगः । 'रात्र, अह्न, अह' इत्येतेषां पुंस्त्वं भवति । द्विरात्रः । त्रिरात्रः । पूर्वाह्णः । अपराह्णः । मध्याह्नः । द्व्यहः । त्र्यहः । रात्रि-शब्दे परवल्लिङ्गतया स्त्रीत्वं प्राप्तमन्यत्र नपुंसकत्वं च, पुंस्त्वं विधीयते ॥

वा०—अनुवाकादयः पुंसि ॥[2]

अनुवाकादयः शब्दाः पुँल्लिङ्गा भवन्तीत्यर्थः । अनुवाकः । शंयुवाक[3] इत्यादि[4] ॥ २९ ॥

यह सूत्र भी परवल्लिङ्ग का अपवाद है । ['रात्र-अह्न-अहाः'] रात्र, अह्न, अह, समासान्त इन शब्दों को ['पुंसि'] पुँल्लिङ्ग हो। द्विरात्रः । पूर्वाह्णः । द्व्यहः । यहां रात्र-शब्द को स्त्रीलिङ्ग [तथा] और शब्दों को नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था, सो पुँल्लिङ्ग किया है ॥

'अनुवाकादयः पुंसि ॥' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि 'अनुवाकः । शंयुवाकः' अनुवाक आदि शब्द भी पुँल्लिङ्ग में समझने चाहियें । वे कहीं लिखे नहीं, किन्तु आकृतिगण जानना ॥ २९ ॥

अपथं नपुंसकम्[5] ॥ ३० ॥

'तत्पुरुषः' इत्यनुवर्त्तते । अपथम् । १ । १ । नपुंसकम् । १ । १ । अपथ-शब्दः कृतनञ्समासो नपुंसकलिङ्गो भवति । अपथमिदम् । अपथानि गाहते मूढः । अपथ-शब्दस्तत्पुरुषसमास एव नपुंकलिङ्गो भवति । न विद्यते पन्था यस्मिन् देशे [सो] ऽपथो देशः । अपथा पुरी । अत्र नपुंसकं न भवति ॥

अथ वार्त्तिकानि—

पुण्यसुदिनाभ्यामह्नो नपुंसकत्वं वक्तव्यम्[6] ॥[2] १ ॥

'रात्राह्नाहाः पुंसि[7] ॥' इति पुंस्त्वमुक्तं, तस्यायमपवादः । पुण्याहम् । सुदिनाहम् ॥ १ ॥

---

१. चा० श०—"रात्राह्नवाकाः पुंसि ॥ अह्नोऽसुदिनपुण्यात् ॥" (२ । २ । ८१, ८२)

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. ब्राह्मणश्रौतसूत्रेषु "शंयोर्वाकः" इत्यपि। ("तच्छंय्योरा वृणीमहे" इत्यादिः)

४. इत्यादिना "सूक्तवाकः" इति ॥ ऋग्वेदे (१० । ८८ । ७)—
"तस्मिन्नग्नौ सूक्तवाकेन देवा
हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः ॥"

५. चा० श०—"पथोऽसङ्ख्यात् ॥" (२।२।७५)

६. जयादित्यः—"०मह्नः क्लीबतेष्यते ॥" (२।४।१८)

७. २ । ४ । २९ ॥

पथः सङ्ख्याव्ययादेरिति वक्तव्यम्[1] ॥[2] २ ॥

सङ्ख्यादेरव्ययादेश्च पथि-शब्दस्य नपुंसकत्वं भवति । द्विपथम् । त्रिपथम् । अव्ययादेः—उत्पथम् । विपथम् ॥ २ ॥

द्विगुश्च ॥[2] ३ ॥

'द्विगुरेकवचनम्[3] ॥' इति सूत्रेणैकवचनं प्रतिपादितम् । 'स नपुंसकम्[4] ॥' इत्यत्र सः-शब्देन द्वन्द्व एव परामृश्यतेऽतो द्विगोर्नपुंसकत्वमुक्तम् । पञ्चगवम् । दशगवम् ॥ ३ ॥

अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत इति वक्तव्यम्[5] ॥[3] ४ ॥

पञ्चपूली । दशपूली । अत्र 'स्त्रियाम्' इति वचनात् ङीब् भवति ॥ ४ ॥

वाऽऽबन्तः[6] ॥[2] ५ ॥

आबन्तो द्विगुर्विकल्पेन स्त्रीलिङ्गो भवति । पञ्चखट्वी, पञ्चखट्वम् ॥ ५ ॥

अनो नलोपश्च[7] ॥[2] ६ ॥

अन्नन्तस्य द्विगोर्नित्यं नकारलोपो विकल्पेन स्त्रीत्वं च भवति । पञ्चतक्षी, पञ्चतक्षम् ॥ ६ ॥

पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः[8] ॥[2] ७ ॥

'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम्' इति नित्यं स्त्रीत्वं प्राप्तं प्रतिषिध्यते । पञ्चपात्रम् । द्विपात्रम् । अत्र ङीब् न भवति ॥ [७ ॥] ३० ॥

['अपथं'] तत्पुरुष नञ् समास किया हुआ पथिन्-शब्द ['नपुंसकम्'] नपुंसकलिङ्ग में समझना चाहिये । अपथम् । अपथानि । यहां तत्पुरुष में नपुंसक हुआ है ॥

तत्पुरुष-ग्रहण इसलिये है कि 'अपथो देशः । अपथा नगरी' यहां बहुव्रीहि समास में नपुंसकलिङ्ग न हो ॥

अब आगे वार्त्तिकों का अर्थ किया जाता है—

---

१. जयादित्यः—"०सङ्ख्याव्ययादेः क्लीबतेष्यते ॥ क्रियाविशेषणानां च क्लीबतेष्यते ॥" (२।४।१८)
चा० श०—"सङ्ख्यादिः समाहारे ॥" (२ । २ । ७६)

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. २ । ४ । १ ॥

४. २ । ४ । १७ ॥

५. चा० श०—"अः स्त्री ॥" (२ । २ । ७७)

६. जयादित्यः—"वाऽऽबन्तः स्त्रियामिष्टः ॥" (२ । ४ । १७)
चा० श०—"वाप् ॥" (२ । २ । ७८)

७. जयादित्यः—"०नलोपश्च वा च द्विगुः स्त्रियाम् ॥" (२ । ४ । १७)
चा० श०—"अनो लोपः ॥" (२।२।७६)

८. चा० श०—"न पात्रादयः ॥" (२।२।८०)

'पुण्यसुदिनाभ्यामह्नो नपुंसकत्वं वक्तव्यम् ॥' पुण्य- और सुदिन-शब्द से पर जो अहन्-शब्द, उस को नपुंसक हो । पुण्याहम् । सुदिनाहम् । यहां 'रात्राह्ना०[1]॥' इस सूत्र से पुँल्लिङ्ग प्राप्त है, उस का अपवाद नपुंसक विधान किया है ॥ १ ॥

'पथः सङ्ख्याव्ययादेरिति वक्तव्यम् ॥' सङ्ख्या और अव्यय शब्द [पूर्व पथिन्-शब्द] को नपुंसकलिङ्ग हो । द्विपथम् । त्रिपथम् । यहां सङ्ख्यापूर्व । उत्पथम् । और यहां अव्ययपूर्वक पथिन् को नपुंसक हुआ है ॥ २ ॥

'द्विगुश्च ॥' द्विगु जो समास है, वह नपुंसक हो । इस पाद के आदि में[2] द्विगु समास को एकवचन कहा है । उस को नपुंसक नहीं प्राप्त है । इसलिये द्विगु समास को नपुंसकलिङ्ग कहा है । पञ्चगवम् । दशगवम् । यहां द्विगु को नपुंसक हुआ है ॥ ३ ॥

'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत इति वक्तव्यम् ॥' अकारान्तोत्तरपद जो द्विगु समास है, उस को स्त्रीलिङ्ग में समझना । पञ्चपूली । दशपूली । यहां पूर्व वार्त्तिक से नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था । उस का अपवाद स्त्रीलिंग हो गया ॥ ४ ॥

'वाऽऽबन्तः ॥' टाप् आदि प्रत्ययान्त का जो द्विगु है, वह विकल्प करके स्त्रीलिङ्ग में समझना । पञ्चखट्वी । पञ्चखट्वम् । यहां जिस पक्ष में स्त्रीलिङ्ग नहीं होता, वहां पूर्व वार्त्तिक से नपुंसक होता है ॥ ५ ॥

'अनो नलोपश्च ॥' अन्नन्त जो द्विगु समास है, वह विकल्प करके स्त्रीलिङ्ग और अन्नन्त शब्द के नकार का लोप नित्य हो जाता है । पञ्चतक्षी । पञ्चतक्षम् । यहां भी पक्ष में नपुंसकलिङ्ग होता है ॥ ६ ॥

'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥' पात्रादि शब्दों को स्त्रीलिङ्ग न हो । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । यहां अकारान्त द्विगु को स्त्रीलिंग प्राप्त था, उस का निषेध होने से नपुंसकलिंग होता है ॥ ७ ॥ ३७ ॥

अर्द्धर्चाः पुंसि च[3] ॥ ३१ ॥

'नपुंसकम्' इति वर्त्तते । अर्द्धर्चाः । १ । ३ । पुंसि । ७ । १ । च । [अ० ।] 'अर्द्धर्चाः' इति बहुवचननिर्देशाद् 'अर्द्धर्चादयः' इति विज्ञायते । अर्द्धर्चादयः शब्दाः पुंसि नपुंसके च भवन्ति[4] । अर्द्धर्चः, अर्द्धर्चम् । गोमयः, गोमयम् । इत्यादिगणपठिता अर्द्धर्चादिशब्दा यथेष्टं लिङ्गद्वया भवन्ति ॥

अथार्द्धर्चादिगणः—[१] अर्द्धर्च[5] [२] गोमय [३] कषाय [४] कार्षा-

१. २ । ४ । २६ ॥

२. २ । ४ । १ ॥

३. चा० श०—"नपुंसके चार्धर्चादयः ॥" (२ । २ । ८३)

४. जयादित्यः—"शब्दरूपाश्रया चेयं द्विलिङ्गता कचिदर्थभेदेनापि व्यवतिष्ठते ।"

५. "अर्धश्चासौ ऋक् च ।"

अस्मिन् गणेऽनिर्दिष्टोच्चारणस्थलाः शब्दार्था अरुणदत्ताभिप्रायेण दर्शिता गणरत्नमहोदधेश्च (२ । ६३–७७) उद्धृता मन्तव्याः ॥

पण [५] कुतप[1] [६] कुशाप[2] [७] कपाट [८] शङ्ख[3] [९] चक्र [१०] गूथ[4] [११] यूथ [१२] ध्वज [१३] कबन्ध [१४] पद्म [१५] गृह[5] [१६] सरक[6] [१७] कंस[7] [१८] दिवस [१९] यूष[8] [२०] अन्धकार [२१] दण्ड [२२] दण्डक[9] [२३] कमण्डलु [२४] मण्ड [२५] भूत [२६] द्वीप [२७] द्यूत[10] [२८] धर्म[11] [२९] कर्मन्[12] [३०] मोदक [३१] शतमान[13] [३२] यान [३३] नख [३४] नखर[14] [३५] चरण[15] [३६] पुच्छ [३७] दाडिम [३८] हिम [३९] रजत[16] [४०] सक्तु [४१] पिधान [४२] सार[17] [४३] पात्र [४४] घृत [४५] सैन्धव[18] [४६] औषध [४७] आढक [४८] चषक [४९] द्रोण [५०] खलीन[19] [५१] पात्रीव[20] [५२] षष्टिक[21] [५३] वार[22] [५४] बाण[22] [५५] प्रोथ[23] [५६] कपित्थ [५७] शुष्क [५८] शाल [५९] शील [६०] शुल्व[24] [६१] शीधु[25] [६२] कवच [६३] रेणु [६४] ऋण [६५] कपट [६६]

---

१. "कुं तपति सूर्योऽत्रेति कुतपः = श्राद्धकालः। यद्वा छागरोममयो वस्त्रविशेषः।"

२. बोटलिङ्कः—कुणप ॥

३. "शङ्खं = कम्बुः। निधिललाटास्थिवचनस्तु पुंलिङ्ग [एव।"

४. = विष्ठा ॥

५. "गृहो वासः। गृहाः पुंसि च भूम्न्येवेति [कश्चित्।"

६. = मद्यम् ॥

७. "कंसं परिमाणभेदः। लोहभेदो वा। नृवाची [तु पुंलिङ्गः।"

८. = मुद्गनिर्यासः ॥

९. छन्दोविशेषः, अरण्यविशेषो वा ॥

१०. अतः परं जयादित्य-बोटलिङ्कौ—चक्र ॥

११. पाठान्तरम्—धर्मन् ॥
"धर्मोऽदृष्टार्थवाची। ['चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥' इति मीमांसादर्शने] तत्साधनवाची तु नपुंसकलिङ्गः। 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' [ऋ० १ । १६४ । ४३] ॥"

१२. शब्दकौस्तुभे—"अयं कर्मा। कार्यमित्यर्थः। 'कर्म व्याप्ये क्रियायाञ्च पुन्नपुंसकयोर्मतम्' इति रुद्रः ॥"

१३. "शतं मानानामस्य। शतमानो भूभागविशेषः। यद्वा शतमानं रूप्यपलम्।"

१४. = नखः ॥

१५. पादो वेदशाखाध्यायिनश्च ॥

१६. "रजतः = रूप्यं श्वेतं च।"

१७. "सारं न्यायादनपेतम्। उत्कर्षवाचकस्तु त्रिलिङ्गः। यत्तु जयादित्येनोक्तम्—'उत्कर्षे सार-शब्दः पुँल्लिङ्गः एव' इति, तन्न समीचीनम्।
" 'सज्जा सुतवती सारा दर्पिकाव्रतगार्धिनः।'
"तथा 'जये धरित्र्याः पुरमेव सारम्' इत्यादिबहुतरलक्ष्यविरोधात् ॥"

१८. "सैन्धवो लवणोत्तमम्। यौगिकस्तु त्रिलिंगः।"

१९. "खलीनं=कविकम्। 'खलिन' इति शाकटायनः।"

२०. "पात्रीवं = यज्ञोपकरणम्।" [व्रीहिभेदः।"

२१. जयादित्य-बोटलिङ्कौ—षष्टिक ॥ "षष्टिकं =

२२. बोटलिङ्कः—वारबाण ॥ "वारबाणं=कञ्चुकः।"

२३. = अश्वादीनां नासा ॥

२४. बोटलिङ्कः—"शुल्क (शुल्ब und शुक्ल K.)"
भगवद्दयानन्द उणादिवृत्तौ (४ । ९५)—
"शोचतीति शुल्बम्। ताम्रं वा।"

२५. जयादित्य-बोटलिङ्कौ—सीधु ॥
भगवद्दयानन्दः (उणा० ४ । ३८)—"शेते येन तत् शीधु। मद्यं वा।"

सीकर[1] [६७] मुसल [६८] सुवर्ण[2] [६९] वर्ण[3] [७०] पूर्व [७१] चमस [७२] क्षीर [७३] कर्ष[4] [७४] आकाश [७५] अष्टापद[5] [७६] मङ्गल [७७] निधन [७८] निर्यास [७९] जृम्भ [८०] वृत्त [८१] पुस्त[6] [८२] बुस्त[7] [८३] क्ष्वेडित [८४] शृङ्ग [८५] शृङ्खल[8] [८६] मधु [८७] मूल [८८] मूलक [८९] शराव[9] [९०] नाल[10] [९१] वप्र[11] [९२] विमान [९३] मुख [९४] प्रग्रीव[12] [९५] शूल [९६] वज्र[13] [९७] कटक [९८] कण्टक [९९] कर्पट[14] [१००] शिखर [१०१] कल्क[15] [१०२] वल्क [१०३] नाट[16] [१०४] मस्तक [१०५] वलय [१०६] कुसुम [१०७] तृण [१०८] पङ्क [१०९] कुण्डल [११०] किरीट [१११] अर्बुद[17] [११२] अंकुश [११३] तिमिर [११४] आश्रम [११५] भूषण [११६] इल्कस[18] [११७] मुकुल [११८] वसन्त [११९] तडाग [१२०] पिटक [१२१] विटङ्क[19] [१२२] विडङ्ग[20] [१२३] पिण्याक[21]

---

१. बोटलिङ्कः—शीकर ॥ [शाकटायनः ।"

२. "दुर्गस्तु क्लीनरलिंग इत्याह । 'सवर्णं' इति

३. काशिकायाम्—"यूप । चमस । वर्ण ।"
भगवद्दयानन्दः (उणा० ३ । २७)—"यौति निश्चयतीति यूपः । यज्ञशालास्तम्भो वा ।"
"वर्ण = अक्षरम् । शुक्लादिद्विजादिस्तुतिवाची तु पुँल्लिंगः ।"

४. "कर्षः = पलचतुर्थभागः ।"

५. "अष्टापदं = शारीफलम् । अष्टापदः = सुवर्णम् ।"

६ = पुस्तकम् ॥
शब्दकल्पद्रुमे—"लेप्यादि शिल्पकर्म । आदिना काष्ठपुत्तलिकाखनित्रखननादि कर्म गृह्यते । इति सुभूत्यादयः ॥
" 'मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा ।
लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते ॥'
इत्यमरटीकायां भरतः ॥"

७. "बुस्तं = मांसशष्कुली ॥" [शब्दौ पठति ॥

८. बोटलिङ्कः—"निगड । खल ।" इति द्वौ

९. बोटलिङ्कः "शराव" इत्यतः पूर्वं—"स्थूल" इत्यपि ॥

१०. जयादित्यः—शाल ॥

११. भगवद्दयानन्दः (उणा० २ । २७)—
"वपति बीजं छिनत्ति वा, स वप्रः । पिता, केदारः, प्राकारः, रोधो वा ।"

१२. "प्रग्रीवं = वातायनं, वास्तुनिमित्तधारणं च ।"

१३. भगवद्दयानन्दः (उणा० २ । २८)—
"वजति प्राप्नोति प्राप्यते वा, स वज्रः । हीरकं, शस्त्रं वा ।"

१४. भगवद्दयानन्दः (उणा० ४ । ८१)—
"कर्पतीति कर्पटः । छिन्नं पुराणं वस्त्रं वा ।"
"कर्बटः । 'नद्यद्रिवेष्टितं खेटं कर्बटं शैलवेष्टितम् ।'
दुर्गस्तु कर्पटम् अल्पोपकरणस्थानमित्याह ।"

१५. = औषधानां निर्यासः, दम्भः, किल्बिषं वा ॥

१६. " 'आनट' इति शाकटायनः ।"

१७. बोटलिङ्कः "अर्बुद" इत्यतः पूर्वं—"कुमुद" इत्यपि ॥
शब्दकौस्तुभे—"पर्वते तु पुँल्लिंगः ।"

१८. बोटलिङ्कः—"इष्वास (इल्कस und इक्कस K.)" शब्दकौस्तुभे—"इक्कसश्चिक्कसं गोधूमादिचूर्णम् । अमरस्तु चिक्कसमर्धर्चादौ पपाठ ।"

१९. = कपोतपाली ॥

२०. = औषधिविशेषः ॥

२१. भगवद्दयानन्दः (उणा० ४ । १५)—"यं पिनष्टि...स पिण्याकः । तिलकल्को वा ।"

[१२४] माष [१२५] कोश [१२६] फलक [१२७] दिन [१२८] दैवत [१२९] पिनाक[1] [१३०] समर [१३१] स्थाणु[2] [१३२] अनीक [१३३] उपवास [१३४] शाक [१३५] कर्पास [१३६] विशाल [१३७] चषाल[3] [१३८] खण्ड [१३९] दर [१४०] बल [१४१] मक[4] [१४२] विटप [१४३] रण[5] [१४४] मल [१४५] मृणाल [१४६] हस्त [१४७] आर्द्र[6] [१४८] सूत्र [१४९] मूत्र [१५०] ताण्डव [१५१] गाण्डीव[7] [१५२] मण्डप [१५३] पटह [१५४] सौध [१५५] योध [१५६] पार्श्व [१५७] शरीर [१५८] देह [१५९] फल [१६०] छल [१६१] पुर [१६२] राष्ट्र [१६३] विश्व [१६४] अम्बर[8] [१६५] बिम्ब [१६६] कुट्टिम [१६७] कुक्कुट [१६८] मण्डल [१६९] कुडप[9] [१७०] ककुद [१७१] खण्डल[10] [१७२] तोमर [१७३] तोरण [१७४] मञ्चक [१७५] पञ्चक[11] [१७६] पुङ्ख [१७७] मध्य[12] [१७८] वाल [१७९] छाल[13] [१८०] वल्मीक[14] [१८१] वर्ष [१८२] वस्त्र [१८३] वसु[15] [१८४] उद्यान[16] [१८५] उद्योग [१८६] स्नेह [१८७] स्तेन [१८८] स्तन [१८९] स्वर [१९०] सङ्गम [१९१] निष्क [१९२] क्षेम [१९३] शूक[17]

---

१. भगवद्दयानन्दः (उणा० ४ । १५)—"पाति रक्षयतीति पिनाकः । त्रिशूलं धातुर्वा ।"

२. = कीलकः ॥

३. काठकसंहिताकोशेषु (२६ । ४) "चशाल" इत्यपि ॥

= दारुमयं यूपकङ्कणं (उणा० ४ । १०७), न तु यथा गणरत्न उपपादितं "यज्ञपात्रम्" इति ॥ मै० (१ । ६ । ३)—"यावद्वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत् ।" वराहस्य मुखमित्यर्थः ॥

४. वैश्येन मालुक्यामुत्पादितः पुत्रः ॥

५. जयादित्य-बोटलिङ्कौ—"दर । विटप । रण । बल । मक (काशिकायाम्—मल) ।"

६. बोटलिङ्कः "आर्द्र" इत्यतः परं— "हल" इत्यपि ॥ आर्द्रः = शृङ्गवेरम् ॥ [मध्योऽपि ॥

७. गणरत्ने (२ । ७५) "गाण्डिव" इति ह्रस्व-

८. बोटलिङ्कः—बिम्ब । अम्बर ॥

९. पाठान्तरम्—कुडव ॥

शब्दकल्पद्रुमे—"परिमाणविशेषः । स तु प्रस्थचतुर्थांशं इति लीलावती । वैद्यकमते विप्रसृतपरिमाणम् ।

" 'प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात् कुडवोऽर्द्धशरावकः । अष्टमानं च स ज्ञेयः ।।' इति शार्ङ्गधरस्य पूर्वखण्डे १ अ० ।"

१०. कोशे—खण्डलू ॥ "खण्डलं = खण्डम् ॥"

११. = विस्तारः ॥

१२. = उदरम् ॥

१३. कोशे—छाल ॥

१४. पाठान्तरम्—वाल्मीक ॥

१५. भगवद्दयानन्दः (उणा० १ । १०)—"वस्त आच्छादयति दुःखं येन, तद्वसु । धनं वा । वसन्ति प्राणिनो येषु, ते वसवोऽग्न्यादयोऽष्टौ ।"

१६. जयादित्य-बोटलिङ्कौ "उद्यान" इत्यतः पूर्वं—"देह" इति ॥ [कोऽपि ।"

१७. "शूकं धान्यादेः सूची । वृश्चिकादेः कण्ट-

[१९४] चत्र [१९५] छत्र [१९६] पवित्र [१९७] यौवन [१९८] कलह [१९९] पालक[1] [२००] पानक [२०१] मूषिक[2] [२०२] वल्कल [२०३] कुञ्ज [२०४] विहार [२०५] लोहित [२०६] विषाण [२०७] भवन [२०८] अरण्य [२०९] पुलिन[3] [२१०] दृढ [२११] आसन [२१२] ऐरावत [२१३] शूर्प [२१४] तीर्थ[4] [२१५] लोमश [२१६] तमाल [२१७] लोह[5] [२१८] शपथ [२१९] प्रतिसर[6] [२२०] दारु [२२१] धनुस् [२२२] मान [२२३] वर्चस्क[7] [२२४] कूर्च[7] [२२५] तङ्क[8] [२२६] वितङ्क[8] [२२७] मव[9] [२२८] सहस्र [२२९] ओदन [२३०] प्रवाल [२३१] शकट [२३२] अपराह्ण [२३३] नीड [२३४] शकल[10] [२३५] कुणप[11] [२३६] मुण्ड [२३७] पूत [२३८] मरु[12] [२३९] लोमन [२४०] लिङ्ग [२४१] सीर [२४२] चत[13] [२४३] कडार[14] [२४४] पूर्ण [२४५] पणव[15] [२४६] पुस्तक[16] [२४७] पल्लव [२४८] निगड [२४९] खल [२५०] स्थूल [२५१] शार[17] [२५२] प्रवर[18] [२५३] पुराण[19]

---

१. पाठान्तरम्—मालक ॥ "मालकः=ग्रामान्तरालाटवी ।"

२. बोटलिङ्को "मूषिक" इत्यतः परं—"मण्डल" इत्यपि ॥

३. = सैकतम् ॥

४. भगवद्दयानन्दः (उणा० २ । ७)—"तरन्ति येन यत्र वा तत् तीर्थम् । गुरुर्यज्ञः पुरुषार्थो मन्त्री जलाशयो वा ।"

५. कोशेऽतः परं पुनरपि "दण्डक । दण्डक ।" इति द्विर्लिखितम् । जयादित्य-बोटलिङ्कौ दण्डक-शब्दमत्रैव पठतो न पूर्वत्र ॥

६. प्रतिसरः = माल्यं, कङ्कणं, मणशुद्धिः । प्रतिसरं = मण्डलम् ॥

७. "वर्चस्कं = शकृत् । कूर्चः=दीर्घश्मश्रु ॥"

८. बोटलिंकः "तंक, वितंक" इत्येतयोः स्थाने—"तण्डक" इति ॥

९. बोटलिंकः—मठ ॥ मवः = बन्धनम् ॥

१०. केषुचित् काशिकाकोशेष्वत्र गणः समाप्तः ॥ बोटलिंकोऽतः परं—"तण्डुल । K. ausserdem तंक, वितंक, विश्व, छत्र ..."

अस्माकं कोशेऽपि कुणपप्रभृतयः तण्डकान्ताः शब्दाः पृष्ठप्रान्ते लिखिताः । कश्चिदपरं गणपाठकोशं दृष्ट्वा पश्चाल्लिखिता इति प्रतीयते ॥

११. = शवः, मृद्भेदो वा ॥

१२. काशिकायां कोशे चातः परं "कंस" इति । अस्माभिस्तु पुनरुक्तिः स्यादिति नात्र लिखितः ॥

१३. काशिकायामतः परं—ऋण ॥

१४. " —वर्ण ॥

१५. काशिकायां कोशे चातः परं—विशाल ॥

१६. काशिकायामतः पूर्वं—बुस्त ॥ वात्स्यायनसूत्रे (१ । ४)— "नागदन्तावसक्ता वीणा । चित्रफलकम् । वर्तिकासमुद्गकः । यः कश्चित् पुस्तकः ।"

१७. =वायुः, कर्बुरवर्णः । कुशे स्त्री इति केचित् ॥ काशिकायामतः परं—नाल ॥

१८. " —कटक । कण्टक । छाल । कुमुद ॥

१९. कोशेऽतः पूर्वं—छाल ॥

[२५४] जाल [२५५] स्कन्ध [२५६] ललाट [२५७] कुङ्कुम [२५८] कुशल[1] [२५९] हल[2] [२६०] तण्डक[3] [२६१] तण्डुक ॥[4] इत्यर्द्धर्चादिः ॥ ३१ ॥

[इति लिङ्गानुशासनप्रकरणम्]

अर्द्धर्चादि-शब्द में बहुवचन निर्देश करने से अर्द्धर्चादिगण समझा जाता है। ['अर्द्धर्चाः'] अर्द्धर्चादि शब्द ['पुंसि'] पुँल्लिङ्ग और ['च'] चकार से नपुंसकलिङ्ग हों। अर्द्धर्चः । अर्द्धर्चम् । गोमयः । गोमयम् इत्या[दि] गण में पढ़े हुए शब्दों में यथोक्त दोनों लिङ्ग होते हैं ॥

अर्द्धर्चादिगण बहुत है, वह सब क्रम से पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया है ॥ ३१ ॥

[यह लिङ्गानुशासन का प्रकरण समाप्त हुआ]

[अथान्वादेशप्रकरणम्]

इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ[5] ॥ ३२ ॥

इदमः । ६ । १ । अन्वादेशे । ७ । १ । अश् । १ । १ । अनुदात्तः । १ । १ । तृतीयादौ । ७ । १ । आदिश्यते = उच्यतेऽसावादेशः । अनु = पश्चाद् आदेशोऽन्वादेशः, तस्मिन्[6] । 'अश्' इति शित्करणं सर्वादेशार्थम् । इदं-शब्दस्यान्तोदात्तत्वात् सर्वादेशोऽनुदात्तो न प्राप्तस्तदर्थमनुदात्तवचनम् । अन्वादेशे वर्त्तमानस्येदं-शब्दस्य

---

१. काशिकायामतः परं—"विडङ्ग । पिण्याक । आर्द्र ॥"

२. काशिकायामतः परम्—"कटक । योध । बिम्ब । कुक्कुट । कुडप । खण्डल । पञ्चक । वसु । उद्यम । स्तन । स्तेन । चत्र । कलह । पालक । हल । वर्चस्क । कूर्च ।" एतेषु हलादयो द्विरुक्ताः ॥

३. कोशेऽतः पूर्वं—खण्डल । पालक ॥

"तण्डकं = छन्दोगयोग्यो ब्राह्मणो ग्रन्थविशेषः । परिष्कारो दण्डको वा ।"

४. काशिकायां ६, ७०, १०२, १४१, १४६ इत्येते शब्दा नोपलभ्यन्ते । २२, ५८, ६४, ८२, ६०, ६७, ६८, १२२, १२३, १३६, १४०, १४७, १५८, १६५, १६७, १६६, १७१, १७५, १७६, १८३, १८७, १८८, १६४, १६८, १६६, २२३, २२४ इत्येते च शब्दाः स्थानभ्रष्टाः सन्तो यथास्थानं टिप्पणेषु निर्दिष्टाः ॥

बोटलिङ्कीये च गणपाठे १०२, १४४, १४६, १६३, १६५, २०० इत्येते शब्दा न सन्ति । स्थानभ्रष्टाश्च शब्दाः ६, २२, १५८, १६८ इत्येते ॥

५. ना० — सू० १८७ ॥

चा० श० — "एतस्य चान्वादेशे द्वितीयायां चैनः ॥" (५ । ४ । ७६)

६. महाभाष्ये—"अन्वादेशे समानाधिकरणग्रहणं कर्त्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । इह मा भूत्—देवदत्तं भोजयेमं च यज्ञदत्तं भोजयेति । अन्वादेशश्च कथितानुकथनमात्रं द्रष्टव्यम् । तद् द्वैध्यं विजानीयादिदमा कथितमिदमैव यदानुकथ्यते इति । तदाचार्यः सुहृद्भूत्वान्वाचष्टे—अन्वादेशश्च कथितानुकथनमात्रं द्रष्टव्यमिति ॥"

तृतीयादौ विभक्तौ परतोऽनुदात्तोऽश्-आदेशो भवति । आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम् । अस्मै छात्राय कम्बलं देहि, अथो अस्मै शाटकमपि देहि । इदं-शब्दस्य टा-विभक्तावोसि चैन-आदेशो[1] विधीयते । तृतीयादिषु हलादिविभक्तिषु इद्रूपस्य लोपत्वादिष्टसिद्धिर्भविष्यति । शिष्टास्वजादिषु तृतीयादिष्वन्-आदेशो[3] विधीयते । एवं सर्वत्रेष्टसिद्धिर्भविष्यति । पुनरश्-आदेशस्यैतन् प्रयोजनं—साकच्कस्येदं-शब्दस्येद्रूपलोपः प्रतिषिध्यते, तत्र साकच्कस्याश्-आदेशो यथा स्यात् । इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम् । अत्र 'इमकाभ्यां' इति प्राप्ते 'आभ्यां' इत्येव भवति । 'अस्मै' इत्यादिषु त्वन्-आदेशेनैव सिद्धं भविष्यति ॥ ३२ ॥

अन्वादेश उस को कहते हैं कि कहे हुए वाक्य के पीछे उस से कुछ विशेष कहा जावे । तृतीयादि हलादि विभक्तियों के पर [अर्थात् परे होते हुए[4]] इदं-शब्द के इद्-भाग का लोप कहा है[2] । और अजादि तृतीयादि विभक्तियों में एन[1]- और अन्-आदेश[3] होते हैं । उस से इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं । फिर इस सूत्र में अश्-आदेश इसलिये किया है कि अकच्-प्रत्ययान्त इदं-शब्द को अन्-आदेश का निषेध है, सो अकच्-प्रत्ययान्त को भी अश्-आदेश हो जावे । ['अन्वादेशे'] अन्वादेश में वर्त्तमान जो ['इदमः'] इदं-शब्द, उस को ['अशनुदात्तः'] अनुदात्त अश्-आदेश हो ['तृतीयादौ'] तृतीयादि विभक्ति परे हो, तो । इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम् । यहां दूसरे प्रयोग में अकच् सहित इदं-शब्द को अश्-आदेश हुआ है । इदं-शब्द अन्तोदात्त है । उस को अनुदात्त आदेश नहीं प्राप्त है, इसलिये अनुदात्त किया है ॥ ३२ ॥

एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ ॥ ३३ ॥

'अन्वादेशेऽशनुदात्तः' इत्यनुवर्त्तते । एतदः । ६ । १ । त्र-तसोः । ७ । २ । त्र-तसौ । १ । २ । च । [अ० ।] अनुदात्तौ । १ । २ । अन्वादेशे वर्त्तमानस्यैतद्-शब्दस्य त्र-तसोः प्रत्ययोः परतोऽनुदात्तोऽश्-आदेशो भवति । त्र-तसौ प्रत्ययौ चानुदात्तौ भवतः । एतस्यां वाटिकायां सुखं वसामः, अथो अत्र युक्ता अधीमहे । एतस्माद्ध्यापकाच्छन्दोऽधीष्व, अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व । उत्तरप्रयोगयोरेतद्-शब्दस्याऽश्-आदेशो भवति । द्वयोरनुदात्तत्वात् सर्वं पदमनुदात्तम् ॥ ३३ ॥

अन्वादेश में वर्त्तमान ['एतदः'] एतद्-शब्द को ['त्र-तसोः'] त्रल्- और तसिल्-

---

१. २ । ४ । ३४ ॥
२. ७ । २ । ११३ ॥
३. ७ । २ । ११२ ॥
४. अगले और पिछले सूत्रों की भाषा में भी पर-शब्द का यही अर्थ समझना ॥

प्रत्यय के पर अनुदात्त अश्-आदेश हो, ['च'] और ['त्र-तसौ'] त्रल्, तसिल् भी ['अनुदात्तौ'] अनुदात्त ही हों। एतस्यां नगर्यां सुखं वसामः, अथो अत्र युक्ता अधीमहे। यहां अत्र-शब्द में एतद्-शब्द को अश्। एतस्मादध्यापकाच्छन्दोऽधीष्व, अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व। और यहां अतः-शब्द में एतद्-शब्द को अश्-आदेश हुआ है। 'अत्र, अतः' ये दोनों पद सब अनुदात्त होते हैं॥ ३३॥

द्वितीयाटौस्स्वेनः[1]॥ ३४॥

'इदमः, एतदः' इति द्वयमप्यनुवर्त्तते। 'अन्वादेशेऽनुदात्तः' इति च। द्वितीया-टा-ओस्सु। ७। ३। एनः। १। १। अन्वादेशे वर्त्तमानयोरिदम्-एतद्-शब्दयोः 'द्वितीया, टा, ओस्' इत्येतासु विभक्तिषु परतोऽनुदात्त एन-आदेशो भवति। [इदमः—] इमं शिष्यं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं न्यायमप्यध्यापय। अनेन शिष्येण सुष्ठ्वधीतं, अथो एनेन कण्ठस्थं कृतम्। अनयोश्छात्रयोः शोभना प्रकृतिः, अथो एनयोर्मृदुर्वाणी। एतदः—एतं छात्रमत्रानय, अथो एनं भोजय। एतेन छात्रेण सुष्ठूच्चारितं, अथो एनेन स्वरतोऽधीतम्। एतयोश्छात्रयोः शोभनमुच्चारणं, अथो एनयोश्शोभनं शीलम्। अत्र सर्वत्रोत्तरप्रयोगेष्वेन-आदेशो भवति॥

वा०— *एनदिति नपुंसकैकवचने* ॥[2]

द्वितीयाविभक्तौ नपुंसक एकवचने 'एनद्' इत्यादेशो भवति। इदं कुण्डमानय, प्रक्षालयैनत्, परिवर्तयैनत्। अत्रान्वादेश इदं-शब्दस्यैनद्-आदेशः॥ ३४॥

अन्वादेश में वर्त्तमान जो इदं- और एतद्-शब्द, इन को ['द्वितीया-टा-ओस्सु'] द्वितीया, टा, ओस्, इन विभक्तियों के पर ['एनः'] अनुदात्त एन-आदेश हो जावे। इमं शिष्यं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं न्यायमप्यध्यापय। यहां इदं-शब्द को द्वितीया विभक्ति में एन। अनेन शिष्येण सुष्ठ्वधीतं, अथो एनेन कण्ठस्थं कृतम्। यहां इदं-शब्द को टा-विभक्ति में एन। अनयोश्छात्रयोः शोभना वृत्तिः, अथो एनयोर्मृदुर्वाणी। और यहां इदं-शब्द को ओस्-विभक्ति के परे एन-आदेश हुआ है। एतद्—एतं छात्रमानय, अथो एनं पृच्छ। यहां एतद्-शब्द को द्वितीया विभक्ति में। एतेन छात्रेण सुष्ठूच्चारितं, अथो एनेन कण्ठस्थं कृतम्। यहां एतद्-शब्द को टा-विभक्ति के पर एन। एतयोश्छात्रयोः शोभनमुच्चारणं, अथो एनयोः शोभनं शीलम्। और यहां एतद्-शब्द को ओस्-विभक्ति के परे अन्वादेश में एन-आदेश हुआ है॥

---

१. ना०—सू० १८० ॥
चा० श०—"एतस्य चान्वादेशे द्वितीयायां चैनः॥" (५ । ४ । ७६)

२. केशेऽत्र—"॥ १ ॥"
अ० २। पा० ४। आ० १॥

'एनदिति नपुंसकैकवचने ॥' द्वितीया विभक्ति के एकवचन और नपुंसकलिंग में एनत्-आदेश हो। इदं कुण्डमानय, प्रक्षालयैनत्, परिवर्त्तयैनत्। यहां इस वार्त्तिक से एनत्-आदेश किया है, क्योंकि सूत्र से तकारान्त आदेश नहीं प्राप्त था ॥ ३४ ॥

[अथार्द्धधातुकाधिकारप्रकरणम्]

आर्द्धधातुके[1] ॥ ३५ ॥

आर्द्धधातुके । ७ । १ । अधिकारसूत्रमिदम् । अतोऽग्रे 'ण्यक्षत्रियार्ष०[2] ॥' इत्यतः सूत्रात् पूर्वं यत् किञ्चित् कार्यं भविष्यति, आर्द्धधातुके तद्वेदितव्यम् । 'आर्द्धधातुके' इति विषयसप्तमी विज्ञेया । आर्द्धधातुकविषयमात्रे [अर्थेऽत्र] सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥ ३५ ॥

यह अधिकार सूत्र है। 'ण्यक्षत्रियार्ष०[2] ॥' इस सूत्र से पूर्व २ जो कुछ कार्य विधान करें, वह ['आर्द्धधातुके'] आर्द्धधातुक में हो। आर्द्धधातुक-शब्द में विषय सप्तमी अर्थात् आर्द्धधातुक पर न [भी] हो और उस का विषय हो, तो भी वे कार्य हो जावें ॥ ३५ ॥

अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति[3] ॥ ३६ ॥

'आर्द्धधातुके' इत्यनुवर्त्तते । अदः । ६ । १ । जग्धिः । १ । १ । ल्यप्ति । ७ । १ । किति । ७ । १ । अद्-धातोर्ल्यपि तकारादौ किदार्द्धधातुकप्रत्यये च परतो जग्धिरादेशो भवति । ल्यपि—प्रजग्ध्य । विजग्ध्य । ति किति—जग्धः । जग्धवान् । अन्न-शब्दस्यौणादिकत्वाज्जग्धिर्न भवति । क्त्वा-प्रत्ययस्य स्थाने ल्यब्-आदेशो भवति । क्त्वा च तादिरेव । क्त्वास्थाने ल्यब्-आदेशे प्राप्ते, क्त्वायां परतो जग्धि-आदेशे प्राप्ते, परत्वाल्ल्यप् स्यादन्तरङ्गत्वाज्जग्धिः । पुनर्ल्यब्-ग्रहणं किमर्थम् ।

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यल्ल्यब्-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—*अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधत इति*[6] ॥[7]

एवं ल्यब्-ग्रहणस्य व्यर्थत्वे सतीयं परिभाषा निस्सृता । स्वांशे चरितार्थत्वमन्यत्र [च] फलमिति परिभाषायाः प्रयोजनम् । अग्रे कारिकाभ्यां फलं दर्शयति—

---

१. आ०—सू० ३०७ ॥ [(५ । ४ । ७८)
चा० शा०—"लिडाशीर्लिङतिङ्शिति ॥"

२. २ । ४ । ५८ ॥

३. आ०—सू० १२१६ ॥ [(५ । ४ । ८५, ८६)
चा० शा०—"ति कित्यदो जग्धः ॥ ल्यपि ॥"

४. "जग्धिः" इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥

५. उणा०—३ । १० ॥

६. पा०—सू० ४८ ॥
प०—सू० ५४ ॥

७. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

का०— जग्धिविधिर्ल्यपि यत्तदकस्मात्
सिद्धमदस्ति कितीति विधानात् ।
हिप्रभृतींस्तु सदा बहिरङ्गो
ल्यब्भरतीति कृतं तदु विद्धि ॥ १ ॥
जग्धौ सिद्धेऽन्तरङ्गत्वात् ति कितीति ल्यबुच्यते ।
ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां ल्यपा भवति बाधनम् ॥ २ ॥[2]

ल्यपि परतो जग्धिविधिः = जग्धेर्यद् विधानं, तद् 'अदस्ति किति' इति विधानादन्तरङ्गत्वात् सिद्धं, पुनर्ल्यब्-ग्रहणमकस्मात् कृतं। तस्यैतत् प्रयोजनं — हिप्रभृतीन् क्त्वाश्रयान् विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् हरति = बाधत इति । 'तत्' पूर्वोक्तपरिभाषाकृतं फलं 'उ' इति निश्चयेन हे वैयाकरण त्वं विद्धि । अर्थात् क्त्वाश्रयं कार्यं 'प्रधाय । प्रस्थाय' [इति] अत्र हित्वमित्त्वं[3] च प्राप्तं, बहिरङ्गत्वाल्ल्यपि कृते तन्न भवति ॥ १ ॥

जग्ध्यादेशोऽन्तरङ्गत्वात् ति किति परतः सिद्धे ल्यबुच्यत आचार्येण, स ज्ञापयति— अन्तरङ्गान् विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधत इति ॥ [२ ॥]

'ति किति' इति किम् । अद्यते । अत्तव्यम् । अत्र जग्धिर्न भवति ॥३६॥

['ल्यति किति'] ल्यप् और तकारादि कित् आर्द्धधातुक प्रत्यय के परे ['अदः'] अद् धातु को ['जग्धिः'] जग्धि-आदेश हो । प्रजग्ध्य । विजग्ध्य । यहां ल्यप् के पर [होने से] और 'जग्धः । जग्धवान्' यहां क्त-क्तवतु-प्रत्यय के पर [होने से] जग्धि-आदेश हुआ है । अन्न-शब्द उणादि[4] से सिद्ध होता है । वहां बहुल करके कार्य होते हैं, इससे जग्धि-आदेश नहीं हुआ ॥

'ति किति' ग्रहण इसलिये है कि 'अद्यते, अत्तव्यम्' यहां जग्धि-आदेश न हो ॥

क्त्वा-प्रत्यय के स्थान में ल्यब्-आदेश होता है। सो क्त्वा के स्थान में ल्यप् और तादि कित् क्त्वा के पर अद धातु को जग्धि-आदेश, इन दोनों की एक साथ प्राप्ति में अन्तरङ्ग होने से जग्धि-आदेश हो जाता । फिर ल्यब्-ग्रहण किसलिये है । इस सूत्र में ल्यब्-ग्रहण के व्यर्थ होने से 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधते ॥' यह परिभाषा निकली है । ज्ञापक से जो परिभाषा निकलती है, वह व्यर्थ को सार्थ और अन्यत्र फल देती है । अन्तरङ्ग विधियों का बाधक होके ल्यब्-आदेश हो जाता है । परिभाषा का फल 'जग्धि० ॥' इस कारिका से दिखाया है । तादि कित् के पर जग्धि-आदेश सिद्ध ही है, फिर अकस्मात् आचार्य ने ल्यब्-ग्रहण किया है । उस से 'प्रधाय । प्रस्थाय' इत्यादि उदाहरणों [में] अन्तरङ्ग क्त्वा के पर हि- और इत्-आदेश[3] अन्तरङ्ग को बाधके बहिरङ्ग ल्यप् हो जाता है ॥ १ ॥

---

१. अत्र कैयटः—"अयमेवार्थो व्याघ्रभूतिनाप्युक्त इत्याह—जग्धिविधिरिति ।"

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. "दधातेर्हिः ॥ द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति ॥" (७ । ४ । ४२ ॥ ७ । ४ । ४०)

४. उणा०—३ । १० ॥

'जग्धौ० ॥' इस दूसरी कारिका का भी यही प्रयोजन है जो परिभाषा से निकलता है ॥ २ ॥ ३६ ॥

लुङ्सनोर्घस्लृ[1] ॥ ३७ ॥

'अदः' इत्यनुवर्त्तते । लुङ्-सनोः । ७ । २ । घस्लृ । १ । १ । लुङि सनि च परतोऽद्-धातोर्घस्लृ-आदेशो भवति । लृ-करणमङ्-प्रत्ययार्थम् । 'पुषादिद्युताद्युलृदितः परस्मैपदेषु[2] ॥' इति च्लेः स्थानेऽङ्-आदेशो यथा स्यात् । लुङि — अघसत् । अघसताम् । अघसन् । सनि— जिघत्सति । जिघत्सतः । जिघत्सन्ति ॥

वा०— *घस्लृभावेऽच्युपसङ्ख्यानम्* ॥[3] १ ॥

लुङ्-सनोरद्-धातोर्घस्लृ-आदेशः सूत्रेण यदुच्यते, तत्राचि प्रत्ययेऽपि स्यात् । प्रात्तीति प्रघसः । कर्त्र्यत्राच्-प्रत्ययः ॥ ३७ ॥

['लुङ्-सनोः'] लुङ् लकार में और सन्-प्रत्यय के पर अद् धातु को ['घस्लृ'] घस्लृ-आदेश हो । लृ-ग्रहण इसलिये है कि लुङ् लकार में च्लि- प्रत्यय के स्थान में अङ्-आदेश हो जावे । लुङ् —अघसत् । यहां लुङ् के पर [होने से] और 'जिघत्सति' यहां सन् प्रत्यय के पर [होने से] घस्लृ-आदेश हो जाता है । लृ की सर्वत्र इत्-संज्ञा होके लोप हो जाता है ॥

'घस्लृभावेऽच्युपसङ्ख्यानम् ॥' अच्-प्रत्यय के पर [रहते हुए] भी अद् धातु को घस्लृ-आदेश हो जावे । प्रात्तीति प्रघसः । यहां कर्त्ता में अच्-प्रत्यय के पर [होने से][4] घस्लृ-आदेश होता है ॥ ३७ ॥

घञपोश्च[5] ॥ ३८ ॥

'अदः' इत्यनुवर्त्तते । 'घस्लृ' इति च । घञ्-अपोः । ७ । २ । च । [अ० ।] घञि प्रत्यये अप्-प्रत्यये चाद्-धातोर्घस्लृ-आदेशो भवति । घञि— घासः । अपि—प्रघसः । विघसः । 'उपसर्गेऽदः[6] ॥' इति सूत्रेणाप्-प्रत्ययः । योगविभागकरणमुत्तरार्थम्[7] । अन्यथा 'लुङ्-सन्-घञ्-अप्सु' इति ब्रूयात्[8] ॥ ३८ ॥

['घञ्-अपोः'] घञ्- और अप्-प्रत्यय के पर अद धातु को घस्लृ-आदेश हो । घासः ।

---

१. आ०—सू० ३०२ ॥
चा० श०—"लुङ्सनज्वअप्सु घस्लृः ॥" (५ । ४ । ८७)

२. ३ । १ । ५५ ॥

३. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

४. ३ । १ । १३४ ॥

५. आ०—सू० १३६५ ॥
चा० श०—"लुङ्सनज्वअप्सु घस्लृः ॥" (५ । ४ । ८७)

६. ३ । ३ । ५९ ॥

७. जिनेन्द्रबुद्धिस्तु—"योगविभागो वैचित्र्यार्थः ।"

८. "पूर्वसूत्रे" इति शेषः ॥

यहां घञ् के पर [होने से] और 'प्रघसः' यहां अप्-प्रत्यय के पर [होने से] अद धातु को घस्लृ-आदेश हुआ है । 'उपसर्गेऽदः[1]॥' इस सूत्र से यहां अप्-प्रत्यय होता है ॥

यह सूत्र पृथक् इसलिये किया है कि आगे के सूत्र में इसी का कार्य हो, नहीं तो पूर्व सूत्र में मिला देते ॥ ३८ ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ३९ ॥

'घञपोः' इत्यनुवर्त्तते । बहुलम् । १ । १ । छन्दसि । ७ । १ । छन्दसि=वैदिकप्रयोगेषु घञपोः परयोरद-धातोर्घस्लृ-आदेशो बहुलं भवति । अश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने[2]। अत्र घास-शब्दो घञ्-प्रत्ययान्तः । आदः[3] । अपि—प्रघसः । प्रादः । बहुल-ग्रहणादन्यत्रापि भवति । घस्तां नूनम्[4]। सग्धिश्च मे[5] । 'सग्धिः' इति घस्-धातोः क्तिन्-प्रत्ययान्तः प्रयोगः ॥ ३९ ॥

['छन्दसि'] वैदिक प्रयोगों में घञ्- और अप्-प्रत्यय के पर अद धातु को ['बहुलम्'] बहुल करके घस्लृ-आदेश हो । अश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने[2] । यहां घञन्त घास-शब्द में घस्लृ-आदेश है । आदः[3] । यहां नहीं हुआ । प्रघसः । प्रादः । यहां अप्-प्रत्यय के पर दो प्रयोग हुए । और सूत्र [में] बहुल-ग्रहण से अन्यत्र भी घस्लृ हो जाता है । सग्धिश्च मे[5] । यहां क्तिन्-प्रत्यय के पर अद धातु को घस्लृ-आदेश होता है और [कहीं] नहीं भी होता । यह बहुल का अर्थ ही है ॥ ३९ ॥

लिट्यन्यतरस्याम् ॥ ४० ॥

'अदो घस्लृ' इत्यनुवर्त्तते । लिटि । ७ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ०।] लिटि लकारे परतोऽद्-धातोर्घस्लृ-आदेशो विकल्पेन भवति । जघास । जक्षतुः । जक्षुः । आद । आदतुः । आदुः ॥ ४० ॥

['लिटि'] लिट् लकार के पर अद धातु को घस्लृ-आदेश ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके हो । जघास । यहां घस्लृ-आदेश हुआ । और 'आद' यहां अद धातु को घस्लृ-आदेश न हुआ ॥ ४० ॥

---

१. ३ । ३ । ५९ ॥

२. अ०—१९ । ५५ । ६ ॥

३. "अष्टा महो दिव आदो हरी इह द्युम्नासाहमभि योधान उत्सम् ।" (ऋ० १।१२१।८)

अत्र भगवद्दयानन्दः—" 'आदः' अत्ता । अत्र 'कृतो बहुलम्' इति कर्त्तरि घञ् । 'बहुलं छन्दसि ॥' [२।४।३९] इति घस्लादेशो न ॥"

अपि च वा०—१२ । १०५ ॥

४. वा०—२१ । ४३ ॥

जिनेन्द्रबुद्धिः—" घस्तामिति लङ् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि ॥' [६ । ४ । ७५] इत्यडागमाभावः । अथ वा लुङ्युदाहरणमेतत् । 'मन्त्रे घसह्वर० ॥" [२ । ४ । ८०] इत्यादिना च्लेर्लुक् ।"

५. वा०—१८ । ९ ॥

तै०—४ । ७ । ४ । १ ॥

मै०—२ । ११ । ४ ॥ "साग्धितिः" इत्यपि ॥

का०—१८ । ९ ॥

६. आ०—सू० २९९ ॥

चा० श०—"वेञो लिटि वय्वा ॥"(५ । ४ । ८८)

वेञो वयिः[1] ॥ ४१ ॥

'लिट्यन्यतरस्याम्' इति सर्वमनुवर्त्तते । वेञः । ६ । १ । वयिः । १ । १ । वेञ्-धातोर्लिटि लकारे विकल्पेन वयिरादेशो भवति । वेञ्-धातोर्लिटि षड् रूपाणि भवन्ति । वय्यादेशे कृते चत्वारि, पक्षे च द्वे । उवाय । ऊयतुः । ऊयुः । ऊये । ऊयाते । ऊयिरे । 'ग्रहिज्यावयि०[3]॥' इति सम्प्रसारणम् । परत्वाद् यकारस्य सम्प्रसारणे प्राप्ते 'लिटि वयो यः[4]॥' इति प्रतिषिध्यते । तत्र यकारस्य सम्प्रसारणे प्रतिषिद्धे 'वश्चास्यान्यतरस्यां किति[5]॥' इति यकारस्य वकारादेशो भवति । तत्र 'उवाय । ऊवतुः । ऊवुः । ऊवे । ऊवाते । ऊविरे' इति रूपाणि भवन्ति । यत्र वय्यादेशो न भवति, तत्र 'ववौ । ववतुः । ववुः । ववे । ववाते । वविरे' इति रूपद्वयम् । एवं षड् रूपाणि सिध्यन्ति ॥ ४१ ॥

पूर्व सूत्र सब की अनुवृत्ति आती है । लिट् लकार में ['वेञः'] वेञ् धातु को विकल्प करके ['वयिः'] वयि-आदेश हो जावे । जिस पक्ष में वयि-आदेश होता है, वहां वेञ् धातु के चार प्रयोग और जहां नहीं होता, वहां दो, इस प्रकार लिट् लकार में वेञ् धातु के छः प्रयोग बनते हैं । ऊयतुः । ऊयाते । यहां वयि-आदेश के वकार को सम्प्रसारण हो गया है । परत्व से यकार को पाता था, उस के निषेध होने से यकार को वकार विकल्प करके हो जाता है । ऊवतुः । ऊवे । यहां वयि-आदेश के यकार को वकार हो गया है । और जिस पक्ष में वयि-आदेश नहीं होता, वहां 'ववौ । ववे' ये दो प्रयोग होते हैं । इस प्रकार छः होते हैं ॥ ४१ ॥

हनो वध लिङि[6] ॥ ४२ ॥

'आर्द्धधातुके' इति वर्त्तते । हनः । ६ । १ । वध । १ । १ । लिङि । ७ । १ । वध-शब्दे 'सुपां सुलुक्०[7]॥' इति सोर्लुक् । हन्-धातोरार्द्धधातुके लिङि वध-आदेशो भवति । वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । अत्र 'वध' इत्यदन्त आदेशो भवति[8] । तस्य 'अतो लोपः[9]॥' इति लोपश्च ॥ ४२ ॥

वध-शब्द में 'सुपां सुलुक्०[7]॥' इस सूत्र से विभक्ति का लोप हो गया है । ['हनः']

---

१. आ०—सू० २८५ ॥
चा० सू०—"वेञो लिटि वय्वा ॥" (५।४।८८)
२. "वयिः" इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥
३. ६ । १ । १६ ॥
४. ६ । १ । ३८ ॥
५. ६ । १ । ३९ ॥
६. आ०—सू० ३०८ ॥
चा० श०—"हनो वध लिङि ॥" (५।४।८६)
७. ७ । १ । ३९ ॥
८. जिनेन्द्रबुद्धिः—"कुत एतत् । शैलीयमाचार्यस्य यत्रेह प्रकरणे व्यञ्जनान्त आदेशस्तत्रोच्चारणार्थमिकारं करोति । यथा जग्धिरित्यादौ । तस्मादिकारान्ताकरणादकारान्तोऽयमादेश इति विज्ञायते ।"
९. ६ । ४ । ४८ ॥

हन धातु को आर्द्धधातुक ['लिङि'] लिङ् लकार के परे ['वध'] वध-आदेश हो । वध्यात् । यहां वध-आदेश अकारान्त हुआ है । उस [के अकार] का आर्द्धधातुक में लोप हो जाता है ॥ ४२ ॥

लुङि च[1] ॥ ४३ ॥

योगविभाग उत्तरार्थः । 'हनो वध' इत्यनुवर्त्तते । लुङि । ७ । १ । च । [अ० ।] हन्-धातोः 'वध' इत्ययमादेशो भवति लुङि लकारे परतः । न्यवधीद्रींश्च । अवधीत् । अवधिष्टाम् । अवधिषुः । अत्रापि 'अतो लोपः[2] ॥' इत्यकारस्य लोपो भवति ॥ ४३ ॥

इस सूत्र के अलग करने का प्रयोजन यह है कि आगे के सूत्र में इसी की अनुवृत्ति जावे, अन्यथा पूर्व सूत्र में मिला देते । हन धातु को ['लुङि'] लुङ् लकार के पर वध-आदेश हो जावे । अवधीत् । यहां भी अकारान्त वध के अकार का लोप हो गया ॥ ४३ ॥

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्[3] ॥ ४४ ॥

'लुङि' इत्यनुवर्त्तते । आत्मनेपदेषु । ७ । ३ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] लुङ्-लकारे आत्मनेपदेषु प्रत्ययेषु परतो हन्-धातोर्वध-आदेशो विकल्पेन भवति । आवधिष्ट । आवधिषाताम् । आवधिषत । अत्र 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ[4] ॥' इति स्थानिवद्भावाद् 'आङो यमहनः[5] ॥' इत्यात्मनेपदं भवति । [वध-आदेशः] न च भवति— आहत । आहसाताम् । आहसत । अत्र 'हनः सिच्[6] ॥' इति सिचः कित्त्वादनुनासिकलोपः ॥ ४४ ॥

लुङ् लकार में ['आत्मनेपदेषु'] आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्ययों के पर हन धातु को वध-आदेश ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके हो । आवधिष्ट । यहां वध-आदेश होने के पीछे उस को स्थानिवत् मानके आत्मनेपद होता है । आहत । यहां वध-आदेश नहीं हुआ । यहां हन धातु से सिच् के कित् होने से हन धातु के नकार का लोप हो जाता है ॥ ४४ ॥

इणो गा लुङि[7] ॥ ४५ ॥

इणः । ६ । १ । गा । १ । १ । लुङि । ७ । १ । इण्-धातोर्लुङ्लकारे

---

१. आ०—सू० ३०६ ॥
चा० श०—"लुङि ॥" (५ । ४ । ६०)
२. ६ । ४ । ४८ ॥
३. आ०—सू० ६५५ ॥
चा० श०—"लङि वा ॥" (५ । ४ । ६१)
४. १ । १ । ५५ ॥
५. १ । ३ । २८ ॥
६. १ । २ । १४ ॥
७. आ०—सू० ३४२ ॥
चा० श०—"एतेर्गाः ॥ (५ । ४ । ६३)

'गा' इत्यादेशो भवति । अगात् । अगाताम् । अगुः । अत्र 'लुङ्' इत्यनुवर्त्त-माने पुनर्लुङ्-ग्रहणं 'अन्यतरस्यां' इति निवृत्त्यर्थम्[1] ॥

वा०—इण्वदिक इति वक्तव्यम् ॥

इहापि यथा स्यात्—अध्यगात् । अध्यगाताम् । अध्यगुः ॥[2]

'इक् [नित्यमधिपूर्वः] स्मरणे[3]' इत्यस्य धातोरिण्वत् कार्यं भवति । अर्थादिक्-धातोरपि लुङि 'गा' इत्यादेशो भवति । तच्चार्द्धधातुका[धिका]रे विधी-यते । अदादिगणे **'इक् स्मरणे'** -धातोर्व्याख्याने **भट्टोजिदीक्षितेन 'इक् स्मरणे —अध्येति । अधीतः । इण्वदिकः— अधियन्ति ।** केचित्तु *"ससीतयो राघवयोरधीयन्"* इत्यार्द्धधातुक इच्छन्ति[4]।' इत्येतत् सर्वं कौमुद्यां प्रतिपादितम् । तदसत् । कुतः । आर्द्धधातुकाधिकारे **'इणो गा लुङि ॥'** [इति सूत्रे] **'इण्व-दिक इति वक्तव्यम्'** इत्यस्य महाभाष्ये प्रतिपादितत्वात् । **भट्टोजिदीक्षितेन** तु **'अधियन्ति'** इतीक्-धातोः प्रयोगे सार्वधातुके **'इणो यण्[5] ॥'** इतीण्-धातोः कार्य्यं कृतं महाभाष्यादतिविरुद्धम् । न जाने महाभाष्यं तेन दृष्टं न वा ॥ ४५ ॥

['इणः'] इण् धातु को ['लुङि'] लुङ् लकार में ['गा'] गा-आदेश हो । **अगात् । अगाताम् । अगुः** । लुङ् लकार में इण् धातु का प्रयोग नहीं होता ॥

लुङ् की अनुवृत्ति पूर्व से आ जाती, फिर लुङ्-ग्रहण इसलिये है कि पूर्व सूत्र से विकल्प नहीं आवे ॥

'इण्वदिक इति वक्तव्यम् ॥' 'इक् स्मरणे[3]' इस धातु को भी इण्वत् अर्थात् लुङ् लकार में इण् धातु को गा-आदेश होता है, सो इक् धातु को भी हो । **अध्यगात् ।** यहां इस वार्त्तिक से इक् धातु को गा-आदेश होता है । इस वार्त्तिक को **भट्टोजिदीक्षित** ने कौमुदी में अदादिगण के 'इक् स्मरणे[3]' धातु के व्याख्यान में लिखके इक् धातु का **'अधियन्ति'** यह प्रयोग सिद्ध किया है । इण् धातु को जो यण्-आदेश होता है[5], वह इक् धातु को सार्वधातुक में कर दिया । देखो कैसी छोकरेपन की **भट्टोजिदीक्षित**

---

१. "परस्मैपदेषु यथा स्यात्, नित्यं चात्मनेपदेषु" इत्येतदर्थं च पुनर्लुङ्-ग्रहणम् ॥

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. धा०—अदा० ३८ ॥

४. मुद्रितायां सिद्धान्तकौमुद्यान्तु—"इक् स्मरणे । अयमप्यधिपूर्वः । 'अधीगर्थदयेशाम् ॥'[२।३।५२] इति लिङ्गात् । अन्यथा हि 'इगर्थ०' इत्येव ब्रूयात् । इण्वदिक इति वक्तव्यम् । अधियन्ति । अध्यगात् । केचित्तु आर्धधातुकाधिकारोक्तस्यै-वातिदेशमाहुः । तन्मते यण् न । तथा च भट्टिः—'ससीतयो राघवयोरधीयन्' इति ॥'

अत्र च बालमनोरमा—" 'इण्वदिक इति । षष्ठ्यन्ताद्वतिः । इणो यत् कार्यं 'इणो यण् ॥' [६ । ४ । ८१] इत्यादि, तदिको भवतीत्यर्थः । 'अध्येति, अधीतः' इति सिद्धवत्कृत्याह अधि-यन्तीति । अन्तादेशे इयङपवादः 'इणो यण् ॥' [६ । ४ । ८१] इति यण् इति भावः । ..."

५. ६ । ४ । ८१ ॥

की बुद्धि है कि महाभाष्य को भी नहीं देखा। महाभाष्यकार ने आर्द्धधातुकाधिकार में इस वार्त्तिक को पढ़ा है। सो ये सार्वधातुक में भी लगाते हैं। ऐसे २ लो[ग] नवीन व्याकरण के पुस्तक बनावें, क्या कहना है ॥ ४५ ॥

णौ गमिरबोधने[1] ॥ ४६ ॥

'इणः' इत्यनुवर्त्तते। णौ। ७। १। गमिः। १। १। अबोधने। ७। १। अबोधना[र्थस्य = अ]ज्ञानार्थस्येण्-धातोर्णौ परतो गमिरादेशो भवति। गमयति। गमयतः। गमयन्ति ॥

'णौ' इति किम्। एति। इतः ॥

'अबोधने' इति किम्। प्रत्याययति। अत्रोभयत्र गमिरादेशो [न] भवति ॥

'इण्वदिकः' इत्यनुवर्त्तते। तेन 'अधिगमयति। अधिगमयतः। अधिगमयन्ति' [इति] अत्रापि गमिरादेशः सिद्धो भवति ॥ ४६ ॥

['अबोधने'] अज्ञानार्थ इण् धातु को ['णौ'] णिच् के पर ['गमिः'] गमि-आदेश हो। गमयति। यहां गमि-आदेश होने से इण् धातु का प्रयोग नहीं होता ॥

'णौ' ग्रहण इसलिये है कि 'एति' यहां न हो ॥

और अबोधन-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रत्याययति' यहां भी इण् धातु को गमि-आदेश न हो ॥

'इक् धातु को इण्वत् कार्य हो' इस वार्त्तिक की अनुवृत्ति यहां भी आती है। उस से 'अधिगमयति' यहां इक् धातु को भी गमि-आदेश होता है ॥ ४६ ॥

सनि च[2] ॥ ४७ ॥

'गमिरबोधने' इत्यनुवर्त्तते। योगविभाग उत्तरार्थः। 'इङश्च[3] ॥' इति सूत्रे 'सनि' इत्येतस्यैवानुवृत्तिः [यथा] स्यात्। अबोधनार्थस्येण्-धातोः सनि परतो गमिरादेशो भवति। जिगमिषति। जिगमिषतः। जिगमिषन्ति ॥

'अबोधने' इति किम्। शब्दान् प्रतीषिषति। अत्र गमिरादेशो न स्यात् ॥

'इण्वदिकः' इत्यत्राप्यनुवर्त्तते। तेन 'अधिजिगमिषति' [इति] अत्रापि सिद्धं भवति ॥ ४७ ॥

यह सूत्र अलग इसलिये किया है कि आगे के सूत्र में सन् की ही अनुवृत्ति जावे। अज्ञानार्थ इण् धातु को ['सनि'] सन् के पर गमि-आदेश हो। जिगमिषति। यहां गमि-आदेश हुआ है ॥

---

१. भा०—सू० ५०१ ॥
चा० श०—"णौ गमबोधे ॥" (५ । ४ । ६३)
२. भा०—सू० ५११ ॥
चा० श०—"सनि ॥" (५ । ४ । ६४)
३. २ । ४ । ४८ ॥

अबोधन-ग्रहण इसलिये है कि 'शब्दान् प्रतीषिषति' यहां सन् के पर गमि-आदेश न हो ॥

'इणवदिकः ॥' इस वार्त्तिक की अनुवृत्ति यहां भी आती है। उस से 'अधिजिगमिषति' यहां इक् धातु को भी गमि-आदेश होके यह प्रयोग सिद्ध होता है ॥ ४७ ॥

इङश्च[1] ॥ ४८ ॥

'सनि' इत्यनुवर्त्तते । इङः । ६ । १ । च । [अ० ।] इङ्-धातोः सनि परतो गमिरादेशो भवति । अधिजिगांसते । अधिजिगांसेते । अधिजिगांसन्ते । अत्र 'अज्झनगमां सनि[2] ॥' इति दीर्घः ॥ ४८ ॥

['इङः'] इङ् धातु को सन् के पर गमि-आदेश हो । अधिजिगांसते । यहां सन् के पर गम धातु को षष्ठाध्याय के सूत्र[2] [से] दीर्घ होता है ॥ ४८ ॥

गाङ् लिटि[3] ॥ ४९ ॥

'इङः' इत्यनुवर्त्तते । गाङ् । १ । १ । लिटि । ७ । १ । लिट्लकारे परत इङ्-धातोर्गाङ्-आदेशो भवति । अधिजगे । अधिजगाते । अधिजगिरे । गाङ्-आदेशेऽनुबन्धकरणं विशेषणार्थम् । 'गाङ्कुटादिभ्यः०[4] ॥' इति निरनुबन्धक-ग्रहण इणादेशस्यापि ग्रहणं स्यात् ॥ ४९ ॥

['लिटि'] लिट् लकार के पर इङ् धातु को ['गाङ्'] गाङ्-आदेश हो । अधिजगे । यहां लिट् के कित् होने से गाङ्-आदेश के आकार का लोप हुआ है[5] ॥

गाङ्-आदेश में ङकार अनुबन्ध इसलिये है कि 'गाङ्कुटादिभ्यः०[4] ॥' इस सूत्र में इण् धातु को जो गा-आदेश होता है[6], उस का ग्रहण न हो ॥ ४९ ॥

विभाषा लुङ्लृङोः[7] ॥ ५० ॥

'इङो गाङ्' इत्यनुवर्त्तते । विभाषा [अ० ।] लुङ्-लृङोः । ७ । २ । लुङ्-लृङोः परयोरिङ्-धातोर्गाङ्-आदेशो विकल्पेन भवति । यत्र गाङ्-आदेशो भवति, तत्र 'गाङ्कुटादिभ्यः०[4] ॥' इति ङित्वादीत्वं[8] भवति । लुङ्—अध्यगीष्ट । अध्यगीषाताम् । अध्यगीषत । अत्र गाङ्-आदेशस्य 'घुमास्थागा०[8] ॥' इतीत्वं

---

१. आ०—सू० ५१२ ॥
चा० श०—"इङः ॥" (५ । ४ । ६५)
२. ६ । ४ । १६ ॥
३. आ०—सू० ३४३ ॥
चा० श०—"गाङ् लिटि ॥" (५ । ४ । ६६)
४. १ । २ । १ ॥
५. "आतो लोप इटि च ॥" (६ । ४ । ६४)
६. २ । ४ । ४५ ॥
७. आ०—सू० ३४४ ॥
चा० श०—"वा लुङ्लृङोः ॥" (५।४।६७)
८. ६ । ४ । ६६ ॥

भवति । निषेधपक्षे—अध्यैष्ट । अध्यैषाताम् । अध्यैषत । लृङि —अध्यगीष्यत । अध्यगीष्येताम् । अध्यगीष्यन्त । अत्रापि पूर्ववदीत्वम् । निषेधपक्षे—अध्यैष्यत । इत्यादि ॥ ५० ॥

['लुङ्-लृङोः'] लुङ् और लृङ् लकार के पर इङ् धातु को ['विभाषा'] विकल्प करके गाङ्-आदेश हो । जिस पक्ष में गाङ्-आदेश होता है, वहां ङित् होने से गाङ् के आकार को ईकार हो जाता है[1] । लुङ्—अध्यगीष्ट । यहां गाङ् के आकार को ईकार हो गया । अध्यैष्ट । विकल्प होने से यहां गाङ् नहीं हुआ । लृङि—अध्यगीष्यत । यहां भी पूर्व के तुल्य ईकारादेश हुआ है । अध्यैष्यत । और यहां गाङ्-आदेश पक्ष में नहीं हुआ ॥ ५० ॥

णौ च संश्चङोः[2] ॥ ५१ ॥

'इङो गाङ् विभाषा' इत्यनुवर्त्तते । णौ । ७ । १ । च । [अ० ।] संश्चङोः । ७ । २ । सन् च चङ् च, तयोः । संश्चङोः परयोर्णौ णिच्, तस्मिन् परत इङ्-धातोर्विकल्पेन गाङ्- आदेशो भवति । अधिजिगापयिषति । अत्रेङ्-धातोर्णिच्, तदन्तात् सन्, तत्रेङो गाङ्-आदेशः । यस्मिन् पक्षे गाङ् न भवति —अध्यापिपयिषति । चङ्परे णौ—अध्यजीगपत् । अत्रेङ्-धातोर्णिच्, तदन्ताच्च्लेः स्थाने चङ्[3] । तत्र गाङ्-आदेशे कृतेऽभ्यासस्य सन्वदादीनि कार्याणि । यत्र गाङ् न भवति, 'अध्यापिपत्' इत्येवं प्रयोगः सिद्धो भवति ॥ ५१ ॥

['संश्चङोः'] सन् और चङ् हैं पर जिस से ऐसा ['णौ'] णि परे हो, तो इङ् धातु को विकल्प करके गाङ्-आदेश हो । सन्पर णि—अधिजिगापयिषति । यहां इङ् धातु से णिच् और णिजन्त से सन् परे गाङ्-आदेश होके यह प्रयोग बनता है । विकल्प के होने से 'अध्यापिपयिषति' यहां गाङ्-आदेश नहीं हुआ । चङ्पर णि— अध्यजीगपत् । यहां णिजन्त इङ् धातु से चङ् के पर गाङ्-आदेश हुआ है । और 'अध्यापिपत्' यहां णिजन्त से चङ् के पर गाङ् नहीं हुआ ॥ ५१ ॥

अस्तेर्भूः[4] ॥ ५२ ॥

'आर्द्धधातुके' इत्यनुवर्त्तते । अस्तेः । ६ । १ । भूः । १ । १ । आर्द्धधातुकविषयेऽस-धातोः 'भू' इत्यादेशो वेद्यः । बभूव । भविता । भवितुम् । भवितव्यम् । 'एधामास' अत्र भूरादेशः कस्मान्न भवति । 'कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि[5] ॥' इति सूत्रे प्रत्याहारग्रहणेनास्तेरपि ग्रहणात् ॥ ५२ ॥

---

१. ६ । ४ । ६६ ॥
२. आ०—सू० ४६५ ॥
चा० श०—"णौ संश्चङोः ॥" (५।४।६८)
३. ३ । १ । ४८ ॥
४. आ०—सू० ३५३ ॥
५. ३ । १ । ४० ॥

आर्द्धधातुक विषय में ['अस्तेः'] अस् धातु को ['भूः'] भू-आदेश हो। बभूव। भविता इत्यादि प्रयोगों में अस् का भू होता है। अर्थात् अस् का प्रयोग नहीं होता। एधामास। यहां भू-आदेश इसलिये नहीं होता कि कृञ्-प्रत्याहार के अनुप्रयोग में अस का भी अनुप्रयोग होता है ॥ ५२ ॥

ब्रुवो वचिः[1] ॥ ५३ ॥

ब्रुवः । ६ । १ । वचिः । १ । १ । आर्द्धधातुकविषये ब्रू-धातोर्वचिरादेशो भवति । वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । उवाच । ऊचे । स्थानिवद्भावेनात्रात्मनेपदं भवति ॥ ५३ ॥

आर्द्धधातुकविषय में ['ब्रुवः'] ब्रू धातु को ['वचिः'] वचि-आदेश हो। वक्ता। वक्तुम् इत्यादि आर्द्धधातुक में ब्रू का प्रयोग नहीं होता। ऊचे। यहां ब्रू का स्थानिवत् होके आत्मनेपद होता है ॥ ५३ ॥

चक्षिङः ख्याञ्[3] ॥ ५४ ॥

चक्षिङः । ६ । १ । ख्याञ् । १ । १ । आर्द्धधातुकविषये चक्षिङ्-धातोः ख्याञ्-आदेशो भवति । आख्याता । आख्यातुम् । आख्यातव्यम् । अत्रार्द्धधातुके चक्षिङ्-धातोः प्रयोगो न भवति । अयं चक्षिङ्-धातोरादेशः क्शादिः ख्यादिश्च भवति ॥

वा०—*असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा*[4] ॥[5] १ ॥

असिद्धप्रकरणे ख्शाञ्-आदेशः कर्त्तव्यः । तत्रैव शकारस्य विकल्पेन यकारः कर्त्तव्यः । यकारपक्षे ख्याञ्-आदेशो भविष्यति । शकारपक्षे खकारस्य चर्त्वेन[6] क्शाञ्-आदेशो भविष्यति । ख्याता । क्शाता । 'असिद्धे' इति 'अख्यास्त । अख्यासीत्' अत्र 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्[7] ॥' इत्यसिद्धत्वादङ् न भवति ॥ १ ॥

वर्जने प्रतिषेधः ॥[5] २ ॥

अवसञ्चक्ष्याः । परिसञ्चक्ष्याः । वर्जनीया इत्यर्थः ॥ २ ॥

असनयोश्च ॥[5] ३ ॥

---

१. आ०—सू० ३३४ ॥

२. "वचिः" इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥

३. आ०—सू० ३१२ ॥

४. महाभाष्ये "अथ वा ख्शादिर्भविष्यति । केनेदानीं क्शादिर्भविष्यति । चर्त्वेन [८ । ४ । ५५] । अथ ख्यादिः कथम् ।" इत्युपन्यस्य "असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा" इत्युक्तम् ॥ जयादित्यः "ख्शादिरप्ययमादेश इष्यते ॥" इति नवीनं वार्त्तिकं पठति ॥

५. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

६. ८ । ४ । ५५ ॥

७. ३ । १ । ५२ ॥

असुन्-प्रत्ययेऽन-प्रत्यये च परतश्चक्षिङ्-धातोः ख्याञ्-क्शाञ्-आदेशौ न भवतः । नृचक्षा[1] रक्षः । विचक्षणः पण्डितः ॥ ३ ॥

बहुलं तणि[2] ॥ ४ ॥

किमिदं तणीति । सञ्ज्ञाछन्दसोर्ग्रहणम् ॥[3]

सञ्ज्ञायां छन्दसि = वेदे च 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति[4] ॥' इत्यारभ्य सर्वस्यार्द्ध-धातुकप्रकरणस्य कार्याणि बहुलं भवन्ति । तद्यथा—अन्नम् । अत्र क्त-प्रत्ययेऽद-धातोर्जग्धिरादेशो न भवति । वधकम् । अत्र ण्वुल्-प्रत्ययेऽप्राप्तो हन-धातोर्वध-आदेशो भवति । गात्रं पश्य । 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्[5] ॥' इत्यौणादिके ष्ट्रनि प्रत्यय इण्-धातोः 'गा' इत्यादेशो भवति[6] । विचक्षणः । अत्र चक्षिङ्-धातोः ख्याञ्-क्शाञौ न भवतः । अजिरे तिष्ठति । अत्र 'अजेर्व्यघञपोः[7] ॥' इत्यज-धातोर्वी न भवति ॥ [४ ॥] ५४ ॥

आर्द्धधातुकविषय में ['चक्षिङः'] चक्षिङ् धातु को ['ख्याञ्'] ख्याञ्-आदेश हो। आख्याता इत्यादि आर्द्धधातुक प्रयोगों में चक्षिङ् धातु का प्रयोग नहीं होता, किन्तु आदेश का ही होता है । यह चक्षिङ् धातु के स्थान में जो आदेश होता है, वह ख्यादि और क्शादि दो प्रकार का होता है । इस के लिये आगे वार्त्तिक लिखते हैं—

'असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा ॥' असिद्ध अर्थात् अष्टमाध्याय के अन्त के तीन पाद में चक्षिङ् धातु को ख्याञ्-आदेश करके शकार को विकल्प करके यकार आदेश करना चाहिये । सो जिस पक्ष में शकार को यकार होगा, वहां ख्याञ्-आदेश का 'ख्याता' ऐसा प्रयोग बनेगा । और जिस पक्ष में शकार रहेगा, वहां खकार को ककार होके 'क्शाता' इस प्रकार का प्रयोग बनेगा । इस वार्त्तिक में असिद्ध-ग्रहण इसलिये है कि 'अख्यासीत् । अख्यास्त' यहां च्लि के स्थान में तृतीयाध्याय के सूत्र से अङ्-आदेश पाता है, सो न हो ॥ १ ॥

---

१. छान्दसोऽयं प्रयोगः । भाषायां तु रक्षोविशेषणत्वेन नपुंसकत्वेन दीर्घानुपपत्तेः 'नृचक्षो रक्षः' इति ॥ अथर्ववेदे (८ । ३ । १०)—
"नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु
तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा ।"

२. जयादित्यस्तु "बहुलं सञ्ज्ञाछन्दसोरिति वक्तव्यम् ॥" इति पठति ॥

३. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

४. २ । ४ । ३६ ॥

५. उणा०— ४ । १५९ ॥

६. "गमेरा च ॥" (उणा० ४ । १६९)

७. २ । ४ । ५६ ॥
अयमौणादिकः किरच्-प्रत्ययान्तो निपातितः ॥ (उणा० १ । ५३) अजिरं = अङ्गनम् ॥

'वर्जने प्रतिषेधः ॥' वर्जन अर्थ में वर्त्तमान जो चक्षिङ् धातु, उस को ख्याञ्-क्शाञ्-आदेश न हों। अवसञ्चक्षाः । 'वर्जन करने चाहियें' यहां ख्याञ् क्शाञ् नहीं हुए ॥ २ ॥

'असनयोश्च ॥' असुन्- और अन-प्रत्यय के पर चक्षिङ् धातु को ख्याञ्-क्शाञ्-आदेश न हों। नृचक्षा रक्षः । यहां असुन् के पर, और 'विचक्षणः' यहां अन-प्रत्यय के पर उक्त आदेश नहीं हुए ॥ ३ ॥

'बहुलं तणि ॥' संज्ञा और छन्द अर्थात् वैदिक प्रयोगों में इस आर्द्धधातुक प्रकरण के सब कार्य बहुल करके हों। अर्थात् सब प्रकरण के लिये यह वार्त्तिक है। अन्नम् । यहां तादि कित् के पर अद धातु को जग्धि-आदेश नहीं हुआ । वधकम् । यहां ण्वुल्-प्रत्यय के पर हन धातु को वध नहीं पाता था, सो हो गया । गात्रं पश्य । यहां उणादि ष्ट्रन्-प्रत्यय के पर इण् धातु को गा-आदेश नहीं पाता था, सो हो गया । विचक्षणः । यहां चक्षिङ् धातु को ख्याञ्, क्शाञ् नहीं हुए। और 'अजिरे तिष्ठति' यहां अज धातु को वी-आदेश पाता था, सो नहीं हुआ ॥५४॥

वा लिटि[1] ॥ ५५ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । पूर्वसूत्रेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते । वा । [अ० ।] लिटि । ७ । १ । 'चक्षिङः ख्याञ्' इति सर्वमनुवर्त्तते । चक्षिङ्-धातोः ख्याञ्-क्शाञावुक्तरीत्या विकल्पेन भवतः । तेन लिट्लकारे पञ्च रूपाणि भवन्ति । ख्याञ्—चख्यौ । चख्यतुः । चख्ये । चख्याते । क्शाञ्—चक्शौ । चक्शतुः । चक्शे । चक्शाते । इति ख्याञ्-क्शाञ् आदेशे चत्वारि रूपाणि । यस्मिन् पक्षे न भवतः—चचक्षे । चचक्षाते । एवं विकल्पकरणात् पञ्च प्रयोगा भवन्ति ॥ ५५ ॥

इस सूत्र में प्राप्तविभाषा है । पूर्व सूत्र से ख्याञ्-क्शाञ्-आदेश नित्य प्राप्त हैं । उन का विकल्प किया है । उस से लिट् लकार में चक्षिङ् धातु के पांच प्रयोग बनते हैं। ['लिटि'] लिट् लकार के पर चक्षिङ् धातु को ख्याञ्-क्शाञ्-आदेश ['वा'] विकल्प करके हों। ख्याञ्—चख्यौ । चख्ये । यहां उभयपद के होने से ख्याञ्-आदेश के दो प्रयोग । चक्शौ । चक्शे । यहां क्शाञ्-आदेश के दो प्रयोग होते हैं । और जिस पक्ष में ख्याञ् क्शाञ् नहीं होते, वहां 'चचक्षे' एक प्रयोग होता है । इस प्रकार इस धातु के लिट् लकार में पांच प्रयोग होते हैं ॥ ५५ ॥

अजेर्व्यघञपोः[2] ॥ ५६ ॥

'वा' इत्यनुवर्त्तते । अजेः । ६ । १ । वी । १ । १ । अघञपोः । ७ । २ । 'अज गतिक्षेपणयोः'[3] इत्यस्यार्द्धधातुकसामान्ये विकल्पेन 'वी' इत्ययमादेशो भवति, घञपोः परयोर्न । प्राजिता । प्रवेता । प्राजितुम् । प्रवेतुम् । प्राजितव्यम् ।

१. अ०—सू० ३१३ ॥
२. अ०—सू० १५५ ॥
३. धा०—भ्वा० २४८ ॥

प्रवेतव्यम् । अस्मिन् सूत्रे महाभाष्यकारेण सूतवैयाकरणयोः संवादेन[1] 'प्राजिता, प्रवेता' इति रूपद्वयेन वलादावार्द्धधातुके विकल्पः प्रतिपादितः, तेनैतत् साधितं—विकल्पमनुवर्त्तते। इति वलादावार्धधातुके विकल्पो दर्शितः। तेनेह न भवति—प्रवायकः। प्रवयणम् ॥

वा०—*घञपोः प्रतिषेधे क्यप उपसङ्ख्यानम्* ॥[2]

क्यप्-प्रत्ययेऽप्यज-धातोः 'वी' इत्यादेशो न भवति। समजनं समज्या ॥

अत्र जयादित्यादिभिर्विकल्पानुवृत्तिर्नैव बुद्धा, किन्तु विकल्पार्थं 'वलादावार्द्धधातुके विकल्प इष्यते' इति स्वकीयकल्पना कृता, सा प्रणाय्याऽस्ति ॥ ५६ ॥

['अजेः'] अज धातु को आर्द्धधातुक विषय में ['वी] वी-आदेश विकल्प करके हो [किन्तु 'अघञपोः' घञ्- और अप्- प्रत्यय के पर होते हुए न हो।] प्राजिता। प्रवेता। यहां विकल्प के होने से दो प्रयोग होते हैं। इस सूत्र में महाभाष्यकार ने सूत और वैयाकरण के संवाद में वलादि आर्द्धधातुक के दो प्रयोग दिखाए हैं। उस से यह सिद्ध किया है कि इस सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति अवश्य आती है। वलादि आर्द्धधातुक के उदाहरण देने से 'प्रवायकः' यहां अजादि में विकल्प नहीं हुआ। जयादित्य पंडित ने यहां विकल्प की अनुवृत्ति नहीं जानके वलादि आर्द्धधातुक में विकल्प के लिये नवीन वार्त्तिक की कल्पना की है। वह महाभाष्य से विरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकती ॥ ५६ ॥

वा यौ[3] ॥ ५७ ॥

वा। १। १। यौ। ७। १। 'अजेः' इत्यनुवर्त्तते। यौ=औणादिके युचि प्रत्यये परतोऽज-धातोः 'वा' इत्यादेशो भवति। वायुः। अत्र बाहुलकाद् 'युवोरनाकौ[4] ॥' इत्यनादेशाभावे 'वायुः' इति रूपं सिद्ध्यति। इदमेव व्याख्यानमस्य सूत्रस्य महाभाष्येऽस्ति[5]। जयादित्येनास्य सूत्रस्यायमर्थः कृतः[6]—यौ ल्युटि

---

१. अथ सूतवैयाकरणयोः संवादः—"एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह—कोऽस्य रथस्य प्रवेतेति ॥
"सूत आह—अहमायुष्मन्नस्य रथस्य प्राजितेति ॥
"वैयाकरण आह—अपशब्द इति ॥
"सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानांप्रियः, न त्विष्टिज्ञ इष्यत एतद् रूपमिति ॥ [बाध्यामह इति ॥
"वैयाकरण आह—अहो नु खल्वनेन दुरुतेन
"सूत आह—न खलु वेञः सूतः, सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या, दुःसूतेनेति वक्तव्यम् ॥"

२. अ० २। पा० ४। आ० १ ॥

३. आ०—सू० १४७३ ॥

४. ७। १। १ ॥

५. महाभाष्ये—"न तर्हीदानीमिदं वक्तव्यम् 'वा यौ' इति। वक्तव्यं च। किं प्रयोजनम्। नेयं विभाषा। किं तर्हि। आदेशो विधीयते। 'वा' इत्ययमादेशो भवत्यजेर्यौ परतः। वायुरिति ॥"

६. जयादित्यः—"पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते। यु इति ल्युटो ग्रहणम्। यौ परभूते अजेर्वा 'वी' इत्ययमादेशो भवति। प्रवयणो दण्डः। प्राजनो दण्डः।"

प्रत्ययेऽज-धातोर्विकल्पेन 'वी' इत्यादेशो भवति । तत्र रूपद्वयं साधितम् । तदिदं पूर्वसूत्रे विकल्पानुवर्तनेनैव सिद्धं, पुनर्महाभाष्यविरुद्धत्वाज्जयादित्यस्य व्याख्यानमत्यन्तमसङ्गतम् ॥ ५७ ॥

[इत्यार्द्धधातुकाधिकारप्रकरणम्]

['यौ'] औणादिक युच्-प्रत्यय के पर अज धातु को ['वा'] वा-आदेश हो । वायुः । यहां उणादि में बहुल करके कार्यों के होने से यु के स्थान में अन-आदेश नहीं होता । इस सूत्र का ऐसा ही अर्थ महाभाष्य में किया है । और जयादित्य पंडित ने ऐसा अर्थ किया है कि ल्युट्-प्रत्यय के पर अज धातु को वी-आदेश विकल्प करके हो । सो पूर्व सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति से दो प्रयोग बन जावेंगे । और महाभाष्य से अत्यन्त विरुद्ध है, इससे उन का व्याख्यान शुद्ध नहीं ॥ ५७ ॥

[यह आर्द्धधातुक का अधिकार समाप्त हुआ]

[अथ लुक्प्रकरणम्]

ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः[1] ॥ ५८ ॥

अत आरभ्य पादपर्यन्तं लुक्प्रकरणमारभ्यते । ण्यक्षत्रियार्षञितः । ५ । १ । यूनि । ७ । १ । लुक् । १ । १ । अण्-इञोः । ६ । २ । ण्यश्च क्षत्रियश्च आर्षश्च ञितश्च । एषां समाहारः, तत्रैकवचनम् । ण्य-प्रत्ययान्तात्, क्षत्रियवाचिगोत्रप्रत्ययान्तात्, गोत्रप्रत्ययान्तादृषिवाचिनः, ञ् इत् यस्य तदन्ताद् गोत्रप्रत्ययान्ताच्च प्रातिपदिकाद् युवापत्ये विहितयोरणिञोः प्रत्यययोर्लुग् भवति । ण्य—'कुर्वादिभ्यो ण्यः[2] ॥' कुरोरपत्यं कौरव्यः पिता । तस्माद् युवापत्य इञ् । तस्य लुक् । कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः । क्षत्रिय—नकुलस्य गोत्रापत्येऽण्, तदन्ताद् युवापत्ये इञ् । तस्य लुक् । नाकुलः पिता, नाकुलः पुत्रः । आर्ष—वसिष्ठस्य गोत्रापत्येऽण् । ततो युवापत्य इञ् । तस्य लुक् । वासिष्ठः पिता, वासिष्ठः पुत्रः । ञित्—'तिकादिभ्यः फिञ्[3] ॥' तिकस्यापत्यं तैकायनिः । ततो युवापत्येऽण् । तस्य लुक् । तैकायनिः पिता, तैकायनिः पुत्रः ॥

'ण्यादिभ्यः' इति किम् । शिवस्यापत्यं शैवः । तस्य युवापत्यं शैविः । अत्रेञ्-प्रत्ययस्य लुङ् न भवति ॥

---

१. चा० श०—"ञिदार्षण्यादणिञोः ॥" (२ । ४ । १२३)

२. ४ । १ । १५१ ॥

३. ४ । १ । १५४ ॥

'यूनि' इति किम् । वामरथस्यापत्यं वामरथ्यः । कुर्वादित्वाण्ण्यः । वामरथ्यस्य छात्रा वामरथा इति शैषिकोऽण् । तस्य लुङ् न स्यात् ॥

'अणिञोः' इति किम् । दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः । अत्र युवापत्यफको लुक् न भवेत् ॥

वा०—अब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसङ्ख्यानम्[1] ॥[2]

क्षत्रियादिगोत्रमात्राद् युवापत्ये यः प्रत्ययः, तस्य लुग् भवति । बौधिः पिता, बौधिः पुत्रः । औदुम्बरिः पिता, औदुम्बरिः पुत्रः । जाबालिः पिता, जाबालिः पुत्रः । जाबालो नाम वेश्यापुत्रोऽभूत्[3] । स चाब्राह्मणः, तस्मादिञ् । तदन्तात् फको लुक् । भाण्डिजङ्घिः पिता, भाण्डिजङ्घिः पुत्रः । कार्णखरकिः पिता, कार्णखरकिः पुत्रः[4] । अत्र सर्वत्रेञन्ताद् युवापत्ये विहितस्य फको लुग् भवति ॥ ५८ ॥

यहां से लेके इस पाद भर में लुक् का प्रकरण चलता है । ['ण्य-क्षत्रिय-आर्ष-ञितः'] ण्य-प्रत्ययान्त, क्षत्रियवाची, ऋषिवाची, ञ् जिन का इत्-सञ्ज्ञक होके लोप हो जाता है इस प्रकार [के] प्रत्यय जिन के अन्त में होवें, गोत्रवाची इन प्रातिपदिकों से पर ['यूनि'] युवा अर्थ में जो ['अण्-इञोः'] अण्- और इञ्-प्रत्यय, उन का ['लुक्'] लुक् हो । ण्य—कौरव्यः पिता । कौरव्यः पुत्रः । यहां कुरु-शब्द से गोत्र में ण्य और ण्यान्त से युवा में इञ्-प्रत्यय का लुक् । क्षत्रिय—नाकुलः पिता पुत्रो वा । यहां नकुल-शब्द से गोत्र में अण् और अण्-प्रत्ययान्त से युवा में इञ् का लुक । आर्ष—वासिष्ठः पिता पुत्रो वा । यहां ऋषिवाची वसिष्ठ-शब्द से गोत्र में अण् और युवा में इञ् का लुक् । ञित्—तैकायनिः पिता पुत्रो वा । और यहां तिक-शब्द से गोत्र में फिञ् [तथा] फिञन्त से युवा में अण्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है ॥

ण्य आदि का ग्रहण इसलिये है कि 'शैवः पिता । शैविः पुत्रः' यहां युवप्रत्यय का लुक् न हो ॥

'यूनि' ग्रहण इसलिये है कि 'वामरथ्यस्य छात्रा वामरथाः' यहां शैषिक अण् का लुक् न हो ॥

और अण्-इञ्-ग्रहण इसलिये है कि 'दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः' यहां युवा में फक्-प्रत्यय का लुक् न हो ॥

'अब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसङ्ख्यानम् ॥' ब्राह्मण को छोड़के अन्य मनु-

---

१. वा० शा०—"अब्राह्मणात् ॥" (२।४।१२०)

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. छान्दोग्योपनिषदि (४ । ४ । १, २)—"सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे—ब्रह्मचर्यं भवति ! निवत्स्यामि । किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥ सा हैनमुवाच—...बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे । साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि ।..."

४. अत्र कैयटः—"भण्डिजङ्घकर्णखरकौ वैश्यौ ।"

ष्य मात्र गोत्रवाचियों से पर युवापत्य में विहित प्रत्यय का लुक् हो । जाबालिः पिता पुत्रो वा । जाबाल वेश्या का पुत्र था । वह राजर्षि अर्थात् क्षत्रिय ऋषियों में था, किन्तु ब्राह्मण नहीं । उस से गोत्र में इञ्-प्रत्यय और इञन्त से युवा में फक्-प्रत्यय का लुक हो जाता है ॥५८॥

पैलादिभ्यश्च[1] ॥ ५६ ॥

'यूनि लुग्' इत्यनुवर्त्तते । पैलादिभ्यः । ५ । ३ । च । [अ० ।] गोत्र-वाचिभ्यः पैलादिभ्यो गणपठितेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यूनि = युवापत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् बोध्यः । **'पीलाया वा[2] ॥'** इति सूत्रेण गोत्रेऽण् । तदन्ताद् **'अणो द्व्यचः[3] ॥'** इति युवापत्ये फिञ् , तस्य लुक् । पैलः पिता पुत्रो वा । अन्ये पैलादयः केचिदिञन्ताः केचित् फिञन्ताश्च । तत्रेञन्तेभ्यः फको लुक् , फिञन्तेभ्यश्चाणः ॥

अथ पैलादिगणः— [१] पैल [२] शालङ्कि [३] सात्यकि [४] सात्यकामि[4] [५] राहवि [६] रावणि[5] [७] देवि[6] [८] औदञ्चि[7] [९] औदव्रजि[8] [१०] औद-मेघि [११] औदमज्जि [१२] औदभृज्जि[9] [१३] औदबुद्धि[10] [१४] दैवस्थानि[11] [१५] पैङ्गलौदायनि[12] [१६] पैङ्गलायनि[13] [१७] राणायनि[14] [१८] राहक्षति[15]

---

१. चा० श०—"पैलादिभ्यः ॥"(२ । ४ । १२१)
२. ४ । १ । ११८ ॥
३. ४ । १ । १५६ ॥
४. चन्द्र-बोटलिङ्कौ—सात्यंकामि ॥
गणरत्ने (३ । १६६)—"सत्ये कामोऽस्य= सत्यंकामः । अत एव निपातनान्मुक् । सत्यमिति निपातो वा शपथपर्यायः ।"
५. चन्द्र-जयादित्यौ ५, ६ शब्दौ न पठतः ॥
६. चन्द्र-बोटलिङ्कौ न पठतः ॥
७. काशिकायां नास्ति ॥
न्यासे—"औदञ्चि-शब्दो बाह्वादित्वादिञन्तः ।... उदञ्चतीति 'ऋत्विग्० ॥' [३ । २ । ५६] इत्या-दिना सूत्रेण क्विन् । उदचोऽपत्यम्=औदञ्चिः ।"
८. चन्द्र-जयादित्यौ औदमज्जि-शब्दं "औदव्रजि" इत्यतः पूर्वं पठतः ॥
९. चन्द्र-जयादित्यौ न पठतः ॥
गणरत्ने (३ । १६६)—"उदके भृज्जतीति= उदभृज्जः । तस्यापत्यम् ॥" [पठति ॥
१०. चन्द्रोऽत्र—औदशुद्धि ॥ बोटलिंकस्त्वेतं न
११. चान्द्रवृत्तौ पाठान्तरम्—औदस्थानि ॥
१२. चान्द्रवृत्तौ—पैङ्गलोदायनि ॥
काशिकायां नास्ति ॥
गणरत्ने (३ । १६६)—"पिङ्गलोदायनस्यापत्यं =पैङ्गलोदायनिः । शाकटायनस्तु 'पैङ्गलोदयनिः' इत्याह ।"
१३. चान्द्रवृत्तौ नास्ति॥ [मन्यते ॥
बोटलिङ्कश्चैतं "पैङ्गलौदायनि" इत्यस्य पाठान्तरं
१४. चन्द्रः—राणि ॥
बोटलिंकपाठे नास्ति ॥
१५. चान्द्रवृत्तौ पाठान्तरम्—हारक्षती ॥
काशिकायां नास्ति ॥ [क्षति K.)"
बोटलिङ्कः—"राहक्षति (रौहक्षिति und राग-
गणरत्ने—"रहेण क्षितो हिंसितः=रहक्षितः । तस्यापत्यम् ।" (३ । १६६)

[१९] रौहक्षिति[1] [२०] भौलिङ्गि[2] [२१] राणि[3] [२२] औदन्वि[4] [२३] औद्गाहमानि [२४] औज्जिहानि[5] [२५] औदशुद्धि[6] [२६] रागक्षति [२७] सौमनि [२८] ऊहमानि [२९] तद्राजाच्चाणः[7] ॥ इति पैलादिगणः । तद्राजात् = तद्राज-सञ्ज्ञकादणन्तादपि यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुक् ॥ ५९ ॥

गोत्रवाची गण में पढ़े हुए जो ['पैलादिभ्यः'] पैलादि शब्द हैं, उन से युवा अर्थ में विहित जो प्रत्यय, उस का लुक् हो । पैलः पिता पुत्रो वा । यहां गोत्र में पीला-शब्द से अण् और अणन्त द्व्यच् प्रातिपदिक से युवा में फिञ्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है । पैलादिगण में जो शब्द इञ्-प्रत्ययान्त हैं, उन से युवा में फक्-प्रत्यय का और जो फिञ्-प्रत्ययान्त हैं, उन से युवा में अण्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है ॥

पैलादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया है । 'तद्राजाच्चाणः ॥' यह गण सूत्र है । इस का यह प्रयोजन है कि तद्राज-सञ्ज्ञक अण्-प्रत्ययान्त से युवा में विहित प्रत्यय का लुक् हो । मागधो राजा तत्पुत्रो वा । यहां मगध-शब्द से तद्राज-सञ्ज्ञक अण् और अणन्त से इञ् का लुक् होता है ॥ ५९ ॥

इञः प्राचाम्[8] ॥ ६० ॥

इञः । ६ । १ । प्राचाम् । ६ । ३ । प्राचां = पूर्वदेशनिवासिनां मते ये गोत्रवाचिन इञन्ताः शब्दाः, तेभ्यो यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति । पन्नागारस्य गोत्रापत्यं पान्नागारिः । पान्नागारेर्युवापत्यम् । पान्नागारिः पिता पुत्रो वा । युवापत्ये फक्, तस्य लुक् ॥

'प्राचाम्' इति किम् । दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः । अत्र फको लुङ् न भवति ॥ ६० ॥

['प्राचाम्'] पूर्व देश वासियों के मत में गोत्रवाची जो ['इञः'] इञ्-प्रत्ययान्त

---

१. चन्द्र-बोटलिङ्कौ न पठतः ॥

२. न्यासे—"भौलिंगि-शब्दः शाल्वावयव इञन्तः।"

३. चन्द्र-जयादित्यौ न पठतः ॥

४. चन्द्र-जयादित्यौ न पठतः ॥
वर्धमान-बोटलिङ्कौ—औदन्वि ॥

५. चन्द्रः—औज्जिहायनि ॥
गणरत्ने (३।१७०)—"कश्चिद् 'औज्जहानिः' इति मन्यते ।"

६. बोटलिङ्कः—"औदशुद्धि (औदबुद्धि K.)"
गणरत्ने—"उदकशुद्धस्यापत्यं = औदकशुद्धिः । औदशुद्धिरिति भोजः ।" (३ । १७०)
चन्द्र-जयादित्यौ २५–२८ इत्येतान् शब्दान्न पठतः ॥
बोटलिङ्कस्तु २६–२८ इत्येतान् शब्दानपठित्वा गणान्ते—" K. ausserdem: देवि (!), सौमनि, ऊहमानि (sic), राणायनि. Ist ein आकृतिगण."

७. चन्द्रः—"जनपदनाम्नः क्षत्रियादणः ।"

८. चा० श०—"प्राच्यादिभ्योऽतौल्वलिभ्यः ॥" (२ । ४ । १२२)

प्रातिपदिक हैं, उन से युवा में विहित प्रत्यय का लुक् हो जावे। पान्नागारिः पिता पुत्रो वा। यहां पन्नागार-शब्द से गोत्र में इञ् और इञ्-प्रत्ययान्त से युवा में फक्-प्रत्यय का लुक् होता है॥

'प्राचां' ग्रहण इसलिये है कि 'दाक्षिः पिता। दाक्षायणः पुत्रः' यहां युवा में फक् का लुक् न हो॥ ६०॥

न तौल्वलिभ्यः[1] ॥ ६१ ॥

पूर्वसूत्रेण प्राप्तो लुक् प्रतिषिध्यते। न। [अ०।] तौल्वलिभ्यः। ५। ३। बहुवचननिर्देशात् तौल्वल्यादिभ्य इति विज्ञायते। तौल्वल्यादिभ्यो गणपठितेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुङ् न भवति। तौल्वलिः पिता। तौल्वलायनः पुत्रः। सर्वे तौल्वल्यादय इञन्ताः, तेभ्यः फको लुक् प्राप्तः, स न भवति॥

अथ तौल्वल्यादिगणः—[१] तौल्वलि[2] [२] धारणि [३] पारणि[3] [४] रावणि [५] दैलीपि[4] [६] दैवलि [७] दैवति[5] [८] दैवमति[6] [९] वार्कलि [१०] नैवाकि [११] दैवमित्रि [१२] दैवयज्ञि [१३] चाफट्टकि[7] [१४] बैल्वकि[8] [१५] वैङ्कि[9] [१६] आनुहारति [१७] पौष्करसादि [१८] प्रावाहणि[10] [१९] मान्धाताकि [२०] श्वाफल्कि[11] [२१] आनुमति [२२] आनुरोहति [२३] आनुति [२४]

---

१. चा० श०—"प्राच्यादिञोऽतौल्वलिभ्यः॥" (२। ४। १२२)

२. तुल उपमाने। औणादिको वलच्। तुल्वलो नामर्षिः॥
गणरत्ने—"तैल्वलिरित्यन्यः॥" (३। १७१)
चान्द्रवृत्तौ "तौल्वलि, धारणि, रावणि, रातचत्रि, दैवदत्ति, दैवति, दैवमति, दैवयज्ञि, प्रादोहनि, आनुराहति, आसुरि, आहिंसि, आसिबन्धकि, वैङ्कि, पौष्पि, पौष्करसादि, वैरकि, वैहरि, बैलकि, कारेणुपालि" इत्येते २० शब्दा इति क्रमश्च॥

३. जयादित्यः—" रावणि। पारणि।"

४. गणरत्ने—"दिलीपस्यापत्यं दालीपिः। अपरे 'दलीप' इति प्रकृत्यन्तरमाहुः। चन्द्रादयस्तु 'दैलीपिः' इत्याहुः।" (३। १७३)
शब्दकौस्तुभे—दैवलिपि॥

५. जयादित्य-भट्टोजिदीक्षितौ न पठतः॥

बोटलिङ्कश्च—"दैवति (दैवलि K.), वार्कलि, नैवकि (नैवति), दैवमति (दैवमित्रि)"
गणरत्ने—"दैवोतिरिति शाकटायनः।"(३।१७१)

६. शब्दकौस्तुभे ४, ६, ८–१०, २२–३० इत्येते शब्दा न सन्ति, काशिकायां च ६–११, १३–१७, २२–३० इत्येते॥

७. शब्दकौस्तुभे "चापट्टिक" इति, अतः पूर्वं च—प्राणेहति॥
गणरत्ने—"चफट्टक-शब्दोऽनुकरणम्। तदुच्चारणात् पुरुषोऽपि चफट्टकः।" (३। १७३)

८. भट्टोजिः १४–१६ इत्येतेषां शब्दानां स्थाने "आनराहनि" इत्येकं शब्दं पठति॥

९. बोटलिङ्कः—"वैङ्कि (वैकि, बैकि K.), आनुराहति (आनुहारति K.)"

१०. बोटलिंकः १८–२१ शब्दान् न पठति॥

११. काशिकायामतः पूर्वं—आनुहारति॥

प्रादोहनि [२५] नैमिश्रि[1] [२६] प्राडाहति[1] [२७] बान्धकि [२८] वैशीति [२६] आशि[2] [३०] नाशि[2] [३१] आहिंसि [३२] आसुरि [३३] आयुधि[3] [३४] नैमिषि[4] [३५] आसिबन्धकि[5] [३६] पौष्यि[6] [३७] कारेणुपालि [३८] वैकर्णि[7] [३६] वैरकि [४०] वैलकि [४१] वैहति[8] [४२] कामलि[10] [४३] रान्धकि [४४] आसुराहति [४५] प्राणाहति [४६] पौष्कि [४७] कान्दकि [४८] दौषगति[11] [४६] आन्तराहति ॥ इति तौल्वल्यादिगणः ॥ ६१ ॥

पूर्व सूत्र से जो लुक् प्राप्त है, उस का निषेध करने वाला यह सूत्र है। ['तौल्वलिभ्यः'] तौल्वलि आदि गणशब्दों से परे युवापत्य में जो प्रत्यय, उस का लुक् ['न'] न हो। तौल्वलिः पिता। तौल्वलायनः पुत्रः। यहां युवापत्य में फक्-प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ ॥

तौल्वलि आदि सब शब्द पूर्व लिख दिये। वे सब इञ्-प्रत्ययान्त हैं। उन से फक्-प्रत्यय का लुक् पाता है। उस का निषेध है ॥ ६१ ॥

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्[12] ॥ ६२ ॥

तद्राजस्य। ६। १। बहुषु। ७। ३। तेन। ३। १। एव। [अ०।] अस्त्रियाम्। ७। १। तेनैव कृते=तद्राज-सञ्ज्ञकेन प्रत्ययेनैव कृते बहुवचने तद्राज-सञ्ज्ञकप्रत्ययस्य स्त्रीलिङ्गं विहाय लुग् भवति। अङ्गानां राजानः=

---

१. गणरत्ने—"निश्चयेन मिश्रः=निमिश्रः। तस्यापत्यम्। पृच्छन्त्याहन्ति च प्राडाहतः। तस्यापत्यम्। 'प्राटाहतिः' इत्यपि वामनः॥" (३।१७३)

२. बोटलिङ्कोऽत्र "आसिनासि" इत्येकं शब्दं पठति॥ गणरत्ने—"असिरिव नासाऽस्येति=असिनासः। तस्यापत्यम्।" (३। १७२)

३. बोटलिङ्कीये गणपाठे नास्ति॥ [(३। १७१)

४. गणरत्ने—" 'नैमिशिः' इति शाकटायनः॥"

५. गणरत्ने (३। १७२)—"असिना युक्तो बन्धः=असिबन्धः। असिबन्ध एव असिबन्धकः। तस्यापत्यम्।"

अतः परं जयादित्यः—"वैकि। पौष्करसादि। वैरकि। वैलकि। वैहति। वैकर्णि। कारेणुपालि। कामलि।"

अतः परं शब्दकौस्तुभे—"वैकि। पौष्कि। पौष्करसादि। आनुहरति। पौष्यि। वैरकि वैहति। वैकर्णि। कामलि। कारेणुपाली" इति। गणश्च समाप्तः॥

६. बोटलिङ्कः—"पौष्पि (पौष्कि K.)"

७. गणरत्ने—"विभूषितौ कर्णौ यस्य, विकर्णः। तस्यापत्यम्।" (३। १७२)

८. गणरत्ने—" 'वैणकिः' इति शाकटायनः।" (३। १७१) बोटलिङ्कपाठे नास्ति॥

६. अतः परं बोटलिङ्कः—"K. ausserdem: प्रावाहणि..."

१०. केषुचित् काशिकाकोशेष्वत्र गणः समाप्तः॥

११. काशिकायाम्—दौषकगति॥

१२. चा० श०—"यञञोर्बहुष्वस्त्रियाम्॥" (२। ४। १०७)

अङ्गाः । वङ्गानां राजानः = वङ्गाः । मगधाः । कलिङ्गाः । अत्र 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् ... द्व्यञ्मगध-कलिङ्गसूरमसादण्[1] ॥' इति तत्कृतबहुवचने तद्राज-सञ्ज्ञकस्याणो लुक् ॥

'तद्राजस्य' इति किम् । औपगवाः । कापटवाः ॥

'बहुषु' इति किम् । आङ्गः । वाङ्गः । मागधः ॥

'तेनैव' इति किम् । प्रियो वाङ्गो येषां, त इमे प्रियवाङ्गाः । अत्र बहुव्रीहा-वन्यपदार्थकृतं बहुवचनम् ॥

'अस्त्रियाम्' इति किम् । आङ्ग्यः स्त्रियः । मागध्यः स्त्रियः । अत्र लुङ् न भवेत् ॥ ६२ ॥

['तेनैव'] तद्राज-सञ्ज्ञक से किये हुए ['बहुषु'] बहुवचन में वर्त्तमान ['तद्राजस्य'] तद्राज-सञ्ज्ञक जो प्रत्यय, उस का लुक् हो, ['अस्त्रियाम्'] स्त्रीलिङ्ग को छोड़के । अङ्गानां राजानः = अङ्गाः । वङ्गाः । मगधाः । यहां तद्राज-सञ्ज्ञक अण्-प्रत्यय होता है । उस का बहुवचन में लुक् हो गया ॥

तद्राज-ग्रहण इसलिये है कि 'औपगवाः' यहां लुक् न हो ॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'आङ्गः । वाङ्गः' यहां एकवचन में [लुक्] न हो ॥

'तेनैव' ग्रहण इसलिये है कि 'प्रियवाङ्गाः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ का बहुवचन है, इससे लुक् न हुआ ॥

और 'अस्त्रियां' ग्रहण इसलिये है कि 'मागध्यः स्त्रियः' यहां बहुवचन में तद्राज प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ ॥ ६२ ॥

यस्कादिभ्यो गोत्रे[2] ॥ ६३ ॥

'बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति सर्वमनुवर्त्तते । यस्कादिभ्यः । ५ । ३ । गोत्रे । ७ । १ । गणपठितेभ्यो यस्कादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः परो गोत्रे वर्त्तमानो यः प्रत्ययः, तस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति स्त्रीलिङ्गं विहाय । यस्काः । दुह्याः । अत्र शिवादित्वादण् । तस्य बहुवचने लुक् ॥

'बहुषु' इति किम् । यास्कः ॥

'तेनैव' इति किम् । प्रिययास्काः ॥

'अस्त्रियाम्' इति किम् । यास्क्यः स्त्रियः । अत्राण्-प्रत्ययस्य लुङ् न भवेत् ॥

अथ यस्कादिगणः—[१] यस्क[3] [२] शिव[4] [३] लभ्य[5] [४] दुह्य[5] [५]

---

१. ४ । १ । १७० ॥

२. चा० श०—"यस्कादिभ्यः ॥" (२।४।११०)

३. गणरत्ने (१ । २५)—"यच्छति = निगृह्णाति पापमिति ॥"

४. अन्यत्र कचिन्न लभ्यते ॥

५. चान्द्रवृत्ति-म०कौ०टीका-शब्दकौस्तुभादिषु — [लह्य । दुह्य ॥

अयःस्थूण[1] [६] तृणकर्ण[1] [७] कर्णाटक[2] [८] पर्णाडक[3] [९] सदामत्त [१०] कम्बलहार[4] [११] कम्बलभार[5] [१२] बहिर्योग[6] [१३] पिण्डीजङ्घ [१४] पकसक्थ[7] [१५] विश्रि[8] [१६] कद्रु[9] [१७] बस्ति[10] [१८] कुद्रि[11] [१९] अजबस्ति [२०] गृष्टि[12] [२१] मित्रयु[13] [२२] रक्षोमुख[14] [२३] रक्षामुख[15] [२४] जङ्घारथ[16] [२५] मन्थक[17] [२६] उत्कास [२७] कटुक[18] [२८] कटुकमन्थक[19] [२९] पुष्करसत्[20]

---

१. चान्द्रवृत्ति-प्र०कौ०टीकयोः—अयस्थूण ॥
१–६ शब्दाः शिवादिषु पठ्यन्ते । तेभ्योऽण् ॥

२. पाठान्तरम्—कर्णाढक ॥
चान्द्रवृत्तावत्र—कलन्दन ॥ [शब्दः ॥
चान्द्रवृत्त्यादिषु "बहिर्योग" इत्येतदुत्तरं कर्णाटक-

३. चान्द्रवृत्त्यादिषु नास्ति ॥
बोटलिङ्कश्च "पिण्डीजङ्घ" इत्यतः पूर्वं "पर्णाढक" इति पठति ॥
गणरत्ने—"पर्णस्याढकं यस्य सः ।" (१ । २६)

४. काशिका-शब्दकौस्तुभयोर्नास्ति ॥

५. चान्द्रवृत्ति-प्र०कौ०टीकयोर्नास्ति ॥ [मन्यते ॥
बोटलिङ्कस्त्वेतं "कम्बलहार" इत्यस्य पाठान्तरं

६. काशिका-प्र०कौ०टीका-शब्दकौस्तुभेषु— अहियोंग ॥ [द्रेफः ।" (१ । २६)
गणरत्ने—"अहिना योगो यस्येति । गणपाठा-

७. ७–१४ शब्देभ्य इञ् ॥
चान्द्रवृत्तावन्येऽपि रक्षोमुखादयो वर्षकान्ताः शब्दा अत उत्तरं पठिताः । तेभ्य इञ्-प्रत्ययस्य विहितत्वात् ॥

८. काशिका-शब्दकौस्तुभयोर्नास्ति ॥
प्र०कौ०टीकायाम—वसि ॥

९. चान्द्रवृत्ति-काशिका-प्र० कौ०टीका-शब्दकौस्तुभादिषु नास्ति ॥

१०. काशिकायामेवैष शब्द दृश्यते नान्यत्र ॥
शब्दकौस्तुभे तु—विस्ति ॥

११. प्र०कौ०टीकायाम्—कुडि ॥

१२. अन्यत्र नास्ति ॥

१३. १५–२१ शब्देभ्यो "गृष्ट्यादिभ्यश्च ॥" (४।१।१३६) इति ढञ् ॥ [यातीति मित्रयुः ।"
भगवद्दयानन्दः (उणा० १ । ३७)—"मित्रान्

१४. काशिकायां नास्ति ॥
प्र०कौ०टीकायां—रज्जोमुख ॥

१५. काशिकां विहायान्यत्र नास्ति ॥

१६. गणरत्ने (१ । २५)—"अन्ये 'जङ्घे एव रथो यस्य स जङ्घेरथः । निपातनात् सुपः श्लुगभावः । तस्य जङ्घेरथाः' इत्याहुः ।" [स्ति ॥

१७. चान्द्रवृत्ति-प्र०कौ०टीका-बोटलिङ्कपाठेषु ना-

१८. काशिकायां नास्ति ॥

१९. चान्द्रवृत्ति-बोटलिकपाठयोः—मन्थक ॥
गणरत्ने—"कटु मथ्नातीति कटुमन्थः । अपरे 'कटुकमन्थ' इत्याहुः । अन्यस्तु 'कटुक, मन्थक' इति पृथक् शब्दद्वयमिदमित्याह ।" (१ । २६)
प्र०कौ०टीकायाम्—मन्थर ॥
शब्दकौस्तुभे नास्ति ॥

२०. चान्द्रवृत्तौ "वर्षक" इत्येतदुत्तरं पठ्यते ॥
जिनेन्द्रबुद्धिः—"पुष्करसच्छब्दोऽप्यत्र पठ्यते । स किमर्थः । यावता 'बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु ॥' [२ । ४ । ६६] इत्येवं सिध्यति । न सिध्यति । 'न गोपवनादिभ्यः ॥' [२ । ४ । ६७] इति प्रतिषेधः प्राप्नोति । गोपवनादिषु हि कैश्चित् तौल्वल्यादयश्चेति पठ्यते । तौल्वल्यादिषु पुष्करसच्छब्दः पठ्यते । तौल्वल्यादीनां च गोपवनादिषु पाठोऽस्तीत्ययमेव यस्कादिषु पुष्करसच्छब्दपाठो ज्ञापयति ॥"

[३०] विषपुट[1] [३१] उपरिमेखल[2] [३२] क्रोष्टुमान[3] [३३] क्रोष्टुपाद [३४] क्रोष्टुमाय[4] [३५] शीर्षमाय[5] [३६] खरप[6] [३७] पदक [३८] वर्षुक[7] [३९] वर्मक[8] [४०] भ[ल]न्दन[9] [४१] भडिल[10] [४२] भण्डिल[11] [४३] भडित [४४] भण्डित ॥[12] इति यस्कादिगणः ॥ ६३ ॥

['यस्कादिभ्यः'] गण में पढ़े हुए यस्कादि शब्दों से पर ['गोत्रे'] गोत्र में जो प्रत्यय, उस का तत्कृत बहुवचन में लोप हो जावे, स्त्रीलिङ्ग को छोड़के । यस्काः । लभ्याः । यहां यस्क- और लभ्य-शब्द के शिवादिगण में होने से अण्-प्रत्यय हुआ । उस का बहुवचन में लुक् हो गया ॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'यास्कः' यहां न हो ॥

तत्कृत-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रिययास्काः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्यपदार्थ से बहुवचन में लुक् न हो ॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि 'यास्क्यः स्त्रियः' यहां भी बहुवचन में प्रत्यय का लुक् न हो ॥

यस्कादिगण पूर्व संस्कृत में सब क्रम से लिख दिया है ॥ ६३ ॥

यञञोश्च[13] ॥ ६४ ॥

---

१. प्र०कौ०टीकायाम्—द्विषपुट् ॥
शब्दकौस्तुभे—विषपद ॥
गणरत्ने—"विषं पुटौ [पुटयोः=] ओष्ठयोर्यस्य, स विषपुटः=दुर्भाषी।"(१।२५) [(१।२५)
२. गणरत्ने—"उपरि=ग्रीवायां मेखला यस्य।"
३. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥
गणरत्ने—"क्रोष्टमानमिव मानं यस्य स क्रोष्टमान इति केचित्।" (१।२७)
४. चान्द्रवृत्ति-काशिकयोर्नास्ति ॥
प्र०कौ०टीकायां "क्रोष्टुमान" इत्यतः पूर्वम् ॥
५. गणरत्ने—"शीर्षं मिनाति शीर्षमायः।"(१।२५)
२२—३५ शब्देभ्य इञ् ॥
६. चान्द्रवृत्तौ "मित्रयु" इत्येतदुत्तरं पठ्यते ॥
प्र०कौ०टीकायाम्—खलयव ॥
शब्दकौस्तुभे—खरपाद ॥
नडादित्वात् फक् ॥
गणरत्ने—"खरान् पातीति।" (१।२५)
७. चान्द्रवृत्तौ—वर्षक ॥
काशिकायां नास्ति ॥ ["क्रमक" इति ॥
शब्दकौस्तुभे "वर्षुक, वर्मक" इत्येतयोः स्थाने
८. चान्द्रवृत्ति-प्र०कौ०टीकयोर्नास्ति ॥
बोटलिङ्कस्त्वेतं "वर्षुक" इत्येतस्य पाठान्तरं मन्यते॥
वर्धमानः—वर्ष्मक ॥ (१।२६)
३७—३९ शब्देभ्य इञ् ॥
९. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥
गणरत्ने—" 'कलन्दन' इति भोजः।"(१।२५)
शिवादित्वादण् ॥
१०. प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥ [भण्डिक ॥"
११. प्र०कौ० टीकायाम्—"भण्डिल । भण्डित ।
शब्दकौस्तुभे—"भडिक । भडिव । भण्डित ॥"
४१—४४ शब्देभ्योऽश्वादित्वात् फञ् ॥
१२. गणरत्ने "वशिष्ठ, कुत्स, अत्रि, आङ्गिरस्, भृगु, वशीक, मिच्छक, पटाक, गोतम, कुश, कषक, स्वगल" इत्यादिशब्दा अधिकाः ॥ (१।२५—२७)
१३. चा० श०—"यञञोर्बहुष्वस्त्रियाम् ॥"
(२।४।१०७)

['यस्कादिभ्यः'] गण में पढ़े हुए यस्कादि शब्दों से पर ['गोत्रे'] गोत्र में जो प्रत्यय, उस का तत्कृत बहुवचन में लोप हो जावे, स्त्रीलिङ्ग को छोड़ के। यस्काः। लभ्याः। यहां यस्क-और लभ्य-शब्द के शिवादिगण में होने से अण्-प्रत्यय हुआ। उस का बहुवचन में लुक् हो गया॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'यास्कः' यहां न हो॥

तत्कृत ग्रहण इसलिये है कि 'प्रिययास्काः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ से बहुवचन में लुक् न हो॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि 'यास्क्यः स्त्रियः' यहां भी बहुवचन में प्रत्यय का लुक् न हो॥

यस्कादिगण पूर्व संस्कृत में सब क्रम से लिख दिया है॥ ६३॥

यञञोश्च[1] ॥ ६४॥

'बहुषु तेनैवास्त्रियां, गोत्रे' इति चानुवर्त्तते। यञ्-अञोः। ६। २। च। [अ०।] यञ्-प्रत्ययस्य अञ्-प्रत्ययस्य च गोत्रे विहितस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति स्त्रीलिङ्गं त्यक्त्वा। 'गर्गादिभ्यो यञ्[2]॥' गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। गार्ग्यौ। बहुवचने—गर्गाः। 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्[3]॥' बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः। बैदौ। बहुवचने—बिदाः। अत्र बहुवचनेऽपत्यार्थस्तु भवति प्रत्ययस्यैव लुक्॥

'बहुषु' इति किम्। गार्ग्यः। बैदः॥

'तेनैव' इति किम्। प्रियगार्ग्याः॥

'अस्त्रियाम्' इति किम्। गार्ग्यः स्त्रियः। बैद्यः स्त्रियः। अत्र लुङ् न भवेत्॥

वा०—*यञादीनामेकद्वयोर्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसङ्ख्यानम्॥*[4] १॥

एकवचनेन द्विवचनेन च षष्ठीतत्पुरुषसमासे विकल्पेन यञादीनां लुग् भवेदिति वार्त्तिकार्थः॥

गार्ग्यस्य कुलं=गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा। गार्ग्ययोः कुलं=गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा। बैदस्य कुलं=बैदकुलं बिदकुलं वा। बैदयोः कुलं=बैदकुलं बिदकुलं वा॥

'यञादीनाम्' इति किमर्थम्। आङ्गस्य कुलं=आङ्गकुलम्। आङ्गयोः कुलं=आङ्गकुलम्[5]॥

'एकद्वयोः' इति किमर्थम्। गर्गाणां कुलं=गर्गकुलम्॥

'तत्पुरुषे' इति किमर्थम्। गार्ग्यस्य समीपं=उपगार्ग्यम्[6]॥

---

१. न्या० शा०—"यञञोर्बहुष्वस्त्रियाम्॥" (२। ४। १०७)
२. ४। १। १०५॥ ३. ४। १। १०४॥
४. अ० २। पा० ४। आ० २॥
५. २। ४। ६२॥ ६. २। १। ६॥

अत्राव्ययीभावसमासे लुङ् न भवति ॥

'षष्ठ्याः' इति किमर्थम् । शोभनगार्ग्यः ॥'

अत्र कर्मधारयसमासेऽपि यञ्-प्रत्ययस्य लुङ् न भवेत् ॥ १ ॥ ६४ ॥

गोत्र में विहित ['यञ्-अञोः'] यञ्-और अञ्-प्रत्यय का तत्कृत बहुवचन में लुक् हो स्त्रीलिङ्ग को छोड़ के । गर्गाः । यहां बहुवचन में यञ्-प्रत्यय का लुक् हुआ । और 'बिदाः' यहां अञ्-प्रत्यय का लुक् हुआ है । परन्तु प्रत्यय का अर्थ जो अपत्य है, वह तो बना ही रहता है ॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'गार्ग्यः । बैदः' यहां एकवचन में न हो ॥

तत्कृत-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रियगार्ग्याः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ कृत बहुवचन में न हो ॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि 'गार्ग्यः स्त्रियः' यहां भी लुक् न हो ॥

'यञादीनामेकद्वयोर्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसङ्ख्यानम् ॥' एकवचन द्विवचन के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास होने में गोत्र में विहित यञ् आदि प्रत्ययों का विकल्प करके लुक् हो । गार्ग्यस्य कुलं=गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा । यहां एकवचनान्त गार्ग्य शब्द का कुल शब्द के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास होके यञ्-प्रत्यय का विकल्प करके लुक् । बैदस्य कुलं=बैदकुलं बिदकुलं वा । और यहां एकवचनान्त बैद-शब्द का उक्त प्रकार समास होके अञ् प्रत्यय का विकल्प करके लुक् होता है । तथा 'गार्ग्ययोः कुलं=गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा' यहां द्विवचनान्त गार्ग्य-शब्द का कुल के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास में यञ्-प्रत्यय का विकल्प करके लुक् हुआ है ॥

इस वार्त्तिक में यञादि-ग्रहण इसलिये है कि 'आङ्गस्य कुलं=आङ्गकुलम्' यहां तद्राज-सञ्ज्ञक का षष्ठी तत्पुरुष समास में लुक् न हो ॥

एकवचन द्विवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'गर्गाणां कुलं=गर्गकुलम्' यहां विकल्प करके लुक् न हो ॥

तत्पुरुष-ग्रहण इसलिये है कि गार्ग्यस्य समीपं=उपगार्ग्यम्' यहां अव्ययीभाव समास में न हो ॥

और षष्ठी ग्रहण इसलिये है कि 'शोभनगार्ग्यः' यहां समानाधिकरण तत्पुरुष में भी यञ्-प्रत्यय का लुक् न हो ॥

यह वार्त्तिक अपूर्व अर्थात् सूत्र से जो कार्य नहीं पाता था, उस का विधान करने वाला है ॥ ६४ ॥

अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च ॥[२] ६५ ॥

'बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति, 'गोत्रे' इति चानुवर्त्तते । अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतम-अङ्गिरोभ्यः । ५ । ३ । च । [अ० ।] 'अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरस्' इत्येतेभ्यः

---

१. अ० २ । पा० ४ । आ० २ ॥

२. चा० श०—"अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठाङ्गिरोगोतमात् ॥" (२ । ४ । १११)

शब्देभ्यो गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति, स्त्रीलिङ्गं वर्जयित्वा । अत्रि-शब्दाद् **'इतश्चानिञः'**[1] इति सूत्रेण गोत्रे ढक् । भृग्वादिभ्य ऋषिवाचित्वाद् **'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च'**[2] इति सूत्रेणाण् । अत्रेरपत्यम्=आत्रेयः । आत्रेयौ । बहुवचने—अत्रयः । भार्गवः, भार्गवौ, भृगवः । कौत्सः, कौत्सौ, कुत्साः । वासिष्ठः, वासिष्ठौ, वसिष्ठाः । गौतमः, गौतमौ, गोतमाः । आङ्गिरसः, आङ्गिरसौ, अङ्गिरसः । अत्रि-शब्दाद् गोत्रे विहितस्य बहुवचने ढको लुक् । इतरेभ्यश्चाणः ॥

'बहुषु' इति किम् । आत्रेयः । भार्गवः ॥

'तेनैव' इति किम् । प्रियभार्गवाः ॥

'अस्त्रियाम्' इति किम् । भार्गव्यः स्त्रियः । अत्र सर्वत्र लुङ् न भवति ॥ ६५ ॥

[**'अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतम-अङ्गिरोभ्यः'**] अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरस्, इन शब्दों से पर गोत्र में विहित जो प्रत्यय, उस का तत्कृतबहुवचन में लुक् हो, स्त्रीलिङ्ग को छोड़ के । **अत्रयः** । अत्रि-शब्द से गोत्र [में] ढक्-प्रत्यय होता है । उस का यहां बहुवचन में लुक् हो गया । **भृगवः** । **कुत्साः** । **वसिष्ठाः** । **गोतमाः** । **अङ्गिरसः** । यहां भृगु आदि शब्दों से ऋषिवाची के होने से अण्-प्रत्यय हुआ । उस का बहुवचन में लुक् हो गया ॥

बहुवचन ग्रहण इसलिये है कि **'आत्रेयः । भार्गवः'** यहां एकवचन में न हो ॥

तत्कृत-ग्रहण इसलिये है कि **'प्रियभार्गवाः'** यहां बहुव्रीहि समास से बहुवचन में लुक् न हो ॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि **'भार्गव्यः स्त्रियः'** यहां बहुवचन में स्त्रीलिङ्ग के होने से अण्-प्रत्यय का लुक् नहीं होता है ॥ ६५ ॥

बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु[3] ॥ ६६ ॥

'गोत्रे' इत्यनुवर्त्तते । बह्वचः । ५ । १ । इञः । ६ । १ । प्राच्यभरतेषु । ७ । ३ । प्राच्याश्च भरताश्चेति समुच्चयद्वन्द्वः । बह्वचः प्रातिपदिकाद् गोत्रे विहितस्य इञ्-प्रत्ययस्य प्राच्य-भरतेषु तत्कृतबहुवचने लुग् भवति, स्त्रीलिङ्गं वर्जयित्वा । प्राक्षु भवाः=प्राच्याः—पन्नागारस्या-पत्यं=पान्नागारिः । पान्नागारी । बहुषु—पन्नागाराः । [पन्नागाराः] प्राच्याः । भरताः=भरतकुले जाताः=युधिष्ठिरस्यापत्यं=यौधिष्ठिरिः । यौधिष्ठिरी । बहुवचने—युधिष्ठिराः । अर्जुनाः । युधिष्ठिरा-र्जुन-शब्दौ बाह्वादिषु पठ्येते । तत इञ् । तस्य लुक् । पन्नागार-शब्दाददन्तत्वादेवेञ्[4], तस्य लुक् ॥

'बह्वचः' इति किम् । पौष्ययः । अत्र बहुवचने लुङ् न भवति ॥

'प्राच्यभरतेषु' इति किम् । औपवाहवयः ॥

---

१. ४ । १ । १२२ ॥ २. ४ । १ । ११४ ॥
३. चा० श०—"बह्वचः प्राच्यादिञः ॥" (२ । ४ । ११३)
४. ४ । १ । ९५ ॥

भरताः प्राच्येष्वेव भवन्ति, पुनर्भरत-ग्रहणं ज्ञापकार्थम् । अन्यत्र प्राग्-ग्रहणे भरत-ग्रहणं न भवतीति ज्ञापयत्याचार्यः । तेन 'इञः प्राचाम्'[1] ॥' इति लुगुक्तं, तत्र औद्दालकिः कश्चिद्द भरतगोत्रः, तस्मात् 'औद्दालकिः पिता, औद्दालकायनः पुत्रः' इति यूनि विहितस्य फको लुङ् न भवति ॥ ६६ ॥

['बह्वचः'] बह्वच् प्रातिपदिक से पर गोत्र अर्थ में विहित जो ['इञः'] इञ्-प्रत्यय उस का, ['प्राच्यभरतेषु'] प्राच्य और भरत वाच्य हों, तो तत्कृत बहुवचन में लुक् हो, स्त्रीलिङ्ग को छोड़ के । प्राच्य—पन्नागाराः प्राच्याः । यहां पन्नागार-शब्द अदन्त है । उस से इञ्-प्रत्यय का लुक् । भरत—युधिष्ठिराः । अर्जुनाः । यहां युधिष्ठिर-और अर्जुन-शब्द से इञ्-प्रत्यय का लुक् होता है ॥

बह्वच्-ग्रहण इसलिये है कि 'पौष्ययः' यहां लुक् न हो ॥

प्राच्य-भरत-ग्रहण इसलिये है कि 'औपवाहवयः' यहां भी बहुवचन में लुक् न हो ॥

भरत जो हैं, वे प्राच्यों में गणे जाते हैं, फिर भरत-ग्रहण ज्ञापक के लिये है । उस से यह जाना जाता है कि अन्यत्र प्राग-ग्रहण में भरत का ग्रहण नहीं होता । जैसे औद्दालकि-शब्द प्राच्यभरत है, उस से 'औद्दालकिः पिता, औद्दालकायनः पुत्रः' यहां युवा में विहित फक् प्रत्यय का लुक् 'इञः प्राचाम्' ॥' इस सूत्र से पाता था, सो न हुआ ॥ ६६ ॥

न गोपवनादिभ्यः[2] ॥ ६७ ॥

न । [अ० ।] गोपवनादिभ्यः । ५ । ३ । विदाद्यन्तर्गणो हरित-शब्दात् पूर्वं गोपवनादिः, तत्र गोपवनादीनामञ्-प्रत्ययान्तत्वाद्द 'यञञोश्च[3] ॥' इति गोत्रे लुक् प्राप्तः । तस्यायं प्रतिषेधः । गोपवनादिभ्यः परस्य गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुङ् न भवति । गोपवनस्यापत्यं= गौपवनाः । शैग्रवाः ॥

अथ गोपवनादिः—[१] गोपवन [२] शिग्रु[4] [३] बिन्दु [४] भाजन [५] अश्व[5] [६] अवतान[5] [७] श्यामाक[6] [८] श्यामक[7] [९] श्यावाक[8] [१०] श्वापर्ण [११] श्यापर्ण[9] ॥ इति[10] गोपवनादिगण ॥ ६७ ॥

---

१. २ । ४ । ६० ॥

२. चा० श०—"न गोपवनादिभ्योऽष्टभ्यः ॥" (२ । ४ । ११६)

३. २ । ४ । ६४ ॥

४. गणरत्ने—"शिग्रुरिव शिग्रुः निस्सारः कश्चित् । वामनमते शिग्रुः प्रत्याहारः ॥" (१ । ३५)

५. वर्धमान-बोटलिङ्कौ—अश्वावतान ॥ गणरत्ने (१ । ३५)—"अश्वानवतनोति ।"

६. गणरत्ने (१ । ३५)—"श्यामा लताः कायति=श्यामाकः ।"

७. गणरत्ने (१ । ३५)—"श्यामं करोतीति श्यामकः । श्यावक इत्यन्ये ।"
काशिकायां ८, ६, ११ शब्दा न सन्ति ॥

८. बोटलिङ्कः ६, १० शब्दौ न पठति ॥

६. गणरत्ने (१ । ३५)—"श्यामानि पर्णानि अस्य । अत एव निपातनात् म-लोपः ।"

१०. गणरत्ने (१ । ३५) सम्बक-शब्दोऽपि दृश्यते ॥ अपि च दृश्यन्तां बिदादयः ॥
(४ । १ । १०४)

बिदादिगण के अन्तर्गत गोपवन-शब्द से लेके हरित-शब्द के पूर्व पूर्व गोपवनादि समझे जाते हैं। उन से अञ्-प्रत्यय होता है। उस के होने से 'यञञोश्च'[1] ॥' इस सूत्र से गोत्र में अञ् प्रत्यय का लुक् प्राप्त है। उस का निषेध इस सूत्र से किया है। ['गोपवनादिभ्यः'] गोपवनादिक शब्दों से पर गोत्र में जो प्रत्यय, उस का तत्कृतबहुवचन में लुक् ['न'] न हो। गौपवनाः। शैग्रवाः। यहां अञ्-प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ ॥

गोपवनादि शब्द पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिये हैं ॥ ६७ ॥

तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे[2] ॥ ६८ ॥

निषेधो नानुवर्त्तते। तिककितवादिभ्यः। ५। ३। द्वन्द्वे। ७। १। तिककितवादिभ्यः परस्य गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचनस्य द्वन्द्वसमासे लुग् भवति। तैकायनयश्च कैतवायनयश्च=तिककितवाः। 'तिकादिभ्यः फिञ्[3] ॥' तस्य लुक् ॥

अथ तिक[कितव]ादिगणः—[१] तिककितवाः [२] वङ्खर[4]भण्डीरथाः। वङ्खरभण्डीरथ-शब्दाभ्याम् 'अत इञ्[5] ॥' [इति इञ्।] तस्य लुक्। [३] उपकलमकाः[6]। नडादित्वात् फक्। तस्य लुक्। [४] पफकनरकाः[7] [५] बकनखश्वगुदपरिणद्धाः[8]। अत्रोभयत्र 'अत इञ्[5] ॥' तस्य लुक्। [६] उब्जककुभाः। अत्रोब्ज-शब्दाद्द 'अत इञ्[5] ॥' ककुभ-शब्दाच्छिवादित्वादण्। द्वन्द्वे तयोर्लुक्। [७] लङ्कशान्तमुखाः[9]। आभ्याम् 'अत इञ्[5] ॥' तस्य लुक्। [८] उरसलङ्कटाः[10]। उरस-शब्दात् तिकादित्वात् फिञ्। लङ्कट-शब्दाद्द 'अत इञ्[5] ॥' तयोर्लुक्। [९] कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः[11] [१०] भ्रष्टककपिष्ठलाः। अत्रोभयत्र 'अत इञ्[5] ॥' तस्य लुक्। [११] अग्निवेशदासेरकाः[12]। अग्निवेश-शब्दाद्द गर्गादित्वाद्द यञ्। दासेरक-शब्दाद्द 'अत इञ्[5] ॥' तयोर्लुक् ॥ इति[13] तिककितवादिगणः ॥ ६८ ॥

---

१. २ । ४ । ६४ ॥

२. चा० श०—"तिककितवादिभ्यश्चार्थैकार्थ्ये ॥" (२ । ४ । ११५)

३. ४ । १ । १५४ ॥

४. गणरत्ने—" 'वङ्कर' इत्यन्ये।" (१ । ३२)

५. ४ । १ । ९५ ॥

६. चान्द्रवृत्तौ "प्रह्वतकनरकाः, बकनखगुदपरिणद्धाः, लङ्कटशान्तमुखाः, उब्जककुभाः, उरसलङ्कटाः, अग्निवेशदशेरकाः, उपलमकाः, भ्रष्टककपिष्ठलाः, कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः" इति क्रमः ॥

७. गणरत्ने (१ । ३२)—"पफकः=विकत्थनः। अनुकरण इत्यन्ये। पफ करोतीति पफकः।"

८. वर्धमान-बोटलिङ्कौ—बकनखगुदपरिणद्धाः ॥

९. गणरत्ने (१ । ३२)—"शान्तनमुख इत्यन्ये।"

१०. गणरत्ने—औरसलङ्कटाः ॥ बोटलिङ्कः—उत्तरशलङ्कटाः ॥

११. काशिकायाम्—"भ्रष्टककपिष्ठलाः। कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः ॥"

१२. गणरत्ने—अग्निवेशदशेरकाः ॥ बोटलिङ्कः—अग्निवेशदशेरुकाः ॥

१३. गणरत्ने (१ । ३२—३४) "शण्डिलकशकुल्लाः, प्रहितनरकाः, दशेरकगाडेरकाः, कृष्णसुन्दराः, पृथोर्जककुभाः" इत्येते शब्दा अधिकाः पठ्यन्ते ॥

['तिककितवादिभ्यः'] तिककितवादि शब्दों से पर गोत्र में विधान जो प्रत्यय, उस का तत्कृतबहुवचन के ['द्वन्द्वे'] द्वन्द्व समास में लुक् हो। तिककितवाः। यहां गोत्र में विहित फिञ्-प्रत्यय का लुक् हुआ है। इसी प्रकार जिस तिककितवादि-शब्द से जो प्रत्यय गोत्र में होता है, उस का बहुवचन के द्वन्द्व समास में लुक् हो जाता है। सो पूर्व सब लिख दिया है॥ ६८॥

उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे[1] ॥ ६९ ॥

उपकादिभ्यः।५।३। अन्यतरस्याम्। [अ०।] अद्वन्द्वे।७।१। 'अद्वन्द्वे' इति द्वन्द्वाधिकारनिवृत्त्यर्थम्। न तु द्वन्द्वसमासे निषेधः। गणपठितेभ्य उपकादिशब्देभ्यः परस्य गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने विकल्पेन लुग् भवति द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च। कृतद्वन्द्वाश्रयः शब्दा[2]स्तिककितवादिषु पठिताः, तेभ्यो द्वन्द्वसमासे भवत्येव लुक्। अद्वन्द्वे विकल्पः। यद्यनेन द्वन्द्वे निषेधः स्यात्, तर्हि पूर्वेणापि द्वन्द्वसमासे उपकादिभ्यो लुङ् न स्यात्। उपकाः, औपकायनाः। लमकाः, लामकायनाः। उपक-लमक-शब्दाभ्यां विकल्पेन फको लुक्। एवमन्येषु यस्माद् यः प्रत्ययो भवति, तस्य विकल्पेनैव लुक्॥

अथोपकादिगणः—[१] उपक [२] लमक [३] भ्रष्टक [४] कपिष्ठल[3] [५] कृष्णाजिन [६] कृष्णसुन्दर[4] [७] चूडारक[5] [८] अण्डारक[6] [९] पण्डारक[7] [१०] गडुक [११] उदङ्क[8] [१२] सुधायुक [१३] अबन्धक[9] [१४] पिङ्गलक[10] [१५] पिष्ट[11] [१६] सुपर्यक[12] [१७] सुपिष्ट [१८] मयूरकर्ण [१९] खारीजङ्घ[13] [२०]

१. चा० श०—"उपकादिभ्यो वा॥" (२।४।११४)

२. उपकलमकाः। भ्रष्टककपिष्ठलाः। कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः॥

३. गणरत्ने (१।३०)—"कपीनां स्थलमिव स्थलमस्य।... केचित् 'कपिष्ठलाः। कापिष्ठलायनाः' नडादिफगन्तमुदाहरन्ति।"

४. चान्द्रवृत्तौ कृष्णाजिन-कृष्णसुन्दर-शब्दौ "दामकण्ठ" इत्यत उत्तरं पठितौ॥

५. चान्द्रवृत्तौ ७—९ शब्दानां स्थाने "वडारक" इति॥
काशिकायां चूडारक-शब्दः अनभिहित-शब्दादुत्तरं पठ्यते॥
गणरत्ने (१।२९)—" 'वडारक' इति भोजः 'भटारक' इति वामनः॥"

६. बोटलिङ्कः—आडारक॥ काशिकायां तु "पण्डारक। अण्डारक" इति क्रमः॥

७. बोटलिङ्को नैतं पठति॥

८. चान्द्रवृत्तौ ११—१४, १६, २०, २३, २७, ३०, ३९, इत्येते शब्दा न सन्ति॥
काशिकायां ११—१३ शब्दाः चूडारक-शब्दादुत्तरं पठिताः॥

९. जयादित्य-बोटलिङ्कौ—अबन्धक॥

१०. काशिकायां १४, १५ शब्दौ न स्तः॥
गणरत्ने (१।२९)—" 'पिङ्गलक' इति शाकटायनः॥"

११. चान्द्रवृत्तौ "सुपिष्ट। पिष्ट" इति क्रमः॥

१२. बोटलिङ्कस्त्वेतं "सुधायुक" इत्यस्य पाठान्तरं मन्यते॥

१३. बोटलिङ्कः—"खरीजङ्घ (खारि० K.)" गणरत्ने (१।२८)—"खरी जङ्घा यस्य।"

शलाबल[1] [२१] शलाथल[2] [२२] पतञ्जल[3] [२३] पदञ्जल[4] [२४] कठेरणि [२५] कुषीतक[5] [२६] काशकृत्स्न[6] [२७] निदाघ [२८] कलशीकण्ठ[7] [२९] दामकण्ठ [३०] कृष्णपिङ्गल [३१] कर्णक[8] [३२] जटिलक [३३] बधिरक[9] [३४] जन्तुक [३५] अनुलोम [३६] अनुपद[10] [३७] अर्द्धपिङ्गलक[11] [३८] प्रतिलोम[12] [३९] अपजग्ध[13] [४०] प्रतान [४१] अनभिहित[14] [४२] कमक [४३] वटारक[15] [४४] लेखाभ्र[16] [४५] कमन्दक [४६] पिञ्जूलक[17] [४७] वर्णक[18] [४८] मसूरकर्ण [४९] मदाघ [५०] कबन्तक [५१] कमन्तक[19] [५२] कदामत्त [५३] दामकण्ठ[20] ॥ इत्युपकादिगणः[21] ॥ ६९ ॥

---

१. बोटलिङ्कस्त्वेतं "शलाथल" इत्यस्य पाठान्तरं मन्यते ॥

२. काशिकायां नास्ति ॥
गणरत्ने—"शले स्थलमस्य। सकारलोपो दीर्घश्च निपातनात्। 'थलाथल' इत्यन्ये।" (१ । २६)

३. चान्द्रवृत्तौ—पतञ्जलि ॥
गणरत्ने—"पतञ्जलति घनीभवति=पतञ्जलः।" (१ । २८)

४. काशिकायां अवन्धक शब्दादुत्तरं "पदञ्जल" इति ॥

५. चान्द्रवृत्तौ—कुषीतकि ॥
गणरत्ने—"कुष्णाति भवबन्धनादात्मानमिति कुषीतको नाम मुनिः।" (१ । २८)

६. गणरत्ने (१ । ३०)—"कशाभिः कृन्तति। वामनस्तु 'कसकृत्स्न' इत्याह।"

७. चान्द्रवृत्तावतः प्राक्—कदामत्त ॥

८. चान्द्रवृत्ति-काशिका बोटलिङ्कपाठेष्वत उत्तरं—पर्णक ॥
गणरत्ने (१ । २८)—"पर्णान् करोतीति।"

९. गणरत्ने (१ । २८)—"भोजस्तु 'बधिरकाः। बाधिरकयः' इत्याह।"

१०. काशिकायां "पदञ्जल" इत्येतदुत्तरं "अनुपद। अपजग्ध" इति शब्दौ ॥

११. चान्द्रवृत्तौ—पिङ्गलक ॥ बोटलिङ्कपाठे नास्ति ॥

१२. गणरत्ने (१ । ३१)—"वामनस्तु···'अनुलोमानः, प्रतिलोमानः कुमाराः' इत्याह ॥"

१३. गणरत्ने (१ । ३१)—"भोजस्तु 'अपदग्ध' इत्याह ॥"

१४. चान्द्रवृत्तौ केषुचित् काशिकाकोशेषु चात्र गणः समाप्तः ॥
गणरत्ने (१ । ३०)—"केचित् 'अभिहित' इति।"

१५. काशिकायां नास्ति ॥ गणरत्ने (१ । २८)—"वटारको वैश्रवणभक्ताः।"

१६. गणरत्ने (१ । २८)—लेखाभ्रू ॥ १७. काशिकायाम्—पिञ्जल ॥

१८. काशिकायां नास्ति ॥

१९. कोशेऽत उत्तरं पुनरपि—कमन्दक ॥ काशिकायां ५०, ५१ शब्दौ न स्तः ॥

२०. कोशे—दामकण ॥

२१. गणरत्ने (१ । ३१) "खरी=रासभी, तां खनतीति विग्रहे खरीखा।" इत्यपि ॥

इस सूत्र में अद्वन्द्व-ग्रहण द्वन्द्वाधिकार की निवृत्ति के लिये है. किन्तु द्वन्द्व समास में लुक् का निषेध नहीं। गण में पढ़े हुए ['उपकादिभ्यः'] उपकादि शब्दों से परः गोत्र में विहित जो प्रत्यय, उस का तत्कृतबहुवचन में ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके लुक् हो जावे, ['अद्वन्द्वे' द्वन्द्व और अद्वन्द्व समास में।] उपकादि द्वन्द्व समास किये हुए तीन शब्द तिककितवादिगण में पढ़े हैं। उन से द्वन्द्व समास में लुक् होता है। जो इस सूत्र से द्वन्द्व समास में लुक् का निषेध हो, तो पूर्व से उपकादिकों के द्वन्द्व समास में भी लुक् न हो। अद्वन्द्व समास में इस सूत्र से विकल्प करके लुक् होता है। उपकाः। औपकायनाः। लमकाः। लामकायनाः। यहां गोत्र में फक् प्रत्यय का विकल्प करके लुक् होता है। इसी प्रकार उपकादिकों में जिस शब्द से जो प्रत्यय विधान है, उस से गोत्र में [विकल्प से] उस का लुक् हो जाता है ॥

उपकादि शब्द पूर्व संस्कृत में लिख दिये हैं ॥ ६९ ॥

आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच्[1] ॥ ७० ॥

आगस्त्य-कौण्डिन्ययोः। ६। २। अगस्ति-कुण्डिनच्। १। १। अगस्त्य-शब्दस्य ऋषिवाचित्वादण्। कुण्डिनी-शब्दस्य गर्गादिपाठाद् यञ्-प्रत्ययः। आगस्त्य-कौण्डिन्य-शब्दाभ्यां गोत्रे विहित प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुक्, प्रकृतिरूपयोरगस्त्य-कुण्डिनी-शब्दयोश्च 'अगस्ति, कुण्डिनच्' इत्येतावादेशौ भवतः। अगस्त्यस्यापत्यं=आगस्त्यः, आगस्त्यौ, अगस्तयः। कौण्डिन्यः, कौण्डिन्यौ, कुण्डिनाः। बहुवचनाभ्यामागस्त्य-कौण्डिन्य-शब्दाभ्यां प्राग्दीव्यतीयवजादौ प्रत्यये परतो गोत्रप्रत्ययस्य 'गोत्रेऽलुगचि[2]।' इति लुक् प्रतिषिध्यते। तत्र प्रकृत्यादेशे कृते प्रत्ययं मत्वा पुनर्वृद्धिः, ततो वृद्धत्वाच्छैषिकश्छः प्रत्ययः सिद्धो भवति—आगस्तीयाश्छात्रा इति ॥

अस्मिन् सूत्रे चकारोऽन्तोदात्तस्वरार्थः ॥ ७० ॥

अगस्त्य-शब्द के ऋषिवाची होने से अण् और कुण्डिनी शब्द के गर्गादिकों में होने से यञ्-प्रत्यय होता है। ['आगस्त्य-कौण्डिन्ययोः'] आगस्त्य कौण्डिन्य-शब्दों के बीच गोत्र में विहित जो प्रत्यय, उस का लुक् और अगस्त्य कुण्डिनी शब्द को ['अगस्ति-कुण्डिनच्'] अगस्ति-और कुण्डिन-आदेश हों। अगस्तयः। यहां बहुवचन में अण्-प्रत्यय का लुक् और अगस्ति-आदेश। तथा 'कुण्डिनाः' यहां कुण्डिन-आदेश और यञ्-प्रत्यय का लुक् हुआ है। बहुवचनान्त आगस्त्य-और कौण्डिन्य शब्द से प्राग्दीव्यति अजादि प्रत्यय के पर लुक् का निषेध है। वहां प्रकृति को आदेश होने से गोत्रप्रत्यय के परे वृद्धि होके शैषिक [छ]प्रत्ययान्त 'आगस्तीयाः' यह प्रयोग सिद्ध होता है ॥

इस सूत्र में कुण्डिनच्-शब्द में चकार चिदन्तोदात्त स्वर होने के लिये है ॥ ७० ॥

सुपो धातुप्रातिपदिकयोः[4] ॥ ७१ ॥

सुपः। ६। १। धातु-प्रातिपदिकयोः। ७। २। धातौ प्रातिपदिके चान्तर्गतस्य सुपः=विभक्तेर्लुग् भवति। धातौ—आत्मनः पुत्रमिच्छति=पुत्रीयति। अत्र 'पुत्र+अम्+क्यच्' इत्यस्य

---

१. म्रा० शा०—'कुण्डिनाः ॥'' (२। ४। १०८)
२. ४। १। ८९ ॥ ३. ४। २। ११४ ॥
४. चा० शा०—'ऐकार्थ्ये ॥' (२। १। ३६)

समुदायस्य 'सनाद्यन्ता धातवः[1] ॥' इति धातु-सञ्ज्ञा, तदन्तर्गतस्याम्-विभक्तेरनेन लुक्। प्रातिपदिके—कष्टं श्रितः=कष्टश्रितः । अत्र 'कष्ट+अम्+श्रित' इत्यस्य समासार्थसमुदायस्य 'कृत्तद्धितसमासाश्च[2] ॥' इति प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा, तदन्तर्गतस्याम्-विभक्तेरनेन लुग् भवति ॥

'धातुप्रातिपदिकयोः' इति किम् । वृक्षः । प्लक्षः । अत्र लुग् न भवेत् ॥ ७१ ॥

['धातु-प्रातिपदिकयोः'] धातु और प्रातिपदिक के अन्तर्गत ['सुपः'] जो विभक्ति है, उस का लुक् हो । धातु—पुत्रीयति । यहां 'पुत्र+अम्+क्यच्' इतने समुदाय की धातु-सञ्ज्ञा होने से उस के अन्तर्गत अम्-विभक्ति को लुक् । प्रातिपदिक—कष्टश्रितः । और यहां 'कष्ट+अम्+श्रित' इतने समुदाय की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होने से उस के अन्तर्गत अम्-विभक्ति का इस सूत्र से लुक् हुआ है ॥

धातु प्रातिपदिक ग्रहण इसलिये है कि 'वृक्षः । प्लक्षः' यहां विभक्ति का लुक् न हो ॥ ७१ ॥

अदिप्रभृतिभ्यः शपः[3] ॥ ७२ ॥

अदिप्रभृतिभ्यः । ५ । ३ । शपः । ६ । १ । अदिप्रभृतिभ्यः=अदादिधातुभ्यः परस्य शप्-प्रत्ययस्य लुग् भवति । अत्ति । हन्ति । चष्टे । द्वेष्टि । दोग्धि । इत्यादिषु विकरणलुक् ॥ ७२ ॥

['अदिप्रभृतिभ्यः'] अदादि धातुओं से पर जो ['शपः'] शप्-प्रत्यय, उस का लुक् हो । अत्ति । हन्ति । द्वेष्टि । दोग्धि इत्यादि धातुओं में शप्-विकरण का लुक् होता है ॥ ७२ ॥

बहुलं छन्दसि[4] ॥ ७३ ॥

'अदिप्रभृतिभ्यः' इति नो अपेक्ष्यते । बहुलम् । १ । १ । छन्दसि । ७ । १ । छन्दसि=वैदिकप्रयोगविषये शप्-प्रत्ययस्य बहुलं लुग् भवति । वृत्रं हनति[5] । अहन् वृत्रम्[6] । आशयदिन्द्रशत्रुः[7] । 'शपादेशाः श्यन्नादयः करिष्यन्ते' इति वचनाच्छपो लुकि तस्याभावे विना-मादेशानामप्यभावः । तेन श्यन्नादीनामपि लुगुदाहरणानि सिध्यन्ति ॥ ७३ ॥

['छन्दसि'] वैदिक प्रयोगों में शप्-प्रत्यय का ['बहुलं'] बहुल करके लुक् हो । वृत्रं हनति[5] । यहां लुक् नहीं हुआ । और 'अहन् वृत्रं[6]' यहां लुक् हो गया । श्यन् आदि जो विकरण हैं, वे शप् के स्थान में आदेश होते हैं, इसलिये शप् के लुक् होने से उस के स्थान में होने वाले श्यन् आदि विकरण भी नहीं होते । इससे सब विकरणों का लुक् सिद्ध होता है ॥ ७३ ॥

---

१. ३ । १ । ३२ ॥

२. १ । २ । ४६ ॥

३. आ०—सू० २६७ ॥
 म्ला० शा०—"अदादिभ्यो लुक् ॥" (१ । १ । ८३)

४. आ०—सू० २६८ ॥

५. ऋ०—८ । ८९ । ३ ॥

६. ऋ०—१ । ३२ । १० ॥

७. ऋ०—१ । ३२ । ६ ॥

यङोऽचि च[1] ॥ ७४ ॥

चकारेण बहुलमनुवर्त्तते, न तु 'छन्दसि' [इति]। यङः । ६ । १ । अचि । ७ । १ । च । [अ० ।] अच् प्रत्यये परतो बहुलं यङो लुग् भवति । लोलुवः । पोपुवः । सरीसृपः । मरीमृजः । सनीस्रंसः । दनीध्वंसः । बहुल-ग्रहणादन्यत्रापि—चर्करीतम् । चर्करीति । चरीकरीति । चरिकरीतीत्यादि ॥ ७४ ॥

['अचि'] अच्-प्रत्यय के पर ['यङः'] यङ् का लुक् बहुल करके हो। लोलुवः। पोपुवः। सरीसृपः। यहां अच् प्रत्यय के पर यङ् का लुक् हुआ है। बहुल-ग्रहण से 'चर्करीतम्' इत्यादि स्थलों में भी यङ् का लुक् हो जाता है ॥ ७४ ॥

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः[2] ॥ ७५ ॥

मण्डूकप्लुतन्यायेन शबनुवर्त्तते, न यङ्। जुहोत्यादिभ्यः । ५ । ३ । श्लुः । १ । १ । 'हु दानादनयोः[3]' इत्यादिभ्यः परस्य शपः स्थाने श्लुर्भवति । जुहोति । बिभर्त्ति । बिभेति ॥

लुकि प्रकृते पुनः श्लु-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं—द्विर्वचनं यथा स्यात् ॥ ७५ ॥

['जुहोत्यादिभ्यः'] जुहोत्यादि धातुओं से पर जो शप्, उस के स्थान में ['श्लुः'] श्लु-आदेश हो। जुहोति। बिभर्त्ति। यहां श्लु के होने से द्विर्वचन होता है। लुक् और श्लु ये अदर्शन की सञ्ज्ञा हैं, सो लुक् की अनुवृत्ति चली आती थी, फिर श्लु-ग्रहण इसलिये है कि लुक् होने से द्विर्वचन नहीं प्राप्त था ॥ ७५ ॥

बहुलं छन्दसि[4] ॥ ७६ ॥

बहुलं । १ । १ । छन्दसि । ७ । १ । छन्दसि=वैदिकप्रयोगेषु जुहोत्यादिभ्यः परस्य शपः स्थाने बहुलं श्लुर्भवति, उक्तेभ्यश्च न भवति, अनुक्तेभ्यश्च भवति । दाति प्रियाणि[5]। अत्र डुदाञ्-धातोः श्लुर्न भवति । पूर्णां विवष्टि[6]। अत्र 'वश कान्तौ[7]' इत्यस्माद्भवति बहुल-ग्रहणादेव ॥ ७६ ॥

['छन्दसि' वैदिक प्रयोगों में] जुहोत्यादिकों से पर शप्-प्रत्यय के स्थान में श्लु ['बहुलं'] बहुल करके हो। अर्थात् जिन से विधान है, उन से नहीं भी होता और जिन से विधान नहीं, उन से भी हो जाता है। दाति प्रियाणि[5]। यहां डुदाञ् धातु से श्लु नहीं हुआ। और 'पूर्णां विवष्टि[6]' यहां वश धातु से विधान नहीं था, फिर भी शप् के स्थान में श्लु हो गया ॥ ७६ ॥

---

१. अ०—सू० ५५२ ॥ चा० श०—"यङो बहुलम् ॥" (१ । १ । ८६)

२. चा० श०—"हूनां द्वे च ॥" (१ । १ । ८४)

३. धा०—जुहो० १ ॥ ४. अ०—सू० ३७६ ॥

५. ऋ०—४ । ८ । ३ ॥ का०—१२ । १५ ॥

६. ऋ०—७ । १६ । ११ ॥ सा०—१ । ५५ ॥ मै०—२ । १३ । ८ ॥

७. धा०—अदा० ७० ॥

['छन्दसि' वैदिक प्रयोगों में] जुहोत्यादिकों से पर शप्-प्रत्यय के स्थान में श्लु ['बहुलं'] बहुल करके हो । अर्थात् जिन से विधान है, उन से नहीं भी होता और जिन से विधान नहीं, उन से भी हो जाता है । दाति प्रियाणि[1] । यहां डुदाञ् धातु से श्लु नहीं हुआ । और 'पूर्णां विवष्टि[1]' यहां वश धातु से विधान नहीं था, फिर भी शप् के स्थान में श्लु हो गया ॥ ७६ ॥

गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु[2] ॥ ७७ ॥

श्लुर्निवृत्तः । लुगनुवर्त्तते । गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः । ५ । ३ । सिचः । ६ । १ । परस्मैपदेषु । ७ । ३ । 'गाति' इति लुग्विकरणनिर्देशः । लुङ्लकारे च सिच्परो भवति । तत्रेणः स्थाने यो गा-आदेशः, तस्येह ग्रहणम् । 'गाति, स्था, घु, पा, भू' इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्य सिच्-प्रत्ययस्य परस्मैपद-सञ्ज्ञक-प्रत्ययेषु परेषु लुग् भवति । अगात् । अस्थात् । घु— अदात् । अधात् । अपात् । अभूत् । अत्र सिचो लुकि 'न लुमताऽङ्गस्य[3] ॥' इति प्रत्ययलक्षणाभावादीडपि न भवति ॥

वा०— *गापोर्ग्रहण इण्पिबत्योर्ग्रहणम् ॥[4] १ ॥*

गाति-ग्रहणे 'इण् गतौ[5]' इत्यस्य ग्रहणं, पा-शब्देन 'पा पाने[6]' इत्यस्य च । तेनेह न भवति— अगासीन्नटः । अत्र 'गै शब्दे[7]' इत्यस्मात् सिचो लुङ् न भवति । 'अपासीद्धनम्' इत्यत्र 'पा रक्षणे[8]' इत्यस्मादपि सिचो लुङ् न भवति ॥

'परस्मैपदेषु' इति किम् । अगास्त ग्रामम् । अत्र 'गाङ् गतौ[9]' इत्यस्मान्न स्यात् ॥ ७७ ॥

['गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः'] गाति, स्था, घु, पा, भू, इन धातुओं से पर जो ['सिचः'] सिच्-प्रत्यय, उस का लुक् हो ['परस्मैपदेषु'] परस्मैपद-सञ्ज्ञक प्रत्यय पर हों, तो । गाति—अगात् । यहां इण् धातु को गा-आदेश हुआ है । स्था—अस्थात् । यहां स्था धातु से सिच् का लुक् । घु—अदात् । अधात् । यहां घु-सञ्ज्ञक दा और धा धातु से । अपात् । यहां 'पा रक्षणे[9]' धातु से । और 'अभूत्' यहां भू धातु से पर सिच्-प्रत्यय का लुक् हुआ है । उस के होने से ईट् का आगम भी नहीं हुआ ॥

---

१. देखो पृ० ३८५ टि० ६, ७ ॥
२. अ०—सू० ८१ ॥ [(१ । १ । ६२)
चा० श०—"दाधागातिस्थभूपोऽतङि लुक् ॥"
३. १ । १ । ६२ ॥
४. अ० २ । पा० ४ । आ० २ ॥
५. धा०—अदा० ३६ ॥
६. धा०—भ्वा० ६७२ ॥
७. धा०—भ्वा० ६६५ ॥
८. धा०—अदा० ४७ ॥
९. धा०—भ्वा० ६६८ ॥

'गापोर्ग्रहण इरिपबत्योर्ग्रहणम् ॥' गा-शब्द से इण् और पा-शब्द से 'पा पाने'' धातु का ग्रहण होता है । प्रयोजन यह है कि 'अगासीत् । अपासीत्' यहां गै धातु और 'पा रक्षणे'' इन धातुओं से पर सिच्-प्रत्यय का लुक् प्राप्त है, सो न हो ॥ ७७ ॥

विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः[२] ॥ ७८ ॥

प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम् । धेट्-धातोर्घु-सञ्ज्ञत्वात् पूर्वेण नित्ये लुकि प्राप्ते विभाषा । अन्येभ्योऽप्राप्तविभाषा । विभाषा । [अ० ।] घ्रा-धेट्-शा-छा-सः । ५ । १ । घ्रादीनां समाहारद्वन्द्वः । 'घ्रा, धेट्, शा, छा, सा' इत्येतेभ्यः परस्य सिच्-प्रत्ययस्य परस्मैपदेषु विकल्पेन लुग् भवति । अघ्रात्, अघ्रासीत् । अधात्, अधासीत् । अशात्, अशासीत् । अच्छात्, अच्छासीत् । असात्, असासीत् । शा-शब्देन 'शो तनूकरणे[३]' इत्यस्य, छा[-शब्देन] 'छो छेदने[४]' इत्यस्य, सा [-शब्देन] च 'षोऽन्तकर्मणि[५]' इत्यस्य ग्रहणं भवति ॥

'परस्मैपदेषु' इति किम् । अघ्रासातां पुष्पौ बालेन । अत्र कर्मण्यात्मनेपदे सिचो लुङ् न भवति ॥ ७८ ॥

इस सूत्र में प्राप्ताप्राप्त विभाषा है । धेट् धातु में पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त है, अन्य धातुओं में किसी से प्राप्त नहीं । उस का विकल्प हुआ है । ['घ्रा-धेट्-शा-छा-सः'] घ्रा, धेट्, शा, छा, सा, इन धातुओं से पर जो सिच्, उस का लुक हो ['विभाषा' विकल्प करके] परस्मैपद-सञ्ज्ञक प्रत्यय पर हों, तो । अघ्रात् । अघ्रासीत् । यहां घ्रा धातु से । अधात् । अधासीत् । यहां धेट् धातु से । अशात् । अशासीत् । यहां 'शो तनूकरणे[३]' इस धातु से । अच्छात् । अच्छासीत् । यहां 'छो छेदने[४]' इस धातु से । और 'असात् । असासीत्' यहां 'षोऽन्तकर्मणि[५]' इस धातु से पर सिच् का लुक् हुआ है ॥

परस्मैपद-ग्रहण इसलिये है कि 'अघ्रासातां पुष्पौ बालेन' यहां कर्म में आत्मनेपद होने से सिच् का लुक् नहीं हुआ ॥ ७८ ॥

तनादिभ्यस्तथासोः[६] ॥ ७९ ॥

'विभाषा' इत्यनुवर्त्तते । तनादिभ्यः । ५ । ३ । त-थासोः । ७ । २ । तश्च थाश्च, तयोः । तनादिभ्योऽप्यप्राप्तविभाषैव । तनादिधातुभ्यः परस्य सिच्-प्रत्ययस्य विकल्पेन लुग् भवति त-प्रत्यये थासि च । अतत, अतनिष्ट । अतथाः,

१. देखो पृ० ३८६ टि० ६, ८ ॥
२. आ०—सू० २४६ ॥
चा० श०—"घ्राधेशाच्छासो वा ॥" (१।१।६३)
३. धा०—दिवा० ३७ ॥
४. धा०—दिवा० ३८ ॥
५. धा०—दिवा० ३९ ॥
६. आ०—सू० ४४० ॥
चा० श०—"तनादिभ्यस्तथासोः ॥" (१।१।६४)

अतनिष्ठाः । अमत, अमंस्त । अमथाः, अमंस्थाः । अत्र सिज्लुक्पक्षेऽपित्सार्वधातुकस्य ङित्वात् 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम०[१]॥' इत्यनुनासिकलोपः । अन्यत्र सिचं मत्वा न भवति ॥

अत्र थासः साहचर्यादात्मनेपदस्यैव त-शब्दस्य ग्रहणम् । तेन 'अतनिष्ट यूयम्' अत्र परस्मैपदसञ्ज्ञकत-शब्दे मध्यमपुरुषस्य बहुवचने सिज्लुङ् न भवति ॥७९॥

इस सूत्र में भी अप्राप्तविभाषा अर्थात् किसी से नित्य प्राप्त नहीं। ['तनादिभ्यः'] तनादि धातुओं से पर जो सिच्, उस का विकल्प करके लुक् हो ['त-थासोः'] त- और थास्-प्रत्यय के पर । अतत । यहां तनु धातु से त-प्रत्यय के पर सिच् का लुक् । अतनिष्ट । यहां विकल्प के होने से लुक् नहीं हुआ । तथा 'अतथाः' यहां थास् के पर सिच् का लुक् हुआ । और 'अतनिष्ठाः' यहां विकल्प के होने से नहीं हुआ । यहां जिस पक्ष में सिच् का लुक् हो जाता है, वहां अपित् सार्वधातुक के ङित् होने से धातु के अनुनासिक का लोप हो जाता है । और जहां नहीं होता, वहां सिच् के व्यवधान से अनुनासिक का लोप नहीं होता ॥

थास् केवल आत्मनेपद में ही होता और त-शब्द आत्मनेपद [तथा] परस्मै[पद में] भी । सो थास् के साहचर्य से त-शब्द का भी आत्मनेपद का ही ग्रहण होता है ॥ ७९ ॥

मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः[२] ॥ ८० ॥

मन्त्रे । ७ । १ । घस-ह्वर-णश-वृ-दह-आत् वृच्-कृ-गमि-जनिभ्यः । ५ । ३ । लेः । ६ । १ । मन्त्रे = वेदविषये 'घस, ह्वर, णश, वृ, दह, आत्, वृच्, कृ, गमि, जनि' इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्य लेः = च्लि-प्रत्ययस्य लुग् बोध्यः । घस—अक्षन्नमीमदन्त[३] । अत्र घस-धातोर्लुङि प्रथमपुरुषस्य बहुवचने च्लेर्लुक् । 'गमहन०[४]॥' इत्युपधालोपः । 'खरि च[५]॥' इति घकारस्य ककारः । 'शासिवसिघसीनां च[६]॥' इति षत्वम् । तेन 'अक्षन्' इति रूपं जायते । ह्वर—मा ह्वाः[७] । अत्र ह्वृ-धातोर्लुङि प्रथमैकवचने च्लेः लुक् । तिपि गुणः, ततो 'हल्ङ्याब्भ्यः०[८]॥' इति तिपूतकारलोपः । णश— प्रणङ् मर्त्यस्य[९] । अत्र प्रथमैकवचने 'नशेर्वा[१०]॥'

---

१. ६ । ४ । ३७ ॥
२. आ०—सू० ४४ ॥
३. ऋ०—१ । ८२ । २ ॥
वा०—३ । ५१ ॥
सा०—१ । ४१५ ॥
अ०—१८ । ४ । ६१ ॥
४. ६ । ४ । ९८ ॥
५. ८ । ४ । ५५ ॥
६. ८ । ३ । ६० ॥
७. वाजसनेयिसंहितायां (१ । २, ६) अन्यत्र च (तै० १ । १ । ३ । १ ॥ मै० १ । १ । ५ ॥ का० १ । ३ ॥...)—"मा ह्वाः ।"
८. ६ । १ । ६८ ॥
९. ऋ०—१ । १८ । ३ ॥
१०. ८ । २ । ६३ ॥

इति कुत्वम् । अन्यत् कार्यं पूर्ववत् । वृ—सुरुचो वेन आवः[1] । अत्र 'आवः' इति वृ-धातोः प्रयोगवत् । दह—आ धक्[2] । अत्र 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः[3] ॥' इति दकारस्य धकारः । 'आद्' इत्याकारान्तस्य ग्रहणम्—आप्रा द्यावापृथिवी[4] । अत्र प्रा-धातोर्लुङि मध्यमपुरुषस्यैकवचने च्लेर्लुक् । वृज्—परा वर्क्[5] । अत्रापि पूर्ववत् प्रथमैकवचने प्रयोगः । कृ—अक्रन् कर्म[6] । अत्र प्रथमपुरुषस्य बहुवचने च्लेर्लुक् । गमि—अग्मन्[7] । जनि—अज्ञत[8] । अत्रोभयत्र 'गमहन०[9] ॥' इत्युपधालोपः ॥ ८० ॥

['मन्त्रे'] वैदिक विषय में ['घस-ह्वर-णश-वृ-दह-आत्-वृज-कृ-गमि-जनिभ्यः'] घस, ह्वर, णश, वृ, दह, आत्, वृज्, कृ, गमि, जनि, इन धातुओं से पर जो ['लेः'] च्लि-प्रत्यय, उस का लुक् हो जावे । घस—अक्षन्नमीमदन्त[10] । यहां घस धातु से लुङ् लकार में प्रथम पुरुष के बहुवचन में च्लि का लुक्, घस की उपधा का लोप, घकार को ककार और सकार [को] षकार आदेश होने से 'अक्षन्' यह प्रयोग बनता है । ह्वर—मा ह्वः[10] । यहां ह्वृ धातु से च्लि का लुक् और ह्वृ धातु को गुण होके तिप् के तकार का लोप हुआ है । णश्—प्रणक् मर्त्यस्य[10] । यहां णश् धातु से च्लि का लुक होके 'प्रणक्' प्रयोग बनता है । वृ—सुरुचो वेन आवः[1] । यहां वृ धातु के तुल्य 'आवः' प्रयोग सिद्ध होता है । दह—आ धक्[2] । यहां दह धातु के दकार को धकार हुआ है । आत् = आकारान्त धातु—आप्राः[4] । यहां 'प्रा पूरणे[11]' इस धातु से च्लि का लुक् हुआ है । वृज्—परा वर्क्[5] । यहां भी प्रथम पुरुष के एकवचन में च्लि का लुक् । कृ—अक्रन् कर्म[6] । यहां प्रथम पुरुष के बहुवचन में च्लि का लुक् । गमि—अग्मन् । जनि—अज्ञत[8] । यहां दोनों में उपधा का लोप हुआ है ॥ ८० ॥

आमः[12] ॥ ८१ ॥

'लेः' इत्यनुवर्त्तते । आमः । ५ । १ । आमः परस्य लेर्लुग् भवति । एधाञ्चक्रे । इन्दाञ्चकार । अत्र लिटि परत आम्-प्रत्ययो भवति, अमन्ताच्च लेर्लुक् ॥ ८१ ॥

---

१. वा०— १३ । ३ ॥
अ०—४ । १ । १ ॥
५ । ६ । १ ॥...
२. ऋ०—६ । ६१ । १४ ॥
३. ८ । २ । ३७ ॥
४. ऋ०—१ । ११५ । १ ॥
वा०—७ । ४२ ॥
अ०—१३ । २ । ३५ ॥...
५. ऋ०—८ । ७५ । १२ ॥
६. वा०—३ । ४७ ॥
तै०—१ । ८ । ३ । १ ॥
मै०—१ । १० । २ ॥
का०—६ । ४ ॥
७. ऋ०—१ । १२१ । ७ ॥...
८. ऐ० ब्रा०—७ । १४ । ५ ॥
जयादित्यः— "अज्ञत वा अस्य दन्ताः ।" ब्राह्मणे प्रयोगोऽयम् । मन्त्र-ग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम् ॥"
९. ६ । ४ । ६८ ॥
१०. देखो पृ० ३८८ टि० ३, ७, ६ ॥
११. धा०—अदा० ५२ ॥
१२. आ०—सू० १०१ ॥

['आमः'] आम्-प्रत्यय से पर जो लि, उस का लुक् हो । एधाञ्चक्रे । इन्दाञ्चकार । यहां लिट् के पर जो आम्-प्रत्यय होता है, उस से पर लिट् का लुक् हो गया ॥ ८१ ॥

अव्ययादाप्सुपः[1] ॥ ८२ ॥

अव्ययात् । ५ । १ । आप्-सुपः । ६ । १ । आप् च सुप् च, अनयोः समाहारः, तस्याप्सुपः । आप्-शब्देन टाबादिस्त्रीप्रत्ययानां ग्रहणम् । अव्ययात् परेषां टाबादिस्त्रीप्रत्ययानां सुपां च लुग् भवति । तत्र शालायाम् । तत्र नगर्याम् । अत्रापो लुक् । सुपः—म्लेच्छितवै । भोक्तुम् । भुक्त्वा । कृत्वा । अत्र सुपां लुक् । एवं स्वरादिसर्वाव्ययेषु ॥ ८२ ॥

['अव्ययात्'] अव्यय से पर जो ['आप्-सुपः'] आप् और सुप्, उन का लुक् हो । आप्-शब्द से टाप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का ग्रहण होता है । तत्र शालायाम् । यहां आप् का लुक् । म्लेच्छितवै । भुक्त्वा । और यहां सुपों का लुक् हुआ है । इसी प्रकार सब स्वरादि अव्ययों में होता है ॥ ८२ ॥

नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः[2] ॥ ८३ ॥

अव्ययीभावसमासस्याप्यव्यय-सञ्ज्ञा कृता, तस्मात् पूर्वसूत्रेण लुक् प्राप्तः, अनेन प्रतिषिध्यते । न । [अ० ।] अव्ययीभावात् । ५ । १ । अतः । ५ । १ । अम् । १ । १ । तु । [अ० ।] अपञ्चम्याः । ५ । १ । अतः = अदन्ताद् अव्ययीभावात् परस्य सुपो लुङ् न भवति, किंत्वपञ्चम्याः = पञ्चमीं विहायादन्ताव्ययीभावात् परस्या विभक्तेर् 'अम्' इत्यादेशो भवति । कुम्भस्य समीपं = उपकुम्भम् । इदं तु सर्वासां स्थाने । पञ्चम्यां तु— उपकुम्भात् । एवं नद्याः समीपं = उपनदम् । उपनदात् । अपादाने या पञ्चमी, तस्या अत्र ग्रहणम् । या च कर्मप्रवचनीययोगे पञ्चमी—'आपाटलिपुत्रम्, आ पाटलिपुत्रात्' अत्र यस्मिन् पक्षे समासस्तत्रानेनाम्भावः, यदा वाक्यं, तदा कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञाश्रया पञ्चमी ॥

'अतः' इति किम् । उपगु ॥

'अपञ्चम्याः' इति किम् । उपकुम्भादागतः । अत्रोभयत्राम् न भवेत् ॥८३॥

अव्ययीभाव समास की भी अव्यय-सञ्ज्ञा कर चुके हैं, इसलिये पूर्व सूत्र से विभक्ति का लुक् प्राप्त था । उस का निषेध इस सूत्र से किया है । ['अतः'] अकारान्त ['अव्ययी-

---

१. चा० श०—"सुपोऽसङ्ख्याल्लुक् ॥" (२।१।३८) २. चा० श०—"नातोऽमपञ्चम्याः ॥" (२।१।४१)

भावात्'] अव्ययीभाव से पर जो विभक्ति, उस का लुक् ['न'] न हो, ['तु'] किन्तु ['अपञ्चम्याः'] पञ्चमी विभक्ति को छोड़के सब के स्थान में ['अम्'] अम्-आदेश हो जावे। उपकुम्भम्। सब विभक्तियों में यह प्रयोग ऐसा ही रहता है। पञ्चमी में—उपकुम्भात्। यहां लुक् और अम् दोनों नहीं होते। परन्तु इस सूत्र में अपादान कारक में जो पञ्चमी होती है, उस का ग्रहण है। और जो 'आपाटलिपुत्रम्। आ पाटलिपुत्रात्' यहां कर्मप्रवचनीय के योग में पंचमी है, उस का जिस पक्ष में समास होता है, वहां पंचमी के स्थान में अम् हो जाता है॥

अकारान्त-ग्रहण इसलिये है कि 'अधिनु' यहां अम् न हो॥

और 'अपञ्चम्याः' ग्रहण इसलिये है कि 'उपकुम्भात्' यहां पंचमी विभक्ति में भी अम् न हो॥ ८३॥

तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्[1] ॥ ८४॥

बहुल-शब्दो विकल्पपर्यायः। प्राप्तविभाषा चेयम्। पूर्वेण नित्येऽम्भावे प्राप्ते विकल्पः क्रियते। तृतीया-सप्तम्योः। ६। २। बहुलम्। १। १। अकारान्ताद्व्ययीभावात् परयोस्तृतीयासप्तम्योर्विभक्त्योः स्थाने बहुलं = विकल्पेनाम्भावो भवति। उपकुम्भेन, उपकुम्भम्। उपकुम्भे, उपकुम्भम्। एवं—उपनदेन, उपनदम्। उपनदे, उपनदमित्यादिषु॥

वा०—*सप्तम्या ऋद्धिनदीसमाससङ्ख्यावयवेभ्यो नित्यम्*॥[2] १॥

ऋद्ध्यर्थविहितान्नदीसमासात् सङ्ख्यावयवसमासाच्च परस्याः सप्तम्या विभक्तेः स्थाने नित्यमम्भावो भवति। सूत्रेण विकल्पे प्राप्ते नित्यमुच्यते। ऋद्धि—सुमद्रम्। सुमगधम्। अत्र 'अव्ययं विभक्ति०[3]॥' इति समृद्ध्यर्थे समासः। नदीसमास—उन्मत्तगङ्गम्। लोहितगङ्गम्। अत्र 'अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम्[4]॥' इत्यव्ययीभावः। [सङ्ख्यावयव—]। एकविंशतिभारद्वाजम्। त्रिपञ्चाशद्गौतमम्। अत्र 'सङ्ख्या वंश्येन[5]॥' इत्यव्ययीभावः समासो भवति॥ ८४॥

इस सूत्र में बहुल-शब्द विकल्पवाची है। पूर्व सूत्र से नित्य अम्-आदेश पाता था, उस का विकल्प होने से प्राप्तविभाषा है। अकारान्त अव्ययीभाव से पर जो ['तृतीया-सप्तम्योः'] तृतीया और सप्तमी विभक्ति, उन के स्थान में ['बहुलम्'] विकल्प करके अम्-आदेश हो। उपकुम्भेन। यहां तृतीया के स्थान में अम् नहीं हुआ। उपकुम्भम्। यहां हो गया। और 'उपकुम्भे' यहां सप्तमी के स्थान में नहीं हुआ। उपकुम्भम्। और यहां अम्भाव हो गया॥

---

१. चा०श०—"तृतीयासप्तम्योर्वा॥" (२।१।४२)
२. अ० २। पा० ४। आ० २॥
३. २। १। ६॥
४. २। १। २०॥
५. २। १। १८॥

'सप्तम्या ऋद्धिनदीसमाससङ्ख्यावयवेभ्यो नित्यम् ॥'[1] ऋद्धि अर्थ में जो अव्ययीभाव, नदीवाची का जो अव्ययीभाव और संख्या का अवयववाची जो अव्ययीभाव समास, उस से पर जो सप्तमी, उस के स्थान में नित्य अम्-आदेश हो जावे। ऋद्ध्यर्थ—**सुमद्रम्**। **सुमगधम्**। यहां 'अव्ययं विभक्ति०' ॥' इस सूत्र से समृद्धि अर्थ में अव्ययीभाव समास हुआ। नदीसमास—**उन्मत्तगङ्गम्**। **लोहितगङ्गम्**। यहां सञ्ज्ञावाची अन्य पदार्थ में अव्ययीभाव। और संख्यावयव—**एकविंशतिभारद्वाजम्**। यहां संख्यावाची का वंश्य अर्थात् वंश के अवयव के साथ समास हुआ है। सूत्र से विकल्प करके अम्भाव प्राप्त था, उस का वार्त्तिक से नित्य विधान किया है ॥ ८४ ॥

लुटः प्रथमस्य डारौरसः[2] ॥ ८५ ॥

लुटः। ६। १। प्रथमस्य। ६। १। डा-रौ-रसः। १। ३। प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम्। डारौरसश्च डारौरसश्च ते। लुट्लकारस्य प्रथमपुरुषस्य स्थाने 'डा, रौ, रस्' इति त्रय आदेशा यथासङ्ख्येन भवन्ति, परस्मैपद आत्मनेपदे च। कर्त्ता। कर्त्तारौ। कर्त्तारः। आत्मनेपदे—अध्येता। अध्येतारौ। अध्येतारः ॥

'प्रथमस्य' इति किम्। त्वं श्वः कर्त्तासि। श्वोऽध्येतासे। अत्र मध्यमे न स्यात् ॥ ८५ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादोऽध्यायश्चाऽयं समाप्तः ॥

['लुटः'] लुट् लकार के ['प्रथमस्य'] प्रथम पुरुष के स्थान में ['डा-रौ-रसः'] डा, रौ, रस्, ये तीन आदेश यथाक्रम से हों। कर्त्ता। यहां डा। कर्त्तारौ। यहां रौ। कर्त्तारः। और यहां रस्-आदेश होता है। सो परस्मैपद, [आत्मनेपद] दोनों के स्थान में ये आदेश होते हैं ॥

प्रथम-ग्रहण इसलिये है कि 'त्वं श्वः कर्त्तासि, कर्त्तासे वा' यहां मध्यम पुरुष में उक्त आदेश न हों ॥ ८५ ॥

यह द्वितीयाध्याय का चौथा पाद और यह अध्याय भी समाप्त हुआ ॥

[इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना प्रणीतेऽष्टाध्यायीभाष्ये प्रथमो भागः]

---

१. २ । १ । ६ ॥

२. आ०—सू० ५० ॥

चा० श०—"लुट आद्यानां डारौरसः ॥ तक्षम् ॥"

(१ । ४ । १८, १९)